उपन्यास : मोहनलाल चुन्नीलाल धामी कृत

वीर विक्रमादित्य

रूपान्तरकार : आगममनीषी मुनि दुलहराज

मोहनलाल चुन्नीलाल धामी कृत

वीर विक्रमादित्य

रूपान्तरकार

आगममनीषी मुनि दुलहराज

जैन विश्वभारती प्रकाशन

लाडनूं-341306 (राजस्थान)

प्रकाशक : जैन विश्व भारती
पोस्ट : लाडनूं-341306
जिला : नागौर (राज.)
फोन नं. : (01581) 222080/224671
ई-मेल : jainvishvabharati@yahoo.com

© **जैनविश्वभारती, लाडनूँ**

ISBN : 978-81-7195-157-4

नवीन संस्करण : 2010

सौजन्य :
स्व. श्री घीसूलाल जी एवं '**श्रद्धा की प्रतिमूर्ति**' स्व. श्रीमती घीसीबाई मरलेचा की पुण्यसमृति में उनके सुपुत्र कानमल-सूरजबाई
सुपौत्र - दिलीप-संतोष, खेमंत-रेखा.
प्रपौत्र - चेतन, दिक्षित, प्रपौत्री - प्रज्ञा, चरित्रा, प्रेरणा मरलेचा
(कंटालिया-पडपै-तांबरम)

मूल्य : 200/- (दौ सौ रूपया मात्र)

मुद्रक : पायोराईट प्रिन्ट मीडिया प्रा. लि., उदयपुर, 0294-2418482

आशीर्वचन

श्रमनिष्ठा, सेवानिष्ठा और श्रुतनिष्ठा—इस त्रिवेणी में जिन्होंने अपने जीवन को अभिस्नात किया है, वे हैं—**मुनि दुलहराजजी**। मेरी सेवा में अहोभाव से संलग्न रहे हैं। इन्होंने सेवा के साथ श्रुत की उल्लेखनीय और अनुकरणीय उपासना की है। मेरे साहित्य-संपादन का कार्य वर्षों तक जागरूकता के साथ किया। आगम संपादन के कार्य में मेरे अनन्य सहयोगी रहे। 'आगममनीषी' संबोधन इनकी सेवाओं का एक मूल्यांकन है। इनका हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, प्राकृत, गुजराती आदि भाषाओं पर अच्छा अधिकार है। इसीलिये ये संस्कृत, प्राकृत साहित्य के भाषान्तरण में सफल रहे। इन्होंने अनेक गुजराती उपन्यासों का भी हिन्दी भाषा में सरस और प्रांजल शैली में रूपान्तरण किया है। प्रस्तुत कृति **'वीर विक्रमादित्य'** उसकी एक निष्पत्ति है। इससे पाठक वर्ग लाभान्वित हो सकेगा।

१ मई, २०१० **आचार्य महाप्रज्ञ**

सरदारशहर

आदिवचन

उपन्यास अन्त:करण की प्रेरणाओं, अभिप्रेरणाओं, कल्पनाओं और जीवन के उतार-चढ़ावों का एक दस्तावेज है। उसे पढ़ने वाला कभी रोमांचित होता है तो कभी उत्सुकता के झूले में झूलता है। कभी रौद्र-वीर-करुणा और बीभत्स आदि रसों का रसास्वादन करता है तो कभी रोचकता के प्रवहण में चढ़कर आनन्द के समुद्र में उन्मज्जन-निमज्जन करता है। उपन्यास में सहज ही मधुरता और सरसता होती है। उसे पढ़ने से कभी ऊब का अनुभव नहीं होता। वह उपन्यास उपन्यास ही क्या, जिसको पढ़ने से मन में गुदगुदी पैदा न हो और उत्सुकता ही समाप्त हो जाए। 'आगे क्या है'—जो इस आशा को जगाता है, वास्तव में वही उपन्यास है। उपन्यास-लेखन में ऐतिहासिकता और कल्पनाशीलता—दोनों विधाओं को आधार बनाया जा सकता है।

वैद्य मोहनलाल चुन्नीलाल धामी एक प्रसिद्ध गुजराती उपन्यासकार थे। वे राजकोट (सौराष्ट्र) के निवासी थे। उन्होंने अनेक गुजराती उपन्यास लिखे। उपन्यासों के माध्यम से उन्होंने जैन संस्कृति, जैन इतिहास, जैन सभ्यता और जैन घटना प्रसंगों को प्राणवान् बनाने का प्रयत्न किया। अनेक उपन्यासों में उनका एक प्रसिद्ध गुजराती उपन्यास है—'सिद्ध वैताल'। यह तीन खंडों में प्रकाशित हुआ था।

यह उपन्यास ऐतिहासिक पुरुष वीर विक्रमादित्य और अग्निवैताल पर आधारित है। मैंने इसका हिन्दी रूपान्तरण कर इसे **'वीर विक्रमादित्य'** शीर्षक से जनता के सामने प्रस्तुत किया है।

वीर विक्रमादित्य एक ऐतिहासिक पुरुष थे। उनके नाम पर भारतवर्ष में 'विक्रम संवत्' प्रचलित हुआ। उनका शासनकाल अत्यधिक प्रतापी, प्रभावी और विस्मयकारी रहा। उनका कार्यकाल मानवी और दैविक शक्तियों का एक अद्भुत संगम था। अपने चातुर्यबल पर उन्होंने 'अग्निवैताल' को अपना मित्र बनाया। उसके आधार पर उनके अनेक चमत्कारी कार्य संपादित हुए। मालवाधिपति और अवन्तीनाथ वीर विक्रमादित्य न केवल राजनीतिकुशल थे अपितु नीतिनिष्ठ और धर्मिष्ठ भी थे। उनकी परोपकार-परायणता, न्यायप्रियता और दयालुता जगत्‌विश्रुत थी। वे भुजबल, सैन्यबल, बुद्धिबल और चातुर्यबल से सर्वथा सम्पन्न थे। उनका जीवन अनेक घटना-प्रसंगों से संबद्ध रहा।

प्रस्तुत उपन्यास उन जीवन्त घटनाओं का साक्षी है। यह उपन्यास सर्वप्रथम सन् १९८९ में प्रकाशित हुआ था। लगभग इक्कीस वर्षों की प्रलम्ब अवधि के पश्चात् यह पुनः लोगों के हाथों में पहुंच रहा है। इस समयावधि में मैंने देखा—लोगों की उपन्यासों के प्रति बढ़ती हुई रुचि, उत्सुकता और उनसे बोध पाठ लेने की उमंग को। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह उपन्यास भी उनकी भावना को परिपूर्ण करता हुआ उपन्यासप्रेमियों को तृप्ति और सन्तोष देगा। जैन विश्वभारती ने इन उपन्यासों का पुनः मुद्रण कराकर अपने दायित्व का निर्वहन किया है। यह उसकी कार्यनिष्ठा की फलश्रुति है।

इस समस्त कार्य की निष्पत्ति में मेरे दाएं-बाएं रहने वाले दो मुनियों का अत्यधिक परिश्रम लगा। वे मुनिद्वय हैं—मुनि राजेन्द्रकुमारजी और मुनि जितेन्द्रकुमारजी। मेरी मंगल कामना है कि दोनों मुनियों की उत्तरोत्तर कार्यनिष्ठा, परिश्रमशीलता, लगनशीलता वृद्धिंगत होती रहे।

आचार्य तुलसी मेरे दीक्षा गुरु थे। उन्होंने मुझे सर्वतोमुखी विकास करने का अवसर दिया। उनके इस उपकार को मैं कैसे विस्मृत कर सकता हूं।

आचार्य महाप्रज्ञ के पास मैं छह दशक से अधिक समय तक उनका बनकर रहा। दीक्षा लेते ही मेरा एक मानसिक संकल्प था कि मैं उनके पास रहूं। मेरी भावना साकार हुई और मैं उनके पास आ गया। उन्होंने मेरे लिए वह सब कुछ किया, जो एक गुरु अपने शिष्य के लिए करता है। वे मेरे जीवन का निर्माण करने वाले, संरक्षक, प्रतिबोधक और अल्पज्ञ से आगमज्ञ बनाने वाले थे। उनके महान् उपकार से उऋण होना मेरे लिए सर्वथा अशक्य है। वे अकस्मात् हमें छोड़कर चले गए। नियति को यही मान्य था। नियति के आगे हम सब बौने और विवश हैं। काश! प्रस्तुत उपन्यास का लोकार्पण उनके सामने होता।

अन्त में मैं आचार्य महाश्रमण के प्रति अपनी आस्था के सुमनों को समर्पित करता हुआ बद्धांजलि प्रणत हूं।

उपन्यासरसिक सुधीजन प्रस्तुत उपन्यास को पढ़कर अपनी दिशा और दशा को बदल सकेंगे, इस मंगल और कल्याणमयी भावना के साथ....

सरदारशहर (चूरू) **आगममनीषी मुनि दुलहराज**

२० जुलाई, २०१०

महाराजा भर्तृहरि का पत्नी के प्रति अगाध प्रेम था। उसी अगाध प्रेम से उनका मन विरक्त हुआ और वे त्याग के मार्ग पर चल पड़े। अनंगसेना ने आत्महत्या कर ली। राजभवन सूना हो गया। अधेड़ उम्र का मंत्री बुद्धिसागर, राज्य के अन्यान्य मंत्री तथा नगरसेठ आदि विशिष्ट व्यक्तियों ने मंत्रणा कर युवराज विक्रमादित्य की खोज करने के लिए चारों दिशाओं में आदमी भेज दिए। किन्तु खोज के तीन महीने बीत जाने पर भी युवराज का कहीं अता-पता नहीं मिला।

अता-पता भी कैसे लगता! उत्तरप्रदेश की यात्रा के लिए प्रस्थित अवधूत नर्मदा नदी के किनारे जंगलों में रुक गया था। वहां एक संगीताचार्य से परिचय हुआ और वहां उसके आश्रम में संगीत और नृत्य की शिक्षा ग्रहण करने के लिए रुक गया।

विक्रमादित्य जब बालक था, तब वह अपने बड़े भाई के साथ संगीत का अभ्यास करता था और प्रारंभिक ज्ञान प्राप्त कर लिया था। परन्तु संगीत तो एक अथाह सागर है। उसका पार कोई मर्त्य पा नहीं सकता। किन्तु इस जंगल में वयोवृद्ध संगीताचार्य का अनायास ही योग मिला और उसका निराश मन पुन: आशाओं से भर गया और वह इसीलिए उस रमणीय वन-प्रदेश में स्थिर हो गया।

युवराज का वृत्तान्त न मिलने के कारण अवंती राज्य का मंत्रिवर्ग बहुत चिन्तित हो गया। राज्य का कारोबार व्यवस्थित चल रहा था, पर राजा के बिना राजसिंहासन की रक्षा कैसे की जा सकती है? यदि कोई बलशाली राजा आक्रमण कर दे या कोई पारिवारिक बन्धु राज्य हड़पने के लिए सिर उठाए तो क्या किया जाए?

इतना होने पर भी युवराज की टोह में गुप्तचरों की अनेक टोलियां भारत की चारों दिशाओं में भेजी जा चुकी थीं।

दो महीने और बीत गए। युवराज का कोई वृत्तान्त नहीं मिला। अन्त में महामंत्री तथा अन्य मंत्रियों ने यह निर्णय लिया कि इस गद्दी पर जिसका हक पहला हो, उसे राजगद्दी पर बिठा दिया जाए।

सभी मंत्री, पारिवारिक जन, सेनानायक तथा सरदार एकत्रित हुए। वे कुछ निर्णय करें, उससे पूर्व ही अवंती के सूने राजसिंहासन पर व्यंतर जाति के देव अग्निवैताल की नजर पड़ी और उसके मन में राजसुख भोगने की प्रबल लालसा जागृत हो गई। अब वह अदृश्य रूप से राजभवन में आता और सिंहासन पर अपने अधिकार को मान लेता।

किसी को अदृश्य व्यंतर की कल्पना नहीं थी। राज्य के गण्यमान्य व्यक्तियों ने सर्वसम्मति से श्रीपति नामक एक युवक को राजसिंहासन के लिए चुना।

किसी प्रकार की कल्पना न हो और अकस्मात् ही इतने विशाल साम्राज्य का स्वामित्व प्राप्त हो तो क्या यह कम भाग्य की बात है ? जब भाग्य का उदय होना होता है, तब वह आकस्मिक रूप से होता है। यदि भाग्य मंद है तो वर्षों तक पुरुषार्थ करने पर भी कुछ नहीं होता।

सबकी दृष्टि श्रीपति पर टिकी हुई थी और राजसभा के सदस्यों ने एकमत से श्रीपति को मालवनाथ के रूप में स्वीकृति दे दी; क्योंकि श्रीपति भर्तृहरि के कुल का अति निकट सदस्य था। श्रीपति एक सामन्त था। उसके अधीन दस गांव थे और वह अवंती से बीस कोस की दूरी पर रहता था।

कहां तो दस गांवों का आधिपत्य और कहां मालव प्रदेश का विशाल और समृद्ध राज्य ! श्रीपति के माता-पिता आनन्द-विभोर हो गए। उन्होंने सोचा, अब यहां के मिट्टी के मकानों को छोड़कर कांच के महलों में निवास करना होगा। सैकड़ों दास-दासी आज्ञा की प्रतीक्षा में हाथ जोड़े खड़े मिलेंगे। पानी मांगने पर दूध प्रस्तुत करेंगे -- सम्पूर्ण मालव में जयनाद गूंजेगा।

कभी-कभी भाग्य जागता है तब व्यक्ति के मन में ऐसी तरंगें उठती हैं।

श्रीपति का विवाह अगले वर्ष करना था। अभी चार मास पूर्व ही पांच गांव के एक सरदार की पुत्री के साथ सगाई की थी।

श्रीपति के पिता ने सोचा, अब यह सगाई-संबंध शोभित नहीं होगा। पुत्र मालव का सम्राट् बने और वह एक निर्धन सरदार की पुत्री के साथ विवाह करे, यह किसी भी प्रकार से उचित नहीं कहा जा सकता। श्रीपति के लिए तो दूसरी कोई सगाई की खोज करनी होगी।

अवंती के राजपुरोहित ने माघ शुक्ला तीज को राजतिलक का दिन निश्चित किया। उस वेला के अभी दस दिन शेष थे। श्रीपति के माता-पिता ने श्रीपति की स्वीकृति प्राप्त कर, सगाई को छोड़ने की बात कहलवा दी।

श्रीपति, उसके माता-पिता तथा अन्य कुटुम्बीजन अवंती में आ गए -- उन सबको एक अन्य महल में ठहराया गया। राज्याभिषेक के पश्चात् वे राजभवन में आ जाएंगे, ऐसा राजपुरोहित ने कहा था।

राज्याभिषेक का शुभ दिन आ गया। सारा नगर उत्सवमय हो गया। स्थान-स्थान पर तोरणद्वार बनाए गए थे। जनता में यह जानकर प्रसन्नता थी कि महीनों से सूना पड़ा हुआ सिंहासन अब सनाथ होगा। सभी लोग नये राजा का अभिनन्दन करने के लिए उतावले हो रहे थे।

राज्याभिषेक पूर्ण आडम्बर के साथ सम्पन्न हुआ। राजराजेश्वर मालवनाथ महाराज श्रीपति की जय-जयकार से सारी राजसभा गूंज उठी।

मंत्रियों की सूचना के अनुसार याचकों को दान दिया गया। राजसभा के प्रांगण में सामूहिक भोज का समारंभ हुआ। रात्रि में नर्तकियों और गायिकाओं का कार्यक्रम हुआ। राजसभा में एकत्रित लोगों को मैरेय और वारुणि नहीं दी जाती थी, किन्तु श्रीपति के पिता शक्ति सम्प्रदाय के उपासक थे, अतः उन्होंने मैरेय देने के लिए दास-दासियों को आज्ञा दी।

१. अग्निवैताल

लगभग आधी रात बीत जाने पर महाराज श्रीपति अपने शयनकक्ष में गए। वे युवा थे। गांव के संस्कारों से सम्पन्न थे। मित्र भी वैसे ही मिले थे। शयनगृह में जाने के बाद उनके मन में किसी सुन्दर दासी के साथ प्रथम रात्रि बिताने की इच्छा हुई। किन्तु संकोचवश उन्होंने किसी से कुछ नहीं कहा और द्वार बन्द कर रत्नजटित स्वर्ण के पलंग पर बिछी हुई रेशमी शय्या पर सो गये।

एक ओर तो आकण्ठ मदिरा का पान कर लिया था। उसी गुलाबी मादकता के साथ आज ही प्राप्त सत्ता की मादकता का मिलन हो गया।

सत्ता प्राप्त होने पर जो व्यक्ति आम्रवृक्ष की भांति विनम्र नहीं होते, किन्तु ताड़वृक्ष की भांति अकड़ जाते हैं, उन मनुष्यों के जीवन में सत्ता की मादकता विषतुल्य हो जाती है।

श्रीपति आज ही महाराज भर्तृहरि के उत्तराधिकारी बने थे और आज ही उनके मन में स्त्री-सहवास की भूख जाग गई थी। किन्तु राजभवन की परिचारिकाओं से नितान्त अपरिचित होने तथा यह बात बाहर प्रकट न हो, इस विचार ही विचार में वे अकेले शय्या पर सो गए और प्रातःकाल की शरबती कल्पनाओं को संजोते हुए वे कुछ ही क्षणों में निद्राधीन हो गए। कुछ ही क्षणों के पश्चात् अकस्मात् ही वह बंद द्वार खुल गया।

श्रीपति उस विशाल पलंग पर सीधा सो रहा था। द्वार पुनः बंद हो गया और स्वतः ही उसमें सांकल अटक गई। वहां किसी मनुष्य की परछाई भी नहीं दीख रही थी। तो फिर द्वार अपने आप कैसे खुला और कैसे बन्द हो गया?

दीपमालाओं का प्रकाश शयनकक्ष में व्याप्त था। अचानक एक विशाल आकृति दिखाई देने लगी। उसके केश खुले थे। उसकी आंखें लाल थीं। ऐसा लग रहा था कि उसके मुंह पर दो धधकते अंगारे रखे हुए हों। उसका वर्ण अत्यन्त श्याम था। उसकी भुजाएं प्रचण्ड थीं। उसके शरीर पर लाल रेशम की धोती शोभित

हो रही थी। उसका उत्तरीय श्वेत था – कानों के कुण्डल चमक रहे थे। उसके गले में मुक्ता और माणक की माला झूल रही थी। उसके बाजूबंद हीरक-मंडित होने के कारण चमक रहे थे।

इस प्रकार अचानक प्रकट होती हुई इस आकृति को कोई पहली बार देखने वाला पहली नजर में ही फट जाए, अवाक् हो जाए और यदि वह दुर्बल हो तो वहीं मर जाए।

यह मानवाकृति और कोई नहीं, स्वयं अग्निवैताल की ही थी। उसने रोष भरी दृष्टि से पलंग की ओर देखा। दो क्षण तक पलंग पर पड़े व्यक्ति की ओर देखकर वह अपनी तलवार हाथ में ले पलंग की ओर बढ़ा।

पलंग के पास आकर उसने खांसा, किन्तु श्रीपति गहरी नींद में सो रहा था। अग्निवैताल ने उसे एक हाथ से ऊपर उठाया। मधुर स्वप्न में खोया हुआ श्रीपति जागा और वह अग्निवैताल की ओर देखने लगा।

अग्निवैताल ने श्रीपति को पलंग पर पटकते हुए कहा – 'नालायक! मेरे सिंहासन पर तू क्यों बैठा ? हाथ में तलवार ले, अन्यथा मैं तुझे चूस लूंगा।' श्रीपति के हाथ जुड़ गए और वह कांपने लगा। अग्निवैताल ने अट्टहास करते हुए कहा – 'कायर! बुजदिल! राजसिंहासन कायरों से कभी शोभित नहीं होता, तलवार उठा!'

श्रीपति की जीभ तलवे पर चिपक गई थी। अग्निवैताल ने श्रीपति के कांपते पैर को पकड़ लिया। श्रीपति बोला – 'आप....आप....यहां कैसे आ गए ?'

'अरे! मूर्खों के सरदार!' यह कहकर अग्निवैताल ने श्रीपति के पैर का अंगूठा अपने मुंह में ले लिया। कुछ ही क्षणों में श्रीपति का शरीर निष्प्राण हो गया। अग्निवैताल ने उसकी निष्प्राण काया नीचे फेंक दी और वह एक मुक्त वातायन से अदृश्य हो गया।

दूसरे दिन प्रातःकाल के समय श्रीपति के दास ने शयनकक्ष का द्वार खटखटाया किन्तु द्वार को खोले कौन ? दास ने मन ही मन सोचा – महाराज रात में विलम्ब से सोए थे, अतः निद्राधीन हैं।

किन्तु जब एक प्रहर दिन बीत गया, फिर भी शयनकक्ष का द्वार नहीं खुला, तब सारे दास-दासी घबरा गए। महामंत्री बुद्धिसागर भी मंत्रणा के लिए आ गए। उन्होंने भी द्वार खटखटाया, फिर अन्त में द्वार को तोड़कर अंदर गए।

श्रीपति का निष्प्राण शरीर नीचे गलीचे पर पड़ा था। ऐसा लग रहा था मानो उसके शरीर से सारा रक्त चूस लिया गया है। वहां कल आनन्द-मंगल था, वहां आज करुण क्रन्दन होने लगा। श्रीपति के माता-पिता अपने इकलौते पुत्र की यह दशा देखकर मूर्च्छित हो गए।

नगरपालक, महाबलाधिकृत आदि अधिकारी वहां आ पहुंचे। ऐसा कैसे हुआ–इसकी खोज की गई, पर सब व्यर्थ। कुछ भी समझ में नहीं आया।

श्रीपति के माता-पिता पुत्र की अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न कर अपने गांव चले गए।

स्वप्न आया और बीत गया।

राजसिंहासन सूना हो गया। मंत्री पुन: उसी चिन्ता से चिन्तित हो गए। पन्द्रह दिन बीत गए। मंत्रियों ने पुन: अधीनस्थ छोटे राजाओं को एकत्रित किया और एक दूसरे युवक को मालवपति के रूप में चुना। नवयुवक लक्ष्मणसिंह था। भाग्य चमक उठा–केवल मध्यरात्रि तक–पश्चात् उसकी भी वही दशा हुई। मंत्रिगण असमंजस में पड़ गए।

इसी प्रकार इस सिंहासन पर अधीनस्थ राजाओं के चार राजकुमारों को बिठाया गया और सबकी एक ही गति हुई।

किसी को कोई पता नहीं लगा कि ऐसा क्यों हुआ? राजपुरोहित ने ग्रहशान्ति का उपक्रम किया। किसी छोटे देवता की यह करतूत हो तो उसकी तृप्ति के लिए यज्ञ किया गया। बाकले फेंके गए। अनेक मंत्रविदों को निमंत्रित किया गया।

और जब पांचवें नवयुवक को राजसिंहासन पर बिठाया और उसकी भी वही दशा हुई तब बिजली के गिरने से जैसे धरती कांप उठती है, वैसे ही समस्त अवंती कांप उठी। अधीनस्थ राजाओं ने भी इस राजगद्दी की लालसा सदा के लिए छोड़ दी।

अब क्या किया जाए? मंत्रविदों के प्रयत्न निष्फल हुए, साधकों ने हाथ खींच लिये। अग्निवैताल की इस क्रिया को कोई नहीं पकड़ सका।

इसी प्रकार छह महीने और बीत गए। महाराज भर्तृहरि को एक वन में खोज लिया, किन्तु उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। थके हुए मंत्रियों ने युवराज विक्रमादित्य को ढूंढने का बहुत प्रयास किया, किन्तु उनके कोई समाचार प्राप्त नहीं हुए और इधर अवधूत के वेश में विक्रमादित्य एक वर्ष तक उस आश्रम में संगीत की साधना कर पुन: यात्रा के लिए निकल पड़े।

मालव देश की परिस्थिति से वे सर्वथा अनजान थे। उन्होंने कुछ भी नहीं सुना था। उनका चित्त यात्रा के लिए प्रस्तुत था और वे अनेक यात्रा-स्थानों में अपनी संगीत-साधना को सार्थक करने की बात सोच रहे थे।

अकेले ही विक्रमादित्य उत्तरापथ की यात्रा के निमित्त नर्मदा नदी को पार कर आगे बढ़ते गए।

२. भट्टमात्र

मालव प्रदेश की सीमा से बीस कोस दूर पर स्थित चन्द्रावती नाम की एक नगरी थी। विक्रमादित्य वहां आ पहुंचे। नगरी स्वच्छ, सुन्दर और रमणीय थी। चन्द्रावती नगरी को देखते ही उनके स्मृतिपटल पर अवंती नगरी नाचने लगी।

अवंती का स्मरण आते ही उनके मन में मालव देश के त्याग की स्मृति ताजी हो गई।

उन्होंने कभी महाराज भर्तृहरि से यह प्रश्न भी नहीं किया था कि उन्हें मालव देश से क्यों निकाला जा रहा है। किन्तु बड़े भाई की आज्ञा को, आज्ञाकारी सैनिक की भांति स्वीकार कर वे घर से निकल पड़े थे।

जब से देश-त्याग किया था, उसी दिन से वे इसके कारण की खोज में लगे रहे, पर आज तक उन्हें अपना कोई दोष दृष्टिगोचर नहीं हुआ। तब फिर महाराज भर्तृहरि ने उन्हें देश-त्याग करने के लिए क्यों कहा? मैं उनके सौभाग्य का विरोधी तो था नहीं, मैं उनकी सत्ता का विरोधी भी नहीं था, मेरे हृदय में उनके प्रति अगाध श्रद्धाभाव था.....तो फिर?

'तो फिर' का उत्तर कोई नहीं दे पा रहा था। चन्द्रावती नगरी को देखने के पश्चात् उनकी यह पुरानी स्मृति पुनः ताजा हो गई।

उनके मन में यह विचार उठा कि उन्हें एक बार अवंती जाकर ही फिर आगे बढ़ना चाहिए—देखूं तो सही कि मेरे मित्र क्या कर रहे हैं? क्या सोच रहे हैं? बड़े भाई को संतान-प्राप्ति हुई या नहीं? मां के समान भावज कैसे हैं?

इस प्रकार अवंती जाने का आकर्षण उनके मन में जागृत हुआ। साथ ही साथ यह विचार भी उभरकर सामने आया कि मुझे क्यों जाना चाहिए?

तो क्या फिर इसी अवधूत वेश में जीवन को समाप्त कर दूं? मेरे पिता कौन थे? मेरा कुल कौन-सा है? मेरी जाति कौन-सी है? पुरुषार्थहीन होकर इस प्रकार भटकते रहने से लाभ ही क्या है? मन में उठे हुए इन विचारों ने विक्रमादित्य को विचलित कर डाला। नहीं....नहीं....नहीं, जिस भूमि से देश-त्याग की बात कही गई, उस भूमि का मोह क्यों रखा जाए? इससे तो अच्छा है कि मैं मगध देश की ओर जाऊं, वहां राजगृह, चम्पा, वैशाली, विशाखा, रत्ना आदि अनेक सुन्दर नगरियां हैं। गिरिव्रज नगरी भी दर्शनीय है। ऐसे किसी स्थान पर पहुंचकर पुरुषार्थ करना—किसी राजा को संगीत से मुग्ध कर कुछ कार्य लेना, यह उपयोगी है। इस प्रकार अवधूत के वेश में जीवन समाप्त कर देने का कोई प्रयोजन नहीं है—और यदि अवधूत के वेश में ही जीवन-यापन करना है तो फिर किसी योगी के आश्रम में रहना ही श्रेयस्कर है—अथवा हिमगिरि पर जाकर साधना करनी चाहिए।

इस प्रकार अनेक विचारों के उतार-चढ़ाव से गुजरते हुए अवधूत विक्रमादित्य स्थंभनपुर के बाजार को देखते हुए चले जा रहे थे।

अवधूत का वेश धारण करने के पश्चात् विक्रमादित्य ने अपने लिए कुछ नियम बना लिये थे — किसी के समक्ष हाथ नहीं पसारना, किसी से भिक्षा की याचना नहीं करना, किसी का दान नहीं लेना, कोई भोजन कराए तो भोजन कर लेना, अन्यथा फल-फूल खाकर रह जाना।

किन्तु पुण्यवान् व्यक्ति जहां कहीं हों, पुण्य सदा उनके साथ रहते हैं। विक्रमादित्य उत्तम राजकुल के बालक थे — नवयुवक थे, निर्दोष और पवित्र थे। उनके नयन तेजस्वी, वर्ण गौर और मुख प्रभावशाली था। उनकी भुजाएं प्रचंड, काया सुदृढ़ और प्रमाणोपेत थी। उनकी दाढ़ी और मूंछ के बाल बढ़े हुए थे, फिर भी उनका राजतेज स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा था।

स्थंभनपुर नगर में स्थंभन पार्श्वदेव का विशाल मंदिर था। वह अत्यन्त रमणीय और दर्शनीय था। वहीं कामनाथ महादेव का मंदिर भी अजोड़ गिना जाता था।

अवधूत विक्रमादित्य नगर की छटा को देखते हुए आगे बढ़ रहे थे। बाजार में आने-जाने वाला प्रत्येक व्यक्ति अवधूत के तेजस्वी वदन को देखकर श्रद्धापूर्वक नमस्कार करता। देखने वाला यही सोचता कि किसी दुःख से दुःखी होकर इस नवयुवक ने संन्यास धारण किया है। क्या इसके मां-बाप मर गए? क्या इसको सौतेली मां का संताप था? क्या यह बचपन से ही वैरागी बन गया?

एक दूकान पर एक मालदार सार्थवाह माल की खरीदी कर रहा था। उसके साथ वाले दो आदमियों ने तेजमूर्ति अवधूत की ओर देखा और बोले — 'सेठजी! यह कोई बालयोगी है। कितना इसका तेज है?'

'कहां है?' सेठ ने पूछा।

'देखो, सामने से आ रहे हैं।'

सेठ ने माल का सौदा बन्द कर दो क्षणों के लिए अवधूत की ओर देखा — भव्य कपाल, प्रचंड भुजाएं, मांसल देह, तेजस्वी नयन।

अवधूत विक्रमादित्य उस दूकान के पास से गुजर गए — सार्थवाह आंखें फाड़-फाड़कर उन्हें देख रहा था। उसने व्यापारी से कहा — 'तुम माल तोलो। मैं अभी आ रहा हूं।' यह कहकर वह सेठ अवधूत के पीछे चल पड़ा।

विक्रमादित्य धीरे-धीरे चल रहे थे। सार्थवाह उनके पास पहुंचा और हाथ जोड़कर बोला — 'महात्मन्! मेरा प्रणाम स्वीकार हो।'

विक्रमादित्य ने केवल हाथ ऊंचा किया।

सार्थवाह ने अपनी कमर पर बंधी हुई थैली निकाली और कहा --'योगिराज! चरण-स्पर्श करना चाहता हूं।'

विक्रमादित्य वहीं खड़े रह गये।

सेठ ने पांच स्वर्ण मुद्राएं अर्पित कीं। यह देखकर विक्रमादित्य बोले – 'भाई! मैं धन को नहीं छूता – मेरे को धन की आवश्यकता भी नहीं है।'

'कृपावतार, यह तो मैं....।'

विक्रम ने हंसते हुए कहा – 'मैं तेरी भावना को जान चुका हूं....साधु और स्वर्ण का कभी कहीं मेल नहीं होता।'

सेठ ने चरण-स्पर्श कर अवधूत के चरणों में पांच स्वर्ण मुद्राएं चढ़ा दीं।

विक्रमादित्य मुस्कराते हुए आगे बढ़ गए – स्वर्ण मुद्राएं मार्ग में पड़ी रह गईं। सेठ ने इसे संत का प्रसाद समझकर पांचों स्वर्ण मुद्राएं उठा लीं। उसने सोचा, यह तो कोई महान् योगी है, सच्चा त्यागी है।

विक्रमादित्य को इस प्रकार के अनेक अनुभव हुए। कोई व्यक्ति कभी फलाहार अथवा खाद्य-सामग्री दे जाता। यदि आवश्यकता होती तो वे उसे रखते, अन्यथा वापस लौटा देते। इस अवस्था में भी विक्रम अपनी माता द्वारा संप्राप्त संस्कार को नहीं भूले थे – वे सूर्यास्त के बाद अन्न-जल ग्रहण नहीं करते थे।

वे बाजार से चले जा रहे थे। एक स्थान पर उन्होंने देखा कि एक ब्राह्मण बैठा है। वह लगभग तीस वर्ष की आयुष्य का होगा। लोग उसको घेरकर खड़े थे। प्रत्येक व्यक्ति अपने क्रम के अनुसार उसके पास जाता, प्रश्न करता, ब्राह्मण उसका जवाब देता। विक्रमादित्य ने सोचा, यह कोई निमित्तज्ञ अथवा ज्योतिषी है। लोग अपना भाग्य जानने के लिए कितने उत्सुक हैं। विक्रमादित्य के मन में भी कुतूहल उत्पन्न हुआ और वे निकट के एक वृक्ष के नीचे खड़े रहकर सारा दृश्य देखने लगे।

उन्होंने देखा कि ज्योतिषी का चेहरा निर्मल और ज्ञान से गंभीर है। गरीबी होने पर भी उसका मन और वदन अत्यन्त प्रसन्न है। उसका शरीर भी स्वस्थ और सुन्दर है।

अचानक उस ज्योतिषी की दृष्टि अवधूत पर पड़ी और उसकी आंखों में चमक दौड़ पड़ी। उसने सोचा – यह अवधूत कोई असाधारण पुरुष है। इसका तेजस्वी वदन राजवंशी होने का साक्ष्य है। इसकी आंख की ज्योति अमृत-वर्षा कर रही है। इसकी प्रचण्ड भुजाओं में क्षत्रिय का बल होने का संकेत प्राप्त हो रहा है। इतना देखकर ज्योतिषी ने सोचा – ऐसे महात्मा पुरुष से मिलना चाहिए और उनकी पहचान कर लेनी चाहिए।

किन्तु प्रश्नकर्त्ताओं की भीड़ लगी हुई थी। सायंकाल का समय हो रहा था। ज्योतिषी सबके प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करने लगा। प्रश्नकर्त्ता

समाधान पाकर खिसकने लगे। भीड़ कम हो गई। लोगों ने ज्योतिषी की भूरि-भूरि सराहना की।

विक्रमादित्य को आश्चर्य हुआ कि यह व्यक्ति बिना गणित किए किस प्रकार प्रश्नों के उत्तर देता होगा? क्या यह आकृति विज्ञान का ज्ञाता है? यह न किसी की हस्तरेखा देखता है, न जन्मकुण्डली देखता है, केवल दो-चार क्षणों तक आकृति को देखकर प्रश्न का उत्तर देता है—ऐसा मैंने आज तक नहीं देखा, नहीं सुना।

सूर्यास्त हो जाने पर जलपान नहीं करना है, यह सोचकर विक्रमादित्य नगरी के द्वार की ओर चल पड़े।

ज्योतिषी भी अपना आसन कंधे पर रखकर विक्रमादित्य के पीछे जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाता हुआ चल पड़ा।

अवधूत वेशधारी विक्रमादित्य नगर के दरवाजे से बाहर निकले, इतने में ही ज्योतिषी के शब्द सुनाई पड़े—'महाराज! कृपा कर कुछ ठहरें।'

विक्रमादित्य ने मुड़कर देखा और ज्योतिषी को आते हुए देखकर वहीं रुक गए।

ज्योतिषी ने निकट आकर कहा—'महात्मन्! आपको जाते हुए देखकर मैं दौड़ता हुआ आया हूं।'

'मैं तो आपको नहीं जानता।'

'नहीं महात्मन्! मैं तो आकृति को देखकर आया। आप कोई राजयोगी हैं, कृपावतार! आपका आसन कहां है?'

'रमता-राम के लिए कैसा आसन? आज ही आया हूं। यहां रात भर विश्राम कर चला जाऊंगा।'

'तो आप मेरी झोंपड़ी पर पधारें—मैं आपका स्वागत कर पुण्यशाली बनूंगा।'

'नहीं भाई! मैं गृहस्थों के यहां नहीं जाता।'

'मैं भी फक्कड़ हूं—आपकी ही भांति देशाटन कर रहा हूं।'

'तो चलो! सूर्यास्त के पश्चात् मैं जलपान ग्रहण नहीं करूंगा।' विक्रम ने कहा। तत्काल दोनों आगे बढ़ गए।

दरवाजे के बाहर निकट में ही ज्योतिषी का निवास था। रहने के लिए किसी का एक छोटा-सा मकान मिल गया था। गत दस दिनों से वह यहीं रह रहा था। पांच दिनों के बाद वह और किसी नगर की ओर प्रस्थान करने वाला था।

ज्योतिषी के मकान पर दोनों आए। ज्योतिषी ने अवधूत को कुछ मिठाई दी, दूध पिलाया और जलपान कराया। सूर्यास्त हो गया।

ज्योतिषी ने एक चौकी पर आसन बिछाया। विक्रमादित्य को उस पर बिठाकर पूछा – 'महात्मन्! आपके ललाट की रेखाओं को देखकर मैं चमत्कृत हो गया हूं।'

विक्रम ने हंसते हुए कहा – 'चमत्कृत होने जैसी क्या बात है ?'

'महात्मन्! चमत्कृत होने जैसी ही बात है। आपकी आकृति ने मेरे मन में भारी संशय पैदा कर दिया है। आपके मस्तक पर राजमुकुट होना चाहिए। मुझे आश्चर्य हो रहा है कि यह सब कैसे हुआ ?'

विक्रम ने प्रश्न किया – 'महाराज! आपका शुभ नाम ?'

'मैं मालव देश का निवासी हूं। मैं एक गरीब ब्राह्मण हूं। मेरा नाम है – भट्टमात्र। मैं जब पांच वर्ष का था तब से अभ्यास कर रहा हूं।'

'भट्टमात्र ? बड़ा मधुर नाम है।'

'किन्तु आपने मेरे प्रश्न का उत्तर देने की कृपा नहीं की। आपकी उम्र मेरी दृष्टि में बीस वर्ष होनी चाहिए।'

'भट्टमात्रजी! त्यागियों को नाम का मोह नहीं होता। भूतकाल का स्मरण करना भी त्यागियों के लिए शोभा नहीं देता।'

'कृपावतार! तो मुझे पुनः काशी जाना पड़ेगा ?'

'क्यों ?'

'मेरी विद्या अपरिपक्व है,ऐसा मानकर!'

'भाई! विद्या तो एक विशाल सागर है। वह कभी न्यून नहीं होता। वह कभी नहीं छलकता – और उसको केवली के अतिरिक्त कोई भी नहीं जान सकता।'

'केवली भगवान ?'

'हां, भट्टमात्रजी! श्रमण संस्कृति के अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर।'

'तो क्या आप जैन दर्शन के..... ।'

'साधु को सभी दर्शनों का अभ्यास करना चाहिए – सर्व दर्शन का सम्मान रखना उनका कर्त्तव्य है।' विक्रम ने कहा।

'योगीश्वर! मेरी विद्या मुझे आपका अतिरिक्त परिचय दे रही है।'

'विद्या या आपका मन ?'

बीच में ही भट्टमात्र ने कहा – 'महाराज! मेरी विद्या कभी असत्य नहीं हुई। आप उच्चकुलोत्पन्न राजकुमार हैं और आपकी आकृति में मुझे राजयोग दीख रहा है। आप छिपाते हैं, परन्तु भाल पर अंकित रेखाएं आपको छिपा नहीं सकतीं।'

विक्रम के हृदय में भट्टमात्र के प्रति बहुत सम्मान पैदा हुआ। फिर दोनों के बीच चर्चा हुई। विक्रम ने इतना-सा कहा कि वह एक राजकुमार है और पर्यटन के लिए निकला है। इसके अतिरिक्त और कुछ भी परिचय नहीं दिया।

एक ही रात्रि के सहवास से दोनों मित्र बन गए और विक्रमादित्य एक रात वहां अधिक ठहरे।

दूसरे दिन दोनों एक साथ प्रवास के लिए निकल पड़े।

३. निर्लोभी

जब दो व्यक्तियों में स्नेहभरी मैत्री होती है, तब परस्पर विश्वास का सत्य अंकुरित हो जाता है, फिर मन की कोई भी गुप्त बात एक-दूसरे से छिपी भी नहीं रह सकती।

विक्रमादित्य ने अपने देश-निष्कासन की वेदना को बराबर पचाकर रखा था। उन्होंने अपना दोष देखने का भरपूर प्रयास किया, किन्तु कोई दोष दिखाई नहीं दिया। अभी उन्होंने यौवन के प्रथम सोपान पर पैर रखा था, किन्तु मन कभी चंचल नहीं हुआ और उन्होंने कभी किसी नारी को वासना की दृष्टि से नहीं देखा था। उनके मन में किसी नारी ने अभी स्थान नहीं जमाया था। वे अपने बड़े भाई भर्तृहरि की छाया में एक अबोध बालक की भांति रह रहे थे और धनुर्विद्या को हस्तगत करने के लिए अपनी शक्ति लगा रहे थे। उन्हें यह भी स्मृति नहीं थी कि उन्होंने कभी बड़े भाई या भाभी का तथा अन्य किसी का अपमान किया हो। इतना होने पर भी देश-निष्कासन का कारण क्या बना, यह उन्हें ज्ञात नहीं हो सका और यह प्रश्न उनके मन में दबी आग की भांति पड़ा था।

स्थंभन तीर्थ से वे भट्टमात्र के साथ यात्रा पर निकल पड़े और मार्ग में आठ दिन के निकट सहवास से दोनों की मैत्री दृढ़ हुई और एक दिन विक्रमादित्य ने अपने देश-निष्कासन की घटना भट्टमात्र को बताते हुए अपना पूरा परिचय दे डाला।

भट्टमात्र ने आकृति-विज्ञान के आधार पर यह निश्चय कर लिया था कि ये अवधूत नहीं, कोई राजकुमार हैं—और विक्रमादित्य से पूरा परिचय सुनकर भट्टमात्र को अपनी विद्या की सत्यता पर सात्विक संतोष हुआ।

भट्टमात्र को मालव देश की अनेक घटनाएं ज्ञात थीं, पर उसने अभी तक अवधूत से उनकी चर्चा नहीं की थी।

विक्रमादित्य का पूरा परिचय जान लेने के पश्चात् भट्टमात्र ने अवधूत के दोनों हाथ पकड़कर कहा – 'मित्र ! आज मेरा मन शान्त हुआ है – मेरा शास्त्र मुझे स्पष्ट रूप से यह बता रहा था कि आप अवधूत नहीं, एक राजकुमार हैं।'

'आपका शास्त्र सत्य साबित हुआ न ?'

'हां, किन्तु मालव देश की आज क्या स्थिति है, क्या आपने कुछ सुना है?'

'नहीं, भट्टमात्र! अब मुझे उसमें कोई रस नहीं है। मेरे बड़े भाई समर्थ हैं, इसलिए मालव की जनता कभी दु:खी नहीं हो सकती, ऐसा मेरा अटूट विश्वास है।'

भट्टमात्र का मन हुआ कि वह मालव देश की सारी स्थिति अवधूत के समक्ष स्पष्ट कर दे, किन्तु उसने सोचा – सम्भव है मालव की स्थिति की विडम्बना को अचानक सुनकर अवधूत का मन टूट जाए। उसने कहा – 'महाराज! जन्मभूमि का इस प्रकार अनादर... ।'

बीच में विक्रमादित्य ने कहा – 'जन्मभूमि के प्रति मेरे मन में जो अनुराग है, उसको मैं ही जानता हूं, दूसरा नहीं। मैं एक क्षत्रिय हूं। बड़े भाई को जो मैंने वचन दिया है, उसका लोप मैं कैसे कर सकता हूं?'

'धन्य हैं आपके महाप्रण को!'

'मित्र! मैंने धन्यवाद पाने के लिए अपना परिचय नहीं दिया है.... ।'

'कृपानाथ! मैंने धन्यवाद निरर्थक नहीं दिया है। इस प्रकार बिना किसी हेतु के किसी को देश-निष्कासन मिलता है, तो वह अन्याय का प्रतिकार करने के लिए आकाश-पाताल एक कर देता है – अथवा शत्रु राजा से मिलकर भयंकर युद्ध भड़का देता है – आप इन सबसे दूर रहे।'

'भट्टमात्र! मैंने तो अपना कर्त्तव्य निभाया है। पिता-तुल्य बड़े भाई के प्रति मन में वैर जागे ही क्यों? ऐसे विचार तो एक दुष्ट ही कर सकता है। मेरे भाई बुद्धिमान्, शांत और उदार हैं। मुझे देश-निष्कासन की आज्ञा उन्होंने दी, इसका कारण मेरी समझ में नहीं आया। संभव है कि अज्ञात में मेरे द्वारा कोई अपराध हो गया हो अथवा मेरे अशुभ कर्मों के उदय से ऐसा घटित हुआ हो।' विक्रमादित्य ने कहा।

इस प्रकार दोनों बातें करते-करते सो गए। दूसरे दिन प्रात:प्रवास पर चलना था। दोनों उठे। स्नान आदि से निवृत्त होकर प्रवास के लिए तैयार हुए। इतने में ही भट्टमात्र ने कहा – 'महाराज!.....'

बीच में टोकते हुए विक्रमादित्य ने कहा – 'तुम मुझे महाराज मत कहो। मैं तो तुम्हारा मित्र और अवधूत हूं।'

'मुझे आपकी भाग्य रेखाएं सब कुछ बता जाती हैं – आप किसी महान् राज्य के अधिपति बनने वाले हैं। इतना ही नहीं, आप एक शक्तिशाली और समर्थ महापुरुष होंगे – फिर भी मैं अवधूत ही कहूंगा।' भट्टमात्र बोला।

'अच्छा बोलो, तुम क्या कहना चाहते हो?'

'यहां से दस कोस की दूरी पर रोहणाचल पर्वत है – पर्वत छोटा है, पर वहां एक खाणी – पर्वतीय दरार चामत्कारिक है। कोई भी मनुष्य 'हा दैव, हा दैव'

इस प्रकार तीन बार कहकर उसमें एक पत्थर फेंकता है तो तत्काल उस खाणी से एक मूल्यवान् रत्न उस मनुष्य के चरणों में आ गिरता है।' भट्टमात्र ने कहा।

'तुम मेरा परिहास मत करो – ऐसा आश्चर्य केवल दंतकथाओं में ही है।'

'मैं सच कहता हूं।'

'पर यह बात मानने में नहीं आती।'

'तो हम उस ओर चलें, मार्ग कुछ लंबा है, पर मेरे कथन की प्रतीति हो जाएगी।'

'अच्छा, हमारा उद्देश्य ही है घूमना।' विक्रमादित्य ने कहा।

और दोनों रोहणाचल पर्वत की ओर चल पड़े।

मार्ग में एक छोटा-सा गांव आया। दोनों ने वहां भोजन किया और कुछ विश्राम कर आगे प्रस्थान कर दिया।

मध्याह्न के पश्चात् वे दोनों एक गांव में पहुंच गए, जो रोहणाचल पर्वत की तलहटी में बसा हुआ था।

कषाय वस्त्रधारी युवक तथा तेजस्वी अवधूत को गांव में आया हुआ जानकर लोग भक्तिभाव से प्रेरित होकर एकत्रित हुए और दोनों को एक देवालय में ठहराया।

गांव के संभ्रान्त लोगों ने उन्हें भोजन का निमन्त्रण दिया। भट्टमात्र ने उन्हें सूचित कर दिया कि महात्मा सूर्यास्त के पश्चात् अन्न-जल ग्रहण नहीं करते, इसलिए लोगों ने उन्हें सूर्यास्त से पूर्व भोजन से निवृत्त कर दिया। रात के समय गांव के स्त्री-पुरुष महात्मा की वाणी सुनने के लिए देवालय में एकत्रित हुए।

अवधूत वेशधारी विक्रमादित्य ने उपस्थित जनता को धर्मोपदेश दिया और दुराचार से दूर रहने की सीख दी।

गांव के नर-नारी उपदेश से संतुष्ट हुए। दो-चार भजन-गायकों ने भजन गाया। एक वृद्ध पुरुष ने अवधूत से भजन गाने का अनुरोध किया।

विक्रमादित्य ने एक भजन-गायक से तंबूरा लेकर उसके दोनों तारों का षड्ज और पंचम-स्वर में संधान कर, 'देशराग' में प्रभु-कीर्तन का एक सरस भजन प्रस्तुत किया।

शास्त्रीय गीत, हृदयवेधक राग और नौजवान योगी का अति मधुर स्वर!

गांव के लोग धन्य-धन्य हो गए।

और दोनों प्रवासी पश्चिम रात्रि में उस गांव से प्रस्थान कर रोहणाचल की ओर चल पड़े।

सूर्योदय होते-होते दोनों उस पर्वतीय दरार के पास पहुंच गए। पर्वत अधिक ऊंचा नहीं था, किन्तु उसकी चढ़ाई कठिन प्रतीत हो रही थी और वह दरार ऐसी लग रही थी, मानो कि वह पाताल तक पहुंच गई हो।

भट्टमात्र ने कहा – 'आप एक पत्थर फेंककर मेरी बात की परीक्षा कर लें।'

विक्रमादित्य ने एक पत्थर हाथ में लेकर कहा – 'पत्थर फेंकने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु मैं 'हा दैव – हा दैव' ऐसा नहीं कहूंगा।'

'इतना तो आपको कहना ही पड़ेगा।'

'नहीं, मित्र! मैं इस प्रकार दीनता नहीं दिखा सकता। तीन लोक के राज्य की प्राप्ति भी होती हो, तो भी सच्चा क्षत्रिय इस प्रकार दीनता नहीं दिखा सकता। तुम पत्थर फेंको, मुझे विश्वास हो जाएगा।'

'मित्र! मनुष्य को जीवन में एक ही बार यहां लाभ प्राप्त होता है। भाग्य मंद भले ही हो, पर एक रत्न तो मिल ही जाता है। मैंने अपने भाग्य की परीक्षा की है।'

विक्रमादित्य ने हाथ में पत्थर को ऊपर-नीचे करते हुए कहा – 'मैं दीन बनकर रत्न प्राप्त नहीं करना चाहता।'

भट्टमात्र विचारमग्न हो गया। उसने एक युक्ति निकाली। वह बोला – 'तो फिर आप पत्थर फेंकें। देखते हैं, क्या चमत्कार होता है।'

विक्रमादित्य ने तत्काल उस दरार में पत्थर फेंका।

उसी समय भट्टमात्र बोल पड़ा – 'महाराज! एक दुःखद समाचार मैं आपको बता नहीं सका – अवंती की महारानी अनंगसेना ने आत्महत्या कर अपनी इहलीला समाप्त कर डाली।'

ये शब्द सुनते ही विक्रमादित्य ने 'हा दैव!', 'हा दैव!', 'हा दैव!' कहा।

और उसी क्षण उस पर्वतीय दरार से एक रत्न उछला और विक्रमादित्य के पैरों के पास आ गिरा।

रत्न तेजस्वी था – चक्रवर्ती के भण्डार में भी ऐसा मूल्यवान् रत्न प्राप्त होना दुर्लभ था। वह सूर्य के समान चमक रहा था।

भट्टमात्र ने कहा – 'महाराज! आपके द्वारा 'हा दैव! हा दैव!' का उच्चारण हो, इसीलिए मैंने वह समाचार कहा था। देखा इस दरार में रहने वाले अदृश्य देव का चमत्कार! श्रेष्ठ और आपके भाग्य का अभिनन्दन करने वाला रत्न आपके चरणों में पड़ा है।'

'ओह!' कहते हुए विक्रमादित्य ने रत्न को उठाया और उसको पुनः दरार में फेंकते हुए कहा – 'रत्न देने वाले देव! मैं इस रत्न को स्वीकार नहीं कर सकता। दीनता से याचना करना किसी भी क्षत्रिय को शोभा नहीं देता और तुम्हारी दानभावना भी यहां निष्फल सिद्ध हुई है। तुम्हारे समक्ष जो दीन बनता है, उसे ही तुम रत्नदान करते हो, यह तुम्हारे देवत्व की शोभा नहीं है और तुम्हारी उदारता की तेजस्विता भी नहीं है।'

भट्टमात्र आश्चर्यचकित रह गया। वह बोल पड़ा– 'महाराज! आपने यह क्या कर डाला? ऐसा दिव्य रत्न.... ।'

बीच में ही विक्रमादित्य ने कहा– 'तुम्हें तो मेरे भाग्य की परीक्षा करनी थी, वह पूरी हो गई– अवधूत रत्न और कंकड़ में कोई अन्तर नहीं देखता।'

'महाराज! वास्तव में ही आप महान् हैं।'

'महान् तो तुम हो। मेरी परीक्षा करने के लिए तुमने ऐसा समाचार कहा कि मुझे हा दैव! हा दैव! कहना पड़ा।'

दोनों वहां से मुड़े और अन्यत्र पहुंचने के लिए प्रस्थान कर दिया।

दो दिन के पर्वतीय भूमि के प्रवास के पश्चात् वे राजमार्ग पर पहुंच गए। चलते-चलते वे एक छोटे-से गांव के पास आए। सांझ हो रही थी। गांव के निकट ही एक नदी बहती थी। दोनों ने पाथेय का भोजन किया और जलपान कर निवृत्त हो गए। वहां से वे गांव में न जाकर वहीं एक शिवालय की चौकी पर रात बिताने के लिए बैठ गए।

रात्रिकाल प्रारम्भ हो गया था। दोनों परस्पर वार्तालाप करते-करते वहीं सो गए। भट्टमात्र के पास एक चादर बिछाने के लिए और एक ओढ़ने के लिए थी। विक्रमादित्य के पास एक मृगचर्म और एक ऊनी शाल थी। दोनों के लिए साधन पर्याप्त थे।

मध्यरात्रि का समय। अचानक भट्टमात्र की आंख खुली। उसके कानों से एक सियाल की आवाज टकराई। वह ध्यान से सुनने लगा। वह खड़ा हुआ और चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। अंधकार सघन था। कुछ भी नहीं दीख रहा था। अनजानी धरती– वह असमंजस में पड़ गया। उसने विक्रमादित्य को जगाना चाहा, किन्तु विक्रमादित्य जाग चुके थे और वे भट्टमात्र को देख रहे थे। उन्होंने कहा– 'मित्र! अचानक नींद कैसे उड़ गई?'

'अच्छा हुआ, आप जाग गए, मैं आपको जगाने ही वाला था।'

'क्या कोई भय है?'

'नहीं, एक अच्छा शकुन प्राप्त हुआ है– आप उठें।'

'क्या हमें अभी प्रस्थान करना होगा?'

'हां, महाराज! अभी-अभी एक सियाल बोल रहा था। उसका आशय था कि इस नदी में एक स्त्री का शव तैरता हुआ आ रहा है– उस शव के गले में नवलखा हार है, और भी अनेक अलंकार हैं।'

'क्या सियाल ने यह बात बताई है?'

'हां, इसीलिए मैं जाग गया।'

'क्या तुम पशु-पक्षियों की भाषा जानते हो ?'

'हां, महाराज!'

विक्रमादित्य ने खड़े होकर कहा – 'अच्छा तो चलो, हम सियाल के शब्दों की परीक्षा कर लें।'

दोनों नदी की ओर चल पड़े। लगभग एक घटिका पर्यन्त नदी के किनारे चलते-चलते विक्रमादित्य की दृष्टि एक पत्थर पर पड़ी। उसका प्रकाश शुक्र के तारे जैसा था। विक्रमादित्य अंगुली-निर्देशपूर्वक भट्टमात्र से बोले – 'मित्र! सामने कोई पदार्थ चमकता-सा नजर आ रहा है।'

दोनों उस ओर चले। निकटता से देखने पर लगा कि नदी के प्रवाह में बहकर एक नवयुवती का शव उस चट्टान के पास अटक गया है और उसके गले में पहने हुए हार के रत्नों में तारों का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है।

भट्टमात्र बोल पड़ा – 'महाराज! सियाल ने सत्य ही कहा था। यह स्त्री किसी दुर्घटना की शिकार हुई लगती है अथवा नौका उलट गई होगी। अब आप इसके शरीर के आभूषण ले लें। अनायास ही इतना धन बिना भाग्य के प्राप्त नहीं होता।'

विक्रम बोला – 'मित्र! तुम बहुत गुणवान् हो। किन्तु मैं मरे हुए व्यक्ति के अलंकार नहीं ले सकता। तुम ही ले आओ। तुम्हारा दारिद्र्य दूर हो जाएगा।'

भट्टमात्र बोला – 'महाराज! मेरे जैसे गरीब ब्राह्मण के पास ऐसे मूल्यवान् आभूषणों को देखकर लोग मुझे चोर समझेंगे। आप ही इन्हें ले लें।'

'मित्र! नहीं, नहीं। मैं ऐसा भाग्यवान् बनना नहीं चाहता। मुझे ऐसा उच्छिष्ट धन नहीं चाहिए।'

दोनों तत्काल वहां से लौट पड़े।

भट्टमात्र को विक्रम की निर्लोभता देखकर बहुत हर्ष हुआ। आगे चलते-चलते विक्रमादित्य ने कहा – 'तुम कोई शकुन की बात कह रहे थे न.....?'

'हां, महाराज! मेरी वह बात बीच में ही रह गई थी। यदि हम एकाध घटिका में प्रस्थान कर देते हैं तो दोनों में से किसी एक को राजयोग होना संभव है।'

'तो हम चलते जाएं', विक्रमादित्य ने कहा।

दोनों साथी मंदिर में आए और अपना-अपना सामान लेकर वहां से चल पड़े।

४. अवंती में

अवधूत वेशधारी युवराज विक्रमादित्य और भट्टमात्र – दोनों पन्द्रह दिनों के भीतर मालव प्रदेश की सीमा के पास आ पहुंचे। एक नदी के किनारे दोनों ने स्नान-भोजन किया और एक वृक्ष के नीचे विश्राम करने के लिए लेट गए।

भट्टमात्र बोला – 'महाराज! मैंने एक बात आपसे नहीं कही। किन्तु नदी के उस दूसरे तट से मालव देश की राज्य-सीमा प्रारम्भ होती हैं, इसलिए मैं वह बात आपको बता देना चाहता हूं।'

'बोलो, क्या बात है ?'

'मैं भी मालव देश का निवासी हूं। मेरा गांव यहां से दस कोस की दूरी पर ही है। अवंती यहां से साठ कोस दूर होगी। मेरी प्रार्थना है कि आप राजधानी की ओर पधारें।'

'नहीं, मित्र! मेरी उत्तरप्रदेश की ओर जाने की इच्छा है। मैं अवंती जाना नहीं चाहता।'

'किन्तु महाराज! जाना होगा ही। क्योंकि अवंती का राजसिंहासन आपकी प्रतीक्षा कर रहा है।'

'मैं नहीं समझ सका।'

'अवंती के विषय में मैंने अनेक बातें सुनी हैं। महादेवी के प्रति महाराज भर्तृहरि का अपार प्रेम था। किन्तु महादेवी अनंगसेना उस प्रेम की पूजा नहीं कर सकीं। वह अश्वपाल नामक एक महावत के प्रेमजाल में फंस गई। महाराज भर्तृहरि ने जब यह जाना तब से वे टूट गए। उनको बहुत बड़ा आघात लगा और वे राज्य का त्याग कर, कषाय वस्त्र धारण कर चले गए। महादेवी अनंगसेना ने दूसरे ही दिन आत्महत्या कर प्राण दे डाले। तत्पश्चात् अवंती के राजसिंहासन की विचित्र स्थिति बन गई। जिन्होंने उस सिंहासन पर बैठने का प्रयत्न किया, वे दूसरे ही दिन मौत के मुंह में फंसते गए – इस परिस्थिति में यदि आप वहां शीघ्र नहीं पहुंचते हैं तो बहुत अहितकर होगा।' भट्टमात्र ने कहा।

विक्रमादित्य अवाक् रह गए। दो क्षण बाद वे बोले – 'भट्टमात्र! यह बात मानने योग्य नहीं लगती।'

'महाराज! संसार में अनेक असंभव बातें भी घटित होती हैं। आपका देश से निष्कासन होगा, क्या ऐसा कोई मान सकता था ?'

विक्रमादित्य विचारमग्न हो गए।

भट्टमात्र ने कहा – 'सियाल ने जो शकुन कहा है, वह कभी असत्य नहीं होगा। आप निःसंदेह रूप से अवंती की ओर प्रस्थान करें।'

'और तुम ?'

'मैं अपने गांव में जाऊंगा। वृद्ध माता-पिता को देखे तीन वर्ष हो गए हैं। पत्नी भी तो प्रतीक्षा करती होगी।'

'ओह मित्र! तुम्हारा परिचय पाकर मुझे बहुत आनन्द हुआ है। तुम्हारे बिना मैं कैसे रह पाऊंगा? अच्छा, तुम मुझे पुनः कब मिलोगे?'

'जब भी आप मुझे याद करेंगे।' भट्टमात्र बोला।

'राजसिंहासन तो बहुत दूर की बात है, मैं पहले परिस्थिति को जानने का प्रयास करूंगा। क्या-क्या घटित हुआ है, वह जानूंगा। यदि मैं राजा बना तो तुम्हें महामंत्री बनाऊंगा।' विक्रमादित्य ने कहा।

इस प्रकार भविष्य की योजना बनाते-बनाते दोनों विश्राम कर आगे प्रस्थित हो गए।

जहां से अपने गांव का मार्ग, मूल रास्ते से भिन्न पड़ता था, वहां आकर भट्टमात्र बोला – 'महाराज! यह है मेरे गांव का मार्ग – किन्तु अच्छा होता यदि आप अपना वेश बदल लेते।'

'परिस्थिति के कारण मुझे यह वेश बहुत अनुकूल लगता है।' विक्रमादित्य ने कहा।

'महाराज! मैं आपको अपने गांव नहीं ले जाऊंगा। क्योंकि जितनी जल्दी आप अवंती पहुंचते हैं, उतना ही अच्छा है।'

दोनों साथी वहां से अलग हो गए।

अवंती नगरी में निराशा छा चुकी थी। अग्निवैताल के उपद्रवों के कारण कोई भी व्यक्ति राजसिंहासन पर बैठना नहीं चाहता था।

विक्रमादित्य की खोज करने के लिए गए हुए सभी व्यक्ति खाली हाथ लौट आए थे।

अत्यन्त निपुण और पाताल से भी अपराधी को खोज निकालने वाले गुप्तचर भी निराश लौट आए थे।

एक गुप्तचर केवल इतना समाचार ला सका था कि युवराज अपना अश्व एक युवक को सौंप, अपने शस्त्रास्त्र वहीं रखकर, कषाय वस्त्र धारण कर चल पड़े थे। वहां से वे किसी आश्रम में जाकर साधुओं के साथ मिल गए थे।

इन समाचारों से मंत्रिगण और अधिक असमंजस में पड़ गए। राजसिंहासन पर पड़ी हुई किसी दुष्टदेव की कुदृष्टि को दूर करने के लिए मंत्रियों ने दूर-दूर से मंत्र-तंत्र में निष्णात व्यक्तियों को आमंत्रित कर शान्तिपाठ, चण्डीपाठ, होम, बलि, महापूजा आदि अनेक अनुष्ठान कराए, फिर भी लोगों का भय दूर नहीं हो पा रहा था और कोई भी व्यक्ति राजसिंहासन पर बैठने के लिए तैयार नहीं हो पा रहा था।

मौत को स्वीकार करने के लिए कौन तैयार हो? मनुष्य को कितना ही लाभ क्यों न मिलता हो, कितनी ही बड़ी सत्ता क्यों न हस्तगत होती हो, कितना ही बड़ा

पद क्यों न प्राप्त होता हो, पर यदि वह मृत्यु का वाहक बनता है तो कोई भी मनुष्य उस सुख को नहीं चाहेगा।

महामंत्री बुद्धिसागर ने मंत्रिमंडल तथा गण्यमान्य नागरिकों के समक्ष सारी परिस्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा – 'सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि इतने विशाल राज्य की बागडोर संभालने के लिए कोई तैयार नहीं है। महाराज भर्तृहरि किसी भी अवस्था में लौटना नहीं चाहते। वे राज्य की चर्चा तक नहीं करते और सदा परम वैराग्य में मग्न रहते हैं। युवराजश्री कहां हैं, क्या कर रहे हैं – कुछ भी ज्ञात नहीं हो पा रहा है। केवल इतनी जानकारी प्राप्त हो सकी है कि वे किसी आश्रम में दीक्षित हो चुके हैं। इस स्थिति में अब क्या करना चाहिए ? राजसिंहासन सूना पड़ा रहे, यह किसी भी स्थिति में उचित नहीं कहा जा सकता।'

एक नागरिक ने पूछा – 'सिंहासन पर जिस देव की कुदृष्टि पड़ी है, उस देव को तृप्त करने का क्या कोई उपाय नहीं है ?'

मंत्रीश्वर बोले – 'जो कुछ हम कर सकते थे, सब कुछ किया जा चुका है। प्रेतविद्या में निष्णात व्यक्तियों ने यही कहा है कि वह देव किसी के वश में नहीं आ सकता।'

'किन्तु हमारे देश में अनेक तपस्वी साधु-महात्मा हैं, जिनके आशीर्वाद से यह उपद्रव शान्त हो सकता है। हमें उन महात्माओं की शरण लेनी चाहिए। अन्त में एक उपाय शेष रह जाता है कि हथिनी जिस व्यक्ति पर कलश उंडेले उसी व्यक्ति को राजा के रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए।' नगरसेठ ने कहा।

नगरसेठ के विचार कुछ युक्तिपूर्ण लगे। मंत्रियों ने अनेक साधु-संन्यासियों से आशीर्वाद प्राप्त करने का प्रयास किया।

उन्हीं दिनों अवंती नगरी में एक जैन तपस्वी मुनि का आगमन हुआ। महामंत्री बुद्धिसागर ने नगरसेठ से तपस्वी मुनि की बात कही। नगरसेठ बोला – 'एक तपस्वी मुनि ने अपने शिष्यों के साथ कल ही नगर में प्रवेश किया है।'

'तो फिर हम उनके दर्शन के लिए चलें' – यह कहकर दोनों उस ओर चल पड़े।

नगरसेठ ने कहा – 'मंत्रीश्वर! जैन मुनि इन सब सांसारिक बातों में रस नहीं लेते।'

'हम एक बार चलें। संभव है, सारी बात ज्ञात कर वे कुछ पसीज जाएं।' मंत्रीश्वर ने कहा।

मुनिश्री जयवर्धन वृद्ध थे। घोर तपस्वी थे – उनके दोनों शिष्य विद्वान्, तेजस्वी और सौम्य थे।

महामंत्री और नगरसेठ जब उपशमागार में पहुंचे तब दिवस का दूसरा प्रहर पूरा नहीं हुआ था। मुनिश्री जयवर्धन की तपस्या का आज सातवां दिन था। उनके दोनों शिष्य गोचरी करने के लिए चले गए थे।

नगरसेठ और महामंत्री ने मुनिश्री को वंदना की। मुनिश्री ने धर्मलाभ कहकर नगरसेठ से पूछा—'सेठजी! क्या धर्माराधना की प्रवृत्ति चल रही है?'

'आपकी कृपा से मार्ग स्थिर है', कहकर नगरसेठ नीचे जमीन पर बैठ गए। महामंत्री भी वहीं बैठ गए।

नगरसेठ ने महामंत्री का परिचय देकर मुनिश्री से कहा—'मुनिश्री! अवंती के महामंत्री एक बात पूछना चाहते हैं?'

महामंत्री की ओर दृष्टि कर मुनिश्री ने कहा—'बोलो.....।'

महामंत्री ने अवंती के राजसिंहासन की अपदशा और आज तक किये गए प्रयत्नों को संक्षेप में कह सुनाया। मुनिश्री सारा वृत्तान्त शान्त भाव से सुनते रहे।

महामंत्री ने कहा—'मुनीश्वर! आप उत्कट तपस्वी हैं। आप शक्ति-सम्पन्न हैं। मैं आपके पास इस आशा के साथ आया हूं कि अवंती के राजसिंहासन पर जो क्रूर दृष्टि लगी हुई है, वह दूर हो जाए और राज्य की चिन्ता समाप्त हो, ऐसा कोई उपाय आप बताएं। आप जैसे महापुरुषों के आशीर्वाद से विघ्न का अवश्य निवारण होगा, इसी श्रद्धा से मैं श्रीचरणों में उपस्थित हुआ हूं।

मुनिश्री जयवर्धन कुछ क्षणों तक मौन रहे और फिर बोले—'मंत्रीश्वर! आपने धैर्यपूर्वक इतने समय तक राज्य का संचालन किया है। उपद्रव का निमित्त भी होता है और उसकी मर्यादा भी होती है। यह सारा कर्म निमित्तज है। जैन मुनि इन सारे सांसारिक आरम्भ-समारंभों में रस नहीं लेते। उनके महाव्रतों की यह मर्यादा है।'

'मुनिश्री! मैं यह जानता हूं। नगरसेठ ने मुझे सारा बता दिया था, किन्तु हम सब पुरुषार्थ कर थक गए हैं। यदि इस विघ्न के निवारण का कोई उपाय हस्तगत नहीं हुआ तो यह महाराज्य नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगा। कोई शत्रु-राजा इस पर आक्रमण कर सारे राज्य की जनता को कष्ट में डाल देगा। किसी भी प्रकार यह राज्य सुरक्षित रह जाए और जनता सुख-शान्तिपूर्वक जी सके, इसीलिए मैं आपके चरणों में उपस्थित हुआ हूं।'

मुनिश्री ने मुस्कराकर कहा—'भाग्यवान्! चिन्ता की बात नहीं है। धर्माराधना में चित्त को स्थिर करो। प्रत्येक कष्टदशा में धर्म ही त्राण होता है। राजसिंहासन का प्रश्न स्वतः समाहित हो जाएगा। तुम जो कठिनाई अनुभव कर रहे हो, उसका अंत किसी अवधूत के हाथ से होगा।'

ये शब्द सुनकर महामंत्री बुद्धिसागर मुनिश्री के चरणों में लुट गए और बोले – 'महात्मन् ! वह अवधूत हमें कहां मिलेगा ?'

मुनिश्री मौन रह मुस्करा दिए।

नगरसेठ ने पुन: वंदना की। महामंत्री से कहा – 'मंत्रीश्वर! जैन मुनि इससे अधिक नहीं बता सकेंगे, उनकी मर्यादा है। हमें दत्तचित्त होकर धर्माराधना में लग जाना चाहिए – धीरज से सारे कार्य सम्पन्न होंगे।'

दोनों प्रणाम कर बाहर आए। रथ में बैठने के बाद नगरसेठ ने कहा – 'मुनिश्री ने बहुत स्पष्टता से कह डाला है – किसी अवधूत के योग से राजसिंहासन की बाधा दूर होगी।'

'तो फिर हम.... ।'

'महापुरुष के वचनों पर श्रद्धा रखकर हमें कुछ दिनों तक प्रतीक्षा करनी चाहिए।' नगरसेठ ने कहा।

दस दिन बीत गए और नगरी में एक नौजवान, तेजस्वी अवधूत ने प्रवेश किया। उसके देदीप्यमान ललाट को देखकर सारे नतमस्तक हो जाते थे। उसने शिप्रा नदी के तट पर स्थित महाकाल के मन्दिर की धर्मशाला में अपना आसन बिछाया।

इस तेजस्वी अवधूत के आगमन की बात महामंत्री के कानों तक पहुंची।

इन दस दिनों में अनेक संन्यासी और महात्मा अवंती में आए थे, पर अवधूत के आगमन का समाचार पहली बार ही मिला था।

महामंत्री तत्काल नगरसेठ के यहां गए और उन्हें साथ ले महाकाल महादेव की धर्मशाला में पहुंचे।

अवधूत वेशधारी विक्रमादित्य उस धर्मशाला के मैदान में एक वटवृक्ष के चारों ओर बने चबूतरे पर मृगचर्म पर बैठे थे। उनकी दाढ़ी बहुत लंबी थी। सिर की जटा भी सघन थी। उनकी आंखें तेजस्वी और भव्य कपाल पर भभूति लगी हुई थी। विशाल बाहु, प्रचण्ड छाती, सशक्त और सप्रमाण शरीर – कोई भी व्यक्ति इस नौजवान अवधूत को नमन किए बिना नहीं रह सका।

जैसे तारों के स्वल्प प्रकाश में चन्द्र नहीं छिप सकता, वैसे ही विक्रमादित्य लाखों में देदीप्यमान हो रहे थे। महामंत्री और नगरसेठ दोनों इस भव्य और सुन्दर अवधूत के निकट आए।

अवधूत ने दोनों को पहचान लिया, पर वे दोनों अपने युवराज को पहचान नहीं सके। दोनों ने प्रणाम किया और वहीं खड़े रह गए।

विक्रमादित्य ने एक हाथ उठकार उन्हें आशीर्वाद दिया।

नगरसेठ ने कहा – 'महात्मन्! आप एकान्त में पधारें। हमें एक बात कहनी है।'

'गगन की छांह में सब एकान्त ही एकान्त है। जो कुछ कहना हो, यहीं कहो।' अवधूत ने तेज स्वर में कहा।

'महाराज! मैं इस नगर का नगरसेठ हूं और ये हमारे महामंत्री हैं।'

'आप कोई भी हों, हमें क्या? हम तो मस्तराम हैं – जो कहना हो कहो, नहीं तो चलते बनो।' विक्रमादित्य ने कहा।

नगरसेठ को लगा कि अवधूत नौजवान है, पर है बहुत तेजस्वी। यदि हम अधिक हठ करेंगे तो कहीं नाराज न हो जाए।

महामंत्री ने कहा – 'महात्मन्! यहां मुझे बात करने में कोई बाधा नहीं है – किन्तु बात कुछ ऐसी है कि उसको कहने में समय लग सकता है। यदि आप कृपा करें तो हमारा कल्याण हो जाए।'

'अच्छा। किन्तु हम नगरी में नहीं जाएंगे। एकान्त में चलना हो तो नदी के किनारे चलो।'

नगरसेठ और महामंत्री आनन्दित हो गए।

तीनों नदी की ओर चल पड़े।

५. अवधूत महाराज

शिप्रा नदी का तट!

नदी भव्य और भरी-पूरी थी। यह नदी एक दूसरी बड़ी नदी से मिलकर सागर तक पहुंचती थी। अवन्ती मध्य में थी, इसलिए जलपोत द्वारा व्यापार भी होता था।

शिप्रा केवल तीर्थ-रूप ही नहीं थी, वह अवन्ती के व्यापार की माता के समान थी।

अवधूत वेशधारी विक्रमादित्य, नगरसेठ और महामंत्री बुद्धिसागर के साथ शिप्रा नदी के तट पर आए और एक वृक्ष के नीचे मृगचर्म बिछाकर बैठ गए।

महामंत्री और नगरसेठ भी उनके समक्ष रेती में बैठ गए।

उस समय शिप्रा के जल-प्रवाह में दो मालवाही नौकाएं मुख्य घाट की ओर बढ़ रही थीं। घाट कुछ दूर था।

विक्रमादित्य बोला – 'कहो, क्या कहना है?'

महामंत्री ने मालव देश के राजसिंहासन पर किसी दुष्ट देव की छाया का पूरा वृत्तान्त सुनाया।

पूरी बात शांत भाव से सुनने के पश्चात् विक्रमादित्य ने मन ही मन सोचा– अरे ! जिस नारी के प्रति महाराज भर्तृहरि को इतना सघन प्रेम था, वह नारी अंत में ऐसी निकली और उसी के कारण मुझे देश-निष्कासन का अभिशाप मिला।

अवधूत को विचारमग्न देखकर नगरसेठ ने कहा – 'महात्मन् ! इस परिस्थिति के निवारण का कोई उपाय है ?'

'महाराजा भर्तृहरि को आप क्यों नहीं बुला लेते ?'

'हमने अनेक प्रयत्न किए हैं...किन्तु वे सर्वत्याग के पथ पर ही स्थिर रहना चाहते हैं।'

'अच्छा तो मैं क्या कर सकता हूं ?'

'आप समर्थ हैं....जो चाहे सो कर सकते हैं....आप कृपा कर हमारे राज्य का उद्धार करें।'

विक्रमादित्य विचारमग्न हो गए।

नगरसेठ और महामंत्री का मन कुछ आशावान हुआ।

कुछ क्षणों बाद विक्रमादित्य बोले – 'गुरु की कृपा से सब ठीक हो जाएगा। मालव देश के राज-सिंहासन पर मुझे बैठना पड़ेगा। जब आपके युवराज आएंगे, तब मैं चला जाऊंगा।'

महामंत्री और नगरसेठ अत्यन्त प्रसन्न हुए। महामंत्री ने अवधूत के दोनों पैर पकड़कर कहा – 'महात्मन् ! आपने हम पर बहुत कृपा की है....अब आप हमारे साथ राजभवन में चलें।'

'नहीं, महामंत्रीजी ! मैं धर्मशाला में ही रहूंगा....आप सब सर्वानुमति से निश्चय कर मुझे लेने आएं, यही मेरी शर्त है। आपके युवराज के आते ही मैं राज्य छोड़कर चला जाऊंगा।' विक्रमादित्य ने कहा।

महामंत्री बोला – 'आप चिन्ता न करें.....हम सब सहमत हैं।'

'फिर भी आपको प्रयत्न करना चाहिए। सर्वानुमति से मुझे भी प्रसन्नता होगी।'

ऐसा ही हुआ।

तीनों वहां से उठे। विक्रमादित्य धर्मशाला में चले गए और नगरसेठ तथा महामंत्री रथ में बैठकर चल पड़े।

महामंत्री ने उसी रात को सभी राजपरिवार के लोगों, मंत्रियों, सेनानायकों, गण्यमान्य नागरिकों को बुलाकर सारी बात बताई।

एक व्यक्ति ने कहा – 'महामंत्रीजी ! एक योगी को राजगद्दी पर बिठाना कोई आपत्तिजनक बात नहीं है। किन्तु इस शापित सिंहासन पर बैठते ही योगी की बलि हो जाएगी।'

नगरसेठ ने कहा – 'हमने योगी को सारा वृत्तान्त, अथ से इति तक, बता दिया है। कुछ भी गुप्त नहीं रखा। उसके पास कोई शक्ति होगी, इसीलिए उसने यह स्वीकार किया है।'

महामंत्री ने भी कहा – 'योगी दिखने में बड़ा प्रतापी और तेजस्वी लगता है। वह युवा भी है। तपस्वी मुनिश्री ने भी ऐसा ही उपाय बताया था।'

सभी सहमत हो गए।

उसी रात योगी अवधूत को राजभवन में लाया गया। योगी भवन में प्रवेश न कर पास वाले उपवन में एक चौकी पर आसन बिछाकर बैठ गए। सभी ने राजभवन में चलने के लिए आग्रह किया। योगी ने इतना मात्र कहा – 'राजगद्दी पर बैठने के बाद मैं भवन में प्रवेश करूंगा।'

राजपुरोहित ने मुहूर्त देखा। दो दिन पश्चात् शुभ मुहूर्त था.....पुरोहित ने वह मुहूर्त मंत्रियों को बताया। सभी उसकी तैयारी में लग गए....नगरी में भी यह बात फैल गई थी कि एक अवधूत मालव देश का राजा बनेगा। सबको आश्चर्य हुआ, पर राजा की प्राप्ति पर सर्वत्र आनन्द की लहर दौड़ गयी।

अवधूत राजा का वर्धापन करने के लिए लोग अपने-अपने भवनों को सजाने लगे, बाजार को तोरणद्वारों से मंडित करने लगे। अवन्ती के मुख्य स्थानों पर कलापूर्ण मण्डप, तोरणद्वार तथा दीपकों के प्रकाश के लिए व्यवस्थाएं की गईं।

एक रात्रि मात्र शेष रह गई थी। दूसरे दिन प्रात:काल विधिपूर्वक अवधूत का राज्याभिषेक होना था। अवधूत का मन अनेक विचारों से आन्दोलित होने लगा। उसने सोचा – जिस दुष्ट देव की राजसिंहासन पर छाया है और जो उस पर बैठने वाले को मार डालता है, उस दुष्ट देव के साथ मुझे किस प्रकार लड़ना होगा? मैंने मंत्रीश्वर के प्रस्ताव को बिना सोचे-समझे स्वीकार कर लिया है। मैंने एक बलशाली के साथ भिड़ने का दुस्साहस किया है। कल की रात मेरे जीवन की अन्तिम रात हो सकती है...मैंने यह खतरा क्यों लिया? अब कोई दूसरा उपाय नहीं है। मैं क्षत्रिय हूं। कुछ भी क्यों न हो, मुझे अपने वचन का पालन करना ही है। मन को निर्बल बनाना शोभा नहीं देता। मंत्रियों ने अपने राजसिंहासन के विघ्न को समाप्त करने के लिए मुझे चुना है....वे सब मानते हैं कि मेरे पास कोई मंत्रशक्ति है, कोई विशेष साधना है, अथवा भूत-प्रेत को वश में करने की मेरे में लब्धि है। बेचारे मंत्रिगण! इसके बदले मैं अपना वास्तविक परिचय दे देता तो? अब क्या हो? अभी तक मुझे कोई पहचान नहीं सका है। मेरा प्रिय सेवक राजभवन में हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। वह अन्यथा मुझे अवश्य पहचान लेता। अब कोई उपाधि या चिन्ता किए बिना मुझे साहस को बनाए रखना है और अन्तिम क्षण तक मनोबल

को मजबूत रखना है। जहां साहस और मनोबल होता है, वहां सिद्धि अवश्य मिलती है। इन विचारों में डूबता-उतरता हुआ अवधूत विक्रमादित्य उसी चौकी पर निद्राधीन हो गया।

प्रात:काल राज्याभिषेक की तैयारियां होने लगीं। महामंत्री ने अवधूत योगी से अपनी दाढ़ी और जटा को साफ करा देने की पुरजोर प्रार्थना की, किन्तु अवधूत ने केवल राजवेश धारण करने की ही अनुमति दी।

योग्य समय और अपूर्व उत्साह के साथ हजारों-हजारों लोगों के जयनाद के साथ अवधूत का राज्याभिषेक सम्पन्न हुआ। राज्याभिषेक के पश्चात् जनता अपने नये राजा को देख सके, इसलिए शोभायात्रा का आयोजन किया गया।

अवधूत राजा ने अपनी दाढ़ी और जटा को यथावत् रखा। राजवेश धारण कर सिर पर बहुमूल्य मुकुट, भगवा उत्तरीय और धोती धारण की....कुछेक मूल्यवान् अलंकार पहने। इस प्रकार अवधूत राजा भगवे वस्त्रों में होने पर भी अत्यन्त आकर्षक और प्रभावी लग रहे थे।

राजसिंहासन पर आरूढ़ होने के पश्चात् उन्होंने महामंत्री बुद्धिसागर को अपने पास बुलाकर तीन आज्ञाएं प्रसारित करने का आदेश दिया—

१. सभी अपराधियों को मुक्त करना।

२. सात दिन तक सूर्योदय से सूर्यास्त तक दान देने की व्यवस्था करना।

३. सात दिन तक कोई भी व्यक्ति राजभवन में आकर भोजन प्राप्त कर सकता है।

महामंत्री ने तीनों आदेश प्रसारित कर दिए।

राजसभा के सदस्यों ने जय-जयकार किया।

शोभा-यात्रा के लिए सज्जित रथ में बैठने से पूर्व अवधूत महाराजा ने महाप्रतिहार को आदेश दिया कि आज राजभवन में मेरे शयनकक्ष के द्वार पर विविध फल, मिठाइयां, उड़द के बाकले आदि सामग्री से थाल भरकर रखे जाएं और राजभवन के चारों ओर मजबूत पहरा रखा जाए। कोई भी दुष्ट देव प्रवेश न कर सके, ऐसी व्यवस्था करनी है।

महाप्रतिहार ने इस आज्ञा को शिरोधार्य किया।

शोभायात्रा वहां से चल पड़ी।

अवंती नगरी के लोगों को आश्चर्यमिश्रित आनन्द हो रहा था। लोग भूल गए थे कि आज रात को दुष्ट देव का प्रकोप होगा और यह बेचारा नौजवान योगी मौत के मुंह में चला जाएगा।

उत्साह के कारण लोग विपत्ति को भूल जाते हैं।

राजभवन में अनेक प्रासाद थे। राजा के लिए निश्चित मुख्य प्रासाद महीनों से सूना पड़ा था। दास-दासी भी उसमें रहने से घबराते थे, किन्तु आज कोई शक्तिशाली और चमत्कारी अवधूत आएगा और दुष्ट देव को भगा देगा, इस आशा के साथ सभी दास और परिचारिकाएं प्रासाद को शृंगारित करने में तन्मय हो गई थीं।

शोभायात्रा जैसे-जैसे आगे बढ़ रही थी, जनता अपने नये राजा को उत्साह से वर्धापित कर रही थी।

रथ में बैठे हुए अवधूत विक्रमादित्य को बड़े भाई की स्मृति हो आयी.... ऐसे कविहृदय भाई से मिलना कब होगा ? अरे रे, ऐसी चतुर, रूपवती और श्रेष्ठ भाभी के मन में ऐसा विष कब भर गया था ? क्या संसार में ऐसी स्त्रियां नहीं हैं कि उन पर विश्वास किया जा सके ? नहीं....नहीं....नहीं.... यदि स्त्री-जाति विश्वास-योग्य नहीं होती तो उत्तम मानवरत्न उसकी कोख से अवतरित नहीं होते। कर्म के अधीन होकर मनुष्य अनेक बार दुष्ट कर्म कर लेता है। अज्ञानवश भी असत् कार्य हो जाते हैं। वास्तव में आदमी कितना भी महान् क्यों न हो, वह कर्मों के समक्ष तो लाचार ही है!

शोभायात्रा में अनेक वाद्य बज रहे थे और अवधूत महाराज के रथ पर सैकड़ों पुष्पमालाएं आ रही थीं।

कोई पुरनारी ऐसे सुन्दर और नौजवान अवधूत को देखकर दांतों तले अंगुली दबाकर सोच रही थी—इस व्यक्ति ने अपने उगते यौवन में संन्यास क्यों ग्रहण किया होगा ? ऐसे सुन्दर युवक को माता-पिता ने संन्यास-ग्रहण करने की आज्ञा कैसे दी होगी ?

शोभायात्रा में जनता की भीड़ की ओर बढ़ते हुए उत्साह को देखकर विक्रमादित्य आश्चर्यचकित थे। उन्होंने सोचा—राजा के लिए निराश हुई जनता के प्राणों में आशा का दीप प्रकट हुआ है। मुझे कल प्रातःकाल ही छद्मवेश का त्याग कर प्रजा की आशा को उजागर करना है।

शोभायात्रा जब रत्नावट में पहुंची तब पुरनारियों ने नये राजा को अपने मोतियों से वर्धापित किया।

प्रजा की इस भावना को देखकर विक्रमादित्य ने सोचा—ओह! ऐसी प्रेमालु जनता को कभी दुःख न हो, ऐसी व्यवस्था से मुझे राज्य का संचालन करना चाहिए। यदि मैं सत्ता के नशे में अंधा हो जाऊंगा तो ये मोती मेरे जीवन में धधकते अंगारे बन जाएंगे और मेरा कल्याण कभी नहीं होगा। जो राजपुरुष जनता के हृदय की भावना को नहीं समझ पाते, वे कितने ही ऊंचे हों, राक्षस से भी बदतर होते हैं।

शोभायात्रा जब राजभवन के पास पहुंची, तब अपराह्नकाल हो गया था।

राजभवन में प्रवेश करते ही सभी दास और परिचारिकाओं ने अवधूत महाराज का सत्कार किया।

नये राजा आज प्रातःकाल से कुछ भी भोजन नहीं ले सके, इसलिए मंत्रियों ने राजप्रासाद में आने के लिए विनीत स्वरों में प्रार्थना की।

प्रासाद में जाकर अवधूत महाराज ने स्नान से निवृत्त होकर भोजन किया और राजभवन में स्थित श्रीजिन-प्रासाद में दर्शनार्थ जाने की इच्छा व्यक्त की।

महाप्रतिहार तथा आठ-दस दासियों के साथ विक्रमादित्य जिन-प्रासाद की ओर गए।

६. मित्र बनाया

अवधूत महाराज भगवान् की पूजा कर राजभवन में आए, तब तक अनेक व्यक्ति उनसे मिलने के लिए एकत्रित हो चुके थे। थोड़े समय पश्चात् राजभवन के प्रांगण में निर्मित मंडप में नृत्य प्रारम्भ हो गया।

उस समय अवंती में राजनर्तकी की प्रथा नहीं थी, इसलिए नगर की उत्तम नृत्यांगनाओं और गायिकाओं को निमंत्रित किया गया था।

नृत्य और गान सम्पन्न होने पर महामंत्री ने अवधूत महाराज के नाम पर संगीतकारों को पारितोषिक दिया और जब अवधूत महाराज राजप्रासाद के शयन-कक्ष की ओर महाप्रतिहार के साथ गए, तब रात्रि का दूसरा प्रहर बीत चुका था।

अवधूत वेशधारी विक्रमादित्य ने शयनकक्ष में प्रवेश किया....उन्होंने देखा कि खाद्य-सामग्री से भरे-पूरे अनेक थाल वहां रखे हुए हैं....अनेक प्रकार के फल भी वहां थे और उड़द के बाकलों से भरे दस थाल एक चौकी पर रखे हुए थे। केसरिया दूध के दो घड़े भी वहां पड़े थे।

राजप्रासाद के चारों ओर पहेरदार घूम रहे थे। सौ सुभट हाथ में तलवार लेकर इधर-उधर घूम रहे थे। उपवन में सौ सैनिक अपने शस्त्रास्त्रों से सज्जित बैठे थे।

विक्रमादित्य ने विशाल शयनकक्ष के सारे वातायन बन्द कर दिए...मुख्य द्वार भी खुला नहीं रखा....फिर उन्होंने रत्नजटित पर्यंक की ओर देखा...यह वही पर्यंक था जिस पर बड़े भाई भर्तृहरि सोते थे....यह पर्यंक एक नौका के आकार का था....उसमें जटित रत्न चमक रहे थे और अंधकार में प्रकाश फैला रहे थे।

अवधूत विक्रमादित्य ने मुकुट तथा अन्यान्य अलंकार शरीर से उतारे और वहां रखी हुई एक त्रिपदी पर स्थित थाल में रख दिए, फिर कमर में बंधा हुआ राजकुल के शौर्य का प्रतीक खड्ग निकाला और उसे पर्यंक पर रख लिया।

विक्रमादित्य ने सोचा – सारे दीपक बुझा दूं और अंधकार में जागता हुआ सो जाऊं.....दूसरे ही क्षण यह विचार बदल गया। उन्होंने सोचा, भरपूर प्रकाश में ही दुष्ट देव को भली-भांति देखा जा सकेगा। आज उनका क्षात्रतेज जगमगा उठा था। उन्होंने मन में संकल्प किया, कोई देव हो या राक्षस, मृत्यु से अधिक वह कर भी क्या सकता है ?.....उस दुष्ट के साथ अंतिम क्षण तक मुझे लड़ना है। क्षत्रिय वीर को यदि युद्ध में विजय प्राप्त होती है तो उसे इस लोक में सुख-सम्पत्ति मिलती है और मर जाने पर परलोक में सुख मिलता है।

ऐसा सोचकर विक्रमादित्य पर्यंक पर सो गए और करवटें बदलने लगे....खड्ग पास में ही पड़ा था।

दो घटिका बीत गईं।

बाहर प्रहरी आवाज दे रहे थे....विक्रमादित्य ने निश्चय किया था कि आज सोना नहीं है।

और अचानक भयंकर हुंकार सुनाई दिया....बाहर के प्रहरी कांप उठे। जब-जब नया राजा सिंहासन पर बैठता और शय्या पर सोने जाता....तब-तब ऐसा हुंकार होता था। यह हुंकार कौन कर रहा है ? कहां से आ रहा है ? इसकी किसी को कोई कल्पना नहीं हो सकती थी।

अचानक होने वाले इस हुंकार को सुनकर राजभवन में होने वाले आनन्द के गीत पर तुषारापात हो गया। प्रहरी फटी आंखों से चारों ओर देखने लगे। पर कोई दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था।

विक्रम सावचेत होकर शय्या पर सो रहे थे। उनके कानों पर अट्टहास के शब्द और हुंकार प्रहार कर रहे थे। उनका बायां हाथ खड्ग की मूठ पर जमा हुआ था।

शयनकक्ष के सारे वातायन और मुख्य द्वार बन्द थे.....मात्र जालीदार झरोखे का द्वार खुला था और उससे पवन आ रहा था।

शयनकक्ष में पड़ी हुई खाद्य-सामग्री की महक सारे कक्ष को सुगंध से भर रही थी। उस मधुर सौरभ से सारा कक्ष मादक हो रहा था....किन्तु सारे राजभवन को प्रकम्पित करने वाला अट्टहास उस मादकता में खलबली मचा रहा था।

विक्रम चारों ओर देख रहे थे....अचानक एक वातायन खड़खड़ाहट शब्द करते हुए खुल गया....विक्रम ने तिरछी नजरों से उस ओर देखा। कोई दिखाई नहीं दे रहा था....विक्रम ने जान लिया कि आने वाला देव अदृश्य रूप से आया है....और तत्काल उसे भीषण अट्टहास सुनाई दिया....उस अट्टहास से पूरा शयनकक्ष कांप उठा।

विक्रम शय्या पर से उठा, बोला – 'आओ मित्र ! मैं तुम्हारा स्वागत करता हूं....परन्तु तुम एक कायर व्यक्ति की भांति अदृश्य क्यों रह रहे हो ?'

उसी क्षण एक विराट् आकृति दीखने लगी। वह देव बोला – 'अरे ! क्या मैं कायर हूं ? मैं महान् शक्ति-सम्पन्न अग्निवैताल हूं। मेरी शक्ति के समक्ष देवता भी कांपते रहते हैं।'

'आओ, प्रिय अग्निवैताल.... !'

'अरे, तुम्हारी वाणी बहुत मीठी है....किन्तु मैं मधुर वाणी में फंसता नहीं....मैं आया हूं तुम्हारी मौत बनकर....'

'मुझे मृत्यु का तनिक भी भय नहीं है।'

अग्निवैताल खिलखिलाकर हंसते हुए बोला – 'तुम पागल तो नहीं हो गए हो ? इस संसार में प्राणिमात्र को मौत का भय सताता है...तुमने भगवा वस्त्र पहन रखे हैं, इसलिए मैं तुम पर दया करूंगा।'

'मित्र ! मैं क्षत्रिय हूं। मैं किसी की दया पर जीना नहीं चाहता।'

'ओह ! ऐसे तुम नहीं समझोगे....तैयार हो जाओ.....' कहकर अग्निवैताल ने अपना खड्ग निकाला।

'मित्र ! तुम मेरे शब्दों पर विश्वास रखना....तुम्हारे जैसे महापुरुष और शक्तिसम्पन्न व्यक्ति के हाथों से मरना, यह गौरव का विषय है। पहले तुम इस ओर देखो....तुम्हारे लिए मैंने यह सारी सामग्री मंगवाई है....पहले तुम तृप्त हो जाओ....फिर हम दोनों युद्ध करेंगे।'

'मुझे तुम जाल में फंसाना चाहते हो ? क्या तुम यह मानते हो कि मैं इन सारे प्रलोभनों में आकर अपने कर्त्तव्य से पीछे हट जाऊंगा ?'

'नहीं, मित्र ! मैं तुम्हें प्रलोभन नहीं देता....भले ही मैं केवल आज एक दिन के लिए ही राजा क्यों न बना हूं, मेरा राजधर्म है कि अतिथि का मैं स्वागत करूं, भले ही फिर वह शत्रु ही क्यों न हो। मैं केवल तुम्हारा स्वागत करता हूं। पहले तुम तृप्त हो जाओ, फिर तुम मुझे मार डालना।'

'लगता है तुम पागल गुरु के शिष्य हो! अरे, मौत का कभी स्वागत होता है?'

'जब मौत सामने खड़ी हो, तब रोते-रोते मरने के बदले हंसते-हंसते उसका स्वागत करना क्या उचित नहीं है ? अब तुम विलम्ब मत करो और भोज्य सामग्री का भोग लगाओ।'

विक्रम के निर्भीक शब्दों से अग्निवैताल बहुत प्रभावित हुआ।

अग्निवैताल बहुत उमंग के साथ खाद्य-सामग्री को उदरस्थ करने लगा। सारी खाद्य-सामग्री श्रेष्ठ थी....खाते-खाते कोई अघाए नहीं, ऐसी स्वादिष्ट

थी....अग्निवैताल इस प्रकार खा रहा था, मानो दुष्काल से उठकर आ रहा हो। सब खा-पीकर वह अत्यन्त तृप्त हुआ।

विक्रमादित्य उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति को सूक्ष्मता से देख रहा था।

भोजन से तृप्त होकर अग्निवैताल उठा। इतने में ही विक्रमादित्य ने खड़े होकर कहा – 'मित्र! कुछ तृप्ति तो मिली ?'

'हां, मित्र!....तुम बहुत चालाक हो, ऐसा प्रतीत होता है।'

'अब तुम इस पेटी की ओर देखो। इसमें अनेक प्रकार के श्रेष्ठ इत्र पड़े हैं। इनका तुम उपयोग करो।'

अग्निवैताल ने इत्र के पात्र उठाए और अपने सिर पर, शरीर पर उन्हें उंडेल कर प्रसन्नता का अनुभव किया। उनका मन पूर्ण सन्तुष्ट हो गया।

विक्रमादित्य बोला – 'अब मैं तैयार हूं।'

'अब मैं तुम्हारा क्या करूं ? तुमने मुझे बहुत तृप्त किया है और मुझे मित्र बनाकर मेरा आदर-सत्कार किया है....मैं तुम पर अत्यन्त प्रसन्न हूं....तुम व्यवहार-निपुण हो.....अच्छा, अपना नाम तो बताओ।'

'विक्रमादित्य....'

'ओह! तब तो इस राजगद्दी के तुम वास्तविक अधिकारी हो। मैं आज से राजगद्दी पर से खिसक जाता हूं....अब तुम निर्विघ्न रूप से, पूर्ण प्रसन्नता से इस राज्य का उपयोग करो...किन्तु तुम्हें मेरा एक कार्य करना होगा।'

'बोलो!' विक्रम का मन शान्त हुआ।

'मैं प्रतिदिन मध्यरात्रि में तुम्हारे पास आऊंगा....तुम मुझे इसी प्रकार उत्तम सामग्री से तृप्त करते रहना।'

'वाह, तुमने मेरे मन की ही बात कह डाली....तुम्हारे आगमन से मुझे बहुत आनन्द आएगा।'

'अच्छा, तो मैं अब जाने की आज्ञा लेता हूं।'

'हां, मैं कल रात्रि में तुम्हारी प्रतीक्षा करूंगा...।'

'तुम्हारी नींद को भंग करना उचित नहीं होगा....तुम सुखपूर्वक सोते रहना, मैं तृप्त होकर चला जाऊंगा।'

विक्रमादित्य ने हंसते हुए कहा – 'मित्र! तुम्हारा आगमन इतना रोमांचक होता है कि गर्भवती स्त्रियों के गर्भ भी स्खलित हो जाते हैं, तो भला बेचारी नींद की तो बात ही क्या ?'

'मैं शांतिपूर्वक आऊंगा और तृप्त होकर चला जाऊंगा।'

'फिर तुम्हारे साथ बात करने का आनन्द कैसे मिलेगा ? तुम मेरी नींद की परवाह मत करना।' विक्रमादित्य ने कहा।

उसके बाद अग्निवैताल ने विक्रमादित्य से हाथ मिलाया और अदृश्य होकर चला गया।

विक्रम ने सुख की सांस ली और नमस्कार महामंत्र का जाप करते-करते शय्या में निद्राधीन हो गए।

राजभवन के सभी रक्षक आकुल-व्याकुल थे। सभी के मन में यह निश्चय था कि प्रातःकाल अवधूत महाराज की शवयात्रा निकलेगी। यह दुष्ट देव किसी को नहीं छोड़ता.....।

प्रातःकाल हुआ।

सूर्योदय होते ही अवधूत महाराज की संभाल लेने के लिए मंत्रिमंडल के आठ मंत्री आ गए। महामंत्री बुद्धिसागर और नगरसेठ भी आ गए।

राजभवन के मुख्य रक्षक ने कहा – 'दुष्ट देव रात्रि में आया था।'

'फिर क्या हुआ ?'

'शयनकक्ष के द्वार तो बंद हैं।'

'अभी तक महाराज जागृत नहीं हुए ?' नगरसेठ ने पूछा।

'नहीं....'

सभी मंत्रियों के मन शंकित हो गए। सभी शयनकक्ष के मुख्य द्वार पर जाकर खड़े हो गए। नगरसेठ ने द्वार की सांकल को खड़खड़ाया।

कुछ क्षणों बाद भीतर से विक्रमादित्य ने कहा – 'कौन ?'

'महाराज की जय हो !' महामंत्री ने उल्लास के साथ कहा। सभी के चित्त प्रसन्न हो गए।

अवधूत महाराज शय्या से उठे, द्वार खोला।

नगरसेठ ने नमस्कार कर प्रहला प्रश्न किया – 'कृपावतार ! रात में कुछ घटित हुआ ?'

'हां, बहुत कुछ घटित हुआ....आप सब आराम से बैठें....मैं प्रातःकर्म से निवृत्त होकर सारी बात बताऊंगा।' अवधूत महाराज ने कहा।

महाप्रतिहार वहां पहुंच गए थे। उन्होंने सभी को नीचे के खंड में ले जाकर बिठाया। अवधूत महाराज ने एक नाई को बुला भेजा।

महाराजा का विश्वस्त नाई राजभवन के एक कमरे में रहता था।

शौचादि कर्म से निवृत्त होकर विक्रमादित्य स्नानागार में गए, साथ में उस नाई को ले गए।

अवधूत महाराज की आज्ञा पाकर नाई ने दाढ़ी को साफ कर डाला। सिर के बाल कलापूर्ण ढंग से बराबर कर दिए....चेहरा चमक उठा....नाई आश्चर्यचकित रह गया।

विक्रमादित्य ने कहा – 'अरे! क्या तूने मुझे पहचान लिया?'

'अन्नदाता! क्या आप ही अवधूत बने थे? ओह! भगवान की लीला अपरंपार है।'

'अब तैलमर्दन कर मुझे स्नान करा....फिर मेरे साथ ही बाहर निकलना।'

ऐसा ही हुआ।

स्नानादि से निवृत्त होकर विक्रमादित्य ने राजवेश धारण किया, कुछ अलंकार पहनकर बाहर आए।

अपने प्रिय युवराज को सामने देखकर महाप्रतिहार चौंका। वह बोल उठा – 'आप!'

'आश्चर्य तो इस बात का है कि किसी ने मुझे नहीं पहचाना.....अब मुझे मंत्रिमंडल के पास ले चलो।'

महाप्रतिहार हर्ष के आवेश में गद्‌गद हो गया।

जब महाराज विक्रमादित्य नीचे के खंड में आए, तब उन्हें देखकर सभी मंत्री अवाक् रह गए। महामंत्री ने कहा – 'युवराजश्री! आप!'

'वर्षों तक साथ में रहने के बावजूद आपमें से किसी ने मुझे नहीं पहचाना!'

'क्या आप ही अवधूत बने थे?' नगरसेठ ने प्रश्न किया।

'हां, सेठजी! .....भाग्य मुझे यहां खींच लाया....अब मैं आज सबको रात की सारी घटना बताता हूं' – कहकर विक्रमादित्य एक आसन पर बैठ गए।

अवधूत महाराज ही स्वयं विक्रमादित्य हैं, यह बात सारे राजभवन में फैल गई।

राजभवन के सभी दास-दासी हर्ष व्यक्त करने के लिए आने लगे।

राजपरिवार वालों को भी यह बात ज्ञात हुई और वे सब आनन्द से उछलने लगे।

विक्रमादित्य ने सारी घटित घटना को विस्तार से कहा और अग्निवैताल मित्र बना है, यह भी कहा।

सभी मंत्री बहुत आनन्दित हुए। उन्होंने सारे राज्य में हर्षोत्सव मनाने की घोषणा प्रसारित की।

७. प्रथम विजय

अवंती नगरी के हर्ष का कोई पार नहीं रहा। उत्सव मनाते-मनाते दस दिन बीत गए। नगरी के श्रीमन्त लोगों के घर विक्रमादित्य को जाना पड़ता.... जनता की बधाइयां झेलनी होतीं। उसने सोचा – जिस राज्य में ऐसी प्रेममयी प्रजा का निवास

होता है, उस राजा को कोई दु:ख नहीं हो सकता....राजा को चाहिए कि वह ऐसी प्रजा का सेवक बन जाए।

विक्रमादित्य ने मन ही मन प्रजा की सेवा और कल्याण करने का संकल्प कर लिया।

समग्र राज्य में उत्सव मनाया जा रहा था.....गांव-गांव से जन-समूह राजा को वर्धापित करने आ रहे थे। वे सब राजा का दर्शन पाकर अपने को कृतकृत्य अनुभव करते थे।

लोगों की भेंट स्वीकार करते-करते प्रतिदिन मध्यरात्रि बीत जाती थी और उसी समय वहां अग्निवैताल आता और तृप्त होकर चला जाता। वह किसी भी प्रकार का उपद्रव नहीं करता था।

किन्तु विक्रमादित्य ने सोचा, प्रतिदिन इतनी भोज्य सामग्री की व्यवस्था करना उचित नहीं है। इससे तो सारा कोष ही रिक्त हो सकता है और प्रजा के कल्याणकारी कार्यों में बाधा आ सकती है।

पन्द्रह दिन बीत गए। सोलहवीं मध्यरात्रि में अग्निवैताल आया, बलि की सामग्री से तृप्त होकर जाने लगा। विक्रमादित्य ने कहा – 'मित्र! आज इच्छा हो रही है कि मैं तुम्हारे साथ कुछ बातें करूं।'

'प्रसन्नता से, मित्र!' कहकर विकराल रूप वाला अग्निवैताल विक्रमादित्य के पलंग पर बैठ गया।

विक्रमादित्य ने अग्निवैताल की ओर देखते हुए कहा – 'मित्र! तुम्हें देखने के पश्चात् मेरे मन में एक प्रश्न घुलता रहता है....प्रतिदिन पूछने की बात सोचता हूं, पर आज तक पूछ नहीं सका।'

'उस प्रश्न का समाधान आज कर लो।' अग्निवैताल ने कहा।

'मुझे आश्चर्य होता है कि तुम्हारी शक्ति कितनी होगी? तुम्हारा प्रभाव कितना होगा? क्या तुम जो चाहो, वह कार्य कर सकते हो?'

अग्निवैताल जोर से हंस पड़ा। वह बोला – 'विक्रम! मेरी शक्ति का कोई पार नहीं है। कार्य कितना भी दुष्कर हो, मैं उसे निमिष मात्र में कर सकता हूं....जहां चाहूं वहां पल भर में जा सकता हूं....मनुष्य तो मेरे लिए एक सामान्य प्राणी है....मैं चाहूं तो किसी भी पुरुष को अपनी मुट्ठी में दबाकर निचोड़ सकता हूं....मेरे प्रभाव की तुम कल्पना भी नहीं कर सकते....मैं इच्छित रूप करने में समर्थ हूं....मैं केवल अपने अट्टहास से समूचे नगर को कम्पित कर सकता हूं....और....'

बीच में विक्रमादित्य बोले – 'ओह! तब तो तुम सर्वशक्तिमान् हो....मित्र! तुम्हें मित्र रूप में पाकर मैं वास्तव में धन्य बना हूं। किन्तु एक चिन्ता मेरे हृदय को कुरेद रही है....।'

अग्निवैताल ने हंसते हुए कहा – 'क्या किसी सुन्दरी में मन फंस गया है ? उसकी कल्पना तुम्हें पीड़ा दे रही है ? यदि ऐसा कुछ हो तो मुझे बताओ, मैं पलक झपकते ही उसे तुम्हारे सामने हाजिर कर दूंगा।'

'नहीं, मित्र ! ऐसी कोई कल्पना मन में उठी ही नहीं।'

'तो फिर किस बात की चिन्ता है ?'

'मित्र ! पीड़ा तो इतनी ही है कि मैं नहीं समझ सका कि मेरा आयुष्य कितना है ? जिस व्यक्ति को अपनी मौत की जानकारी नहीं होती, उसके जीने में कोई आनन्द नहीं आता। बार-बार मन में संशय जागता है और मन में भावना होती है कि किसी ज्योतिषी को दिखाकर जानूं....यदि तुम अपनी शक्ति से मेरे आयुष्य की मर्यादा बता सको, तो मेरी चिन्ता दूर हो सकती है।'

'क्या यह कोई बड़ी बात है ? मैं अभी तुम्हें बता देता हूं।' यह कहकर अग्निवैताल कुछ क्षणों के लिए ध्यानमग्न हो गया, फिर बोला – 'मित्र ! तुम्हारा आयुष्य बहुत लम्बा है। पूरे सौ वर्ष तक तुम जीओगे।'

'देखो मित्र ! मुझे राजी करने के लिए मत कहना।'

'नहीं, विक्रम ! मैं सत्य कह रहा हूं....संसार की कोई भी शक्ति सौ वर्ष से पहले तुम्हारा नाश नहीं कर सकती।'

'यह भविष्य बताकर तुमने मुझे और चिन्तित कर डाला।'

'कैसे ?'

'क्या तुम नहीं जानते कि शून्य घर, शून्य वन, प्रतिमा से शून्य मंदिर और सैन्य-शून्य राजा कभी शोभित नहीं होते। शून्य अमंगल का सूचक है....मेरे आयुष्य में एक नहीं, दो-दो शून्य आ गए हैं।'

'मित्र ! अभी तुम उगते युवक हो....जीवन बहुत लम्बा है...घबराने की बात नहीं है।'

'अमंगल शून्य से मन बहुत उदास हो रहा है....किन्तु तुम समर्थ हो....जो चाहो सो कर सकते हो। मेरे लिए इतना मात्र कर दो – या तो मेरा आयुष्य निन्यानवे वर्ष का कर दो या फिर एक सौ ग्यारह वर्ष का कर दो। इससे शून्य मिट जाएंगे और अमंगल दूर हो जायेगा।'

'राजन् ! आयुष्य की जो मर्यादा निर्धारित होती है, उसमें विधाता भी हेर-फेर नहीं कर सकता। आयुष्य न कम किया जा सकता है और न बढ़ाया जा सकता है।'

'अरे ! क्या तुम्हारे जैसा शक्ति-सम्पन्न मित्र मेरा यह तुच्छ कार्य नहीं कर सकता ?'

'मैं विवश हूं, राजन्! तुमने सुना होगा कि जब भगवान महावीर मुक्त होने की स्थिति में थे, तब इन्द्र ने आकर प्रार्थना की कि भगवन्, आप क्षणभर के लिए आयुष्य को बढ़ा लें! किन्तु उस समय भगवान् ने कहा –'असंभव...असंभव... असंभव...।'

'मित्र! क्या कोई दूसरा उपाय नहीं है ? यदि मैं निन्यानवे वर्ष में आत्महत्या कर लूं, तो ...?'

'तो भी तुम बच जाओगे।'

'किसी युद्ध में अग्रिम मोर्चे पर चला जाऊं तो ?'

'तब भी तुम्हारा कुछ नहीं बिगड़ेगा। जितने श्वास तुम्हारे आयुष्य के लिए निश्चित हो चुके हैं, उसमें किसी के द्वारा परिवर्तन नहीं हो सकता।'

'जैसा भाग्य' कहकर विक्रम ने नि:श्वास छोड़ने का अभिनय किया।

अग्निवैताल ने विक्रम के कंधे पर हाथ रखकर हंसते हुए कहा –'अरे मित्र! यह तो अच्छा और पूरा आयुष्य कहलाता है....शून्य के चक्कर में क्यों फंस गए ?'

कुछ समय पश्चात् अग्निवैताल विदा लेकर वहां से अदृश्य हो गया।

मन में प्रसन्नता का अनुभव करते हुए महाराज विक्रमादित्य अपनी सुकोमल शय्या पर निद्राधीन हो गए।

तीन दिन और बीत गए। विक्रम का विश्वस्त और निजी सेवक रामदास गांव से लौट आया था। वह पुन: स्वामी की सेवा में जुट गया। उसके आगमन से विक्रमादित्य को बहुत आनन्द हुआ। निजी कार्य की चिन्ता दूर हो गई।

चौथे दिन विक्रमादित्य ने वैताल के लिए खाद्य सामग्री न रखने का निर्देश दिया। यह सुनकर महामंत्री बुद्धिसागर ने कहा – 'महाराज! वह राक्षस पुन: कुपित हो जाएगा।'

'इस भय से प्रतिदिन इतना व्यय करना उचित नहीं है। मैं उससे निपट लूंगा।'

'कृपानाथ! अग्निवैताल बहुत दुष्ट है...संभव है आपके जीवन के लिए वह खतरा बन जाए।'

'मेरे जीवन के लिए जनता के अर्थ का इस प्रकार दुरुपयोग करना हीनता है, दीनता है ...और क्षत्रिय की संतान यदि खतरे का सामना न करे, तो उसे राज्य करने का कोई अधिकार नहीं है।'

महाराज विक्रमादित्य के इस अडोल धैर्य को देखकर महामंत्री अवाक् रह गए।

राज्यसभा का कार्य सम्पन्न कर विक्रमादित्य राजभवन में आए। मिलने के लिए आए लोगों का तांता लगा हुआ था। दो प्रहर रात बीत गई थी। महाराज शयनकक्ष में गए। रामदास प्रतीक्षा कर रहा था। महाराज को देखकर वह उठा और मस्तक झुकाकर एक ओर खड़ा हो गया।

विक्रमादित्य ने कहा – 'रामू! आज तू मेरे इसी शयनकक्ष के सामने वाले झरोखे के पास सो जाना।'

'जैसी आज्ञा.....क्या आज राक्षस नहीं आएगा?'

'आएगा तो अवश्य ही....'

'तो फिर....?'

'आज उसके साथ अन्तिम समाधान कर लेना है....इस प्रकार भोग देना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है।' विक्रम ने कहा।

'महाराज! तो फिर वह राक्षस अत्यन्त कुपित होकर आपको...'

'रामू! वह मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता।'

'नहीं, कृपानाथ! इससे तो अच्छा है आप.....?'

'क्या?'

'आप दूसरे खंड में सो जाएं। आपकी पोशाक पहनकर मैं यहां सो जाऊंगा।'

विक्रम ने मुस्कराकर कहा – 'तू क्या कर सकेगा?'

'रोष से भरा हुआ वह राक्षस मेरा भोग लेकर चला जाएगा।'

'रामू! अग्निवैताल बहुत चतुर है। इस प्रकार समस्या का समाधान नहीं होगा। तू देखते रहना....अब जैसा मैंने कहा है, वैसा कर।' विक्रम ने कहा।

विक्रमादित्य ने म्यानमुक्त कर तलवार शय्या पर रख ली थी। वे वस्त्र बदलकर सो गए।

रामदास भी निर्दिष्ट स्थान पर सो गया।

रात्रि का मध्य।

दोनों जाग रहे थे। दोनों अग्निवैताल के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे।

और खुले वातायन से अदृश्य रूप में अग्निवैताल ने खंड में प्रवेश किया।

आज खाद्य सामग्री न देखकर वह रोष से भर गया और तत्काल अट्टहास करता हुआ विकराल रूप में प्रकट हुआ।

रामदास तो अग्निवैताल के विकराल रूप को देखकर थर-थर कांपने लगा। उसने मन-ही-मन सोचा – आज यह दुष्ट राक्षस महाराज को खा जाएगा....महाराज ने ऐसा दुराग्रह क्यों किया....?

विक्रम नींद का अभिनय कर शय्या में सो रहे थे।

अग्निवैताल ने रोष भरे शब्दों में कहा – 'विक्रम ! आज ऐसा क्यों ?'

विक्रम ने सोते-सोते ही कहा – 'मित्र ! क्या बात है ?'

'मेरे लिए भोग की सामग्री कहां है ?'

'जनता के धन का मैं इस प्रकार दुरुपयोग कितने समय तक करता रहूं ?'

'जनता का धन ! दुष्ट, मेरी मित्रता के साथ ऐसा द्रोह !....तुमने मुझे भोग देने का वायदा किया था, याद है तुमको ?'

'हां, याद है ! पर सदा-सदा के लिए देने की बात नहीं कही थी।'

'तब तो आज तुमने अपनी मौत को निमंत्रण दे डाला है।'

'मौत मेरी होगी या तुम्हारी, यह कौन जान सकता है ? मैं क्षत्रिय हूं....मैं मौत से नहीं डरता। क्षत्रियों ने इन्द्र के साथ भी युद्ध किया है....तुम क्या चीज हो ? उठाओ अपनी तलवार....!'

उत्तर में अग्निवैताल ने जोर से अपना सिर धुना और एक दुधारी तलवार उसके हाथ में आ गई। वह गर्जन करता हुआ बोला – 'आज तुम्हारे जीवन का अन्तिम दिन है....जब मौत सिर पर मंडराती है, तब मनुष्य की मति स्थिर नहीं रहती।'

'मुझे भी ऐसा ही प्रतीत हो रहा है....तुम्हारे सिर पर मौत की काली छाया नाच रही है, इसलिए तुम मेरे अभिप्राय को नहीं समझ पा रहे हो' –कहकर विक्रम भी तलवार लेकर तैयार हो गया।

रामदास कांप रहा था....उसके नयन विस्फारित हो गए थे....बीस वर्ष के उम्र वाले महाराज इस पर्वताकार राक्षस से कैसे निबटेंगे ?

दोनों में तलवार-युद्ध प्रारम्भ हुआ।

विक्रमादित्य जैसे धनुर्विद्या में निपुण थे, उसी प्रकार तलवार चलाने में भी कुशल थे। वे चपलता से अग्निवैताल को मंडलाकार घुमाने लगे....कुछ ही क्षणों के पश्चात् विक्रमादित्य ने एक ऐसा प्रहार किया कि अग्निवैताल के हाथ से तलवार छूटकर भूमि पर जा गिरी।

क्षणभर के लिए अग्निवैताल अवाक् रह गया।

विक्रमादित्य ने अपनी तलवार फेंकते हुए कहा – 'अपना पौरुष दिखाने का मैं तुम्हें अवसर देता हूं....द्वन्द्व-युद्ध के लिए तैयार हो जाओ।'

राक्षस को यही चाहिए था।

दोनों मल्लयुद्ध में जुट गए, पैंतरा बदलने लगे।

विराट्काय राक्षस के समक्ष विक्रमादित्य वामन प्रतीत हो रहे थे, किन्तु उन्हें विश्वास था कि उनको सौ वर्ष के आयुष्य का कोई भी खण्डन करने में समर्थ नहीं है।

लगभग अर्द्धघटिका के मल्लयुद्ध के पश्चात् विक्रमादित्य ने अवसर देखकर अग्निवैताल के यकृत पर जोर से अपना सिर मारा....और अग्निवैताल जोर से चीखता हुआ जमीन पर गिर पड़ा....क्षणभर का भी विलम्ब किए बिना विक्रमादित्य उसकी छाती पर जा बैठे और दोनों हाथों से उसका गला दबोचते हुए बोले – 'मूर्ख! तुमने ही तो कहा था कि मेरे आयुष्य को कोई न्यून या अधिक नहीं कर सकता....क्या इतने अल्प समय में ही तुम इस सत्य को भूल गए?'

अग्निवैताल बोला – 'मित्र! मुझे क्षमा करो....क्रोध के वशवर्ती होने के कारण मैं इस सत्य को भूल गया था...अब मैं तुम्हारा मित्र नहीं, दास बनना चाहता हूं....मैं तुम्हारी शक्ति और हिम्मत को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हूं....तुम्हें जो चाहिए, वह मांग लो।'

विक्रमादित्य तत्काल उसकी छाती पर से उठ खड़े हुए और हंसते-हंसते बोले – 'मित्र! तुम मेरे दास नहीं, मित्र ही हो....तुमको भोग देने की प्रतिबद्धता का निर्वाह मेरे लिए कठिन था....'

अग्निवैताल उठा, बोला – 'तुम मुझको वचन में बांध लो।'

विक्रम बोला – 'मैं जब-जब तुमको याद करूं, तब-तब तत्काल हाजिर हो जाना और जो कहूँ, वह कार्य संपादित कर देना।'

अग्निवैताल ने विक्रम को छाती से लगाते हुए कहा – 'विक्रम! मैं अपनी शक्ति की शपथ से तुम्हारे वचनों के अनुसार अपने-आपको बांधता हूं।'

विक्रम ने तत्काल रामदास की ओर देखकर कहा – 'रामू! मेरे मित्र को नमस्कार कर और पास वाले खंड में वसन्त मोदक से भरे दो थाल पड़े हैं, उन्हें यहां ले आ।'

रामू अग्निवैताल को नमस्कार कर खंड का द्वार खोलकर बाहर चला गया।

शयनखंड के बाहर प्रहरी, महाप्रतिहार आदि एकत्रित हो गए थे।

८. महात्मा भर्तृहरि

चैत्र मास पूरा हुआ। महाराज विक्रमादित्य की व्यस्तता कुछ कम हुई, क्योंकि मिलने के लिए आने वाले लोगों से निवृत्ति मिल गई थी और राजसभा का कार्य भी व्यवस्थित हो गया था।

एक दिन महामंत्री राजभवन के मंत्रणागृह में महाराज विक्रमादित्य से मिले और प्रार्थना के स्वरों में बोले – 'कृपानाथ! आप किसी योग्य और कुलीन कन्या के साथ विवाह करें।'

'महामंत्री! मुझे ध्यान है....किन्तु कुछ समय तक धैर्य रखना होगा....मैं एक बार अपने बड़े भाई से मिलना चाहता हूँ.... ।'

महामंत्री बोले – 'राजन्! महात्मा भर्तृहरि गंगातट के वन प्रदेश की ओर गए थे....उसके पश्चात् उनके कोई समाचार प्राप्त नहीं हो सके हैं। एक बात और है कि वैराग्य में इतने रच-पच गए हैं कि वे ग्राम, नगर या मानव बस्ती में आते-जाते ही नहीं हैं।

'फिर भी मुझे उनसे मिलना है।'

'ठीक है, किन्तु आप विवाह-सूत्र में बंधकर फिर आशीर्वाद लेने जाएं; यह अधिक उचित होगा।'

'महामंत्री! मेरा विचार उनको यहां लाने का है.... ।'

बीच में महामंत्री ने कहा – 'यह अशक्य है....हमने उनको समझाने में कोई कसर नहीं रखी थी। वे अब किसी भी परिस्थिति में पुनः सांसारिक झंझटों में फंसना नहीं चाहते।'

'महामंत्री! आपके समझाने में और मेरे निवेदन करने में बहुत बड़ा अन्तर है। महाराजा के इस त्याग का निमित्त महारानी ही नहीं, मैं भी हूं।'

'आप?'

'हां, महाराज का मेरे पर अटूट प्रेम था और अज्ञात दशा में उनके हाथ से एक अन्याय घटित हो गया। यथार्थ की जानकारी होने पर उनके मन की पीड़ा को मैं ही समझ सकता हूं, दूसरा कोई नहीं। मेरे निमित्त से ही उन्होंने इतना कठोर प्रायश्चित्त स्वीकार किया है, ऐसा मैं मानता हूं।'

'किन्तु आप उनकी खोज कहां करेंगे?'

'मेरा एक मित्र है। महाराज संसार के किसी भी कोने में हों, वह उनको ढूंढ लेगा।' विक्रमादित्य ने कहा।

और चार दिन के पश्चात् प्रातःकाल के होते-होते विक्रमादित्य ने अग्निवैताल को याद किया।

अग्निवैताल तत्कार हाजिर हो गया और प्रसन्न स्वर में बोला – 'महाराज, क्या आज्ञा है?'

'मित्र! एक बात की विस्मृति नहीं होनी चाहिए कि तुम मेरे मित्र हो, नौकर नहीं।'

'ओह !' कहकर अग्निवैताल ने विक्रमादित्य को बांहों में भर लिया।

'मित्र ! मैं अपने बड़े बन्धु महाराज भर्तृहरि से मिलना चाहता हूं।'

'महाराज ! तैयार हो जाएं।' अग्निवैताल ने कहा।

'मैं तैयार ही हूं। वे अभी किस ओर गए हैं ?' विक्रमादित्य ने पूछा।

अग्निवैताल ने कुछ क्षणों तक आंखें मूंद ली....फिर वह बोला–'प्रिय विक्रम ! आपके बड़े भाई चित्रकूट के सघन वन-प्रदेश में हैं।'

'तो हम वहां चलें ?'

'अभी ?'

'हां....'

'तो आप आंखें मूंदकर मेरा हाथ पकड़ लें।' वैताल ने कहा।

विक्रम ने आंखें बन्द कर वैताल का एक हाथ मजबूती से पकड़ लिया। दूसरे ही क्षण वैताल बोला– 'हम पहुंच गए हैं। अब आप आंखें खोलें।'

'बस, इतने शीघ्र !' आश्चर्य का अनुभव करते हुए विक्रम ने आंखें खोलीं। उनके आश्चर्य का पार नहीं रहा....न राजभवन था....न अवंती नगरी....न था शयन-कक्ष....था केवल भयंकर वन और छोटी-छोटी पहाड़ियां....।

वैताल बोला– 'यह वन बहुत भयंकर है....चित्रकूट पर्वत के चारों ओर सिंह, व्याघ्र, वराह आदि हिंस्र पशु बड़ी संख्या में रहते हैं।'

'महात्मा भर्तृहरि कहां हैं ?'

'सामने वाली गुफा में।'

'ओह ! ऐसी भयंकर गुफा में....... ?'

'आप अन्दर जाएं....मैं अदृश्य रूप में आपके साथ रहूंगा।' कहकर वैताल अदृश्य हो गया।

विक्रमादित्य उस गुफा की ओर आगे बढ़े।

गुफा के द्वार पर उन्हें एक भयंकर अजगर दिखाई दिया....विक्रम ने तत्काल तलवार म्यानमुक्त कर ली। अदृश्य वैताल बोल पड़ा– 'मित्र ! यह अजगर नहीं है।'

'तो फिर ?'

'एक हठयोगी है....तीन वर्षों से यह अज़गर के रूप में रहकर केवल वायु का भक्षण करता है....महात्मा भर्तृहरि इसी हठयोगी की गुफा में रहते हैं।'

विक्रम ने तलवार को पुन: म्यान में रखा और हाथ जोड़कर अजगर को नमन कर गुफा में प्रवेश करने के लिए सिर झुकाया।

गुफा में अन्धकार व्याप्त था...एक स्थान पर प्रकाश की कुछ रेखाएं फूट रही थीं। बाहर से गुफा छोटी-सी लग रही थी, पर अन्दर से इतनी विशाल थी कि विक्रम उसे देखकर आश्चर्यचकित रह गए....उस गुफा में लगभग सौ व्यक्ति रह सकते हैं—इतनी बड़ी थी....एक कोने में प्राकृतिक झरना बह रहा था....एक शिला पर लंगोटी पहने महाराज भर्तृहरि ध्यानमग्न होकर बैठे थे।

बड़े भ्राता को इस अवस्था में देखकर विक्रम के धीरज का बांध टूट गया। करुण स्वर में 'भाई! बड़े भाई! मेरे मार्गदर्शक!' कहते हुए वे आगे बढ़े और बड़े भाई के चरण-कमल में लुढ़ककर बोले—'बड़े भाई! आपने....आपने यह क्या कर डाला? मुझे आधारहीन छोड़ते समय आपके हृदय को झटका नहीं लगा?'

महाराज भर्तृहरि ध्यान को सम्पन्न कर जागृत हुए। विक्रम के करुण स्वर ने उनकी समाधि में अन्तराय उत्पन्न कर डाला। उन्होंने प्रसन्न दृष्टि से विक्रम की ओर देखा। विक्रम के नयन सजल हो गए थे।

महात्मा भर्तृहरि ने लघु बांधव विक्रम के सिर पर हाथ रखते हुए कहा—'विक्रम! मैं सब कुछ भूल गया था, केवल तुमको नहीं भूल सका था। आज देवकृपा से मैं निश्चिन्त हो गया।'

'बड़े भाई.....'

'विक्रम! आश्चर्य का कोई कारण नहीं है। यह संसार आश्चर्यों से भरा पड़ा है, वैसे ही मनुष्य का जीवन भी आश्चर्यों का भंडार है।'

विक्रम मौन थे। वे कुछ भी नहीं बोल सके....उनका हृदय रोने के लिए आतुर हो रहा था....उनकी आंखों से आंसुओं के मोती बिखर रहे थे।

महात्मा भर्तृहरि बोले—'विक्रम! मैं नारी के रूप-यौवन में अन्धा बन गया था, किन्तु किसी पुण्योदय से मैं समय रहते जाग गया। यदि मैं नहीं जागता तो...'

'भाईजी! ऐसे तुच्छ निमित्त के कारण आपने राज्य-त्याग क्यों किया? मुझे अनाथ क्यों बना डाला?' गद्‌गद स्वर में विक्रम ने कहा।

भर्तृहरि ने विक्रम की पीठ पर हाथ रखते हुए प्रसन्न स्वरों में कहा—'विक्रम! मनुष्य पाप कर बैठता है और यदि पाप ज्ञात हो जाने पर प्रायश्चित्त नहीं करता, तो वह पाप अन्यान्य पापों का संचय करता रहता है। मेरे से भी एक पाप हो गया था और उस पाप के लिए ही मैंने एक गुरुतर पाप कर डाला—तुझे देश से निष्कासित कर दिया....यदि मैं मोहान्ध नहीं बनता, तो मेरे लिए कोई प्रश्न ही खड़ा नहीं होता....भाई! जो कुछ हुआ है, वह अच्छा ही हुआ है। मालव देश की प्रजा का कल्याण अब तुझे ही करना है।'

'बड़े भाई जी.....बड़े भाई जी....'

'हां, मैं सच कहता हूं।'

'नहीं, आप मेरे साथ ही अवंती पधारें और मालव देश के स्वामी बनकर जनता का कल्याण करें।'

'पागल कहीं के!' कहकर महात्मा भर्तृहरि हंस पड़े और हंसते-हंसते बोले, 'विक्रम! जिस दिन क्षत्रिय त्यक्त वस्तु के ग्रहण करने की बात सोचेगा, उसी दिन संसार का प्रकाश नष्ट हो जाएगा....उस दिन लोग त्याग का परिहास करेंगे और भोग को अमृत मानकर अपनाते रहेंगे। तुम धर्म में स्थिर रहना....राज्य करना, पर राजलक्ष्मी के दास मत बन जाना। तुम हमेशा जागृत रहना....भाई विक्रम! जाओ, सुखपूर्वक राज्य करो। मेरा आशीर्वाद तुम्हारी सदा रक्षा करेगा।'

परन्तु विक्रम ने बड़े भाई के चरण नहीं छोड़े और वे चरणकमलों में आंसुओं के फूल बिछाते ही रहे।

'भर्तृहरि के भाई होकर रो रहे हो?'

'महात्मन्! रुदन के अतिरिक्त मेरे पास है ही क्या? आपके सर्वत्याग का मैं ही तो निमित्त बना हूं।'

'विक्रम! इस प्रकार निमित्त बनना भी उत्तम पुण्य का संचय है.....संसार के कार्यों में अनेक व्यक्ति निमित्त बनते हैं, परन्तु त्याग का निमित्त बनना बहुत बड़ी बात है, परम सौभाग्य की बात है....मैं तुम्हें स्पष्ट बता देना चाहता हूं कि आज मुझे जो अपूर्व आनन्द की उपलब्धि हो रही है, वह अवाच्य है, अनन्त है।'

अन्त में, जब विक्रम भाई को राज्य की ओर मोड़ने में सफल नहीं हो सके, तब बोले – 'बड़बन्धव! मेरी एक बात आपको माननी होगी।'

'कहो....'

एक बार कुछ समय के लिए आप राजभवन में पधारें....इस गुफा की अवस्था देखकर मेरा हृदय जलकर राख हो गया है।'

'राजमहल की चमक-दमक से अधिक क्या तुम्हें यहां अधिक शांति का अनुभव नहीं होता?'

'महात्मन्! यहां आपका स्वास्थ्य....आपका भोजन....'

मुस्कराते हुए भर्तृहरि ने बीच में कहा – 'त्यागी व्यक्ति की ऐसी कोई कामना नहीं होती, कुछ अधिक आवश्यकताएं नहीं होतीं....और मैं अवंती में अवश्य आऊंगा, पर राजभवन में नहीं।'

'तो फिर?'

'नगरी के बाहर किसी वृक्ष के नीचे आसन बिछाऊंगा। त्यागपथ के पथिक को राज के खिलौनों में रस दिखाना शोभा नहीं देता। तुम मेरी चिन्ता मत करना, निश्चिन्त रहना।'

विक्रमादित्य महात्मा भर्तृहरि की ओर एकटक देखते रहे।

फिर चरणों में सिर झुका, महात्मा का मंगल आशीर्वाद प्राप्त कर विक्रम गुफा के बाहर आ गए।

बाहर निकलने के पश्चात् अग्निवैताल प्रकट होकर बोला– 'मित्र! महात्मा भर्तृहरि धन्य हैं....सुख, सत्ता, समृद्धि और वैभव का सर्वथा त्याग करना देवताओं के लिए भी दुर्लभ है। जिसके हृदय में पराक्रम होता है, वही त्यागरूपी पारद को पचा सकता है....सामान्य जन्तुओं का यह काम नहीं है।'

'तुम्हारी बात सत्य है, मित्र!' कहकर विक्रम ने अग्निवैताल का हाथ पकड़ा।

'अब तो घर ही जाना है न?'

'हां, महात्मा भर्तृहरि कब आएंगे, यह निश्चित नहीं है....परन्तु एक बार अवश्य आएंगे।' कहकर विक्रम ने आंखें बन्द कीं।

कुछ ही क्षणों में दोनों अवंती नगरी के राजभवन के कक्ष में पहुंच गए।

भर्तृहरि से मिलने के लिए जाने से पूर्व विक्रमादित्य ने रामदास को बता दिया था, इसलिए सब निश्चिन्त थे।

भोजन का समय बहुत पहले ही हो चुका था।

अग्निवैताल ने जब जाने की आज्ञा मांगी, तब विक्रम बोले– 'मित्र! आज हम दोनों साथ में ही भोजन क्यों न करें?'

'मेरा ऐसा भाग्य कहां? फिर भी मैं आपका मान रखूंगा।'

'भाग्य की बात?'

'मध्य रात्रि से पूर्व भोजन की इच्छा ही नहीं होती।'

'ओह, तो फिर तुम रोज क्या खाते हो?'

'यही मेरी भाग्यहीनता है....मैं अपने लिए कोई वस्तु मंगा नहीं सकता– इसलिए मुझे वन-उपवन के फल-फूलों पर ही निर्भर रहना पड़ता है।' अग्निवैताल ने कहा।

विक्रम ने रामदास को बुलाकर कहा– 'रामू! आज हम दोनों यहीं भोजन करेंगे। आज तू कन्दोई के यहां सेवक को भेजकर चार मन मिठाई....'

बीच में ही अग्निवैताल बोल पड़ा– 'महाराज! अभी मैं आप जितना ही भोजन कर सकूंगा...बाहर से कोई वस्तु मंगाने की जरूरत नहीं है।'

'सच कह रहे हो?'

'हां....'

विक्रमादित्य ने तत्काल दो थाल परोसकर लाने की आज्ञा दी।

भोजन से निवृत्त होकर वैताल चला गया।

विक्रमादित्य विश्राम करने लगे।

६. कमलावती

राजसभा का कार्य प्रारम्भ हो चुका था। युवक महाराज विक्रमादित्य मालव के राजसिंहासन पर सूर्य की भांति शोभित हो रहे थें

आज राजसभा में एक नया आदमी आया था और वह एक कोने में बैठकर राजसभा की कार्यवाही देख रहा था। विक्रमादित्य को देखकर उसके मन में अनेक विचार आ रहे थे। उसने खड़े होकर राजा को आशीर्वाद देना चाहा, तीन-चार बार खड़े होने का मन किया, पर खड़ा नहीं हो सका। उसने सोचा, राजसभा की कार्यवाही के बीच दखल देना शोभास्पद नहीं होता।

राजसभा के महादण्डक ने जब शिकायत करने के लिए आए लोगों को आगे आने के लिए कहा, तब वह अपरिचित व्यक्ति खड़ा हुआ।

महामंत्री ने तत्काल कहा – 'राजराजेश्वर महाराजा विक्रमादित्य के समक्ष जो कुछ शिकायत करनी हो, निस्संकोचपूर्वक करो।'

'मेरी कोई शिकायत नहीं है....'

'तो फिर आने का प्रयोजन ?'

'मुझे मात्र आशीर्वाद देना है।'

महाराज विक्रमादित्य के कानों में ये शब्द टकराए। उन्होंने सामने खड़े मनुष्य की ओर देखा, देखते ही तत्काल सिंहासन से उठे – 'अरे भट्टमात्र ! मित्र ! तुम अचानक कहां से ? किसी भी प्रकार का सन्देश नहीं.... भले मनुष्य ! तुम सीधे राजभवन में आ जाते....चलो, अब मेरे पास आओ....'

सारी सभा भट्टमात्र की ओर देख रही थी। भट्टमात्र धीरे-धीरे चलकर महाराज विक्रमादित्य के पास गया।

विक्रमादित्य प्रसन्नता से गलबांह डालकर उससे मिले और बोले – 'तुम्हारा अवधूत आज ही राजसिंहासन का सेवक बना है....'

'नहीं महाराज ! आप स्वामी बने हैं।' कहते हुए भट्टमात्र ने आशीर्वाद देते हुए श्लोक कहे।

विक्रमादित्य बोले – 'मित्र ! स्वामी बनने में बन्धन हो जाता है....सेवक बनने में मुक्ति का आनन्द प्राप्त होता है....।' यह कहकर उन्होंने सभा के समक्ष अपने प्रवास-साथी भट्टमात्र और उसकी बुद्धिशक्ति का परिचय दिया।

सारी सभा ने आनन्द अभिव्यक्त किया।

और उसी समय विक्रमादित्य ने घोषणा करते हुए कहा– 'आज से मैं भट्टमात्र को अपना महामंत्री नियुक्त करता हूं और अपने निजी सलाहकार के रूप में भी इन्हें प्रस्थापित करता हूं।'

सारी सभा ने महाराजा का जय-जयकार किया।

महामंत्री बुद्धिसागर के मुख पर सहज उदासी छा गई।

महामंत्री की ओर देखते हुए विक्रमादित्य बोले – 'महामंत्री जी! आपके अधिकारों, मर्यादाओं या हितों को तनिक भी आंच नहीं आएगी। आप निश्चिंत रहें।'

तत्पश्चात् बुद्धिसागर ने अपने महामंत्री पद की मुद्रिका महाराजा के हाथ में सौंप दी।

विक्रमादित्य ने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक मंत्रीमुद्रिका भट्टमात्र को पहनाई और परिवार को तत्काल बुला लाने का आदेश दिया।

हर्षोल्लासपूर्वक सभा सम्पन्न हुई।

महाराजा विक्रमादित्य भट्टमात्र को साथ लेकर राजभवन में आ गए।

भट्टमात्र दो दिन वहां रहे। महाराज ने बीती घटनाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन बताया।

भट्टमात्र अपने परिवार को लाने के लिए दो रथ लेकर गए। राज्य के महामंत्री होने के कारण साथ में दो सेवक और चार रक्षक भी गए।

पांच दिन के बाद भट्टमात्र अपने परिवार को लेकर अवंती नगरी में आ गए और महामंत्री पद पर कार्य करने लगे।

एकाध सप्ताह में ही महामंत्री भट्टमात्र अपने उत्तम गुण और सुसंस्कारों के कारण राजसभा में आदरणीय बन गए और एक दिन वे मंत्रियों, नगरसेठ तथा अन्य संभ्रान्त व्यक्तियों के साथ महाराजा विक्रमादित्य के पास गए।

विक्रमादित्य ने नगरसेठ का आदरपूर्वक सत्कार करते हुए कहा –'क्या बात है? आज सब एकत्र होकर कैसे आए हैं? क्या मेरे से कोई भूल हो गई है?'

'भूल के शोधन के लिए ही तो आना पड़ता है।' नगरसेठ ने कहा।

विक्रमादित्य को बड़ा आश्चर्य हुआ – 'अरे! मैंने कौन-सी भूल कर डाली।' वे बोले – 'भूल बताओ, मैं उसका शोधन करूंगा।'

भट्टमात्र ने कहा –'कृपानाथ! राजसिंहासन का वाम-भाग कब तक रिक्त रहेगा?'

'ओह!' कहकर विक्रमादित्य हंस पड़े। उन्होंने नरगसेठ की ओर उन्मुख होकर कहा – 'मैं इस भूल का संशोधन शीघ्र ही कर लूंगा। महात्मा भर्तृहरि किसी

भी उपाय से यहां नहीं आएंगे, इसलिए मुझे योग्य और कुलीन कन्या के साथ पाणिग्रहण कर लेना होगा।'

फिर भट्टमात्र की ओर दृष्टि घुमाकर महाराज बोले – 'तुम और बुद्धिसागर दोनों इस ओर प्रयत्न कर सकते हो। महात्मा भर्तृहरि रूप से दग्ध हुए हैं, इसलिए रूप नहीं, कुल पर विशेष दृष्टि रखना। गुण और संस्कारशून्य रूप विष में परिणत हो जाता है।'

भट्टमात्र ने विनयपूर्वक कहा –'महाराज! मैंने एक श्रेष्ठ कन्या देखी है।'

विक्रमादित्य ने प्रश्न-भरी दृष्टि से भट्टमात्र की ओर देखा।

भट्टमात्र बोला – 'यहां से डेढ़ सौ कोस दूर आनर्त जनपद के एक कोने में लक्ष्मीपुर नाम का एक नगर है। वहां वैरीसिंह नाम का राजा राज्य करता है। उसकी एकाकी पुत्री है। उसका नाम है कमलावती। वह सोलह वर्ष की है-- चतुर, संस्कारी और पूर्ण स्वस्थ।'

नगरसेठ ने पूछा – 'राजा के एक ही संतान है ?'

'नहीं, रानी पद्मावती ने सात पुत्रों और एक पुत्री को जन्म देने का सौभाग्य पाया है।' भट्टमात्र ने कहा।

बुद्धिसागर बोला – 'तो फिर राजकुमारी का चित्र...'

'यदि महाराज आज्ञा दें, तो मैं शीघ्र ही मंगा लूंगा।'

अभी तक शान्ति से सुनने वाले महाराजा विक्रमादित्य ने मौन भंग कर कहा – 'मित्र! मेरी आज्ञा है।'

दूसरे ही दिन भट्टमात्र ने लक्ष्मीपुर के महाराजा के पास एक दूत भेजा। उसके साथ एक पत्र भी था।

बारहवें दिन दूत लौट आया।

भट्टमात्र ने कमलावती की प्रतिकृति महाराज विक्रमादित्य को दिखाई।

राजकुमारी कमलावती का चित्र अत्यन्त आकर्षक था। नयन भाव भरे थे। मुखमुद्रा शांत....लगता था। वह निर्दोष रूप की सरिता है।

दो दिन तक विचार चला। अन्त में विक्रमादित्य ने अपनी सहमति दे दी।

फिर क्या देर लगती! तत्काल लक्ष्मीपुर के महाराजा के पास सारे समाचार प्रेषित कर दिये।

लक्ष्मीपुर के राजभवन में ये समाचार पहुंचे। सभी लोग आनन्द में मग्न हो गए। एकाकी सुन्दर और संस्कारी कन्या को ऐसा तेजस्वी और समर्थ राजा पति के रूप में प्राप्त हो गया।

लक्ष्मीपुर के महामंत्री, राजपुरोहित और अधीनस्थ राजा तत्काल अवन्ती आ पहुंचे।

अत्यन्त उल्लास के साथ वाग्दान विधि सम्पन्न हुई।

विवाह के लिए वैशाख शुक्ला दसमी का दिन निर्धारित हुआ।

लक्ष्मीपुर के महामंत्री और अन्य व्यक्तियों का उचित सम्मान कर उन्हें विदाई दी।

तत्काल विवाह की तैयारी प्रारम्भ हो गई।

और शुभ मुहूर्त तथा मंगलमय वेला में महाराज विक्रमादित्य ने अपनी साज-सज्जा के साथ लक्ष्मीपुर की ओर प्रस्थान किया।

लक्ष्मीपुर की जनता अपनी प्रिय राजकुमारी के भावी पति मालवनाथ विक्रमादित्य को देखने के लिए उत्सुक हो रही थी।

मालवपति का स्वागत करने के लिए राज्य की ओर से अपूर्व तैयारी की गई थी। जनता भी अधिक उत्साह से स्वागत में सम्मिलित हुई।

जो राजा अपनी प्रजा का प्रेम संपादित करता है, उस राजा के प्रत्येक प्रसंग को जनता अपना प्रसंग मानकर चलती है; क्योंकि राजा स्वयं प्रजा के सुख में सुख और दु:ख में दु:ख अनुभव करता है।

और जो राजा जुल्म, भय या अधिकार बताकर जनता पर शासन करता है, उस राजा के प्रति प्रजा के अन्त:करण में किसी भी प्रकार का सद्भाव नहीं होता।

महाराज विक्रमादित्य अपनी बारात लेकर लक्ष्मीपुर आ पहुंचे। नागरिकों ने अभूतपूर्व स्वागत किया।

महाराज वैरीसिंह और महारानी पद्मावती अपने दामाद को देखकर परम प्रसन्न हुए। ऐसा प्रतापी, युवा और पराक्रमी दामाद पुण्य योग से ही प्राप्त होता है।

यथासमय विधिवत् विवाह की रस्म पूरी हुई।

महाराजा विक्रमादित्य की ओर से पूरी नगरी को भोजन के लिए निमंत्रित किया गया। दोनों पक्षों ने बहुत दान दिया।

महाराजा वैरीसिंह की भावना को आदर देते हुए बारात चार दिन अधिक टिकी रही।

कन्या की विदाई का समय आ गया।

माता-पिता के घर को छोड़कर जब कन्या दूसरे घर को अपना घर बनाने जाती है, तब माता-पिता के हृदय में अत्यधिक पीड़ा होती है। इस पीड़ा की कल्पना करना भी सहज नहीं है। यह वेदना पत्थर-दिल को भी पिघला देती है।

और कन्या के अन्तःकरण की वेदना गुरुतर होती है....किन्तु उसके मन में जीवन-साथी के साथ नये जीवन की एक आशा उसके हृदय को आनन्दित करती रहती है।

नगरी से चार कोस की दूरी तक राजा वैरीसिंह, महारानी पद्मावती तथा अन्य रानियां, मंत्री और सुभट आदि हजारों लोग पहुंचाने आये थे।

उस स्थान पर कन्या के साथ अन्तिम मिलन करते समय माता पद्मावती ने कहा– 'पुत्री! तुम अपने पितृकुल की परम्परा का ध्यान रखना, उसकी शोभा बढ़ाना....

'तुम्हारे पुण्योदय से उत्तम वर और राज्य मिला है। यदि तुम इज्जत को पचा लोगी तो तुम्हारा भवन स्वर्ग बन जायेगा।'

महाराजा वैरीसिंह पुत्री को छाती से लगाते हुए बोले– 'कमला बेटी! तू समझदार है। तुझे कुछ कहने की जरूरत नहीं है....किन्तु मुझे मात्र इतना ही कहना है कि प्राप्त सौभाग्य को सुरक्षित रखने के लिए हृदय की पवित्रता और उदारता को बनाये रखना....संसार में अमृत को पचाने वाले अनेक मिल सकते हैं, पर विष पचाने वाले की शक्ति विरल में ही होती है। तुझे यह शक्ति प्राप्त हो, यही कामना है।'

राजकन्या के सातों भाइयों ने बहन को सजल नयनों से विदाई देते हुए कहा– 'बहन! हमें भूल मत जाना, जो प्यार तुमने हमें दिया, उसे हम भूल नहीं सकते।'

विक्रमादित्य ने भी सास और ससुर के चरणों में प्रणाम कर प्रस्थान किया।

कमलावती एक सज्जित रथ में आरूढ़ थी। उसके साथ दो परिचारिकाएं बैठी थीं।

आगे के रथ में महाराज विक्रमादित्य, उनके एक मित्र और भट्टमात्र बैठे थे।

लक्ष्मीपुर के महाराजा ने अपनी एकाकी लाड़ली को प्रचुर धन दिया था।

बारात अवंती के मार्ग पर आगे बढ़ी।

१०. राजर्षि का आगमन

अवंतीनाथ महाराजा विक्रमादित्य और महारानी कमलावती का भव्य स्वागत अवंती के नर-नारियों ने किया।

ऐसा अभूतपूर्व स्वागत उस दिन भी नहीं हुआ था, जिस दिन महाराज भर्तृहरि ने अनंगसेना के साथ अवंती में प्रवेश किया था।

महाराज विक्रमादित्य को वैभव का आकर्षण नहीं था। वे अपनी जीवन-संगिनी की महत्ता देख रहे थे। पन्द्रह दिन के सहवास के पश्चात् वे जान सके कि जैसी पत्नी वे चाहते थे, वैसी ही उन्हें प्राप्त हुई है।

कमलावती में रूप था, पर रूप का गर्व नहीं था।

उसमें यौवन था, पर यौवन की चंचलता नहीं थी।

उसका हृदय प्रेम, उल्लास और आनन्द से छलक रहा था।

किसी भी नवविवाहित व्यक्ति को जीवन के प्रथम प्रहर में अपनी पत्नी अत्यन्त सुन्दर और सर्वगुण-सम्पन्न ही लगती है....विक्रमादित्य इस सत्य को जानते थे और उन्होंने पत्नी के अन्त:करण में एक पतिव्रता का ही स्वरूप देखा था।

महारानी ने केवल पन्द्रह दिन की छोटी अवधि में राजपरिवार और राजभवन के सभी दास-दासियों का प्रेम संपादित कर लिया था।

एक दिन रात्रि की वेला में महाराज विक्रमादित्य और महारानी कमलावती बातचीत कर रहे थे। बात-ही-बात में महादेवी अनंगसेना का प्रसंग छिड़ गया। विक्रम ने प्रश्न करते हुए कमलावती से पूछा – 'प्रिये! तुमने अनंगसेना का वृत्तांत सुन लिया होगा?'

'हां, स्वामी! किन्तु उस वृत्तान्त को जानने में मुझे रस नहीं है। मनुष्य जब मन की चंचलता का दास बनता है, तब वह मार्गच्युत हो जाता है। ऐसा होता है, इसीलिए तो यह संसार विचित्र मायाजाल कहलाता है।' कमला ने कहा।

'तुम सच कह रही हो, कमला! भाभीजी की घटना को सुनकर मेरे मन में क्या प्रतिक्रिया हुई, वह मैं तुम्हें बताना चाहता हूं।'

'आप न कहें तो भी मैं समझ चुकी हूं।'

'बोलो, क्या समझा है तुमने?'

'नारी जाति के प्रति आपके मन में घृणा उत्पन्न हो गई होगी?'

'सत्य कह रही हो तुम...'

'अब आगे.....?'

'कमला, तुम्हें प्राप्त करने के पश्चात् मेरा भ्रम टूट चुका है। मैं समझ चुका हूं कि आर्यावर्त की नारी निर्मल, पवित्र और आदर्श रूप होती है। अपवाद मार्ग को नहीं देखना चाहिए....अपवाद संशय पैदा करता है।' कहते हुए विक्रमादित्य ने प्रियतमा का हाथ पकड़ लिया।

कमला मधुर दृष्टि से स्वामी के तेजस्वी और विशाल नयनों की ओर देखती रही।

कुछ क्षणों तक मौन छाया रहा, दोनों नहीं बोले....अंत में विक्रम ने कहा, 'आंखों में क्या देख रही हो ?'

'मेरा हृदय....'

'और वह भी मेरी आंखों में ?'

'हां, पत्नी का हृदय पति की आंखों में पूर्ण होकर ही सौभाग्य प्राप्त कर सकता है।' इतना कहकर कमला ने स्वामी के वक्षस्थल में अपना सिर छिपा लिया।

'प्रिय!' कहकर विक्रमादित्य ने दोनों हाथों से कमला का मुंह ऊंचा किया....कमला की आंखें कमल जैसी हो गई थीं। विक्रम ने पत्नी के अधरों पर अधर टिकाकर एक दीर्घ चुम्बन लिया और फिर कहा – 'कमला ! मुझे एक विचार सताता रहता है।'

पत्नी ने पति की ओर प्रश्नभरी दृष्टि से देखा।

विक्रम बोले – 'मैं सदा तुम्हारी प्रसन्नता प्राप्त करता रहूं....इसलिए मन में इच्छा होती है कि मैं एक पत्नीव्रत की प्रतिज्ञा..... ।'

विक्रमादित्य अपना वाक्य पूरा करें, उससे पहले ही कमला ने उनके मुंह पर हाथ रखते हुए कहा – 'हां....हां.... ऐसी कोई प्रतिज्ञा न करें।'

'क्यों ?'

'प्रिये ! मिलन की प्रथम रात्रि में आपने जो मुझे कहा था, क्या उसे भूल गए ?'

'कौन-सी बात ?'

'ज्योतिषी का कथन।'

'ओह, शताधिक पत्नियां होंगी – नहीं-नहीं, मुझे ज्योतिषी को झूठा करना है, कमला ! तुम्हारे और मेरे बीच कोई दूसरा आए, यह मैं नहीं चाहता।'

कमला मुस्कराती रही।

'क्यों मुस्करा रही हो ?'

'स्वामिन् ! जिस ज्योतिषी की अन्यान्य बातें सही होती हैं, फिर यह बात झूठी कैसे हो सकती है ? और एक बात है, आप मालव देश के अधिपति हैं – अनेक राजकन्याएं आपके पति-रूप में स्वीकार करने के लिए लालायित हो सकती हैं, इसलिए आप जैसे तेजस्वी और मनोहारी पुरुष के लिए एकपत्नीव्रत शोभा नहीं देता – और आप जैसे समर्थ और शक्तिशाली पुरुष को तो वह शोभा दे ही नहीं सकता है।'

विक्रमादित्य ने कमला को छाती से लगाते हुए कहा – 'फिर तुम्हारा और मेरा.... ।'

बीच में कमला बोल उठी – 'मेरे मन में कोई भय नहीं है। श्रीकृष्ण के कितनी रानियां थीं, फिर भी उनके सांसारिक जीवन में कहीं विसंवाद नहीं था।'

'फिर भी....'

'फिर भी कुछ नहीं – मेरे और आपके मन का जो लगाव हो चुका है, उसको विधाता भी नहीं तोड़ सकते। विश्वास ही स्त्री का सच्चा धन है, पौरुष है।' कमला ने कहा।

इस प्रकार आनन्द, प्रेम और भावनाओं के चार मास व्यतीत हो गए। विक्रमादित्य ऐसी व्यवस्था करने लगे, जिससे प्रजा को ज्यादा-से-ज्यादा सुख-सुविधा उपलब्ध हो सके।

विक्रम की यह भावना थी कि मालव देश में कोई भी व्यक्ति दुःखी न रहे। उन्होंने मंत्रियों से मंत्रणा कर राज्यकर्मचारियों को यह निर्देश दिया कि राज्य-व्यवस्था की ओर से प्रजा को तनिक भी दुःख नहीं होना चाहिए। प्रजा के धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक रीति-रिवाजों में राज्य का कोई हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए।

विक्रमादित्य ने कर-भार कम कर दिया तथा व्यापारी और किसानों को विशेष रियायत देकर उनका मार्ग प्रशस्त किया।

इस प्रकार उदार राजनीति के कारण विक्रमादित्य के प्रति प्रजा का सद्भाव शतगुणित हो गया।

इतने समय तक शिकायत करने वाले प्रजाजनों को राजसभा में ही उपस्थित होना पड़ता था। वे वहां फरियाद करने में हिचकिचाते थे। महाराज विक्रमादित्य ने इसमें संशोधन कर शिकायत करने वाला कोई भी व्यक्ति राजभवन में आ सकता है, ऐसी घोषणा करवाई।

इस प्रकार विक्रमादित्य के राज्यकाल का प्रारम्भ लोगों के आनन्द और मंगल भावना से उज्ज्वल हो रहा था।

और एक दिन अवंती की जनता के जय-जयकार से सारा गगनमंडल ध्वनित हो उठा।

महात्मा भर्तृहरि नगरी के एक उद्यान में आ गए थे।

यह समाचार सुनकर नगरी की पूरी जनता अपने त्यागी-वैरागी राजा के दर्शन करने के लिए उमड़ पड़ी।

महाराज विक्रमादित्य को राजर्षि के आगमन की सूचना मिली। वे अपने परिवार, मंत्रिमंडल, सामंत, सुभट और सेनानायकों से परिवृत होकर नगर के बाहर स्थित उद्यान की ओर राजर्षि के दर्शनार्थ उपस्थित हुए।

मध्याह्न तक सारा नगर राजशून्य-सा हो गया और उद्यान जन-संकुल-सा बन गया। सभी पौरजन राजर्षि भर्तृहरि की शरण में आ गए।

मालवपति अपने परिवार के साथ राजर्षि के चरणों में उपस्थित हुए। सभी ने राजर्षि की चरणरज अपने मस्तक पर चढ़ाई। राजर्षि ने सबको आशीर्वाद दिया।

महामंत्री भट्टमात्र ने कहा– 'महात्मन्! आपके चरण-स्पर्श से आज यह धरती पुण्यमयी बनी है। अब आप राजभवन में पधारने की कृपा करें।'

'महात्मन्! मेरी भी यही विनम्र प्रार्थना है। आप इसे स्वीकार करें।' विक्रमादित्य ने गद्‌गद स्वरों में कहा।

भर्तृहरि ने प्रसन्न दृष्टि से विक्रम की ओर देखते हुए कहा– 'राजन्! मुझे यहीं आनन्द है–त्यागी-तपस्वी व्यक्तियों के लिए राजभवन उचित नहीं होता।'

विक्रमादित्य ने बहुत आग्रह किया, तब राजर्षि बोले– 'मैं कल माधुकरी भिक्षा लेने राजभवन आऊंगा।'

आधी रात तक लोग उद्यान में डटे रहे।

रात्रि के अंतिम प्रहर में महाराज विक्रमादित्य राजभवन की ओर प्रस्थित हुए।

प्रातःकाल हुआ।

राजभवन में राजर्षि के आगमन की तैयारियां होने लगीं। महारानी कमलावती अत्यन्त व्यस्त थीं।

लोगों का प्रवाह राजभवन की ओर उमड़ रहा था, किन्तु महात्मा भर्तृहरि को मार्ग में आने में कोई कठिनाई या अवरोध न हो, इसलिए राज्य की ओर से पूरी व्यवस्था की गई थी।

माधुकरी के लिए राजर्षि उद्यान से चले। मार्ग में नागरिकों का प्रणाम स्वीकार करते-करते वे राजभवन की सोपान श्रेणी के पास पहुंचे

लोगों की भीड़ अपार थी।

महाराज विक्रमादित्य और महामंत्री सोपान श्रेणी के पास खड़े रह गए।

महाप्रतिहार महात्मा भर्तृहरि को राजभवन में ले गए।

उस समय ऊपर की मंजिल में महारानी कमलावती स्नान कर रही थीं। एक दासी ने महात्मा भर्तृहरि के आगमन की सूचना दी। यह सुनकर महारानी एक भीगे वस्त्र में खड़ी हो गईं।

कुछेक नागरिक राजभवन के भीतर प्रवेश पाने के लिए प्रयत्न कर रहे थे। महाप्रतिहार उन्हें वहीं रोकने की व्यवस्था में जुट गए।

महात्मा भर्तृहरि शान्त भाव से ऊपरी मंजिल की सोपान श्रेणी चढ़ने लगे।

११. साहस की प्रेरणा

महात्मा भर्तृहरि माधुकरी भिक्षा लेकर तत्काल लौटने ही वाले थे—और वे स्वस्थ-मन सहित ऊपर की मंजिल पर पहुंच गए।

ठीक उसी समय महारानी कमलावती मात्र एक वस्त्र पहने स्नानगृह से बाहर निकलीं और वस्त्रकक्ष की ओर जाने लगीं। महात्मा भर्तृहरि की दृष्टि स्वाभाविक रूप से उस ओर गई—रानी कमलावती की दृष्टि भी राजर्षि पर पड़ी। उसका मन लज्जा से भर गया—मात्र एक वस्त्र स्वर्णमय शरीर पर वेष्टित था। उन्नत उरोज स्पष्ट रूप से दीख रहे थे—अल्प वस्त्र के कारण उसका रूप-लावण्य चन्द्रमा की भांति बिखर रहा था।

किन्तु महात्मा भर्तृहरि तत्काल पीछे मुड़े। यह देखकर कमलावती लज्जा का त्याग कर तत्काल राजर्षि की तरफ उसी स्थिति में शीघ्रता से पैर बढ़ाती हुई आगे बढ़ी और मृदु-मंजुल स्वर में बोली—'भगवन्! आप मुड़ कैसे गए?'

महात्मा भर्तृहरि खड़े रह गए और नीची दृष्टि किए हुए बोले—'भाग्यवती! साधु को दृष्टि की पवित्रता और भाव-मर्यादा का ध्यान रखना चाहिए।'

'मैं समझी नहीं।'

'भद्रे! संसारी व्यक्ति और त्यागी मुनि की मर्यादाओं में बहुत बड़ा अन्तर होता है। स्त्री को स्नानावस्था में देखकर साधु माधुकरी भी नहीं लेते।'

'कृपानाथ! क्षमा करें, मैं एक प्रश्न पूछना चाहती हूं।'

'प्रसन्नता से।'

'आप सामने खण्ड में विराजें—मैं अभी आती हूं।' रानी ने कहा।

दो परिचारिकाएं दूर खड़ी थीं। महात्मा भर्तृहरि उस खंड की ओर चल पड़े।

रानी कमलावती त्वरित गति से वस्त्रखंड में गईं।

नीचे भयंकर कोलाहल हो रहा था। हजारों नर-नारी राजर्षि की जय-जयकार कर रहे थे और दर्शन करने के लिए उतावले हो रहे थे।

महाप्रतिहार, भवन के दास-दासी, मंत्री वर्ग और स्वयं मालवनाथ विक्रमादित्य भी लागों को समझाने में लग रहे थे।

जिस भवन में पूरा राजसुख समाया हुआ है, जिस भवन के प्रत्येक खंड में और भवन की प्रत्येक भित्ति पर अनंगसेना के प्रेम का माधुर्य चित्रित है, जिसके कण-कण में प्रिया और प्रियतम के भावगीत चित्रित पड़े हैं—उस स्थान पर आकर भी महात्मा भर्तृहरि अपने हृदय पर एक छोटी-सी स्मृति भी नहीं उभरने देते, मानो

कि इस भवन के साथ कभी कोई संबंध रहा ही न हो, ऐसे निर्विकार भाव से वे खंड में नीचे मृगचर्म बिछाकर बैठ गए।

महारानी कमलावती कुछ ही समय में वस्त्र धारण कर उस खंड में आ पहुंची और राजर्षि को नमस्कार कर बोलीं – 'भगवन्! भोजन का थाल तैयार करने की आज्ञा करूं?'

'नहीं, मां! मैं अपने ही पात्र में आहार ग्रहण करूंगा, परन्तु पहले आप अपना प्रश्न....।'

'हां, परन्तु उस प्रश्न से आपको दु:ख होगा।'

'माता! साधु को सुख-दु:ख की चिन्ता नहीं होती–आप संकोच को त्याग कर कहें।'

'भगवन्! आपने स्त्री को स्त्री रूप में क्यों देखा? मुनि को जैसे स्वर्ण और माटी में कोई फर्क नजर नहीं आता, उसी प्रकार जिस किसी वेश या रूप में खड़ी हुई स्त्री में भेद क्यों होता है?' कमलावती ने कहा।

महारानी कमलावती का यह प्रश्न सुनकर महात्मा भर्तृहरि चौंके–उनकी आंखों में प्रकाश की एक रेखा खचित हुई–वे अत्यन्त प्रसन्नदृष्टि से कमलावती की ओर देखने लगे। वे प्रश्न का कुछ उत्तर दें, उससे पूर्व ही जनता को समझा-बुझाकर महाराजा विक्रमादित्य, मंत्री वर्ग, महाप्रतिहार आदि महात्मा को ढूंढते-ढूंढते आ पहुंचे।

सभी के आ जाने पर भी रानी कमलावती उसी भाव से वहीं बैठी रहीं।

विक्रमादित्य तथा सभी ने महात्मा भर्तृहरि को साष्टांग दंडवत् प्रणाम किया।

महात्मा ने सबकी ओर प्रेमभरी दृष्टि से देखा।

सभी भूमि पर ही बैठ गए। राजर्षि ने कमलावती की ओर नजर घुमाकर कहा–'आज तुमने मेरे मन के कोने में छिपे पड़े अज्ञान को दूर किया है। मन का अंधकार मनुष्य के मंगलमय मार्ग में रोड़ा अटकाता रहा है–बाह्य दृष्टि से पालन किया जाने वाला आचार मात्र व्यवहार दृष्टि से उपकारी होता है और अज्ञानी जीव लड़खड़ा न जाएं इसलिए आवश्यक होता है, किन्तु आत्म-साक्षात्कार के लिए निश्चयदृष्टि उपकारक होती है। मेरा यह उद्देश्य होने पर भी आज तक मेरे मन में एक अज्ञान वास कर रहा था... शत्रु-मित्र, स्त्री का रूप, तृण, सोना, पत्थर, मणि, मृत्तिका तथा संसार और मोक्ष–इन सबके प्रति जब तक मैं समदृष्टि वाला नहीं बनता तब तक मैं स्वयं को नहीं पहचान सकता–आज से मैं समदृष्टि प्राप्त करने की ओर प्रयत्न करूंगा।'

कमलावती ये शब्द सुनकर महात्मा भर्तृहरि के चरणों में झुक गई।

तत्पश्चात् महात्मा भर्तृहरि ने विक्रमादित्य की ओर मुड़कर कहा–'राजन्! तुम्हारी सहधर्मिणी साक्षात् सरस्वती है – मेरे मन का अंधकार उसके एक प्रश्न से दूर हो गया।'

वह प्रश्न क्या था, विक्रम को जानने की इच्छा हुई, पर वे कुछ बोले नहीं।

फिर महात्मा भर्तृहरि ने धर्मोपदेश दिया।

उपदेश सुनकर सबका मन अत्यन्त प्रसन्न हुआ। महामंत्री भट्टमात्र ने कहा – 'भंते! आप कुछ दिन राजभवन में रहें तो....'

बीच में ही राजर्षि ने कहा – 'राजभवन या तपोवन – आज से मेरे लिए दोनों समान हैं। किन्तु व्यवहार दृष्टि की उपेक्षा करने से भविष्य में होने वाले साधु-संतों के मार्गच्युत होने का निमित्त उपस्थित होता है, इसलिए आप किसी भी प्रकार का आग्रह न करें।'

ऐसा ही हुआ।

थोड़े समय पश्चात् महात्मा भर्तृहरि रानी कमलावती के हाथों से माधुकरी प्राप्त कर नीचे उतरे। नीचे हजारों नर-नारी उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। महात्मा भर्तृहरि ने सबको धर्म में दृढ़ रहने और सदाचारी जीवन जीने का उपदेश दिया।

फिर वे उद्यान की ओर चल पड़े।

संध्या के समय राजपरिवार के साथ महाराजा विक्रमादित्य उद्यान में गए और कुछ समय तक महात्मा के चरणों में बैठकर लौट आए।

प्रातःस्नान आदि से निवृत्त होकर महाराज दुग्धपान करने बैठे थे...वहां एक दूत ने आकर कहा – 'कृपावतार! आज प्रातःकाल से पूर्व ही महात्मा भर्तृहरि यहां से विहार कर गए हैं।'

'आज ही विहार कर गए?' विक्रमादित्य को आश्चर्य हुआ।

विक्रमादित्य ने उनकी खबर प्राप्त करने के लिए चारों ओर सुभटों को भेजा....पर सब खाली हाथ लौट आए।

और एक दिन राजसभा में भारी चमत्कार घटित हुआ। एक सुन्दर, चतुर और प्रभावशाली परदेशी चारण महासभा में आ पहुंचा था।

जब राजसभा के मुख्य दंडक ने शिकायत करने वाले को खड़े होकर शिकायत करने के लिए कहा, तब वह चारण खड़ा हो गया। सारी सभा उस सुन्दर चारण को निहारने लगी।

महाराज विक्रमादित्य भी उस चारण की ओर देखने लगे। ऐसा तेजस्वी रूप भाग्य से ही देखने के लिए मिलता है। सुरूप, स्वस्थ और सुदृढ़ पुरुष को देखकर कोई भी स्त्री उसके प्रति आकृष्ट हो, यह स्वाभाविक है, पर उस चारण को देखकर राजसभा में बैठे हुए सभी व्यक्ति स्तब्ध-से हो गए थे।

चारण बोला – 'मालवनाथ महाराज विक्रमादित्य की जय हो ! कृपानाथ ! मैं एक चारण हूं। मेरा नाम देवकीर्ति है।

महामंत्री भट्टमात्र ने कहा – 'आपको जो फरियाद करनी हो, वह निःसंकोच रूप से करें....मालवपति आपकी फरियाद पर अवश्य विचार करेंगे।'

देवकीर्ति चारण ने भट्टमात्र की ओर देखते हुए कहा – 'महामंत्रीश्वर! मैं फरियाद करने नहीं आया हूं.....किन्तु एक साहस करने की प्रेरणा देने आया हूं।'

ये शब्द सुनकर सारी सभा चकित रह गई। साहस की प्रेरणा ?

महामंत्री ने प्रश्न किया – 'साहस की प्रेरणा ?'

'हां, मंत्रीश्वर ! मैं अनेक राज्यों में घूमा हूं....अनेक राजाओं को भी देखा है....किन्तु बानबे लाख की जनसंख्या वाले मालव देश के अधिपति विक्रमादित्य को देखने पर लगा कि ये पुरुष जाति का महान् उपकार कर सकते हैं।'

विक्रमादित्य को भी महान् आश्चर्य हो रहा था.....देवकीर्ति की बात समझ में नहीं आ रही थी। महामंत्री ने कहा – 'पुरुष जाति पर महान् उपकार करने की बात समझ में नहीं आ रही है....यदि आप विस्तार से कहें तो इस बात पर विचार किया जा सकता है।'

'मैं आपको विस्तार से बताने के लिए ही आया हूं। दक्षिण भारत में प्रतिष्ठानपुर नामक एक बड़ा राज्य है। उसके राजराजेश्वर महाराज शालिवाहन धर्मप्रेमी, सद्गुणी और पवित्र राजा हैं। उनके सतरह वर्ष की एक कन्या है। उसका नाम है सुकुमारी। उसका रूप असामान्य है....उसके शरीर की आभा गुलाबी है। उसके नयन गुलाबी यौवन की प्रथम रेखाओं से मनोहर दिखाई देते हैं। देखने वाला सोचता है कि उसको एकटक निहारता ही रहूं और विशेष बात यह है कि राजकुमारी सुकुमारी नृत्य और संगीत में बेजोड़ है। उसके समक्ष स्वर्ग की अप्सराओं का, देवकन्याओं का और पद्मिनी नारी का वर्णन भी फीका-फीका है। ऐसा रूप, उभरता हुआ यौवन और सप्रमाण शरीर – मैंने कहीं नहीं देखा....मालवनाथ ! और अधिक क्या कहूं ? संसार के किसी कवि के पास ऐसे शब्द नहीं हैं कि वह राजकन्या का नख-शिख-वर्णन कर सके। यह कन्या सभी दृष्टियों से उत्तम और श्रेष्ठ होने पर भी, जाति के प्रति अत्यन्त द्वेष रखती है....कोई भी पुरुष उसके समक्ष जा नहीं सकता....यदि भूला-भटका कोई भी पुरुष उसके आवास में चला जाता है, तो तत्काल उसका वध कर दिया जाता है। अपनी प्रिय कन्या की यह वृत्ति देखकर महाराजा शालिवाहन ने उसके लिए एक अलग भवन की व्यवस्था की है, वहां कोई भी पुरुष नहीं जा सकता। कोई साहसी पुरुष राजकन्या को प्राप्त करने के लिए जाता है, तो मरकर ही बाहर निकलता है। ऐसी सुन्दर और उत्तम राजकन्या

को आज तक कोई भी पुरुष अपने वश में नहीं कर सका है। कोई पुरुष उसको अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पाया है। पुरुष जाति पर महान् उपकार करने की दृष्टि से मैं आपसे प्रार्थना करने आया हूं।'

यह सुनकर सारी सभा अवाक् रह गई। नौजवान विक्रमादित्य ने कहा – 'चारणदेव! मैंने आज तक इस प्रकार कोई स्त्री पुरुष-द्वेषिणी होती हो, ऐसा सुना नहीं है। ऐसा क्यों हुआ तथा इसकी विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिए मुझे क्या करना चाहिए....यदि आप कहेंगे तो अच्छा रहेगा।'

चारणकीर्ति ने कहा – 'महाराज! मेरे पास राजकन्या का चित्र भी है और वह पुरुष-द्वेषिणी क्यों बनी, इसका विवरण भी है। यदि आप मुझे राजभवन में मिलने की आज्ञा दें तो मैं आपको विस्तार से सारी बात बता सकूंगा।'

चारण देवकीर्ति की यह बात तत्काल मान ली गई और राजसभा समाप्त होने के पश्चात् महाराज विक्रमादित्य देवकीर्ति को साथ लेकर राजभवन की ओर प्रस्थित हुए।

१२. प्रिया की प्रेरणा

महाराज विक्रमादित्य ने चारण देवकीर्ति को भोजन करने का आग्रह किया, तब देवकीर्ति ने प्रसन्नता से कहा – 'राजन्! मैं श्रीजिनेश्वर देव का उपासक हूं...आज मैंने अन्नजल ग्रहण करने का परित्याग किया है। आप निश्चिन्तता से भोजन करें।'

महाराज विक्रमादित्य ने देवकीर्ति को बैठक-खंड में बिठाया और स्वयं भोजन के निमित्त अपने ऊपर के खंड में गए। उस समय रानी कमलावती स्वामी की प्रतीक्षा में बैठी थी। स्वामी को आते देखकर वह उठी और हंसते हुए बोली, 'आज राजसभा में विलम्ब हो गया लगता है।'

'हां, प्रिये! आज यदि तुम वहां रहती तो एक आश्चर्यकारी बात सुनती।'

'मुझे ऐसी कोई कल्पना ही नहीं थी....अब आप विलम्ब न करें...वस्त्र-परिवर्तन कर भोजन-गृह में पधारें। मैं वहां तैयारी करती हूं....फिर मुझे वह सारी बात बताएं।' कमलावती ने कहा।

मुकुट आदि को एक त्रिपदी पर रखते हुए विक्रमादित्य बोले – 'कमला! आज तुम्हें मेरे साथ ही भोजन करना है....फिर नीचे के कक्ष में चलेंगे। वहां वह सारी आश्चर्यकारी घटना सुनने को मिलेगी।'

कमलावती तत्काल भोजनगृह की ओर गई।

लगभग दो घटिका के पश्चात् महाराजा विक्रमादित्य और महारानी कमलावती – दोनों बैठक-खंड में आ गये।

देवकीर्ति ने आसन से उठकर महाराज और महारानी को आशीर्वाद दिया।

महाराज और महारानी ने चारणदेव को नमस्कार किया। विक्रम ने कहा – 'क्षमा करें, चारणदेव! आपको मैंने इतने समय तक बिठाये रखा....'

'कृपानाथ! ऐसा न कहें....मेरा अहोभाग्य है कि आज मैं आपके आवास में आ सका और सती महारानी को देख सका।' देवकीर्ति ने कहा।

फिर तीनों आसन पर बैठे। विक्रमादित्य ने देवकीर्ति से कहा –'अब आप महाराज शालिवाहन की नर-द्वेषिणी कन्या की बात कहें। महादेवी, वह बात सुनना....'

बीच में देवकीर्ति बोल पड़ा – 'महादेवी को बात सुनकर बहुत आनन्द आयेगा और मेरी भावना को भी सहारा मिलेगा।'

कमलावती ने कहा – 'आपकी भावना को सहारा.....समझी नहीं।'

'जब आप बात सुनेंगी तब सब कुछ समझ में आ जायेगा। दक्षिण भारत में प्रतिष्ठानपुर नाम का एक बड़ा राज्य है। महाराज शालिवाहन वहां राज्य करते हैं। पटरानी का नाम विजया है। दोनों संस्कारी और धार्मिक हैं। राजा के पांच पुत्र और एक पुत्री है। पुत्री का रूप अनुपम है....स्वर्गलोक में भी ऐसा रूप दुर्लभ है। वह नृत्य और संगीत में निष्णात है। वह सतरह वर्ष की है और रूपलावण्य के योग से आज भुवनमोहिनी बन गई है। किन्तु राजकन्या जब सात वर्ष की थी तब उसे पूर्वजन्म का ज्ञान हुआ। वह उस भव में अपने पति द्वारा अत्यन्त पीड़ित और उत्तापित की गई थी, किन्तु किसी पुण्य के संयोग से वह इस जन्म में राजा के यहां राजकुमारी बनी। अपने पति द्वारा किये गए अन्याय की स्मृति के कारण वह पुरुष-द्वेषिणी बन गई। जब वह तेरह वर्ष की हुई, तब यह द्वेष पराकाष्ठा पर पहुंच गया। उसके पास कोई भी पुरुष जाता तो वह उसका वध करा डालती। राजा इस वृत्ति से व्याकुल हो उठा। महारानी भी व्यथित हो गई....एकाकी सुन्दर कन्या के लिए क्या किया जाए? उस कन्या के हाथ से किसी भी पुरुष का वध न हो, इसलिए महाराजा शालिवाहन ने उसके लिए एक अलग महल बनवाकर वहां रखा है। वहां काम करने तथा रक्षा आदि के कार्य में स्त्रियां ही नियुक्त हैं। इस प्रकार वह राजकुमारी अब सतरह वर्ष पूरे कर रही है। उसके भाई भी वहां नहीं आ-जा सकते, केवल पिता शालिवाहन वहां जा सकते हैं। उनके सिवा कोई भी पुरुष यदि उस महल में प्रवेश करता है, वह मरा हुआ ही बाहर निकलता है। राजकुमारी उसका शिरच्छेद करा देती है। राजकुमारी अत्यन्त सुन्दर है। उसकी सुन्दरता का वर्णन करने में मैं भी असमर्थ हूं। उस राजकन्या को कोई अपने वश में कर सके, ऐसा पुरुष मैंने आज तक कहीं नहीं देखा....केवल आपको देखने पर मन में आशा बंधी है कि

आप उस राजकन्या को वश में कर पुरुष जाति पर उपकार कर सकते हैं। कृपानाथ! पूर्व-जन्म की स्मृति के कारण ही उसके मन में यह विपरीतता आयी है। जब आप उसका चित्रांकन देखेंगे, तब आपको ज्ञात होगा कि संसार में ऐसी सुन्दर कन्या भाग्य से ही प्राप्त होती है....' कहते हुए देवकीर्ति ने श्वेत वस्त्र से ढंका हुआ चित्र विक्रमादित्य को दिखाया।

चित्र को देखकर विक्रमादित्य के मुंह से निकल पड़ा – 'वाह!'

कुछ क्षण चित्रांकन देखने में बीत गए। महादेवी कमला ने कहा – 'चारणदेव! ऐसे सौन्दर्य का वर्णन किसी से नहीं हो सकता।'

विक्रमादित्य ने प्रेमभरी दृष्टि से कमलावती की ओर देखकर कहा – 'निश्चित ही राजकन्या अत्यन्त सुन्दर है....जब एक स्त्री किसी दूसरी स्त्री में मुग्ध हो जाती है, तब उसके रूप में कोई दोष नहीं बताया जा सकता।' कहकर विक्रमादित्य ने चित्र कमला के हाथ में थमाकर चारणदेव से कहा – 'अब आप यहां कुछ दिन ठहरें। आज आपका उपवास है, इसलिए आतिथ्य का हमें अवसर ही नहीं मिला। फिर मैं इस चित्र को देखकर जो निर्णय लूंगा, वह आपको ज्ञात हो जायेगा। यह चित्र मेरे पास रहे, तो आपको कोई आपत्ति तो नहीं है?'

'यह चित्र आप रखें....आप पुरुष जाति का कल्याण करें....महाराज! मैं और अधिक नहीं ठहर सकता, मुझे आज ही लौट जाना है।'

'यहां आपको कोई कष्ट.....।'

'क्षमा करें राजन्, यदि मैं ठहर सकता, तो आग्रह नहीं कराता।'

विक्रमादित्य ने बाहर खड़े महाप्रतिहार अजयसेन को तत्काल बुला भेजा और उसके कान में कुछ कहा।

देवकीर्ति सब कुछ समझ गया। उसके मुंह पर मुस्कराहट छा गई।

अजयसेन तत्काल खंड से बाहर आ गया।

महारानी कमलावती ने भी रुकने का आग्रह किया।

इतने में ही अजयसेन एक थाल लेकर आ पहुंचा। उस थाल में स्वर्ण मुद्राएं, रत्नजटित स्वर्णाभरण और एक कश्मीरी दुपट्टा था। महाप्रतिहार थाल लेकर महाराज के पास खड़ा रहा।

महाराज विक्रमादित्य महाप्रतिहार के हाथ से थाल लेकर चारणदेव के पास जाकर बोले – 'चारणदेव! आपके न रुकने का कारण मैं समझ नहीं सका....मैं अधिक आग्रह कर आपको कष्ट देना नहीं चाहता। आप जब चाहें तब जा सकते हैं। केवल यह भेंट आप स्वीकार करें।'

देवकीर्ति ने महाराजा के हाथ से थाल लेकर एक ओर रखते हुए कहा– 'राजन्! मैं धन्य हुआ। आपकी भावना देखकर मुझे अपना असली स्वरूप प्रकट करना पड़ रहा है....' यह कहकर उसने अपनी आंख मूंद ली।

कुछ ही क्षणों के पश्चात् सबने आश्चर्यभरी दृष्टि से देखा कि चारण देवकीर्ति का स्वरूप परिवर्तित हो गया है। उसके शरीर पर अति मूल्यवान् आभूषण चमकने लगे। उसके सिर पर धारण किये हुए मुकुट से तेजस्वी किरणें निकल रही थीं। उसका जो रूप था, वह सहस्रगुणित हो गया था।

देवकीर्ति का यह रूप देखकर विक्रमादित्य और महारानी कमला अपने आसन से उठ खड़े हुए।

देवकीर्ति ने प्रसन्न स्वरों में कहा– 'राजन्! मैं मानवी नहीं, देव हूं... नंदीश्वर द्वीप की यात्रा पर निकला था। वहां से लौटते समय यहां के पवित्र तीर्थों की यात्रा करता हुआ प्रतिष्ठानपुर पहुंचा और वहां राजकन्या का वृत्तांत जाना....फिर वहां से घूमता-घूमता मैं यहां आया और आपमें मैंने साहस, वीरत्व और सौभाग्य के चिह्न देखे–इसलिए मैंने चारण वेश बनाकर यह वृत्तांत आपको सुनाया। मैं देव होने के कारण मनुष्य जाति का आहार ग्रहण नहीं कर सकता, इसीलिए मैंने भोजन करना स्वीकार नहीं किया। राजन्! मैं आपके विनय-व्यवहार से मुग्ध बना हूं, प्रसन्न हुआ हूं–जो चाहो सो वरदान मांग लो।'

विक्रमादित्य बोले– 'आपकी प्रसन्नता ही मेरे लिए सबसे बड़ा वरदान है। मुझे और कुछ नहीं चाहिए।'

देवकीर्ति ने तत्काल उस खंड के कोने की ओर अपना बायां हाथ लंबाते हुए कहा– 'राजन्! आपके हाथ से अनेक शुभ कार्य संपादित होंगे– उन कार्यों में यह सहायभूत बनेगा।'

सभी ने उस ओर देखा तो प्रतीत हुआ कि खंड का आधा भाग स्वर्ण से भर गया है।

देवकीर्ति ने विक्रमादित्य को एक चमत्कारी गुटिका देते हुए कहा–'राजन्! मैं जानता हूं कि आप किसी का दिया हुआ कुछ भी नहीं लेते। यह मनोवृत्ति बहुत उत्तम है। मैं यह रूप-परावर्तिनी गुटिका आपको देता हूं। इस गुटिका को मुंह में रखने से आप जिस रूप की कल्पना करेंगे, वैसा रूप-परिवर्तन कर सकेंगे।'

इतना कहकर वह अदृश्य हो गया।

राजा-रानी–दोनों अवाक् रह गए।

इतने में ही महामंत्री भट्टमात्र वहां आ पहुंचे। विक्रमादित्य ने उनको सारा वृत्तान्त कह सुनाया।

भट्टमात्र ने कहा – 'महाराज ! इस कलिकाल में पुण्ययोग के बिना देव-दर्शन नहीं होते।'

'ठीक बात है। किन्तु देव ने जिस कार्य की प्रेरणा दी है, वह बहुत विचित्र है और जोखिमभरा भी है।' विक्रमादित्य बोले।

तत्काल कमलावती बोल पड़ी – 'स्वामिन्! गम्भीर और जोखिमभरा कार्य क्षत्रियकुमार ही कर सकते हैं। क्या आपको भय है कि राजकन्या आपके प्राण ले लेगी?'

'नहीं, प्रिये ! ऐसा कोई भय मुझे नहीं है। किन्तु तुम्हारे जैसी प्रिय पत्नी की मर्यादा को मैं विस्मृत कैसे कर सकता हूं!'

'मैं समझी नहीं।' समझ लेने पर भी कमलावती ने तिरछी दृष्टि से पति की ओर देखते हुए कहा।

'कमला ! तेरे में मैं परम सुख का अनुभव करता हूं, फिर....

बीच में ही कमलावती ने कहा – 'स्वामिन्, सुख-दुःख मन की कल्पनामात्र है। मुझे सौत का कोई भय नहीं है, रोष नहीं है। यदि ऐसी नरद्वेषिणी स्त्री को मार्ग पर लाया जाए, तो यह परोपकार का कार्य होगा और आप तो मालव देश के अधिपति हैं। यदि आप ऐसा परोपकार नहीं कर सकते, तो फिर दूसरा कौन कर सकेगा? देवकीर्ति ने आपको ही इस कार्य की प्रेरणा क्यों दी? आप मेरी ओर से पूर्ण निश्चिन्त होकर यह कार्य करें। इसमें आपकी और मेरी – दोनों की शोभा है।'

'कमला....'

'स्वामिन्! मैं सच कह रही हूं। यह तो केवल एक नारी के उद्धार का प्रश्न है....आप यदि सैकड़ों स्त्रियां ले आएं, तो भी मेरे मन में अन्यथा भाव नहीं आएगा....'

विक्रमादित्य ने अपनी पत्नी के दोनों हाथ पकड़ लिये और आंखों में आंखें डालकर देखने लगे। फिर भट्टमात्र की ओर दृष्टि कर कहा – 'मित्र ! आपने सारा वृत्तान्त जान लिया है। इस विषय में हमें क्या करना है, सोच-विचार कर आप मुझे सूचित करें।'

'महाराज की जय हो !' भट्टमात्र ने प्रसन्न स्वर से कहा।

१३. प्रतिष्ठानपुर की ओर

तीन दिन बीत गए।

इन तीन दिनों तक वीर विक्रमादित्य के मन में राजकन्या सुकुमारी का चित्र नाचता रहा।

बहुत बार ऐसा होता है कि मनुष्य की अनिच्छा ही इच्छा का रूप धारण कर लेती है। जब तक विक्रम ने सुकुमारी का चित्र नहीं देखा था, तब तक मन में एक कुतूहल मात्र जागा था....किन्तु देवकीर्ति से जब चित्र प्राप्त हो गया, पत्नी की सहमति मिल गई और चित्र को बार-बार देखने का अवसर मिला, तब सुकुमारी को प्राप्त करने की भावना बलवती होती गई।

पति का मनोमन्थन पत्नी से अनजाना नहीं रह सकता। कमला निपुण थी। उसने स्वामी के चेहरे को देखकर जान लिया था कि वे सुकुमारी के प्रति आकृष्ट हुए हैं। उसका स्वभाव अति प्रेमार्द्र और पतिपरायण था, इसीलिए वह सुकुमारी के उद्धार की प्रेरणा बार-बार देती रही।

इन तीन दिनों के बीच भट्टमात्र ने पूर्ण विचार-विमर्श कर सुकुमारी तक पहुंचने की एक योजना बना ली और उस योजना के अनुरूप छान-बीन भी कर ली।

चौथे दिन विक्रम के धीरज का बांध टूट गया। उन्होंने महामंत्री को बुलाने के लिए एक सेवक भेजा।

महामंत्री भट्टमात्र राजभवन के बैठकखंड में आए, तब महाराज विक्रमादित्य प्रात:कर्म से निवृत्त हो उनकी प्रतीक्षा में बैठे थे। भट्टमात्र को देखते ही वे बोले– 'क्या योजना मन में ही रहेगी या प्रकट भी हो सकेगी?'

'योजना तैयार है, किन्तु नरद्वेषिणी सुकुमारी का विचार आते ही मन में एक तूफान उठता है कि यह जोखिम क्यों उठाई जाए?'

विक्रमादित्य हंसकर बोले– 'मनुष्य का जीवन अनेक जोखिमों से भरा पड़ा है। इस राजभवन में मैं प्रत्येक दृष्टि से सुखी हूं....परन्तु कब कौन मुझे विष दे दे, यह किसी को ज्ञात नहीं। जोखिम के बिना जीवन का मजा भी क्या है? आप अपनी योजना बताएं।'

'महाराज! राजकन्या नृत्य और संगीत में रस लेती है। अवंती नगरी की दो विख्यात नर्तकियां– मदनमाला और कामकला दक्षिण भारत की हैं। महाराज शालिवाहन की प्रिय नर्तकी रूपमाला की ये दोनों बहनें हैं। रूपमाला तीनों बहनों में सबसे बड़ी है और वह राजकनया को संगीत और नृत्य सिखाती है। महाराज शालिवाहन की उस पर पूर्ण कृपा है और उसका अपना वर्चस्व भी है। हम यहां से मदनमाला और कामकला– दोनों नर्तकियों को साथ लेकर प्रतिष्ठानपुर चलें तो राजकन्या से मिलने का सुयोग मिल सकता है।'

विक्रमादित्य मौन रहे.....विचारमग्न हो गए।

भट्टमात्र ने कहा– 'आपने भी संगीत की साधना की है। शास्त्र कहते हैं कि नारी और मृग नाद से वश में हो जाते हैं।'

'ये दोनों बहनें हमारे साथ चल सकेंगी ?'

'दोनों आने के लिए उत्सुक हैं। मालवनाथ की इच्छा को पूरा करना कौन नहीं चाहेगा ?' भट्टमात्र ने कहा।

'अच्छा, तो हमें एक-दो दिन में ही यहां से प्रस्थान कर देना है।'

'एक-दो दिन में प्रवास कैसे किया जा सकेगा ? दोनों नर्तकियों को भी तैयारी तो करनी ही पड़ेगी। दूसरी बात है कि हमें वहां पहुंचने में एक महीना तो लग ही जाएगा।'

'पहुंचने में महीना नहीं लगेगा। मेरा मित्र अग्निवैताल साथ ही चलेगा। तुमको भी साथ ही रहना है....दूसरे कोई भी दास-दासी साथ नहीं रहेंगे। तुम दोनों नर्तकियों को कहलवा देना कि आज से तीसरे दिन यहां से प्रस्थान करना है....दोनों पुरुष-वेश में चलेंगी – दूसरे सारे साधन वहीं मिल जाएंगे।'

भट्टमात्र अवाक् रह गया। वह विक्रमादित्य की ओर दो क्षण देखता हुआ बोला – 'कृपानाथ ! सशस्त्र रक्षकों के बिना प्रवास करना होगा ?'

'भट्टमात्र ! मेरे पास जो तलवार है, वह केवल शोभा के लिए नहीं है और अवंती के बाहर निकलने के पश्चात् हम सब समान हैं....तुम अपनी माला साथ में रखना।' कहकर विक्रमादित्य मुस्कराए।

भट्टमात्र ने भी मुस्कराते हुए कहा – 'आपका मृगचर्म भी....'

'अच्छा, तो तुम्हारे साथ मैं अवधूत बनकर चलूं ?'

दोनों मित्र हंस पड़े।

दूसरे दिन महाराज विक्रमादित्य ने मन्त्री बुद्धिसागर को बुलाकर राज्य-संचालन का सारा दायित्व उन्हें सौंप दिया। पांच सभ्यों की एक व्यवस्था समिति बना दी और उसके प्रमुख रूप में नगरसेठ को रखा।

परन्तु तीसरे दिन भी वे प्रस्थान नहीं कर सके....राजपुरोहित ने मृगसिर शुक्ला अष्टमी का मुहूर्त दिया था...

विक्रमादित्य ने अग्निवैताल को याद किया और वह तत्काल वहां उपस्थित हो गया।

सूर्योदय के तीन घटिका पश्चात् विक्रमादित्य, अग्निवैताल, भट्टमात्र, मदनमाला और कामकला – पांचों ने उत्तम अश्वों पर बैठकर वहां से प्रस्थान कर दिया।

प्रस्थान करने से पूर्व विक्रमादित्य ने महारानी कमलावती से कहा – 'प्रिये ! तुम्हारी प्रेरणा नहीं होती तो मैं इस परोपकार के लिए साहस नहीं करता।'

रानी ने कहा – 'स्वामिन् ! यह प्रश्न आपका नहीं है।'

'तो फिर ?'

'यह मेरा प्रश्न है। आप तो मेरे लिए इतनी जोखिम उठा रहे हैं और मुझे अटूट विश्वास है कि आप अपने इस कार्य से यशस्वी होंगे'--कमला ने प्रसन्नता से कहा।

इस प्रकार प्रिया की प्रेरणा लेकर ही विक्रमादित्य वहां से चले।

तीन दिन तक पांचों प्रवास करते रहे, परन्तु मालव देश की सीमा को भी पार नहीं कर पाए। अग्निवैताल बोला – 'महाराज! इस प्रकार चलने से तो हमें एक महीना लग जाएगा।'

'हमारे सेनापति तो तुम ही हो। तुम्हें जो उचित लगे वैसा करो।' विक्रम ने हंसते हुए कहा।

'तो मैं आप सबको आज ही प्रतिष्ठानपुर से पांच कोस की दूरी पर स्थित एक गांव में पहुंचा दूं!' अग्निवैताल ने कहा।

'जैसी तुम्हारी इच्छा.....परन्तु दोनों नर्तकियां चमकेंगी तो नहीं ?'

'नहीं, महाराज! नहीं! मैं सब कुछ ठीक कर दूंगा।'

और ऐसा ही घटित हुआ।

रात्रि में जहां पड़ाव था, वहां जब सभी निद्राधीन हो गए तब अग्निवैताल ने अपने प्रभाव से सबको उसी स्थिति में प्रतिष्ठानपुर के पास में स्थित एक उपवन में अश्वों सहित पहुंचा दिया।

अग्निवैताल ने दोनों नर्तकियों और महामन्त्री पर निद्रा की गाढता का प्रयोग किया था और महाराज विक्रमादित्य को मूल स्थिति में ही रहने दिया था।

उपवन में पहुंचने के पश्चात् अश्व इस चमत्कारिक प्रवास से चौंके और हिनहिनाने लगे....क्योंकि कुछ ही समय पूर्व वे एक छोटी-सी घुड़शाला में थे और अब एक सुन्दर उपवन में आ गए थे।

घोड़ों की हिनहिनाहट से विक्रमादित्य जाग गए। आंखें खोलकर देखा तो कमरे के स्थान पर एक सुन्दर वन-प्रदेश था। वे शय्या से उठे। अग्निवैताल पास में आकर बोला – 'आपकी आज्ञा के अनुसार हम प्रतिष्ठानपुर के परिसर में आ गए हैं।'

विक्रमादित्य ने अग्निवैताल के दोनों हाथ पकड़ते हुए कहा – 'मित्र! तुम्हारी शक्ति बेजोड़ है....वास्तव में मेरे पुण्य प्रभाव से ही तुम्हारे जैसा महान् मित्र प्राप्त हुआ है...किन्तु जब ये दोनों नर्तकियां जागृत होंगी, तब इनके आश्चर्य से कोई विपरीत असर तो नहीं होगा ?'

'आप निश्चिन्त रहें, मैं समझा दूंगा...अभी आप विश्राम करें....प्रातःकाल होने में अभी काफी समय है....तब तक मैं इस वनप्रदेश में घूम आऊं।' अग्निवैताल ने कहा।

'क्यों ? क्या काम है ?'

'आप तो जानते ही हैं कि मैं रात्रि में ही भोजन करता हूं।'

'ओह मित्र ! मुझे क्षमा करें। तुम्हारे भोजन की व्यवस्था....'

बीच में ही अग्निवैताल बोल उठा – 'आप मेरी चिन्ता न करें। यह वन-प्रदेश बहुत सुन्दर और रमणीय है....मेरा भोजन मुझे प्राप्त हो जाएगा।'

यह कहकर अग्निवैताल तत्काल अदृश्य हो गया। विक्रमादित्य अपनी शय्या पर विश्राम करके लेट गए। पास में भट्टमात्र निश्चिन्त होकर सो रहा था....कुछ ही दूरी पर दोनों पुरुष-वेशधारिणी नर्तकियां गाढ़ी निद्रा में सो रही थीं।

प्रातःकाल हुआ।

पक्षीगण कलरव करने लगे।

विक्रमादित्य शय्या से उठे....अग्निवैताल अपनी शय्या पर बैठा था। उसने कहा – 'राजन्, आप आज्ञा दें तो अब मैं प्रस्थान करूं ?'

'क्या यहां कोई जलाशय है ?'

'हां, महाराज ! पास में ही एक सरिता बह रही है।' अग्निवैताल ने कहा।

'तो हम प्रातःकर्म से निवृत्त हो जाएं....किन्तु भट्टमात्र और दोनों बहनें ?'

'मैंने उन पर निद्रा का प्रयोग किया है...अभी उनको जागृत कर देता हूं।' कहकर अग्निवैताल ने उस ओर हाथ घुमाया।

निद्रा को अपनी ओर खींचते ही तीनों जाग गए। अपने सामने अपरिचित वनप्रदेश देखकर तीनों आंखों को मलने लगे। उन्हें लगा कि किसी ने अपहरण कर लिया है। वे इधर-उधर देखने लगे। अग्निवैताल ने कहा – 'चौंकने की आवश्यकता नहीं है। एक योगी की उपलब्धि से हम सब प्रतिष्ठानपुर के परिसर में आ पहुंचे हैं।'

'क्या कहा आपने ? प्रतिष्ठानपुर के परिसर में ? केवल एक ही रात में ?' मदनमाला ने आश्चर्य के साथ प्रश्न किया।

विक्रमादित्य बोले – 'हां, बहन ! योगजशक्ति कल्पनातीत होती है.... निमिषमात्र में वे कहीं से कहीं पहुंचा देते हैं।'

भट्टमात्र समझ गया था कि यह सारी शक्ति अग्निवैताल की है। वह हंसा और अग्निवैताल की ओर देखता रहा।

फिर पांचों व्यक्तियों ने प्रातःकर्म से निवृत्त होकर अपने-अपने अश्वों पर बैठकर वहां से प्रतिष्ठानपुर की ओर प्रस्थान कर दिया।

तेजस्वी अश्वों के लिए पांच-छह कोस की मंजिल बहुत बड़ी नहीं होती।

नगरी की गगनचुम्बी अट्टालिकाएं दूर से दीखने लगीं। विक्रमादित्य ने भट्टमात्र की ओर देखकर कहा – 'नगरी तो आ गई....हम कहां ठहरेंगे ?'

'हमको रूपमाला के भवन में ही ठहरना चाहिए...परन्तु हम सबसे पहले राजकन्या के पुरुषविहीन भवन का निरीक्षण तो कर लें।'

मदनमाला बोली – 'कृपानाथ ! सबसे पहले हम बहन रूपमाला के घर पर ही चलें। वहां जाने पर आगे की विचारणा करेंगें'

अग्निवैताल सबसे आगे था। उसने अपना अश्व खड़ा कर लिया।

सभी निकट आए, तब वह बोला – 'महाराज ! नगरी आ गई है....वेश-परिवर्तन करना हो तो.... ।'

'मित्र ! मेरा विचार हे कि देवी रूपमाला के भवन में पहुंचने से पूर्व हमें राजकुमारी के महल का निरीक्षण कर ही लेना चाहिए।'

वैताल बोला – 'महाराज ! सामने देखें, हमें उस ओर जाना होगा। दक्षिण दिशा के अन्त में जो महल दिखाई देता है, उसी महल में राजकन्या रहती है।'

'चलो, हम उसी ओर चलें, फिर नगर में प्रवेश करेंगे....' विक्रमादित्य ने कहा।

और पांचों अश्व महाराज शालिवाहन की राजकन्या सुकुमारी के एकान्त भवन की ओर बढ़े।

कुछ ही समय में पांचों अश्व महल के पिछले भाग में आ पहुंचे। राजमहल के चारों ओर एक सुन्दर उपवन था और उस उपवन को घेरे एक सुन्दर परकोटा था। स्थान-स्थान पर रक्षक तैनात थे।

पांचों प्रवासी इधर-उधर देखते हुए मुख्य द्वार की ओर अपने अश्वों को बढ़ाते हुए आगे बढ़े।

अग्निवैताल बोला – 'महाराज ! भीतर जाना हो तो हम जा सकते हैं।'

'कैसे ?'

'अश्वों द्वारा प्राचीर को लांघकर।'

'अच्छा, समझ गया...नहीं-नहीं, हमें पहले सब-कुछ जान लेना है, समझ लेना है....'

भट्टमात्र बोला – 'महाराज ! देखें ! मुख्य द्वार सामने दीख रहा है....स्त्री-रक्षिकाएं भाला और तलवार लिये पहरा दे रही हैं।'

पांचों अश्व जब मुख्य द्वार से कुछ ही फासले पर थे तब देखा कि एक झरोखे में दो बिल्लियां विचित्र आवाज कर रही हैं।

भट्टमात्र बोला – 'बिल्लियां ?'

कामकला बोली – 'महामंत्री ! ये बिल्लियां विचित्र होती हैं.....इस प्रकार की हरकतों से वे रक्षिकाओं को सावधान कर रही हैं और पुरुषों के आगमन की सूचना राजकन्या तक पहुंचा रही हैं। यह समाचार पाकर राजकन्या से मौत का पैगाम आ जाता है।'

महामंत्री ने विक्रमादित्य की ओर दृष्टि कर कहा – 'महाराज ! बिना सोचे-समझे हमें साहस नहीं करना चाहिए। पहले हम वस्त्र-परिवर्तन कर कुछ आश्वस्त हो जाएं, फिर रूपमाला से सारा विवरण ज्ञात कर, कोई योजनाबद्ध कार्य करें।'

दोनों नर्तकियों ने कहा – 'हां, कृपानाथ ! यह अधिक उचित होगा।'

तत्काल सभी अश्वारोही दूसरी दिशा की ओर चल पड़े।

१४. रूपमाला के भवन में

मदनमाला और कामकला के मन में यह आश्चर्य बढ़ता ही गया कि बीस दिन का प्रवास एक रात में कैसे पूरा हो गया। अग्निवैताल ने योगीराज के बहाने एक बात कही थी, फिर भी दोनों बहनों का मन शांत नहीं हो सका था और उन्होंने स्त्री-स्वभाव की उपेक्षा करके भी कुछ भी नहीं कहा।

राजकुमारी सुकुमारी के एकान्त प्रासाद से कुछ ही दूरी पर एक उपवन था। वहां पांचों प्रवासी अपने-अपने अश्वों सहित आ पहुंचे।

आस-पास में वृक्षावलि बहुत सुन्दर लग रही थी। वातावरण अत्यन्त मनोरम था। आठ-दस वृक्षों के निकुंज में भट्टमात्र ने अपनी चादर बिछाई।

विक्रमादित्य ने कहा – 'मित्र ! हमें यहां समय क्यों गंवाना चाहिए ? मदन और काम – दोनों वस्त्र-परिवर्तन कर लें, तब हम नगरी में चलें।'

कामकला ने कहा – 'कृपानाथ ! आप क्षमा करें तो मैं एक सूचना देना चाहती हूं।'

विक्रमादित्य ने कामकला की ओर प्रसन्न दृष्टि से देखते हुए कहा – 'नि:संकोचपूर्वक तुम सूचना करो। भाई के पास बहन को किसी भी प्रकार का संकोच नहीं करना चाहिए।'

'महाराज ! रूपमाला महाराज शालिवाहन की प्रमुख नर्तकी है और वह प्रतिदिन राजकुमारी के पास जाती है। इसलिए आप तीनों पुरुष यदि स्त्रीवेश धारण करें तो बहुत अच्छा रहेगा।'

'कामकला की बात उचित है, किन्तु तीनों को स्त्री-वेश धारण करने की आवश्यकता नहीं है। मेरे पास रूप-परिवर्तन करने की दिव्य गुटिका है। उसके प्रयोग से मैं स्त्री-रूप में आ जाऊंगा....मेरी आवाज में कोमलता आ जाएगी....मेरा महान् मित्र.....' कहकर विक्रमादित्य ने अग्निवैताल की ओर देखा।

अग्निवैताल ने हंसकर कहा – 'महाराज! मैं भी नारीवेश धारण करूंगा।'

'फिर नृत्य करना पड़े तो?' महामंत्रीने प्रश्न किया।

'मैं वीणा या मृदंग बजा सकूंगा।'

विक्रम ने हंसते हुए कहा – 'नहीं, स्त्री वेश की जरूरत नहीं है। तुम मेरे मृदंगवादक बन जाना और भट्टमात्र हमारी मंडली के व्यवस्थापक होंगे।'

सभी को यह योजना पसन्द आयी।

अग्निवैताल ने स्मृतिमात्र से मृदंगवादक का सुन्दर रूप बना डाला।

दोनों नर्तकियों ने पुरुष-वेश उतारकर स्त्री-वेश धारण कर लिया।

भट्टमात्र को कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं रही।

विक्रमादित्य ने देवकीर्ति द्वारा प्राप्त दिव्य गुटिका का प्रयोग किया और नवयौवना रूपसुन्दरी का रूप धारण कर लिया और कहा – 'अब आप सब मुझे देवी विक्रमा के नाम से संबोधित करेंगे।'

विक्रमादित्य के यौवन और रूप से उभरता हुआ नारी रूप देखकर दोनों नर्तकियां आश्चर्य से अवाक् रह गईं।

अग्निवैताल ने कहा – 'महाराज! आपने तो बहुत खतरा उठाया है....'

'कैसे?'

'आपको देखकर अनेक पुरुष मुग्ध हो जाएंगे – आपकी आवाज भी मृदु और मधुर बन गई है।'

'इसमें खतरा क्या है?'

भट्टमात्र ने हंसते-हंसते कहा – 'कोई आपका अपहरण कर ले तो?'

सभी हंस पड़े, फिर अपने-अपने अश्व पर बैठकर नगरी की ओर चल पड़े।

रूपमाला का भवन नगरी के पश्चिम की ओर था। पांचों अश्वारोही रूपमाला के भवन पर आ पहुंचे, तब दिन का दूसरा प्रहर चल रहा था।

अश्व पर बैठी हुई तीनों सुन्दरियों को देकर पथिक अवाक् रह जाते थे।

कामकला और मदनमाला अपनी बहन रूपमाला के घर सात वर्ष पूर्व आयी थीं। दोनों बहनें इस नगर से सर्वथा परिचित थीं, इसलिए सभी बिना पूछताछ किए सीधे रूपमाला के घर पहुंच गए थे।

भवन के वृद्ध द्वारपाल ने मदनमाला और कामकला को पहचान लिया– उसने बहुत प्रेम से स्वागत किया। उसने एक दासी को भेजकर रूपमाला को सूचना दी कि अवंती नगरी से मदनमाला और कामकला–दोनों आयी हैं।

सात वर्ष पश्चात् बहनें आयी हैं, यह सुनकर रूपमाला हर्षित हो उठी। वह बहनों का स्वागत करने तत्काल बाहर आयी।

अत्यन्त प्रसन्नता से वह दोनों बहनों के गले मिली। साथ में नवयौवना को देखकर वह स्तम्भित रह गई। उसने कामकला की ओर प्रश्नभरी दृष्टि से देखा।

कामकला ने दृष्टि में प्रतिबिम्बित प्रश्न को समझते हुए कहा– 'बहन! क्या तुमने अवंती की प्रख्यात गायिका देवी विक्रमा का नाम सुना है? यही देवी विक्रमा हैं....यह हमारी प्रिय सखी हैं। हमारे आग्रह के कारण यह स्वयं यहां आयी हैं।'

'मैं धन्य हूं'– कहती हुई रूपमाला ने विक्रमा को छाती से लगा लिया।

फिर रूपमाला ने अतिथियों के लिए भवन के ऊपरी खंड में दो कक्षों में व्यवस्था करवा दी।

भोजन का समय हो चुका था, इसलिए सभी ने साथ में बैठकर भोजन किया।

फिर रूपमाला ने अग्निवैताल, देवी विक्रमा और भट्टमात्र को विश्राम करने का आग्रह किया।

सात वर्षों के पश्चात् तीनों बहनें मिली थीं, इसलिए तीनों एक साथ बैठीं और अनेक प्रकार की बातों में तन्मय हो गईं।

इस प्रकार बातों-बातों में सांझ हो गई। विक्रमा भी तीनों बहनों के पास आयी। सूर्यास्त की जब आवाज लगी तब रूपमाला चौंक पड़ी और खड़ी होकर बोली– 'अरे, आज तो मैं भूल ही गई।'

'क्या, बहन?' मदनमाला ने प्रश्न किया।

'राजकुमारी सुकुमारी के यहां जाने का समय बीत गया।'

'इसमें इतनी व्याकुल बनने की क्या बात है? कल चली जाना।'

रूपमाला ने मुस्कराते हुए कहा– 'काम! प्रतीत होता है कि हमारी राजकुमारी का वृत्तान्त तुमने सुना नहीं है?'

'क्या कोई पागलपन है?'

'नहीं-नहीं....वह अत्यन्त सुन्दर है, बुद्धिमती है। नृत्य-संगीत में बहुत रस लेती है....उसके विचार भी उत्तम हैं...उसका स्वभाव मृदु है....किन्तु उसमें एक पागलपन ऐसा आ गया है, जिसका निवारण अत्यन्त दुष्कर हो रहा है।'

'पागलपन?' विक्रमा ने प्रश्न किया।

'हां, देवी ! समझदार व्यक्ति की असमझदारी ! हमारी राजकुमारी के मन में पुरुष-जाति के प्रति अत्यन्त घृणा है और नौजवान के प्रति तो अत्यधिक तिरस्कार की भावना है। जब कभी कोई नवयुवक पुरुष उसके भवन में प्रवेश करता है तो वहीं उसका वध कर दिया जाता है। इसीलिए हमारे महाराज ने उसके लिए अलग महल की व्यवस्था की है।'

'तब तो राजकुमारी कभी भवन के बाहर निकलती ही नहीं होगी ?' विक्रमा ने प्रश्न किया।

'बाहर तो आती है—माता-पिता से मिलने जाती है। कभी-कभी राजसभा में भी जाती है। उस समय वह शान्त और स्वस्थ रहती है, किन्तु यदि कोई युवक उसके साथ विवाह करने की अभिलाषा व्यक्त करता है तो तत्काल उसके हृदय में रोष उत्पन्न हो जाता है और तब उसका पागलपन उभर आता है।' रूपमाला ने कहा।

'राजकुमारी सुन्दर है, स्वस्थ है, उत्तम विचारवाली है, फिर भी पुरुष जाति के प्रति इतना द्वेष रखती है, यह एक आश्चर्य ही है।' विक्रमा ने कहा।

'देवी विक्रमा ! यह एक आश्चर्य तो है ही—परन्तु इसकी पृष्ठभूमि में जो कारण है, वह विचित्र है। सुना जाता है कि राजकुमारी को अपने पूर्वभवों की स्मृति हुई और तब से पुरुष-जाति के प्रति घृणा जाग गई।'

मदनमाला कुछ कहे उससे पूर्व ही एक परिचारिका खंड में प्रविष्ट हुई और रूपमाला के समक्ष जाकर बोली—'देवी ! राजकुमारीजी की दो दासियां आ चुकी हैं।'

'रथ तैयार है ?'

'हां, देवी !'

रूपमाला ने अपनी बहनों की ओर देखकर कहा—'आज भारी विपत्ति आ जाएगी—यदि राजकन्या रोष से भर गई तो।'

विक्रमा तत्काल बोली—'देवी ! आप चिन्ता न करें—राजकुमारी से कह देना कि अवंती नगरी से दो श्रेष्ठ नर्तकियां और एक गायिका अतिथि-रूप में आ गई थीं, इसलिए उनके आतिथ्य के कारण विलम्ब हो गया।'

'ऐसा कहूंगी तो दूसरी विपत्ति आ जाएगी।'

विक्रमा रूपमाला की ओर देखने लगी।

रूपमाला बोली—'यदि मैं आप सबके आगमन की बात कहूंगी तो राजकुमारी आप सबको वहां बुला भेजेंगी और फिर वहां सबको जाना ही पड़ेगा।'

'हम अवश्य ही वहां चलेंगी और राजकुमारी का मन प्रसन्न करने का प्रयत्न करेंगी।' कामकला ने कहा।

रूपमाला कुछ निश्चिन्त होकर वहां से चली।

रात्रि का प्रारम्भ हो ही गया था। रूपमाला जब राजकुमारी के निवास में पहुंची तब उसका मन निश्चिन्त था। उसने प्रतीक्षारत राजकुमारी को नमन कर कहा– 'राजकुमारी की जय हो!'

'ओह! रूप! आज इतना विलम्ब कैसे?'

'क्या करूं? अवंती की दो प्रख्यात नर्तकियां, जो मेरी छोटी बहिनें हैं, एक श्रेष्ठ गायिका के साथ मेरे भवन पर आयी हैं। उनके आतिथ्य में कुछ विलम्ब हो गया। मैं आपसे क्षमा चाहती हूं।'

'तुम्हारी दोनों बहनें अवंती में रहती हैं?'

'हां, कुमारीजी।'

'नृत्य में निष्णात हैं?'

'अत्यन्त कुशल।'

'और गायिका कौन है?'

'देवी विक्रमा नाम वाली एक युवती गायिका है।'

'वाह! कोई बात नहीं, भले ही तुम विलम्ब से यहां पहुंची। तुम्हें अपनी बहिनों और विक्रमा को यहां लाना होगा।'

'आप जिस दिन चाहेंगी, उसी दिन मैं उन तीनों को यहां उपस्थित कर दूंगी।'

'शुभ कार्य में विलम्ब कैसा? कल सायंकाल के समय तुम तीनों को यहां ले आना।'

'ठीक है, परन्तु....'

'परन्तु क्या?'

'गायिका के साथ मृदंगवादक-पुरुष है?'

'उसको साथ में मत लाना–यहां उत्तम मृदंग-वादिका स्त्री तो है ही।'

'अच्छी बात है।'

'तब तो कल ही हम नृत्य और संगीत का आनन्द लेंगी–आज तुम जाओ और अपनी बहनों के साथ गपशप करो।'

रूपमाला ने प्रसन्नता से मस्तक नवाया।

फिर वह राजकन्या से आज्ञा लेकर अपने भवन की ओर चल पड़ी और जब-वह भवन में पहुंची तब सभी दास-दासियों को उसके शीघ्र आगमन पर आश्चर्य हुआ, क्योंकि प्रतिदिन वह रात्रि के दूसरे प्रहर के समाप्त होने पर ही घर पहुंचती थी।

रूपमाला को देखकर विक्रमा के रूप में विक्रमादित्य ने पूछा – 'क्यों, कैसे आना हो गया ?'

'ओह ! आपके समाचार सुनकर राजकुमारी अत्यन्त प्रसन्न हुई और सबको महल में आने के लिए निमंत्रण दिया है।'

देवी विक्रमा तो यही चाहती थी। वह बोली – 'हमारी जिज्ञासा तृप्त होगी। हम प्रसन्नता से वहां पहुचेंगी और राजकन्या को खुश करेंगी – किन्तु मेरे दोनों साथी..... ।'

'यही तो कठिनाई है ! किसी भी पुरुष को साथ में नहीं ले जाया जा सकता। राजकन्या के यहां उत्तम वाद्यमंडली है।'

'क्या उसमें कोई पुरुष नहीं है ?'

'नहीं, उसमें सभी स्त्रियां ही हैं।'

'मृदंग बजाने के लिए.....'

'स्त्री ही है – वह मृदंग-वादन में इतनी निपुण है कि वह बड़े-बड़े मृदंग-वादकों को भी पराजित कर देती है।'

'तब तो बड़ा आनन्द आएगा।' विक्रमा ने कहा।

फिर अनेक प्रकार की बातें कर रूपमाला ने तीनों को शयनकक्ष में भेज दिया।

अग्निवैताल अदृश्य रहकर सारी बातें सुन रहा था और भट्टमात्र कभी का निद्राधीन हो चुका था।

शयन की व्यवस्था दो खंडों में की गई थी। एक खंड में दोनों बहनों के लिए दो पलंग बिछाए गए थे और एक खंड में केवल विक्रमा के लिए व्यवस्था की गई थी।

शयनकक्ष में जाते-जाते विक्रमा ने कामकला से कहा – 'अभी तो हम विश्राम करते हैं, फिर राजकुमारी के समक्ष हमें कौन-सा कार्यक्रम प्रस्तुत करना है, उस विषय में विचारणा करेंगी।'

'ठीक है।' कहकर दोनों बहनें अपने शयनकक्ष में गई और देवी विक्रमा अपने खंड में जाकर शय्या पर बैठ गई।

भवन की परिचारिकाओं ने जलपान आदि की व्यवस्था कर रखी थी। एक परिचारिका पगचंपी करने के लिए आयी।

विक्रमा ने कहा – 'मुझे पगचंपी कराने की आदत नहीं है। प्रवास की थकान है, इसलिए नींद आ जाएगी, तू जा।'

दासी नमन कर चली गई। विक्रमा ने अन्दर से दरवाजा बन्द कर लिया और सो गई।

इतने में ही अग्निवैताल वहां प्रकट हुआ। विक्रमा ने कहा– 'मैं तो समझती थी कि तुम दोनों सो गए हो। भट्टमात्र कहां है ?'

'वे तो घोर निद्रा में खर्राटे ले रहे हैं।'

'तुम भी जाओ और आराम करो–कल हमें राजकुमारी के यहां जाना है।'

'मैंने सारी बातें सुन ली थीं। मैं भी साथ ही चलूंगा।'

'किन्तु कोई पुरुष....'

हंसते हुए अग्निवैताल ने कहा– 'महाराज ! मैं अदृश्य रहकर ही आऊंगा। राजकुमारी को देखने के पश्चात् क्या करना है, इसका निर्णय करूंगा।'

'अच्छा।'

'अब आप विश्राम करें। मैं नगरी का चक्कर लगाकर आता हूं'–कहकर अग्निवैताल हो गया।

१५. पटयोग

रूपमाला, मदनमाला, कामकला और विक्रमा–चारों उत्तम वस्त्रालंकारों से सज्जित होकर, छह दासियों को साथ ले, सुन्दर अश्वों वाले चार रथों में बैठकर जब राजकन्या के आवास पर पहुंचे, तब पश्चिम का आकाश केसर से भीग गया था। ऐसा लगता था, मानो निशारानी का स्वागत करने के लिए प्रकृति ने पलाश पुष्पों का गलीचा बिछा दिया हो।

राजकुमारी की मुख्य दासी ने चारों कलानेत्रियों का भावभीना स्वागत किया और उनको एक विशाल कक्ष में बिठाया।

रूपमाला की दासी वहीं बैठ गई।

अग्निवैताल अदृश्य रूप से आ गया था–वह देवी विक्रमा के ठीक पीछे बैठ गया। विक्रमा ने उसे शांतभाव से बैठने रहने का आदेश पहले ही दे रखा था। यदि यह सूचना नहीं दी होती तो अग्निवैताल कुछ-न-कुछ कर बैठता।

राजकुमारी की दो दासियां कलानेत्रियों को पानक से भरे स्वर्णपात्र देने लगीं।

पानक का पान पूरा हो जाने पर मुखवास का थाल आया और मुख्य परिचारिका ने रूपमाला से कहा– 'देवी ! राजकुमारी धर्माराधना में लगी हैं–अभी निवृत्त हो जाएंगी।'

रूपमाला बोली– 'माधवी बहन ! हमारे लिए शीघ्रता करने की जरूरत नहीं है–राजकुमारी निश्चिन्तता से आएं–हम यहां आनन्द में बैठी हैं।'

तभी राजकुमारी की वाद्यमंडली उस खंड में प्रविष्ट हुई।

रूपमाला ने अपनी दोनों बहनों और गायिका विक्रमा का परिचय दिया।

वाद्यमंडली में एक वीणावादिका, एक मृदंगवादिका, दो तंबूरवादिकाएं और दो सुषिरवाद्यवादिकाएं थीं। दो अन्य वादिकाएं थीं। इस प्रकार वाद्यमंडली में आठ स्त्रियां थीं। वे सब लगभग तीस वर्ष के वय वाली, स्वस्थ और सुन्दर थीं।

मुख्य परिचारिका ने सबको यथास्थान बिठाया।

प्रतिदिन के कार्यक्रम के अनुसार रात्रि के प्रथम प्रहर के सम्पन्न होने पर नृत्य-संगीत प्रारम्भ होता था – कभी-कभी राजकन्या नृत्य भी करती और संगीत भी गाती थी।

रूपमाला ने मुख्य परिचारिका माधवी की ओर देखकर कहा – 'मंजरी देवी नहीं आयीं ?'

'अभी आने ही वाली हैं। उनको लेने के लिए रथ तो कभी का जा चुका है।' माधवी ने कहा।

कामकला ने रूपमाला से पूछा – 'कौन मंजरी देवी ?'

'राजकुमारी के नृत्य-संगीत का अभ्यास करने वाली आचार्या हैं। उनका वय लगभग पचास वर्ष का है। नृत्य और संगीत-शास्त्र में इतनी निपुण हैं कि बड़े-बड़े आचार्य उनके समक्ष बौने पड़ते हैं।' रूपमाला ने कहा।

फिर तो वाद्यमंडली के साथ संगीत की चर्चा होने लगी।

विक्रमादित्य जब अवधूत के वेश में देश-निष्कासन का दंड भोग रहे थे तब उन्होंने एक आश्रम में संगीत का उच्च अभ्यास किया था और बाल्यकाल में भी संगीतशास्त्र पढ़ा था। इस प्रकार उन्हें संगीत का परिपक्व ज्ञान था। उन्होंने भी वाद्यमंडली के साथ विविध राग-रागिनियों के विषय में चर्चा की।

रात्रि के प्रथम प्रहर की समाप्ति की सूचना देने के लिए एक झालर बज उठी।

वाद्यमंडली की सदस्याएं अपने-अपने वाद्य व्यवस्थित करने लगीं और इतने में ही स्वस्थ और संयम के बल से परिपूर्ण मंजरी देवी ने खंड में प्रवेश किया। सभी ने मंजरी देवी को प्रणाम किया। मंजरी देवी अपने आसन पर बैठ गईं। रूपमाला ने अपनी दोनों बहनों तथा विक्रमा का परिचय दिया।

बातचीत चल रही थी, इतने में ही राजकुमारी ने खंड में प्रवेश किया।

सभी स्त्रियां अपने-अपने आसन से उठीं। विक्रमा भी उठ खड़ी हो गई और वह राजकुमारी के देवदुर्लभ रूप से जगमगाती काया को एकटक निहारने लगी।

'ओह! यह तो चित्रांकन से भी सौ गुना अधिक सुन्दर और आकर्षक है। ऐसी त्रिभुवनमोहिनी नारी के हृदय में पुरुष जाति के प्रति घृणा कैसे रहती होगी ?'

रूपमाला ने अपनी दोनों बहनों और देवी विक्रमा का परिचय राजकुमारी को दिया। राजकन्या ने तीनों की ओर प्रसन्नता से देखा और मुस्करा दी।

अदृश्य अग्निवैताल ने विक्रम के कंधे पर चुटकी तोड़ी।

विक्रम कुछ भी बोलने की स्थिति में नहीं थे, क्योंकि पास में रूपमाला बैठी थी।

मंजरी देवी ने राजकन्या की ओर देखकर कहा – 'आज अतिथियों के समक्ष आपको भी कुछ करना होगा।'

राजकुमारी ने मंजरी की ओर दृष्टि कर कहा – 'मैं आपकी आज्ञा शिरोधार्य करूंगी – किन्तु आज यदि हम अतिथियों की कला का ही रसास्वादन करें तो.....'

'आप अवश्य ही एकाध गीतिका के द्वारा अवंती की कलालक्ष्मियों का मन बहलाना।'

'अच्छा' कहकर राजकुमारी ने विक्रमा की ओर देखा। विक्रमा के नयन अत्यन्त तेजस्वी लग रहे थे।

मंजरी देवी ने रूपमाला की ओर देखकर कहा – 'देवी! पहले हम नृत्य का आनन्द लें – आपकी दोनों बहनें तैयार हैं न?'

'हां, देवी!'

वाद्यमंडली ने अपने-अपने वाद्यों को तैयार किया। मदनमाला और कामकला ने खड़े होकर राजकुमारी का अभिवादन किया।

विशाल खंड के मध्य भाग में अत्यन्त चिकना गलीचा बिछा हुआ था।

दोनों बहनों ने वाद्यमंडली की ओर देखा। मदनमाला ने 'कामोद' की स्वर लहरी छोड़ने के लिए कहा।

तत्काल वाद्यों से 'तिलक कामोद' की स्वर लहरियां वातावरण में थिरकने लगीं।

अवंती की प्रख्यात नर्तकियों ने 'विरहानंद' नाम का नृत्य प्रारम्भ किया।

इस नृत्य में विरहव्यथा से पीड़ित एक नारी अपनी सखी के समक्ष हृदय के भाव प्रदर्शित करती है और सखी उसे समझाती है कि विरह की व्यथा के पीछे जो 'पिउ-मिलन' की आशा का आनन्द छिपा रहता है, वह कितना मधुर होता है। विरह उस आनन्द की पराकाष्ठा का अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व है। यह सारा भावाभिनय से समझाया जाता है और तब सखी आनन्द-विभोर हो जाती है।

मदनमाला और कामकला ने इस नृत्य के माध्यम से अवंती के नृत्यरसिकों को मुग्ध बनाया था।

दोनों बहनें सामान्य नर्तकियां नहीं थीं – उनकी भाव-भंगिमा, हास्य का अद्भुत आकर्षण और अंगों के लचीलेपन ने अवंती के युवकों के हृदय को जीत लिया था – नृत्य देखकर कुछ अपनी ज़वानी को याद करते और प्रौढ़ मस्त बन जाते थे।

दोनों बहनों ने अपूर्व भावभंगिमा से नृत्य को आगे बढ़ाया।

विक्रमादित्य स्त्रीवेश में थे – फिर भी उनका पुरुष भाव थिरकने लगा।

राजकुमारी भी अत्यन्त प्रसन्न हुई।

मंजरी देवी को ज्ञात हो गया कि रूपमाला की दोनों बहनें केवल रूपवती ही नहीं हैं, नृत्यांगनाओं में भी श्रेष्ठ हैं।

नृत्य में एक भी दोष प्रतीत नहीं हो रहा था – भाव-भंगिमा भी ताल का स्वरूप ले लेती थी।

और मदनमाला जब विरह-व्यथा व्यक्त करने लगी तब राजकुमारी के मन में यह विचार उमड़ पड़ा कि क्या नारी के प्राणों में पुरुष के वियोग का इतना असर होता है ? क्या नारी इतनी कोमल और मधुर होती है ?

और जब कामकला ने विरह में तिरोहित आनन्द को व्यक्त करने वाला अभिनय प्रारम्भ किया तब वाद्यमंडली रंग में आ गई और मंजरी देवी भी बार-बार 'धन्य है', 'धन्य है' कहने लगी।

रूपमाला भी अपनी बहनों की उपलब्धि पर मंत्रमुग्ध हो गई।

दूसरा प्रहर पूरा हुआ।

नृत्य भी सम्पन्न हो गया।

राजकुमारी ने दोनों नर्तकियों को धन्यवाद दिया। मंजरी देवी ने भी धन्यवाद दिया।

दोनों बहनें राजकुमारी को नमन कर अपने-अपने आसन पर बैठ गईं। मंजरी देवी ने विक्रमा की ओर दृष्टि कर कहा – 'देवी ! अब आप अपनी कला का रसपान कराएं।'

विक्रमा खड़ी हुई और सबको नमन कर भूमि पर बिछी हुई एक गद्दी पर बैठ गई।

मदनमाला और कामकला के साथ यहां आने से पूर्व विक्रमा ने कार्यक्रम की चर्चा कर ली थी। इसी चर्चा को लक्ष्य में रखकर मदनमाला ने मंजरी देवी से कहा – 'आचार्या ! देवी विक्रमा ने 'पटयोग' नाम की दिव्य और अपरिचित राग की अपूर्व साधना की है। यह राग जब देवी विक्रमा गाती हैं तब उनके समक्ष पड़े हुए मृदंग स्वत: बजने लगते हैं और ताल देते हैं।'

राजकुमारी बोली – 'तब तो देवी विक्रमा! आप अपनी महान् साधना का परिचय कराएं।'

विक्रमा ने कहा – 'पटयोग की आराधना करने में मुझे कोई बाधा नहीं है, किन्तु इस गीत के गाने के पश्चात् मैं दूसरा कोई भी गीत नहीं गा सकूंगी। फिर आपको ही अपनी कला का परिचय देना होगा।'

राजकुमारी ने मुस्कराते हुए कहा – 'स्वीकार है।'

तत्काल विक्रमा ने मृदंगवादिका से कहा – 'देवी! मेरे सामने पांच हाथ की दूरी पर मृदंग के युगल को रख दो.....मुझे केवल तंबूरा दे दो....दूसरे वाद्यों की कोई आवश्यकता नहीं है।'

मृदंगवादिका ने दोनों मृदंग यथास्थान रख दिए और वे सही रूप में नियोजित हैं या नहीं, इसकी जांच कर ली। फिर एक तंबूरा विक्रमा के सामने रख दिया।

विक्रमा ने तंबूरा हाथ में लिया, तारों को सुनियोजित किया – एक तार कुछ ऊंचा था, उसे ठीक कर दिया।

अदृश्य रूप में वैताल मृदंग के पास बैठ गया।

विक्रमा ने राजकुमारी की ओर देखा। राजकुमारी एकटक विक्रमा को देख रही थी। राजकुमारी के नयनों में क्रीड़ा करने वाली माधुरी को देखकर विक्रमादित्य का हृदय मुग्ध बन गया था। उसने मुस्कराकर राजकुमारी को प्रसन्न किया और आंखें बन्द कर 'पटयोग' की आराधना प्रारम्भ की।

वाद्यमंडली, राजकुमारी, मंजरी देवी, तीनों बहनें और सभी दास-दासियां अवाक् होकर विक्रमा की ओर देख रही थीं।

मंजरी देवी और राजकुमारी ने 'पटयोग' राग का स्वरूप कभी नहीं जाना था। मृदंग स्वयं ताल दे, यह न माने जाने वाला आश्चर्य था।

किन्तु राग के प्रभाव से अनेक आश्चर्य घटित होते हैं, यह सबको ज्ञात था।

राग के स्वरूप को आत्मसात् करने वाले अनेक गायकों ने राग के प्रभावोत्पादक चमत्कार दिखाए हैं। राग से अग्नि प्रकट होती है, दीपमालिका जल उठती है, जलस्तंभन होता है। राग के प्रभाव से ज्वर, शिर:शूल, सर्पविष आदि दूर होते हैं। राग से अनिद्रा का रोग मिटता है – ये सारी बातें अज्ञात नहीं हैं। मंजरी देवी ने यह भी सुना था कि केवल कलियों से गूंथी हुई माला राग के प्रभाव से तत्काल खिल उठती है, किन्तु इन सभी चमत्कारों से अधिक चमत्कारिक था राग के प्रभाव से मृदंगों का स्वयं बज उठना। इसीलिए सभी की दृष्टि विक्रमा और दूर पड़े मृदंगों पर स्थिर थी।

विक्रमा अर्धघटिका तक स्वरों के आरोह-अवरोह में लगी रही। उसने गाया–'राधा की रात बनी रंगभरी'। और सभी ने आश्चर्य से देखा कि मृदंगों से ताल निकल रही है। कोई यह कल्पना भी नहीं कर सकता था कि मृदंगवादन स्वतः नहीं हो रहा है। पर वास्तविकता यह थी कि एक अदृश्य देव उन पर ताल दे रहा था।

विक्रमादित्य ने दिव्य गुटिका के प्रभाव से स्त्रीरूप धारण कर रखा था। उसका कंठ भी कोमल और मधुर हो गया था।

विक्रमा गा रही थी–'रंगभरी....उमंगभरी–राधा की रात बनी रंगभरी....'

पटयोग राग अत्यन्त मधुर था–मृदंग पर उठने वाले ताल भी ठीक थे–मंजरी देवी का चेहरा खिल उठा था।

और राजकुमारी तो इतनी मुग्ध हो गई थी कि वह अपलक नयनों से विक्रमा को देख रही थी। उसके मन में यह विचार उठा कि ऐसी सुन्दर और सिद्ध-गायिका को अपने पास ही रखना चाहिए–पुनः अवंती नहीं जाने देना है।

नर-नारी के मिलन की एक मस्तीभरी बहार वातावरण में व्याप्त हो रही थी।

मृदंग पर ताल उठ रहे थे।

विक्रमा उल्लासपूर्वक स्वरकल्लोल कर रही थी....

दो घटिका पर्यन्त 'पटयोग' की आराधना चलती रही।

और गीत पूरा हुआ तब मृदंग से अंतिम ध्वनि निकली जिससे सूचनाकक्ष कंपित हो उठा।

वहां उपस्थित सभी के हृदय झंकृत हो उठे।

राजकुमारी इतनी प्रभावित हो गई थी कि वह अपने आसन से उठी और विक्रमा को उठाकर छाती से लगा लिया।

राजकन्या के स्पर्श से विक्रमारूपी विक्रम का पुरुष हृदय झंकृत हो गया।

अदृश्य वैताल अपने स्थान पर चला गया।

सभी विक्रमा को धन्यवाद देने लगे।

१६. मृगनयनी

विक्रमा की पटयोग की योजना विशेष सफल रही। सभी ने संगीत की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

मंजरी देवी ने राजकुमारी की ओर देखकर कहा–'आप कौन-सा राग गायेंगी?'

'मालकोष'—कहकर राजकुमारी वाद्यमण्डली के सदस्यों के पास बिछी हुई जाजम पर बैठ गई। मालकोष की स्वरलहरियां वातावरण में थिरकने लगीं। विक्रमा ने देखा कि राजकुमारी का कंठ अत्यन्त मधुर और सुरीला है। मालकोष का आनन्ददायी स्वर पूरे खण्ड को नचाने लगा। वाद्यमण्डली के विविध वाद्यों की ध्वनि से वह और अधिक प्रभावक हो गया।

और राजकन्या ने मालकोष राग में गीयमान गीत की पहली पंक्ति का उच्चारण किया – 'प्रेमजाल अति विकट है, कंटकमय और क्रूर'।

विक्रमा ये शब्द सुनकर चौंकी। उसने कहा—गीत में भी यही धुन है। क्या मिलन की मधुर माधुरी मर गई है ? क्या राजकुमारी को यह सत्य ज्ञात नहीं है कि प्रकृति और पुरुष के संयोग की सृष्टि ही अमर है ?

राजकुमारी का गीत रंग बरसाने लगा और ऐसा प्रतीत हो रहा था कि गीत के भाव राजकुमारी के नयन पर नाच रहे हैं—प्रेम एक महाजाल है—यह कांटों से भरा है और क्रूर है। जो प्रेमजाल में फंस जाता है, उसे निर्दयता का शिकार होना ही पड़ता है।

विक्रमा स्थिर दृष्टि से राजकुमारी को देखती रही—ऐसा देवदुर्लभ रूप ! ऐसी मधुर और कोमल काया ! प्रेम, कला और यौवन की मदमस्ती से छलकती आंखें.... !

मालकोष का गीत आगे बढ़ा।

कोई कहता प्रेम फूल है, कोई कहता अमृत रूप है। न, न, न, यह मोह-भ्रम है, घातक विष, अरूप।

ऐसा मधुर कण्ठ और ऐसा गीत !

मालकोष राग के अंग-अंग खिल उठे थे—वीणा की श्रुतियां भी सुकुमारी के स्वर-कल्लोल के समक्ष फीकी लग रही थीं।

ताल, लय, माधुर्य—सभी उचित थे। किन्तु प्रेम को विरूप मानने वाली सुकुमारी का हृदय पत्थर कैसे बन गया ? अभी इसने पाणिग्रहण क्यों नहीं किया ? क्या पूर्वभव की स्मृति मात्र से इसका हृदय इतना कठोर हो गया ? विक्रमादित्य के मन में ये प्रश्न बार-बार उभर रहे थे और सुकुमारी को प्राप्त करने की तमन्ना तीव्र हो रही थी।

विधि की विडम्बना ! आज विक्रमादित्य स्त्रीवेश में विक्रमा बने हुए राजकुमारी के समक्ष हैं।

तीन घटिका पर्यन्त मालकोष का वातावरण थिरकता रहा।

मालकोष पूरा हुआ तब विक्रम रूपी विक्रमा बोल पड़ी – 'धन्य साधना! धन्य कण्ठ? राजकुमारी जी! आपका यह गीत और राग की माधुरी मेरे हृदय में जीवन भर संचित रहेगी। मैं आज धन्य बन गई। मेरा यहां आना सफल रहा।'

राजकुमारी ने उत्तर में मात्र मुस्कराते हुए सिर नमाया।

विक्रमा द्वारा की गई राजकुमारी की प्रशंसा को सुनकर मंजरी देवी को बहुत हर्ष हुआ। जैसे माता अपनी बेटी की प्रशंसा सुनकर अत्यन्त उल्लसित होती है, वैसे ही मंजरी देवी भी अपनी शिष्या राजकुमारी की प्रशंसा सुनकर धन्य हो गई। वह बोली – 'देवी विक्रमा! राजकुमारी का कण्ठ मधुर है, साधना भी कष्ट-साध्य है – परन्तु आप-जैसी सिद्धि इसे प्राप्त नहीं है।'

'आचार्याजी! राजकुमारी को सिद्धि उपलब्ध क्यों नहीं है, इस प्रश्न का उत्तर मुझे मिल चुका है।'

मंजरी देवी बोली – 'मुझे बताओ।'

'आज नहीं, फिर कभी बताऊंगी....' विक्रमा ने इस प्रकार एक जिज्ञासा की रेखा उभार दी।

राजकुमारी ने कहा – 'देवी! मेरी एक प्रार्थना स्वीकार करो तो....।'

'राजकुमारी जी! प्रार्थना नहीं, आपको आज्ञा देने का अधिकार है।'

'आप यहां कितने दिन तक रुकेंगी?'

'मैं तो लगभग एक सप्ताह और रुकूंगी – किन्तु मदन और कामकला के साथ आयी हूं, इसलिए जब वे दोनों बहनें जाएंगी, तब ही मेरा जाना होगा।'

'तो कल से आप मेरे भवन में ही रहें।'

विक्रमा कुछ नहीं बोलीं, विचारमग्न हो गईं।

'आपको यहां कोई कठिनाई नहीं होने दूंगी।' राजकुमारी ने कहा।

विक्रमा बोली – 'राजकुमारी जी! मैं अभी रूपमाला की अतिथि हूं। यहां रुकने या न रुकने का प्रश्न मेरा नहीं, रूप का है।'

राजकुमारी ने रूपमाला की ओर देखा।

रूपमाला बोली – 'आपकी भावना का मैं सत्कार करती हूं। कल नहीं, मैं दो दिन के पश्चात् देवी विक्रमा को यहां भेज दूंगी।'

रूपमाला की बात स्वीकार कर सभी विसर्जित हो गये।

अपने निवास पर आने के पश्चात् रूपमाला ने विक्रमा का हाथ पकड़कर कहा – 'देवी! आपकी संगीत-साधना देखकर मैं मंत्रमुग्ध बन गई हूं।'

'देखो रूप! तुम अवस्था में मेरे से बड़ी हो, इसलिए आपके सम्बोधन से मुझे मत पुकारना।'

'ओह!' कहकर रूपमाला ने विक्रमा का हाथ दबाते हुए कहा –'किन्तु कला की साधना में तो मैं बहुत छोटी हूं।'

'मैं कोई बहाना नहीं मानूंगी।'

'अच्छा, अब मेरी एक बात माननी पड़ेगी।'

'एक नहीं, अनेक। बोलो।' विक्रमा ने मृदु हास्य के साथ कहा।

'कल हम चारों बहनें मिलकर नृत्य-संगीत का आनन्द मनाएंगी।'

'भवन में?'

'हां।'

'किसी विशिष्ट अतिथि को आमत्रंण देना है?'

बीच में ही मदनमाला बोल पड़ी – 'हां, संभव है, इसके प्रीतम को....।'

रूप ने लज्जा-भरे स्वरों में कहा – 'हां, इनके सिवाय दूसरा कौन है?'

विक्रमा ने विनोद से पूछा – 'वह भाग्यशाली कौन है?'

'महाराजा के छोटे भाई आर्य जितवाहन।'

'तुम्हारा चुनाव श्रेष्ठ है – जितवाहन है तो वफादार?'

'हां, उसके दो पत्नियां हैं – किन्तु वह अत्यन्त सरल हृदय है। सप्ताह में एक रात आता है।'

'बहुत अच्छा, उनको अवश्य ही निमंत्रित करना – किन्तु उनको देखकर यदि मैं मुग्ध बन गई तो?' विक्रमा ने कहा।

'वे इतने कच्चे नहीं हैं – फिर भी तुम्हारी इच्छा होगी तो मैं उन्हें उपहार के रूप में दे दूंगी।' कहती हुई रूपमाला हंस पड़ी।

'ऐसी वस्तु उपहार के रूप में नहीं ली जाती।'

'तो?'

'क्षत्रिय लोग उपहार नहीं लेते। वे अपहरण करने में गौरव समझते हैं।' विक्रमा ने विनोद को आगे बढ़ाया।

रूपा बोली – 'देवी! तुम्हारे कौन हैं?'

'मेरी बात ही मत करो – पत्ते बिना की बेल जैसी मेरी दशा है। मेरे प्रति मुग्ध तो अनेक होते हैं – किन्तु मेरा मन किसी के प्रति आकृष्ट नहीं होता।' विक्रमा ने कहा।

रूपमाला ने कामकला की ओर देखकर कहा – 'तुम तो जानती ही होगी?'

'विक्रमा बहुत चालाक है। इसके मन को जानना सरल नहीं है।' कामकला ने कहा।

इस प्रकार चर्चा करते-करते सब अपने-अपने शयनकक्ष की ओर चल पड़ीं।

अग्निवैताल आकुल-व्याकुल हो रहा था। उसके मन में अनेक बातें घुल रही थीं।

जब विक्रमादित्य शय्या पर बैठे, तब अग्निवैताल प्रकट होकर बोला–'महाराज!'

'आओ, प्रिय मित्र! क्या तुम मेरी एक बात नहीं मानोगे?'

'कौन-सी बात?'

'मैंने कितनी बार कहा है कि तुम मेरे मित्र हो, मुझे 'महाराज' मत कहा करो।'

अग्निवैताल हंस पड़ा। वह बोला – 'आगे से सावधान रहूंगा।'

'आज की अपनी योजना बहुत सफल रही।' विक्रम ने कहा।

वैताल बोला – 'देखो मित्र! मुझे इस प्रकार के कार्यों में आज भी रस नहीं है। तुमको स्त्रीवेश करना पड़ा, इस प्रकार जाना पड़ता है – और इसका परिणाम क्या आएगा?'

'तुम शान्त रहो, वैताल! तुमने पहला परिणाम तो जान ही लिया है? राजकुमारी को हमें देखना था, आज उसको देख लिया।'

'कैसी लगी?'

'तुम्हें इसका जवाब मैं क्या दूं? निश्चित ही विधाता ने इसका निर्माण विशेष सामग्री से किया है – मनोहारी, मृगनयनी, नीलोत्पला।'

बीच में ही अग्निवैताल बोल पड़ा – 'हां-हां, इससे मैं कुछ भी नहीं समझ सकता – तुम्हारे नयन-मन में तो वह बस गई है न?'

'हां, मित्र! उसको प्राप्त किए बिना मुझे चैन नहीं।'

'तो फिर इस प्रकार वेश बदलने की क्या जरूरत है? तुम कहो तो दो क्षणों में उसे अवंती में पहुंचा दूं।' अग्निवैताल ने कहा।

'नहीं, मित्र! स्त्री को इस प्रकार जीतना केवल शिकारी या दुष्ट का काम होता है। मैं इसको हृदय से जीतना चाहता हूं।' विक्रम ने कहा।

'क्या तात्पर्य?'

'राजकुमारी के मन में जो पुरुष जाति के प्रति द्वेष है, मैं उसको नष्ट करना चाहता हूं। जिस मन में घृणा भरी पड़ी है, मैं वहां प्रेम का सागर लहराना चाहता हूं। क्या तुमने नहीं देखा – कल रात वह मेरे से किस प्रकार चिपट गई थी?'

'स्त्री स्त्री को छाती से लगाए, इसमें किसी उष्मा का अनुभव नहीं होता। यदि राजकुमारी को यह ज्ञात होता कि आप विक्रमा नहीं, विक्रम हो तो आपकी छाती में तलवार ही लगती।' अग्निवैताल ने कहा।

'तुम्हारी बात सही है--उष्मा का आनन्द तो मुझे मिला ही था। उसने मुझे प्रेम भरा निमंत्रण भी दिया है।'

'मुझे समझ में नहीं आता कि आप स्त्रीवेश में रहकर राजकन्या को कैसे जीत सकेंगे?'

'मित्र! मैं पहला काम यह करूंगा कि उनके मन का द्वेष निकल जाए।'

'तब तो यह रामायण बहुत लम्बी चलेगी?'

'एकाध महीना तो लग ही जायेगा, तुम घबराए तो नहीं?'

'आज जब आप गाकर उठे थे, तब मैं राजकन्या के भण्डार में चला गया था। वहां अच्छी मिठाइयां मिल गई थीं।' कहकर वैताल हंस पड़ा।

विक्रम मौन रहा।

वैताल अदृश्य हो गया।

राजकुमारी के विषय में विचार करते हुए विक्रमादित्य सो गए, किन्तु नींद कहां, केवल मृगनयनी ही दिखाई पड़ रही थी।

मनुष्य के नयनों में जब रूप का अंजन आंज दिया जाता है, तब उसके हृदय की धड़कनें तो बढ़ ही जाती हैं, साथ-साथ नींद और आराम भी हराम हो जाता है।

राजकुमारी के मन से पुरुष और विवाह की अरुचि कैसे समाप्त की जाए, यही सोचता हुआ विक्रम चिन्तामग्न हो गया।

उसने मन-ही-मन यह तय कर लिया कि राजकुमारी के समक्ष कामशास्त्र और नर-नारी के मिलन की आनन्ददायी कल्पना प्रस्तुत की जाए, जिससे कि उसके चित्त का द्वेषभाव जाता रहे।

अथवा.....?

उत्तम पुरुषों के वृत्तान्त सुनाकर उसके मन में पुरुष के प्रति आकर्षण पैदा किया जाए। फिर भी यदि उसके मन में उमंग न उठे तो?

नहीं.....।

यह सुन्दरी है....सुरूप है....मृगनयनी है--इसके प्राणों में कला के लिए स्थान है--जहां कला होती है, वहां प्रेम रहता है।

प्रातःकाल की झालर बज उठी।

किन्तु विक्रम राजकुमारी के विचारों में खोया हुआ शय्या पर सो रहा था।

१७. विक्रमा का स्वागत

मध्याह्न का समय। रूपमाला ने राजकुमारी को कहलवाया कि आज रात्रि में अतिथियों के सम्मान में नृत्य-संगीत का एक प्रांजल कार्यक्रम मेरे भवन में रखा गया है, इसलिए मैं आज आपकी सन्निधि में आ नहीं सकूंगी। आप क्षमा करें।

सूर्यास्त से पूर्व राजकुमारी के यहां सन्देश देकर दासी लौट आयी। उसने रूपमाला से कहा – 'देवी! राजकुमारीजी ने आज रात्रि में स्वयं यहां उपस्थित होने की इच्छा व्यक्त की है। राजकुमारीजी दो परिचारिकाओं को साथ लेकर यहां आएंगी और नृत्य-संगीत के कार्यक्रम को देखेंगी।'

राजकुमारी जी का यह सन्देश सुनकर रूपमाला आश्चर्यचकित रह गई। वह स्तब्ध हो गई, मानो कि उस पर कोई आकाश टूट पड़ा हो।

एक नर्तकी के भवन में राजकुमारी का आगमन। महाराज यदि यह बात जानेंगे, तो क्या दशा होगी? या तो मुझे देश से निकाला जाएगा या सारी सम्पत्ति का अपहरण कर लिया जाएगा....और आज इस कार्यक्रम में राजकुमारी के चाचा आर्य जितवाहन भी तो आएंगे।

अब क्या किया जाए?

दूसरे खण्ड में दोनों बहनें और विक्रमा बात कर रही थीं। रूपमाला वहां गई और मदनमाला को सामने देखकर बोली – 'मदन! बहुत बड़ी विपत्ति आ गई है।'

'क्या हुआ, बहन?'

'मदन! आज राजकुमारी ने स्वयं यहां आकर नृत्य-संगीत देखने की इच्छा व्यक्त की है। राजकुमार जितवाहन भी आएंगे। वे राजकुमारी को यहां देखेंगे तो क्या दशा होगी?'

विक्रमा बोली – 'राजकुमारी का संगीत के प्रति अत्यन्त लगाव है, किन्तु भावना और व्यवहार के मार्ग निराले हैं। तुम अभी राजकुमारी के यहां जाओ और उन्हें समझाओ। यदि राजकुमारी न समझें तो हम सब वहीं चलेंगी।'

विक्रमा की बात रूपमाला को उचित लगी। वह तत्काल तैयार होकर राजकुमारी के एकान्त भवन की ओर चल पड़ी।

रूपमाला के जाने के पश्चात् विक्रमा रूपी विक्रम अपने खण्ड में आये। अग्निवैताल भी वहां आ पहुंचा। वह बोला – 'मित्र! जो राजकन्या एक नर्तकी के भवन में आना चाहती है, उसको प्राप्त करने के लिए इतना श्रम क्यों करना चाहिए?'

'वैताल! वह नर्तकी के भवन में पवित्र भावना से आ रही है। यदि वह मलिन मन से आती तो निन्द्य मानी जाती। किन्तु राजकन्या का मन अत्यन्त निर्मल और निर्दोष है।'

'यदि राजकुमारी यहां आने का आग्रह करेगी तो...'

'संभव है, वह समझ जाएगी, अन्यथा हम सब वहां चलेंगें'

'रूपमाला का प्रियतम....?'

'वह तो उसकी प्रियतमा जाने।'

'तो मेरा मन होता है कि मैं एक चमत्कार घटित करूं।'

'कैसे ?'

'राजकन्या को निद्राधीन बना दूं।'

'ठीक है। रूपमाला को आ ज़ाने दे – यदि सुकुमारी यहां आए ही तो तुम अपना चमत्कार घटित कर देना।' विक्रम ने कहा।

उसी समय भट्टमात्र भी बाहर से आ गया। विक्रम ने पूछा – 'मित्र ! कहां गए थे ?'

'इस महापुरुष की भोजन की व्यवस्था करने।' अग्निवैताल की ओर देखते हुए भट्टमात्र ने कहा।

'हो गई ?'

'हां, एक छोटी कोठरी मिली है। हलवाई विविध प्रकार की मिठाइयां उसमें रखकर ताला लगाकर चला जाएगा।'

'बहुत अच्छा, इसका पता किसी को नहीं लगना चाहिए। आज सांझ वैताल को साथ लेकर वह कोठरी दिखा देना।'

अग्निवैताल तत्काल बोल उठा – 'देखने की जरूरत नहीं है। मैं मध्यरात्रि की वेला में वहां पहुंच जाऊंगा।'

भट्टमात्र आश्चर्य भरी दृष्टि से वैताल की ओर देखता रहा। अग्निवैताल ने हंसकर कहा – 'मैं मनुष्य नहीं हूं, यह याद रखोगे तो कोई भी आश्चर्य नहीं होगा।'

भट्टमात्र ने वैताल का हाथ पकड़कर कहा – 'हम निरन्तर साथ रहते हैं, इसलिए भूल जाते हैं।'

उसी समय मदनमाला और कामकला ने खण्ड में प्रवेश किया।

भट्टमात्र और अग्निवैताल खण्ड से बाहर आ गए।

मदनमाला ने एक आसन पर बैठते हुए कहा – 'आज के कार्यक्रम के विषय में क्या सोचा है ?'

'देवी रूपमाला का मृदंगवादक कैसा है ?' विक्रमा ने पूछा।

'निष्णात है।'

'तो अंतिम गीत मैं गाऊंगी।' विक्रमा ने कहा।

'पश्चिम रात्रि में ?'

'हां, आपने यह कार्यक्रम मेरे सम्मान में आयोजित किया है, इसलिए तीनों बहनों का कार्य पूरा होने के पश्चात् तुम मुझे रागमंजरी राग गाने के लिए कहना। भैरव परिवार की यह एक दिव्य रागिनी है – उसके प्रभाव से एक पात्र में भरा हुआ जल उछलने लगेगा।'

कामकला बोली – 'देवी ! हम कोई भी रागमंजरी से परिचित नहीं हैं।'

'यह राग मात्र योगियों में ही प्रचलित है। यह अत्यन्त तेजस्वी, चंचल और आवेश उत्पन्न करने वाला राग है। योगी जब इष्ट की आराधना के द्वारा इष्ट को जागृत करना चाहते हैं, तब यह रागिनी उनके प्रयत्न में सहायक बनती है।'

दोनों बहनें अत्यन्त सुन्दर और तेजस्विनी विक्रमा को देखने लगीं।

उसके बाद अन्यान्य चर्चा में दो घटिका बीत गई।

रूपमाला राजकुमारी से मिलकर आ पहुंची और सीधे देवी विक्रमा के खण्ड में गई। विक्रमा उसके चेहरे को देखकर बोली – 'राजकुमारी समझ गई प्रतीत होता है।'

'हां, किन्तु एक शर्त के साथ।'

'कौन-सी शर्त ?' मदनमाला ने पूछा।

'कल संध्या से पहले-पहले विक्रमा को वहां भेजना होगा।'

'कोई आपत्ति नहीं। मैं तैयार हूं, रूप !' विक्रमा ने कहा।

'राजकुमारी आपकी कला पर मुग्ध है। वे मात्र आपको सुनने के लिए यहां आने वाली थीं। मैंने कहा कि आपके चाचा भी वहां आयेंगे, यह सुनकर वे बहुत प्रसन्न हुई और बोलीं – तब तो मुझे और अधिक आनन्द आयेगा....किन्तु जब मैंने उन्हें व्यवहार-मर्यादा की बात बताई तब उन्होंने इस एक शर्त पर मेरी बात मान ली।' रूपमाला ने स्पष्ट करते हुए कहा।

संध्या का समय हो गया था। आज के होने वाले समारंभ की पूर्व तैयारी करनी थी – अभी सबको ब्यालू भी करना था।

रूपमाला अपनी दोनों बहनों के साथ तैयारी करने चली गई।

विक्रमरूपी विक्रमा स्नानगृह में जाने के लिए उठी – इतने में ही अग्निवैताल आ पहुंचा। वह बोला – 'मुझे चमत्कार बताने के लिए जाना तो नहीं पड़ेगा ?'

'नहीं, किन्तु मध्यरात्रि के पश्चात् मेरे गीत गाने के समय चमत्कार बताना होगा।' विक्रम ने कहा।

अग्निवैताल प्रश्नभरी दृष्टि से विक्रम को देखता रहा।

विक्रम ने कहा – 'आज मैं रागमंजरी नाम की रागिनी गाऊंगी – दो घटिका के पश्चात् तुमको यह करना होगा कि मेरे सामने पड़े जल के पात्र का पानी उछले और उसी में समा जाए – क्या ऐसा हो सकेगा ?'

'इसमें ऐसी कौन-सी बात है ? यदि इससे भी महत्त्वपूर्ण चमत्कार दिखाना चाहें, तो एक बड़े चौड़े बर्तन में जलकुंभ रख देना। वह जल से छलाछल भरा रहेगा। मैं उस कुंभ से फव्वारे की भांति जल ऊपर उठाऊंगा और वह सारा जल उस चौड़े पात्र में भरता जाएगा, किन्तु कुंभ पूर्ववत् भरा हुआ ही रहेगा।'

'वाह मित्र, वाह! तब तो बहुत प्रभाव पड़ेगा।'

अग्निवैताल ने हंसते हुए कहा – 'राजकुमारी होती तो इस प्रभाव का कुछ परिणाम तो आता.... ।'

'कल से तो मुझे राजकुमारी के साथ ही रहना है।'

'मुझे ?'

'तुम भी मेरे साथ अदृश्य रूप में रहना।'

'यदि मैं आपकी दासी बनकर रहूं तो....?'

'नहीं, मित्र! मुझे तुम्हें स्त्री वेश में नहीं लाना है। इस प्रकार मैं तुम्हारा गौरव खण्डित करना नहीं चाहता।'

'मित्र हो जाने के पश्चात् मान-अपमान या गौरव-अगौरव का प्रश्न ही नहीं उठता।' वैताल ने कहा।

'तुम अदृश्य ही रहना। यही उचित है। क्योंकि यदि तुम्हें कहीं जाना पड़े और दासी रूप में तुम्हें मेरे साथ न देखे तो किसी को शंका हो सकती है।'

'ठीक है – मुझे भट्टमात्र का भी सहयोग करना होगा।'

'हां, दोनों ओर सहयोग तो देना ही होगा।' विक्रम ने कहा।

'कोई बात नहीं। जैसी देवीजी की आज्ञा। किन्तु मित्र! राजकुमारी को समझाने में अधिक दिन मत लगाना, क्योंकि तुम्हारा राजपाट.... ।'

'देखो वैताल! अभी तक तो हमें यहां आये आज तीसरा दिन है। केवल एक ही सप्ताह में हमें ज्ञात हो जाएगा कि तेल और तेल की धारा कैसी है?'

'ठीक है।' वैताल ने कहा।

फिर विक्रमा स्नानगृह की ओर गई।

रात के दूसरे प्रहर की दो घटिका के पश्चात् महाराजकुमार जितवाहन आ गए। उनके साथ महाबलाधिकृत नरेन्द्रदेव तथा अन्य चार-पांच व्यक्ति भी आए थे।

रूपमाला ने सबका भावभीना सत्कार किया और अपने प्रियतम की ओर देखती हुई वह सबको व्यवस्थित बिठाने लगी।

विक्रमा ने वस्त्र-परिवर्तन किया। वह कोमलांगी और सुन्दर तो थी ही, वस्त्राभरणों से उसका रूप सहस्रगुणित हो गया था और वह तब मदभरी मृगनयनी जैसी लग रही थी। उनके नयनों में श्यामांजन की रेखा खचित कर रखी थी। ललाट पर सूर्य का तिलक किया – ओह! कैसा रूप!

उसका हृदय और मन पुरुष का था – केवल अभिनय और वेश नवयौवना नारी का था। उसने दर्पण में देखा। उसके मन में आया....ओह! मैंने रूप में मुग्ध

होकर अपने पौरुष का अत्यन्त अपमान किया है। वैताल बार-बार जो कहता था, उसका कारण यही था, किन्तु अब दूसरा कोई मार्ग भी नहीं रहा है। जो काम हाथ में लिया है, उसे तो पूरा करना ही होगा।

वह इस प्रकार विचारों में उन्मज्ञन-निमज्ञन कर रही थी कि इतने में ही दरवाजे पर दस्तक सुनाई दी। रूपमाला की दासी अन्दर आकर बोली– 'देवी! सभी आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।'

'मैं तैयार हूं।' कहकर विक्रमा दासी के पीछे-पीछे मध्य खण्ड में आयी, वहां आज का समारम्भ समायोजित था।

खण्ड के चारों ओर दीपमालिकाएं जगमगा रही थीं।

रूपमाला की वाद्य-मण्डली यथास्थान बैठ गई।

रूप, मदन और काम भी यथास्थान बैठ गईं।

भट्टमात्र, वैताल और दूसरे मनुष्य एक ओर बैठ गए।

महाराजकुमार और उनके सभी साथी निर्धारित स्थान पर बिछी हुई गादी पर बैठ गए।

विक्रमा ने सबको नमन किया।

रूपमाला पुष्पहार लेकर उठी और विक्रमा के पास आकर बोली–'देवी विक्रमा का भावभरे हृदय से स्वागत करती हूं।'

रूपमाला ने विक्रमा को हार पहनाया। विक्रमा ने हाथ जोड़कर रूप के स्वागत को स्वीकार किया।

जितवाहन और उनके साथी अवंती की मदभरी गायिका को एकटक देखने लगे।

किन्तु अड़तालीस वर्ष के बलाधिकृत नरेन्द्रदेव की दृष्टि विक्रमा पर स्थिर हो गई थी।

विक्रमा को देखते ही उनका हृदय कल्लोलित हो उठा था।

रूपमाला ने अपने प्रियतम की ओर देखकर कहा– 'सभारंभ को प्रारंभ करने की आज्ञा मांगती हूं।'

जितवाहन ने मात्र मधुर हास्य से आज्ञा दे दी।

वाद्यमंडली के सदस्यों ने कल्याण की स्वरमाला का अनुसंधान किया।

और महाबलाधिकृत नरेन्द्रदेव विक्रमा के रूप को देखकर परवश हो गया। उसके मन में एक तरंग उठी– किसी भी उपाय से मैं इस नवयौवना का आलिंगन लूं, तभी मेरा जन्म सार्थक है।

यमन राग में ही वाद्यमंडली ने देवी सरस्वती की प्रार्थना प्रारम्भ कर दी।

१८. रागमंजरी

रूपमाला की वाद्यमंडली ने जो यमन राग में प्रार्थना की, वह सबके मन को जीत गई।

महाराजकुमार जितवाहन ने रूपमाला के सामने देखकर कहा—'रूप! आज तुम्हारे कलाकारों ने अपनी कला में प्राण फूंका है।'

विक्रमा भी वाद्यमंडली की निपुणता पर बहुत प्रसन्न हुई। उसने रूपमाला से कहा—'बहन! ऐसा उत्तम साथ भाग्य से ही प्राप्त होता है।'

फिर रूपमाला ने कुछ समय तक 'ऊर्मिनृत्य' प्रस्तुत किया।

ऊर्मिनृत्य छोटा होता है, पर वह अन्तःकरण में ऊर्मियां प्रकट करने में सक्षम होता है। विक्रमा ने रूपमाला के इस नृत्य को बहुत सराहा।

फिर मदन और काममाला का नृत्य प्रारंभ हुआ।

विक्रमारूपी विक्रम ने वैताल को भोजन करने का गुप्त संकेत दिया।

वैताल तत्काल उठकर खण्ड के बाहर चला गया।

दोनों बहनों ने कला, भाव, अभिनय, मुद्रा आदि से अत्यन्त समृद्ध बना हुआ 'काम-प्रकोप' नृत्य प्रारम्भ किया।

नर और नारी कोई निराली वस्तु नहीं है—एक ही पक्षी की दो पांखें हैं।

दोनों का सहकार ही सृष्टि का सुख, आयु और तेज है।

काम का प्रकोप प्रत्येक प्राणी पर रहता ही है। संसार में ऐसा एक भी प्राणी नहीं है, जो काम से मुक्त हो।

पुरुष और प्रकृति के साहचर्य की मधुर प्रेरणा का नाम ही कामदेव है—यही रतिनाथ है, यही अनंग है।

और नवयौवना के मन में तब 'पिउ-मिलन' की आकांक्षा जागती है और जब प्रियतम आंखों की पलकों के पीछे छिपा रह जाता है, तब कामातुर नारी के हृदय की पीड़ा अकथ्य होती है—इस भाव को दोनों बहनों ने अपने नृत्य के माध्यम से अभिव्यक्ति दी।

रूपमाला की दोनों बहनें कला में श्रेष्ठ थीं—उनका रूप भी अनुपम था, पर विक्रमा जैसा सौन्दर्य उन्हें प्राप्त नहीं था।

दोनों बहनों के नृत्य के भावाभिनय में आकण्ठ डूबा हुआ महाराजकुमार जितवाहन का मित्र महाबलाधिकृत नृत्यांगनाओं से भी अधिक विक्रमा के रूप का पुजारी बन गया था। वह उसके रूप का पान करना चाहता था। उसका मन व्याकुल था विक्रमा को बाहुपाश में भरने के लिए।

बारंबार वह विक्रमा को देखता और एक अव्यक्त आशा को संजोता रहता। अवंती की इस श्रेष्ठ गायिका को निमंत्रण देना चाहिए – उसके साथ उपवन-विहार करना चाहिए और वह जो मांगे, उसे देकर एक बार उसे अंकलक्ष्मी बनाना चाहिए।

रूपयौवना के प्रति मोह पैदा होना, यह दोष नूतन नहीं है, सनातन है।

महासती सीता के रूप-यौवन पर महावैज्ञानिक और प्रकाण्ड पंडित रावण क्या मुग्ध नहीं बना था ?

भगवान् शंकर जैसे महातपस्वी भी एक भीलनी के रूप पर क्या मूढ़ नहीं हुए थे ?

द्रौपदी पर मुग्ध होकर कीचक भाइयों ने क्या विनाश को निमंत्रण नहीं दिया था ?

कोई भी व्यक्ति जो नारी के रूप-यौवन को लालचभरी दृष्टि से देखता है, वह कभी परिणाम की परवाह नहीं करता, क्योंकि लालसा की अग्नि इतनी तीव्र होती है कि वह मनुष्य के विवेक को लील जाती है।

नरेन्द्रदेव कोई महापुरुष नहीं था। उसका पद-गौरव बड़ा था। भवन में दो पत्नियां थीं। काया स्वस्थ, सुदृढ़ और सुरूप थी। यौवन का अस्तकाल अभी दूर था। शस्त्र और संरक्षण उसके व्यवसाय या अध्ययन के अंग थे।

ऐसा पुरुष यदि रूपवती विक्रमा को देखकर आकर्षित हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

रूप और यौवन का सुमेल आकर्षक ही होता है, ऐसी बात नहीं है। उस सुमेल में से जादूभरी माया प्रवृत्त होती है और वही माया सबको अपनी ओर खींचती है।

नरेन्द्रदेव के नयन विक्रमा के शरीर पर अटक गये थे। किन्तु उस बेचारे को ज्ञात नहीं था कि गायिका विक्रमा अवंती की कलारानी नहीं, अवंती के स्वामी विक्रमादित्य हैं।

दोनों बहनें अपना नृत्य पूरा करें, उससे पूर्व ही वैताल मनपसन्द भोजन कर आ गया।

फिर मदन और काम का नृत्य सम्पन्न हुआ।

विक्रमा ने दोनों बहनों को उत्साहपूर्वक धन्यवाद दिया।

फिर सभी ने दोनों बहनों की कलासिद्धि को सराहा और कला-निपुणता के लिए हृदय से प्रशंसा-वचन कहे।

मदनमाला ने विक्रमा से कहा– 'देवी! अब आप हमारी एक इच्छा पूरी करें।'

विक्रमा ने मुस्कराते हुए प्रश्नभरी दृष्टि से मदनमाला की ओर देखा।

मदन बोली – 'देवी! मैंने सुना है कि आपने रागमंजरी की अपूर्व साधना की है – उस साधना का हमें दर्शन कराएं।'

'सखी की इच्छा का मैं सत्कार करती हूं – किन्तु रागमंजरी के गाने के पश्चात् अन्य कोई राग नहीं गाया जा सकेगा।'

मदन उत्तर दे, उससे पहले ही वीणावादक ने पूछा – 'देवी! रागमंजरी राग के विषय में.....'।

बीच में ही विक्रमा ने वीणावादक की ओर मुड़कर कहा – 'आचार्य! भैरव परिवार की यह रागिनी योगियों और भक्त संप्रदाय की परम्परा से प्राप्त हुई है। वीणा मैं धारण करूंगी, क्योंकि संगीतशास्त्र से परे है रागमंजरी।' फिर उसने रूपमाला की ओर देखकर कहा – 'रागमंजरी पांच-सात रागों की शृंखला नहीं है – यह एक स्वतन्त्र रागिनी है। इसका प्रभाव अपूर्व है। इसके लिए एक चौड़ा पात्र तथा जलकुंभ आवश्यक होगा। स्वरमंजरी की आराधना से जलकुंभ का जल स्वयं उछलने लगेगा, यह है इस राग का चमत्कार।'

'आप यह क्या कहती हैं? यह तो पटयोग राग के चमत्कार से भी बड़ा चमत्कार है।' रूपमाला ने आश्चर्य के साथ कहा।

महाराजकुमार जितवाहन संगीतज्ञ नहीं थे, किन्तु रूपमाला के संयोग से वे संगीतप्रेमी बन गये थे। वे श्रद्धाभरी नजरों से विक्रमा की ओर देखने लगे।

नरेन्द्रदेव को संगीत और रागिनी के चमत्कार के प्रति कोई रस नहीं था – उसका तो रस विक्रमा के रूप-यौवन में ही था।

अर्धघटिका काल में सभी तैयारियां सम्पन्न हुईं। विक्रमा वाद्यमंडली के समक्ष एक गादी पर बैठ गई। वीणावादक ने अपनी वीणा विक्रमा के सामने रख दी।

एक दासी ने चौड़ा बर्तन और जलकुंभ विक्रमा से पांच हाथ की दूरी पर रख दिया।

मृदंगवादक असमंजस में फंस गया। नूतन गायिका और अपरिचित राग, किन्तु विक्रमा ने उसे निकट बुलाकर कहा – 'महाशय! आप संकोच न करें। मैं त्रिताल में ही गाऊंगी।'

मृदंगवादक आश्वस्त हुआ।

विक्रमा ने वीणा के तारों का अनुसंधान किया – मृदंगवादक ने भी मृदंग को ठीक-ठाक किया।

और सबके लिए अपरिचित रागमंजरी नाम की रागिनी का स्वर-धुन वीणा में से प्रसृत होने लगा।

रात्रि का तीसरा प्रहर कभी का प्रारम्भ हो चुका था।

पहले वीणा के तारों में रागमंजरी की लहरें थिरकने लगीं। फिर विक्रमा ने मृदु-मंजुल स्वरों से रागमंजरी की आराधना प्रारम्भ की।

वहां बैठे हुए व्यक्तियों के नयन विक्रमा की ओर स्थिर हो गये। राग के प्रभाव से जलकुंभ से जल के उछलने की बात सबके लिए नई थी। सबके नयनों में जिज्ञासा चमक रही थी।

लगभग अर्धघटिका पर्यन्त स्वरान्दोलन का सृजन कर विक्रमा ने भगवान् शंकर की स्तुति प्रारम्भ की।

मृदंगवादक त्रिताल देने लगा।

एक घटिका पूरी हुई।

गायिका का राग मधुर और गंभीर था।

गीत हृदय को बींधने वाला था।

वीणा के तारों से भैरव परिवार की गुप्त गिनी जाने वाली राग 'रागमंजरी' मुक्तभाव से गायिका के स्वरों को तरबतर कर रही थी।

उसकी दृष्टि कभी विक्रमा की ओर और कभी जलकुंभ की ओर संचरण करती थी।

अभी तक जलकुंभ का जल स्थिर था।

दो घटिकाएं बीत गईं—गीत मध्यम लय में आया।

और सभी ने आश्चर्य के साथ देखा कि संकरे मुंह वाले जलकुंभ से जल उछलकर पुन: उसी में समा जा रहा था—सभी दर्शक अवाक् बन गए।

कुछ ही क्षणों के पश्चात् जल पुन: उछला और चौड़े बर्तन में आ गिरा।

विक्रमा तो स्वस्थ हृदय से रागमंजरी की आराधना में तल्लीन हो रही थी।

रूपमाला के वाद्यकारों ने विविध रागों के प्रभाव के विषय में बहुत कुछ सुन रखा था, पर जल में इस प्रकार की गति हो सकती है, यह अश्रुतपूर्व था।

रूपमाला के वीणावादक ने एक महान् संगीतकार की साधना में जल-स्तम्भन की क्रिया देखी थी, पर गति अदृष्टपूर्व थी।

रूपमाला भी विक्रमा की इस आराधना को देखकर परम आश्चर्य का अनुभव कर रही थी।

मदन और काम इतना अवश्य जानती थी कि विक्रमा अवंती की गायिका नहीं है, किन्तु स्वयं अवंती के अधीश्वर हैं। क्या महाराजा ने ऐसी भव्य साधना की है? क्योंकि इस चमत्कार के पीछे अग्निवैताल की इच्छाशक्ति काम कर रही है, यह कौन जानता था?

विक्रमा के सुन्दर और मधुर कंठों से शब्द धीर-गंभीर बनकर अतिवेग से निकल रहे थे।

एक घटिका के पश्चात् द्रुतलय प्रारम्भ हुआ – जलकुंभ का जल क्षण-क्षण में उछलने लगा।

फिर भी जलकुंभ का जल उतना ही रहा।

इस चमत्कार को देखकर सब अवाक् रह गए। किसी का ध्यान रागमंजरी के स्वर-कल्लालों की ओर नहीं रहा।

रात्रि का चौथा प्रहर कुछ ही शेष था।

रागमंजरी की माधुरी, वीणा के तारों से बिखरती हुई रागिनी की सुवास और रागिनी के प्रभाव का चमत्कार।

जैसे कुंभ का जल उछल रहा था, वैसे ही नरेन्द्रदेव का हृदय भी उछल रहा था – ऐसी महान् कलालक्ष्मी को कैसे हस्तगत किया जा सकता है ? विक्रमा के रूप और यौवन से वह क्षुब्ध हो चुका था।

विक्रमा ने राग का अन्तिम रूप प्रस्तुत कर वीणा को एक ओर रख दिया।

और कुंभ का जल मानो कि गायिका का अभिनन्दन करता हो, इस प्रकार उसके मस्तक पर अंजलीरूप में गिरा।

जितवाहन खड़े हो गए और भावभरे स्वरों में बोले – 'धन्य हैं देवी विक्रमा ! रूप ! आज मैं तुम्हें भी धन्यवाद देता हूं। यदि तुमने मुझे निमंत्रण नहीं दिया होता तो ऐसी महान् साधना को मैं साक्षात् कैसे करता ?'

सभी वाद्यकार भावावेश में आकर देवी विक्रमा के चरणों में गिर पड़े।

जलकुंभ तो भरा हुआ ही था, चौड़ा पात्र भी भर गया और सभी के मन में प्रश्न उठा, इतना जल कहां से आया ? कुंभ तो भरा हुआ ही है, चौड़े पात्र का जल कुंभ के जल से दुगुना है।

विक्रमा आसन से उठी। रूप-मुग्ध बना हुआ नरेन्द्रदेव निकट आया और उसने अपने कंठ से मौक्तिक हार निकालकर विनम्र स्वर में कहा – 'देवी ! आज मैं धन्य बना हूं – मेरी ऊर्मी को सत्कृत करें।'

विक्रमा ने मुस्कराते हुए मौक्तिक हार स्वीकार कर लिया।

नरेन्द्रदेव बोला – 'मेरी एक प्रार्थना है।'

'कहें, क्या कहना चाहते हैं ?'

'मेरे भवन पर पधारने का निमंत्रण देता हूं।'

'मैं धन्य हुई। किन्तु कल मुझे राजकुमारी के पास रहना है – वहां से आने के पश्चात् आपके निमंत्रण को स्वीकार करूंगी।' विक्रमा ने कहा।

उसके पश्चात् जितवाहन और उनके सभी साथी वहां से विदा हुए।

विक्रमा ने मौक्तिक हार वाद्यमंडली के सदस्यों को दे दिया।

प्रातःकाल हो चुका था।

१६. नारी की वेदना

दूसरा दिन!

तीन प्रहर पूरे हो गए थे।

विक्रमा को लेकर रूपमाला एक रथ में बैठकर राजकन्या के भवन की ओर प्रस्थित हुई।

अग्निवैताल अदृश्य रूप में रथ में बैठ गया था। विक्रमा तो यह जानती ही थी। रूपमाला उसे देख नहीं पा रही थी।

राजकुमारी आज कुछ जल्दी ही स्नान करने के लिए स्नानगृह में गई हुई थी। तैलमर्दन और उबटन की क्रिया पूरी हुई। सौम्यगंधा के पुष्पार्क से सुवासित जल एक स्वच्छ हौज में भरा हुआ था। उसका सौरभ विशाल स्नानगृह में चारों ओर फैल रहा था।

सुकुमारी की निराभरण काया को उष्णजल से तैलयुक्त कर मुख्य परिचारिका ने राजकन्या को हौज पर चलने की प्रार्थना की।

जिसका प्रत्येक अंग-प्रत्यंग रूप और यौवन के तेज से आकर्षक और सुन्दर था, वह राजकन्या धीरे-धीरे चलकर हौज के पास आयी और हौज के स्वच्छ जल में पड़ने वाले अपने प्रतिबिम्ब को क्षणभर देखती रही। फिर वह हौज में उतरी।

उसी समय एक दासी ने आकर दरवाजे पर हल्की-सी दस्तक दी।

मुख्य परिचारिका ने द्वार के पास आकर पूछा—'कौन?'

'देवी रूपमाला और देवी विक्रमा—दोनों आयी हैं। बाहर खड़ी हैं।' दासी ने उत्तर दिया।

'तू खड़ी रह—मैं राजकुमारी से पूछती हूं।' यह कहकर मुख्य परिचारिका सुकुमारी के पास गई और दासी द्वारा प्रदत्त संदेश कह सुनाया।

सुकुमारी ने प्रसन्नता से कहा—'अच्छा, अच्छा—तू दासी को कहना कि वह विक्रमा को लेकर यहां आए।'

विक्रमा और रूपमाला—दोनों एक खंड में बैठी थीं। दासी ने आकर कहा, 'राजकुमारीजी देवी विक्रमा को स्नानगृह में बुला रही हैं।'

'स्नानगृह में?' विक्रमा ने आश्चर्य भरे स्वरों में पूछा।

'जी हां—राजकुमारीजी आज कुछ जल्दी ही स्नानगृह में पधार गई हैं।' दासी ने कहा।

विक्रमा तो केवल नारी का रूप थी—उसका मन पुरुष का था। उसने सोचा—

ऐसे छद्मवेश का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। सुकुमारी अल्पवृक्ष होगी—मैं उसे इस रूप में देखूं, यह न्यायसंगत नहीं होगा। ऐसा सोचकर विक्रमा ने रूपमाला की ओर देखकर कहा—'इस प्रकार जाने में कुछ संकोच का अनुभव हो रहा है।'

'इसमें संकोच कैसा ? तुम जाओ, मैं यहीं बैठी हूं।' रूपमाला ने कहा।

विक्रमा का हृदय कांप उठा। उसने दासी की ओर देखकर कहा—'राजकुमारीजी को मेरा प्रणाम कहना। वे वस्त्र-परिवर्तन कर लें, तब मैं उनसे मिलूंगी—यहां बैठे रहने में मुझे कोई संकोच नहीं है।'

दासी तत्काल बाहर चली गई।

लगभग दो घटिका के बाद सुकुमारी स्वयं बैठक खंड में आयी। राजकन्या को देखते ही रूपमाला और विक्रमा—दोनों खड़ी हो गईं।

विक्रमा ने विनम्र स्वरों में कहा—'राजकुमारी की जय हो! आपका चित्त तो प्रसन्न है ?'

'हां, सखी! तुमको देखकर मेरा चित्त अति प्रसन्न हो गया है', कहकर राजकुमारी एक आसन पर बैठ गई और रूपमाला से कहा—'रूप! कल रात कब तक जागरण हुआ था ?' रूपमाला बोली—'प्रातःकाल तक जागना पड़ा था। कल रात देवी विक्रमा ने सबका मन जीत लिया।' और उसने रात में घटित चमत्कार की बात कह सुनाई।

पूरी बात सुनकर सुकुमारी ने कहा—'ओह! मैं तो मंदभाग्य ही रही।'

बीच में ही विक्रमा बोल पड़ी—'कुमारीजी! यदि आप वहां आती तो मंदभाग्य की बात होती, आज मैं स्वयं आपके पास उपस्थित हो गई हूं।'

'तुम्हारा भावार्थ समझ गई, सखी! उत्तम कुल में जन्म लेना भाग्य का ही फल है। किन्तु गौरव, मर्यादा और विवेक सहित जीवन जीना बहुत कठिन होता है।' राजकन्या ने भावभरे स्वरों में कहा।

फिर रात की चर्चा कर रूपमाला अपने भवन की ओर चली गई।

राजकन्या ने विक्रमा के निवास के लिए अतिथिगृह में व्यवस्था न करा, अपने ही खंड में व्यवस्था करवाई थी।

सायं भोजन आदि से निवृत्त होकर सुकुमारी विक्रमा को साथ लेकर उद्यान में चली गई।

घूमते-घूमते दोनों एक कृत्रिम सरोवर के किनारे पर आयीं, तब विक्रमारूपी विक्रमादित्य ने सरोवर में कमल पुष्पों की ओर देखकर कहा—'अद्‌भुत! अपूर्व!'

'क्या, सखी ?'

'मिलन!'

'किसका मिलन?'

'पुरुष और प्रकृति का। इस ओर देखो, सूर्यास्त हो गया है। कमल मुकुलित हो गया है, किन्तु मिलन की माधुरी में अलमस्त बना हुआ भ्रमर पंकज की गोद में समा गया है। प्राण गंवाने का भय होते हुए भी भ्रमर अपनी प्रियतमा की व्यवस्था को काटकर बाहर निकलने के लिए तैयार नहीं हैं मजबूत काठ को भेद देने वाला भ्रमर फूल की कोमल पंखुड़ियों को भेदने के लिए तैयार नहीं है। अद्‌भुत! अद्‌भुत!'

'सखी!' सुकुमारी के स्वर में हल्का-सा रोष था।

'क्या, राजकुमारीजी?'

'तुम्हें मेरे सात-सात भवों की पीड़ा का अहसास नहीं है...। तुम मेरे सामने पुरुष के विषय की कोई भी चर्चा कभी मत करना।'

'मैं समझी नहीं।'

'मुझे पुरुष जाति के प्रति पूर्ण घृणा है।'

'बिना कारण ही?'

'कारण बहुत प्रबल है -- कभी समझाऊंगी।'

'राजकुमारीजी! आज ही, अभी ही समझाएं – चलिए, हम इस वृक्ष के नीचे बैठती हैं। आप जब तक नहीं बतलाएंगी तब तक मेरा चित्त अशान्त रहेगा।' विक्रमा ने कहा।

'अच्छा तो हम भवन में चलें। मेरी बात कुछ लम्बी है।'

'अच्छा।' विक्रमा ने कहा।

और दोनों भवन की ओर प्रस्थित हो गईं।

विक्रमा ने देख लिया था कि पूरे भवन में एक भी पुरुष नहीं था। रक्षा का काम भी स्त्रियां ही करती थीं।

विक्रमा को साथ लेकर राजकुमारी अपने बैठक कक्ष में आयी। वह प्रकाश से भरा हुआ था।

राजकुमारी ने विक्रमा को अपने पास बैठने के लिए कहा।

सुकुमारी ने वहां खड़ी दोनों परिचारिकाओं को संकेत किया और वे दोनों कक्ष के बाहर चली गईं। फिर उसने विक्रमा का हाथ पकड़कर कहा --'सखी! पुरुष स्वार्थी ही होता है – मेरा यह अनुभव आज का नहीं है, सात-सात जन्मों का है। मेरा अनुभव सुनकर तुम स्वयं कहोगी कि पुरुष स्वार्थी ही होता है।'

विक्रमा राजकुमारी को एकटक निहार रही थी। अग्निवैताल कभी का भट्टमात्र के पास पहुंच गया था। वह भोजन कर मध्यरात्रि में आने वाला था।

राजकन्या बोली – 'प्रिय सखी! जब मैं आठ-नौ वर्ष की थी, तब मुझे पूर्व-जन्मों की स्मृति हुई थी। इसी के आधार पर मैंने पूर्व छह जन्म देखे थे। मेरा वह अतीत इतना व्यथादायी था कि मैं उससे भयाक्रान्त हो गई। पल-पल वह मुझे पीड़ित करने लगा। मैंने उसको विस्मृत करने के लिए नृत्य और संगीत में मन लगाया और तेरह वर्ष की आयु में वह जाति-स्मृति-ज्ञान विलुप्त हो गया – किन्तु छह जन्मों की दु:खद स्मृति से मैं छुटकारा नहीं पा सकी – वह मेरे आत्म-प्रदेशों पर अंकित हो चुकी थी। मैंने अनेक प्रयत्न किये – संगीत की कठिन-से-कठिन साधना की, किन्तु पुरुषजाति के प्रति जो घृणा मन में उपज चुकी थी, वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। जो पुरुष मुझे प्यारभरी दृष्टि से देखता, उसका मैं वध करवा देती। मेरे माता-पिता बहुत दु:खी हो गए। वे मेरे विवाह के लिए चिन्तित हुए। मेरे लिए अलग व्यवस्था की गई। यहां यदि कोई पुरुष आता है तो उसकी मृत्यु निश्चित होती है।'

विक्रमा बोली – 'राजकुमारीजी! ऐसी कौन-सी व्यथा आपने भोगी, जिसके कारण पुरुष जाति के प्रति इतनी घृणा पैदा हो गई?'

'विक्रमा! मैं तुम्हें यही तो बताना चाहती हूं – भगवान न करे, किसी को स्त्री की योनि मिले।'

यह सुनकर विक्रमा हंस पड़ी।

राजकुमारी ने पूछा – 'हंसी कैसे आयी?'

'आप बहुत संवेदनशील हैं। यदि स्त्री पैदा न हो तो सृष्टि ही समाप्त हो जाए। जीवन का आनन्द धूल में मिल जाए। आशा और आनन्द के गीत जलकर राख हो जाएं।' विक्रमा ने कहा।

सुकुमारी ने विक्रमा का हाथ पकड़ते हुए कहा – 'विक्रमा! इतनी अधीर मत बनो। मैंने अभी अपने पूर्वभवों का परिताप बताया ही कहां है?'

विक्रमा सरलहृदया राजकुमारी की ओर देखने लगी।

सुकुमारी ने कहा – 'ऐसे तो यह जीव अनन्त जन्म कर चुका है, परन्तु जाति-स्मरण-ज्ञान की एक मर्यादा है। इससे केवल सात भव ही जाने जा सकते हैं। एक भव की बात तुम्हें बता रही हूं। लक्ष्मीपुर नाम का नगर। कोट्याधीश धन नाम का श्रेष्ठी। मेरा विवाह उसके साथ हुआ। मेरा नाम था श्रीमती। जब लड़की पहली बार ससुराल जाती है, तब उसके मन में कितनी महत्त्वाकांक्षाएं होती हैं। हृदय में आशा का संगीत होता है। किन्तु सुहागरात की पहली घड़ी। पतिदेव शयनकक्ष में आए। आते ही कहा – 'देखो! पिता के घर से जो गहने पहनकर आयी हो, उन्हें उतारकर पेटी में रख दो। क्योंकि गहने यदि प्रतिदिन पहने जाते हैं, तो वे घिस

जाते हैं। कभी-कभी इन गहनों में जड़ित रत्न-हीरे आदि खो जाते हैं--इसलिए प्रतिदिन पहनने के लिए कांच और शंख वाले आभूषण ही अच्छे होते हैं। ऐसे बहुमूल्य अलंकार तो वार-त्योहार पर ही पहने जाते हैं। मैंने ये शब्द सुने। मेरी आशाओं पर पानी फिर गया--मैं क्या कहती, वे बहुत लोभी थे। उत्तम कपड़े भी नहीं पहनने देते। घर में फटे-पुराने वस्त्र पहनने पड़ते। मेरे एक पुत्र हुआ। उसका नाम कर्णकुमार रखा। उसको भी खाने-पीने के लिए पूरा नहीं देते। घर में अपार सम्पत्ति, पर दास-दासी कोई नहीं। इतने कृपण थे वे। एक बार मैं उनकी इच्छा के विपरीत अपने पिता के साथ तीर्थाटन के लिए चली गई। चार महीनों के बाद घर आयी। धन-सेठ बहुत रोष में भरे थे, क्योंकि मैं उनको पूछकर नहीं गई थी। घर पर पहुंचते ही मुझे एक कोठरी में बन्द कर लाठियों से इतना पीटा कि मेरे प्राण-पखेरू उड़ गये।'

'इतना निष्ठुर!' विक्रमा ने पूछा।

'हां, विक्रमा! बहुत निष्ठुर। और मुझे कुछ भी स्मृति नहीं। किन्तु उस भव में जो व्यथा मैंने भोगी है, व क्या कभी भूली जा सकती है? क्या ऐसी स्वार्थपरायण पुरुष जाति के प्रति श्रद्धा हो सकती है? सखी! एक जन्म में मैं चंपापुरी के राजा के यहां राजकन्या के रूप में जन्मी। मेरा विवाह हुआ। पति का प्रेम मुझे मिला। पर वह कुछ समय तक ही रहा। पति ने दूसरी राजकन्या से पाणिग्रहण कर लिया और मुझे अपमानित कर दूर फेंक दिया। वे दोनों रंगरलियां मनाते, यात्रा के लिए जाते और मुझे पहनने के लिए अच्छे वस्त्र भी प्राप्त नहीं होते। अपार वेदना में मैं जीवन बिताने लगी। मैं इसी पीड़ा में मृत्युधाम पहुंची। सखी! बताओ, क्या ये दो अनुभव पीड़ादायक नहीं हैं? नारी की वेदना का तीसरा अनुभव भी तुम सुनो। मैं एक जन्म में मृगी बनी थी। एक दुष्ट मृग की पत्नी हुई...वह मुझे बार-बार पीड़ित करता था। वह अत्यन्त कामान्ध और दुष्ट था...मैं सगर्भा हुई...फिर भी उस दुष्ट ने विवेक नहीं रखा....मैंने उसे समझाया—पर वह कामान्ध था। उसने कुपित होकर मेरे पेट में सींग से प्रहार किया—मेरा पेट फट गया। मैं समता में रही। तत्काल मृत्यु हो गई।'

विक्रमा का हृदय पसीज गया। वह एकटक राजकन्या को देखने लगी।

सुकुमारी ने कहा—'विक्रमा! मेरा चौथा अनुभव भी वेदना से भरपूर है।'

२०. अंगुलिनिर्देश

राजकन्या ने विक्रमा के सुन्दर नयनों के सामने देखकर कहा--'सखी! मृगी के भव में मेरी मृत्यु शुभ परिणामों में हुई। देवगति में मेरा जन्म हुआ, किन्तु

भाग्यवश वहां भी मैंने स्त्रीयोनि में ही जन्म लिया। मैं विभावसु नामक देव की पत्नी बनी। देवताओं का सुख अकथ होता है, किन्तु मेरे भाग्य में तो वेदना ही लिखी हुई थी। मेरे देवपति विभावसु की एक पूर्व प्रियतमा थी। उसका वर्चस्व इतना था कि प्रारम्भ से ही मेरे रूप और यौवन की उपेक्षा होने लगी। मेरा देवपति अपनी पुरानी प्रियतमा के साथ ही आनन्दविहार करता और उसी में लीन रहता। मुझे वह कभी साथ में नहीं ले जाता। मैं अत्यन्त पीड़ा का अनुभव करती थी। मैं इसी मानसिक वेदना को भोगती हुई, देवभव पूरा कर पुन: मनुष्य भव में आयी।

मगध देश में पद्मपुर नामक नगर था। वहां मुकुन्द नामक विप्र के घर मैंने पुत्री के रूप में जन्म लिया। पता नहीं, मुझे स्त्री योनि ही क्यों प्राप्त होती गई ? मैं अति सुन्दर थी। इसलिए माता-पिता ने मेरा नाम मनोरमा रखा। मेरे माता-पिता जैन धर्मावलम्बी थे। मैं भी जिनेश्वर देव की भक्ति में रस लेने लगी। यौवनावस्था में मेरा विवाह देवशर्मा नामक युवक विप्र के साथ हुआ। स्त्री जब पति के गृहांगण में जाती है, तब उसके हृदय में अनेक आशाएं अठखेलियां करती हैं—पति के प्रति एक प्रकार का समर्पण भाव जागता है—इसी उल्लास के साथ मैं पतिगृह में गई और पहली ही रात में हृदय पर भारी आघात लगा। देवशर्मा जवान था, पर संस्कारी नहीं था। वह मानता था कि स्त्री जाति का कभी विश्वास नहीं करना चाहिए। उसको पैरों तले दबाए रखने में ही श्रेयस् है। इसी विचारधारा के वशीभूत होकर उसने मेरी कोमल काया पर, उस पहली रात में ही, चाबुक के तीव्र प्रहार किए....।' न उसने मेरे हृदयगत भावों को जानने का प्रयत्न किया और न मेरे रूप-यौवन को ही उसने देखा। उसका स्वभाव भी उग्र था। वह विवेक-विकल और अशिष्ट था। उसकी वाणी अभद्र थी। खाद्य-अखाद्य का विवेक उसमें नहीं था। मैं कभी-कभी उसे उपदेश की भाषा में प्रार्थना करती तो वह मुझे पीटता और मैं व्यथा से छटपटा उठती। मनुष्य के मन का जब कल्पांत होता है, तब उसके जीवन का रस क्षीण हो जाता है। पति के अकथ्य पीड़ारूप व्यवहार के कारण मेरे में धर्म की श्रद्धा बढ़ी थी, फिर भी दुर्ध्यान की अवस्था में मेरी मृत्यु हुई। छठे भव में मलयाचल के अंचल में एक तोती के रूप में मेरा जन्म हुआ। तिर्यंच गति में जन्म लेने वाले जीव में भी अपने सुख-दु:ख के अनुभव का ज्ञान तो होता ही है। वहां रहते एक तोते के साथ मेरा मेल-मिलाप हो गया। उसको मैं पति के रूप में स्वीकार कर जीवनयापन करने लगी। मैं सगर्भा हुई। मैंने अपने पति तोते से कहा—किसी उत्तम वृक्ष पर हमें एक नीड़ बनाना चाहिए।

किन्तु मेरा पति प्रमादी था। वह श्रम से कतराता था। इसलिए मैंने सारा श्रम कर एक शमी वृक्ष पर नीड़ बनाया। मैंने दो अण्डे दिये। यथासमय दो सुन्दर

बच्चे पैदा हुए। दोनों के पोषण के लिए मुझे ही सारा श्रम करना पड़ता। मेरा पति कुछ भी श्रम नहीं करता था। अभी बच्चे उड़ने की स्थिति में नहीं थे। अचानक दावानल से सारा वन-प्रदेश जलने लगा। मैंने पति से कहा-- 'दावानल निकट हो रहा है। हमें बच्चों को लेकर किसी निरापद स्थान में चले जाना है। एक बच्चे को तुम लेकर उड़ो और एक को लेकर मैं उड़ूंगी।

किन्तु मेरा पति अत्यन्त स्वार्थी था। उसने मेरी बात सुनी-अनुसनी कर दी। दावानल आगे से आगे बढ़ रहा था। मैं अकेली दोनों बच्चों को लेकर उड़ सकने में असमर्थ थी। पति मान नहीं रहा था। मेरा दिल व्यथा से छटपटाने लगा। मौत सामने दीख रही थी। मैं अपने दोनों बच्चों को अपने पंखों से ढंक परमात्मा का स्मरण करने लगी। कुछ ही क्षणों के पश्चात् दावानल की आग में मैं अपने दोनों बच्चों के साथ जलकर भस्म हो गई। मरते समय मेरा मन शुभ ध्यान में तल्लीन था। मैं मरकर इस सातवें भव में इसी नगरी के महाराज शालिवाहन के घर पुत्री के रूप में जन्मी। कर्मों की विडम्बना! सात-सात भवों में मैं स्त्री रूप में ही जन्म लेती रही हूं और पिछले छह भवों का जो भयप्रद अनुभव हुआ है, यदि मैं जाति-स्मरण-ज्ञान के द्वारा उन भवों को नहीं देख पाती तो इस जन्म में भी मैं किसी ऐसे ही पुरुष के साथ विवाह कर उसी प्रकार की व्यथा भुगतती।'

विक्रमारूपी विक्रमादित्य विचारमग्न हो गए। उसने सोचा—एक ही जीव को बार-बार यदि ऐसा अनुभव होता है तो निश्चय ही वह पुरुष जाति के प्रति विश्वास रख ही नहीं सकता। फिर भी मुझे दक्षिण भारत की इस सुन्दरी के मन को योग्य मार्ग पर लगाना है, किन्तु किस उपाय से?

विक्रमा को विचारमग्न देखकर राजकुमारी ने पूछा—'तुम्हें मेरी अन्तरव्यथा का परिचय तो हो ही गया होगा?'

'हां, राजकुमारीजी! यह अत्यन्त करुण और दारुण वेदना है। किन्तु यदि आप धैर्यपूर्वक सुनें तो मैं आपको इन सात भवों का रहस्य समझाना चाहती हूं।'

'सखी! मैं धैर्यपूर्वक सुनूंगी और यदि तुम्हारी बातों में तथ्य होगा तो मैं अवश्य ही स्वीकार करूंगी।'

'मैं धन्य हुई—किन्तु मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि चर्चा लम्बी होगी, इसलिए आप चाहें तो कल....।'

'ओह! तुमने कल रात जागरण किया था, यह मुझे याद ही नहीं रहा। हम कल चर्चा करेंगी—आज तुम आराम करो। चलो, हम दोनों शयनगृह में चलें।'

विक्रमा को भी इस अनुभव-कथा पर विचार-मंथन करना था, इसलिए वह जाने के लिए तत्पर हो गयी।

दोनों शयनगृह में आयीं। विक्रमा की शय्या राजकुमारी के पास ही थी। यह देखकर विक्रमारूपी-विक्रमादित्य का मन कुछ व्याकुल हुआ– स्वयं पुरुष है, इस सुन्दरी सुकुमारी का आकर्षण भी अपार है– एकान्त में यदि मन का बंधन ढीला हो जाए तो विचित्र परिणाम आ सकता है। विक्रमा ने कहा– 'राजकुमारी! मेरी एक प्रार्थना है।'

'कहो।'

'मेरी शय्या किसी अन्य खंड में करवा दें तो अच्छा रहेगा।'

'क्यों? हम दोनों बातें करती-करती सो जाएंगी।'

'मुझे कोई दूसरी आपत्ति नहीं है, किन्तु मेरी प्रकृति की एक कमजोरी है। यदि मेरी शय्या के पास किसी भी दूसरे की शय्या होती है तो मुझे नींद आती ही नहीं।'

'वाह, यह तो खूब कहा। किन्तु एक ही खण्ड में यदि दो स्त्रियां सो रही हों तो....?'

'इसीलिए तो मैंने कहा कि मेरी प्रकृति की कमजोरी है।' हंसते हुए विक्रमा ने कहा।

'अच्छा' कहकर राजकुमारी ने माधवी को बुलाकर देवी विक्रमा की शय्या दूसरे खण्ड में करने की आज्ञा दी।

तत्पश्चात् कुछ समय तक दोनों अवंती नगरी के विषय की बातचीत करती रहीं, फिर विक्रमा अपने शयन-खण्ड की ओर गई।

शयन-खण्ड का द्वार बंद कर विक्रमा जब अपनी शय्या पर सो गई, तब तत्काल अग्निवैताल प्रकट हुआ और बोला– 'महाराज! क्या कुछ आशा दीख रही है?'

'आओ, मित्र! आशा तो है ही। महामंत्री तो कुशल हैं न?'

'ब्राह्मण का जीव है– बेचारा आकुल-व्याकुल हो रहा है। रूपमाला के घर में अकेले रहना, कुछ भी काम नहीं– किसी के साथ बोलचाल नहीं, फिर अकुलाहट क्यों न हो?' अग्निवैताल ने कहा।

'अब केवल चार-पांच दिनों में ही यह समस्या समाहित हो जायेगी। अभी तुम्हें भोजन के लिए जाना ही है।'

'हां, अभी दो घटिका शेष हैं। पहले मैं भट्टमात्र के पास जाऊंगा, फिर भोजन ले आऊंगा और.....।'

'तुम्हें कहीं जाना हो तो चले जाना। तुम्हारी आवश्यकता अब कल ही होगी।'

'क्यों ?'

'कल मुझे राजकन्या का मनोरंजन करना होगा। तुम्हें भी चमत्कार दिखाना होगा।'

'तब तो मुझे भी आनन्द होगा। कोई ऐसा राग आप निकालें, जिसमें चमत्कार दिखाने का पूरा अवकाश हो।'

'कल तो मैं प्रचलित राग में ही गाऊंगा, परन्तु जब मैं मेघमल्हार की आराधना प्रारम्भ करूं तब तुमको मेघ-गर्जना का चमत्कार दिखाना है।'

'वर्षा तो नहीं करनी है ?'

'यह कैसे शक्य हो सकता है ?'

'मैं राजकुमारी के प्रासाद के चारों ओर वर्षा करने में समर्थ हूं।'

'तब तो बहुत आनन्द आयेगा। क्योंकि मेघ-मल्हार की यही परिणति है। किन्तु इसकी आराधना अत्यन्त कठिन है, इसलिए विरल साधक ही वर्षा करा सकता है।' विक्रमा ने कहा।

अग्निवैताल ने हंसते हुए कहा– 'आप भी विरल ही हैं न! एक राजकन्या के लिए किसी ने ऐसी आराधना की हो, ऐसा मैंने आज तक नहीं सुना।'

'सत्य कहते हो, मित्र! किन्तु ऐसा करना मेरे लिए अनिवार्य हो गया है, क्योंकि किसी के अनुभव को तोड़ना सरल नहीं है।'

इस प्रकार अनेक चर्चाएं कर अग्निवैताल अदृश्य हो गया। और विक्रमादित्य राजकन्या के मन का परिष्कार कैसे किया जाए–इस विषय का चिन्तन करते-करते निद्रादेवी की गोद में चला गया।

सूर्योदय हुआ।

स्नान आदि से निवृत्त होकर राजकन्या और विक्रम ने साथ बैठकर प्रातराश लिया और फिर दोनों एकान्त में एक लता-मण्डप में जा बैठ गए।

राजकन्या ने कहा– 'बोलो, सखी! तुम्हें जो कुछ कहना हो, वह निःसंकोच भाव से कहो। इस प्रकार सात-सात भवों तक कठोर वेदना को भोगना किसी दुष्कर्म का फल है। ऐसा सभी कहते हैं। मैं जिन-प्रवचन की आराधक हूं, इसलिए मैं भी यही मानती हूं।'

विक्रमा बोली – 'राजकुमारी जी! आपने जो सात भवों की अपनी व्यथा सुनाई, वह एक निगूढ़ सत्य है। प्रत्येक जीव व्यथा का किसी-न-किसी रूप में अनुभव करता ही है। आपने जो अपना अनुभव बताया, वह आश्चर्यकारी नहीं है। यदि मुझे जाति-स्मरण-ज्ञान प्राप्त हो तो संभव है मेरा अनुभव आपके अनुभव से भी अधिक वेदनामय हो।'

'ठीक है, इसीलिए तो ज्ञानी व्यक्तियों ने संसार को एक तूफानी सागर की उपमा से उपमित किया है।'

'किन्तु आपके अनुभव के पीछे आपके प्राणों में मनुष्य जाति के प्रति जो घृणा है, वही वेदना का मुख्य कारण है।'

'सखी....!' राजकुमारी ने आश्चर्य भरे स्वरों में कहा।

'मैंने पहले ही आपसे अभय की प्रार्थना कर ली है।' विक्रमा ने कहा।

'विक्रमा! मुझे दुःख नहीं, आश्चर्य होता है।'

'अनेक बार ऐसा होता है कि मनुष्य सत्य से भटक उठता है। पूर्व के छह भवों में आपने जिन-जिन पुरुषों के साथ परिचय प्राप्त किया है, वे सभी पुरुष आपकी तरह एक ही जीव-रूप में तो नहीं थे न?'

'हां।'

'आपने देवलोक में जन्म लिया। आपके पति देव विभावसु के हृदय में आपके प्रति कोई प्रीति नहीं रही, किन्तु वे अपनी अन्य प्रियतमा के प्रति तो मुग्ध थे। इसका यह अर्थ होता है कि उनके मन में नारी के प्रति द्वेष या विराग नहीं था, केवल आप ही उनका प्रेम प्राप्त नहीं कर सकीं। छहों भवों में भिन्न-भिन्न पुरुषों ने आपके प्रति उदासीनता बरती, आपके प्रति अनुराग नहीं दिखाया। इसका मुख्य कारण आपका ही कोई सुप्त दोष होना चाहिए। बाल्यावस्था में आपको जाति-स्मृति-ज्ञान की उपलब्धि हुई और आपने अपने अनुभव के आधार पर अपने मन में पुरुषों की विकृत छवि अंकित कर ली, आपके हृदय में द्वेष की चिनगारी प्रकट हो गयी....द्वेष शुभ भावनाओं को राख बना डालता है। छहों भवों में आपके हृदय में पुरुष के प्रति दुःख रहा। इस दुःख की पृष्ठभूमि में द्वेष-रूपी राक्षस खेल रहा था। वही इस सातवें भव में उग्ररूप से प्रकट हुआ है। आपका हृदय कोमल और पवित्र है। किन्तु आज वह उस दैत्य के वश में आ गया है। राजकुमारी जी! मेरा एक प्रश्न है कि आपको मात्र छह पुरुषों का अनुभव है, जबकि संसार में अनेक पुरुष निवास करते हैं। आपके महान् पिता भी एक पुरुष हैं। आप एक बार उनकी ओर दृष्टिपात करें। क्या वे आपकी माता को तनिक भी दुःख देते हैं?'

राजकुमारी मंत्रमुग्ध होकर विक्रमा की बातें सुन रही थी।

विक्रमा बोली – 'यदि आप वेश-परिवर्तन कर मेरे साथ नगरी में चलें, तो मैं आपको ऐसी अनेक स्त्रियां बताऊंगी, जो अपने पति को इशारों पर नचाती हैं, अपने मन के अनुसार उनसे कार्य लेती हैं अथवा उनको पीड़ा पहुंचाती हैं और मैं आपको ऐसे पुरुष भी बता सकती हूं, जो अपनी प्रिया को हृदय में झुलाते हैं, और गौरव का अनुभव करते हैं।'

'सखी ! तुमने तो मेरे अनुभवों पर ही प्रहार कर डाला।'

'नहीं, राजकुमारी जी ! आपके हृदय में अंकित इस विकृत छवि की ओर मैंने अंगुलि-निर्देश किया है। मैं आपको विश्वास दिलाती हूं कि यदि आप एक बार पुरुष के प्रति पलने वाली घृणा को हृदय से दूर कर देती हैं, तो आपको परम शान्ति प्राप्त होगी और जो अतृप्ति आपको सात-सात भवों से विकल बना रही है, वह अतृप्त आनन्द में परिवर्तित हो जाएगी।'

'ओह !' कहती हुई राजकुमारी ने दोनों हाथों से अपना मस्तक दबाया और बोली– 'विक्रमा ! मेरा मन अत्यन्त विकल हो गया है....हम फिर चर्चा करेंगी। मैं भी सोच लेती हूं।'

'आप अवश्य ही शांतचित्त होकर सोचें। यदि मेरी बात आपके हृदय को छू सकी, तो मैं अपने आपको धन्य मानूंगी।' विक्रमा ने कहा।

फिर दोनों लतामण्डल से बाहर आयीं।

२१. आश्चर्य

राजकुमारी के साथ हुई थोड़ी-सी चर्चा के फलस्वरूप विक्रमादित्य के हृदय में आशा जागृत हो चुकी थी। राजकुमारी के मन में क्या उथल-पुथल है, इसकी कल्पना अवश्य थी, फिर भी विक्रमादित्य को यह स्पष्ट प्रतीति हो गई थी कि राजकुमारी के हृदय में एक चिनगारी अवश्य ही जन्म ले चुकी है और वह आग बनकर उसके प्राणों में निरुद्ध नर-द्वेष को राख बना सकती है।

भोजन के क्षणों में भी विक्रमादित्य ने देखा कि राजकुमारी कुछ गंभीर बनी हुई है– भोजन करते समय भी वह विचारों में उलझी हुई थी। जब मनुष्य के मन में विचारों का संघर्ष होता है, तब स्वाभाविक है कि वह गंभीर बन जाता है।

भोजन से निवृत्त होकर राजकन्या सुकुमारी विक्रमा को साथ लेकर एक सुसज्जित खण्ड में गई।

आज रात्रि में संगीत का कार्यक्रम रखा गया था। उसमें भाग लेने के लिए मंजरी देवी और रूपमाला को निमंत्रण भेजा जा चुका था। साथ-ही-साथ राजकुमारी ने अपने माता-पिता को भी बुला भेजा था।

संगीत के कार्यक्रम को सुव्यवस्थित रूप देने के लिए माधवी उसमें संलग्न हो गई थी।

मुखवास लेने के पश्चात् विक्रमा ने पूछा– 'राजकुमारीजी ! आपको मेरे प्रश्न का उत्तर देना है।'

'मुझे याद है, सखी ! तुम्हारे प्रश्न के पीछे कुछ तथ्य भी हैं। किन्तु मेरा अनुभव इतना दु:खद है कि मेरे मन में पुरुष जाति के प्रति जो घृणा है, वह मिट नहीं सकती। जिस पुरुष जाति ने छह-छह जन्मों तक मेरे साथ तनिक भी प्रीति नहीं रखी, मेरे समर्पण की मर्यादा की रक्षा नहीं की, उस पुरुष जाति के प्रति मेरे प्राणों में सद्भाव कैसे हो सकता है ?'

'देवी ! क्षमा करें, एक बात मैं कहना चाहती हूं।'

'कहो।'

'केवल छह पुरुषों के अनुभव के आधार पर सम्पूर्ण पुरुष-जाति के प्रति घृणा करना उचित नहीं हो सकता। यह तो सरासर अन्याय ही कहा जाएगा। यहां संसार में कुछेक स्त्रियां वेश्यावृत्ति से जीवनयापन करती हैं तो क्या संसार की सारी स्त्रियां घृणा की पात्र बन जाती हैं ? आपके अनुभव को मैं असत्य या काल्पनिक नहीं मानती। मैंने भी सुना है कि जाति-स्मृति-ज्ञान से पूर्वभवों का स्मरण होता है और सारे दृश्य आंखों के सामने तैरने लग जाते हैं। यदि मैं अपने पूर्वभवों का अनुभव सुनाऊं तो आपको लगेगा कि स्त्री-जाति घृणा के योग्य है।'

'क्या तुम्हें जाति-स्मृति-ज्ञान हुआ था ?'

'नहीं, राजकुमारीजी ! मेरे जैसी गणिका के लिए वह सशक्य नहीं तो कठिन अवश्य है, किन्तु मैं एक कल्पना आपके समक्ष प्रस्तुत करती हूं—मैंने अपने इस छोटे-से जीवन में बहुत देखा है, बहुत सुना है, क्योंकि मेरा व्यवसाय है गणिका का। मुझे कला के साथ जीना होता है और अनेक पुरुषों से परिचय करना होता है। कोई पुरुष मेरे रूप को देखने आता है और कोई मधुर कंठ को सुनने आता है। कोई पुरुष मेरी कला को परखने आता है, तो कोई रूप-यौवन का अभिनंदन करने आता है। फिर भी मेरे मन में पुरुष-जाति के प्रति कभी घृणा नहीं होती, पर करुणा अवश्य आती है।'

'करुणा !'

'हां, देवी ! अनेक पुरुष ऐसे होते हैं जो पत्नी के स्वभाव से अत्यन्त दु:खी जीवन बिताते हैं और उसको कुछ हल्का करने के लिए वे नगरवधुओं के पास आते हैं। कुछ पुरुष ऐसे होते हैं जो घर में पतिव्रता सुन्दर पत्नी होने पर भी बाहर भटकते रहते हैं—वास्तव में ऐसे सभी पुरुष दया के पात्र हैं, क्योंकि वे असली गुलाब को छोड़कर कागज के गुलाब की ओर दौड़ते हैं।'

राजकुमारी ने बीच में ही प्रश्न करते हुए पूछा—'व्यवसाय की दृष्टि से तुम्हें अनेक पुरुषों से परिचय प्राप्त हुआ होगा ? क्या तुम्हें ऐसा कोई पुरुष नहीं मिला, जिसने वचनभंग कर तुम्हारे कोमल हृदय को पीड़ित किया हो ?'

'राजकुमारीजी ! मेरी अवस्था अभी छोटी है। मैं मुश्किल से बीस वर्ष की हुई हूं। मैंने अभी तक किसी पुरुष को प्रणय की दृष्टि से नहीं देखा है। मेरा व्यवसाय ही ऐसा है कि मुझे देह-लालसा से दूर ही रहना होता है और एक बात यह भी है कि मुझे अभी तक मेरी कल्पना का पुरुष मिला ही नहीं है।' विक्रमा ने गंभीर होते हुए कहा।

'तुम्हारी कल्पना का पुरुष ?'

'हां, राजकुमारीजी ! जिसके मन में कला के प्रति प्रेम हो और जो कला का परम पुजारी हो, ऐसा पुरुष प्राप्त हो तभी मेरा मन संतुष्ट हो सकता है।'

इस प्रकार विक्रमारूपी विक्रमादित्य धीरे-धीरे अपना हेतु सिद्ध करने के लिए जाल गूंथने लगा।

राजकुमारी को कभी भी पुरुष संबंधी बातों में रस नहीं आता था, किन्तु आज उसके हृदय में कुतूहल उत्पन्न हो गया था। उसने पूछा –'सखी ! मैं तुम्हारे आशय को समझी नहीं।'

विक्रमा ने हंसते-हंसते कहा – 'इस संसार में सभी स्त्री-पुरुषों में कुछ-न-कुछ पागलपन होता ही है। मेरे मन में भी एक पागलपन है। मैं मानती हूं कि जो पुरुष कला का पुजारी होता है, वह अपनी प्रियतमा को हृदय से लगाए रखता है, क्योंकि स्त्री भी कला की ही प्रतीक होती है। कलाकार के प्राणों में उदारता भरी रहती है। वह सदा मस्त और प्रसन्नचित्त रहता है। वह छोटी-मोटी बातों में कभी नहीं उलझता। यदि कलाकार के साथ जीना होता है तो जीवन में कभी पश्चात्ताप रहता ही नहीं। उसके साथ जीने में प्रियतमा आनन्दित और निःशंक रह सकती है। कलाकार को शंका का भूत कभी परेशान नहीं करता।'

'वाह ! तुम्हारा पागलपन तो समझदारी से भी अच्छा है। अच्छा, सखी ! राजाओं और राजकुमारों के विषय में तुम्हारा अभिप्राय क्या है ?'

'राजकुमारीजी ! अनुभव बिना का अभिप्राय कैसा ? किन्तु इतना कह सकती हूं कि राजा और राजकुमार अपनी प्रियतमा के प्रति कुछ चंचल चित्त वाले होते हैं और वे अधिक-से-अधिक पत्नियां करने के रोग से ग्रस्त रहते हैं।'

राजकुमारी विचारमग्न हो गई।

कुछ क्षणों के मौन के पश्चात् विक्रमा ने पूछा – 'राजकुमारीजी ! आप अपनी बात..... ।'

'सखी ! मेरी बात कुछ है ही नहीं। तुम्हारी बात सुनने के पश्चात् यह भाव अवश्य बना है कि सभी पुरुष खराब नहीं होते, किन्तु अधिकांश व्यक्ति निष्ठुर, स्वार्थी और स्त्रियों को केवल भोग्य-वस्तु मानने वाले ही होते हैं।'

'नहीं, नहीं, नहीं – अधिकांश मनुष्य उत्तम होते हैं। यह दोष तो श्रीमंत लोगों में ही होता है।' विक्रमा ने कहा।

राजकुमारी विक्रमा की ओर स्थिर दृष्टि से देखती रही।

विक्रमा बोली – 'यदि आपके हृदय में मेरे प्रति प्रेमभाव हो तो मैं एक बात कहना चाहूंगी।'

'बोलो, तुम तो मेरी प्रिय सखी हो, मार्गदर्शिका भी हो। तुम्हारी बातों में मुझे रस है। मैं अपने विचारों के प्रति कुछ नम्र बनी हूं।'

विक्रमा यह सुनकर बहुत हर्षित हुई। वह बोली – 'राजकुमारीजी! पहली बात यह है कि आप अपने पूर्वाग्रह को छोड़ दें। पुरुष-जाति के प्रति द्वेष न रखें क्योंकि द्वेष भाव से वर्तमान जीवन तो बिगड़ता ही है, अगला भव भी नष्ट हो जाता है। अन्तःकरण का द्वेषभाव स्वयं के लिए बहुत अहितकर होता है।'

राजकुमारी ने विक्रमा का हाथ पकड़ते हुए कहा – 'सखी! मैं तुम्हारी बात मानती हूं।'

'तो आज से आप किसी भी पुरुष का वध नहीं करेंगी – व्यर्थ ही घोर कर्मों का बंधन क्यों किया जाए? वैरभाव के कर्मों से छुटकारा पाना अत्यन्त कठिन होता है।' विक्रमा बोली।

'तुम्हारी बात सच है। मैं समझती हूं कि मुझे व्यर्थ ही हिंसा क्यों करनी चाहिए? क्यों वैर को बढ़ाना चाहिए?'

'अब अन्त में एक बता कहूं?'

'हां।'

'राजकुमारीजी! किसी योग्य पुरुष के साथ आप विवाह कर लें...।'

तत्काल राजकुमारी ने अपने दोनों हाथों से मस्तक को दबाते हुए कहा – 'यह तो मेरे लिए अशक्य है।'

'क्यों?'

'किसी राजा या राजकुमार के साथ विवाह करने से मेरी वही दशा होगी।'

'किन्तु राजघराने को ही क्यों ढूंढ़ा जाए?'

'तो?'

'किसी उत्तम कलाकार को ही जीवन-साथी बनाएं – यदि ऐसा हो सका तो आपका जीवन धन्य हो जाएगा और मिलन की जो रसमाधुरी है, वह आपको निरंतर मिलती रहेगी।'

राजकुमारी विचारमग्न हो गई। वह कुछ नहीं बोली।

कुछ क्षणों तक वातावरण में गंभीर मौन छाया रहा। फिर विक्रमा ने कहा – 'आप विचारमग्न क्यों हो गई?'

'ऐसा कलाकार मुझे कहां मिल पाएगा ? मैं एक राजकन्या हूं और मेरी एक मर्यादा है। मैं उसे कहां ढूंढने जाऊंगी ?'

विक्रमा के मन में विचार आया कि स्वयंवर रचा जाए। फिर उसने सोचा, इसमें तो कालक्षेप बहुत हो जाएगा। वह बोली – 'राजकुमारीजी ! आपकी बात सत्य है। यदि स्वयंवर रचा जाए तो भी वैसे कलाकार उसमें भाग लेने नहीं आते। किन्तु आप अपने माता-पिता को एक बात अवश्य कह दें।'

'कौन-सी बात ?'

'आज से मेरे मन में पुरुष जाति के प्रति कोई रोष नहीं है और मैं विवाह करने के लिए भी तैयार हूं, किन्तु इसमें शर्त एक ही है कि मैं किसी नौजवान संगीतकार को ही अपना पति बनाऊंगी।' विक्रमा ने कहा।

राजकुमारी ने तत्काल कहा – 'सखी ! आज तुम्हारा संगीत सुनने के लिए मेरे माता-पिता यहां आएंगे। तुम उनको सारी बात बता देना।'

'अच्छा, किन्तु आज की इस संगीत-गोष्ठी में महामंत्री, आपके चाचा, सेनापति आदि आएं तो उन्हें भी आनन्द आएगा।' विक्रमा ने कहा।

दो क्षण सोच-विचार कर राजकुमारी ने अपनी सहमति दी और तत्काल माधवी को बुलाकर सारी बात समझाई।

राजकुमारी की बातों को सुनकर माधवी अवाक् रह गई – किन्तु वह मस्तक झुकाकर चली गई।

और जब महाराज शालिवाहन को यह संदेश मिला तो उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ। पुरुष जाति के प्रति घृणा करने वाली पुत्री में यह अचानक परिवर्तन कैसे आ गया ? उन्होंने माधवी से पूछा – 'माधवी ! राजकुमारी में यह परिवर्तन कैसे आया, तुझे कोई कारण प्रतीत नहीं हो रहा है ?'

'कृपानाथ ! अवंती की प्रसिद्ध गायिका देवी विक्रमा यहां आयी हुई हैं, यह तो आपको विदित ही है। उनके संसर्ग से राजकुमारीजी में परिवर्तन आया हो, ऐसा मेरा अनुमान है।'

'ओह ! तब तो देवी विक्रमा ने मेरे पर यह महान् उपकार किया है', कहकर महाराज अन्त:पुर में महादेवी को यह संवाद सुनाने के लिए गए।

महाराजा को संदेश देकर माधवी रूपमाला के भवन में गई और देवी विक्रमा के साथ आए हुए भट्टमात्रजी तथा अन्य पुरुष वाद्यकारों को साथ ले आने का संदेश दिया।

रूपमाला बहुत आश्चर्यान्वित हुई, किन्तु उसकी दोनों बहनों तथा भट्टमात्रजी ने समझ लिया कि महाराजा विक्रमादित्य ने राजकन्या को अपने प्रभाव

में ले लिया है; अन्यथा इतना परिवर्तन अशक्य है। अग्निवैताल अपनी मस्ती में था। उसे केवल रात्रि में ही अपना करिश्मा दिखाना था।

सांझ हुई। देवी विक्रमा और राजकन्या -- दोनों ने कार्यक्रम की पूर्व रूपरेखा तैयार की और उसी के अनुसार साज-सज्जा कर खण्ड को तैयार किया।

आचार्या मंजरी देवी और वाद्यमंडली की स्त्रियां आ गईं।

राजकुमारी ने आचार्या का भावभीना स्वागत किया।

आचार्या ने राजकुमारी को हृदय से लगाया।

इतने में ही रूपमाला, कामकला, मदनमाला तथा भट्टमात्र आदि भी पहुंच गए। उनके साथ चार-पांच वाद्यकार भी आ गए।

पुरुषों के आगमन को देखकर आचार्या मंजरी देवी को भी आश्चर्य हुआ।

तत्पश्चात् महाराजा शालिवाहन, महादेवी विजयारानी, महाराजकुमार जितवाहन, नरेन्द्रदेव, नगरसेठ आदि के रथ आने लगे।

राजकुमारी ने सबका स्वागत किया।

किन्तु माता का हृदय यह जानने के लिए आतुर था कि पुत्री में वह परिवर्तन कैसे घटित हुआ। आतुर मन को शान्त कैसे किया जाए?

आने वाले पुरुषों का भी आश्चर्य शान्त नहीं हो रहा था।

जिस राजकुमारी के आवास में कोई भी पुरुष प्रवेश नहीं कर सकता और यदि भूलकर प्रवेश कर जाता तो वह जीवित रह नहीं सकता; उसके आवास में आज एक नहीं, अनेक पुरुष आ रहे हैं। यह चमत्कार कैसे हुआ?

२२. विवाह की योजना

राजकन्या के भवन में इस प्रकार पुरुषों का आगमन सबके मन में आश्चर्य पैदा कर रहा था।

राजकुमारी अपनी माता के पास बैठी थी। माता के हृदय में अनेक प्रश्न उभर रहे थे।

परन्तु उसे संकोच हो रहा था कि इतने समूह में कन्या को कैसे पूछे कि उसमें यह परिवर्तन घटित कैसे हुआ?

तीनों बहनें एक ओर बैठी थीं।

राजकुमारी की वाद्यमंडली यथास्थान नियोजित हो गई। रूपमाला के वाद्यकार भी बैठ गए थे। अग्निवैताल भी पुरुष वेश में बैठ गया था। उसने मन में भी राजकुमारी द्वारा किये जाने वाले पुरुष-सत्कार से आश्चर्य उमड़ रहा था। उसने विक्रमारूपी अवंतीनाथ को गुप्त रूप में पूछने का विचार किया, किन्तु अभी उसके लिए अवसर नहीं था।

विक्रमा राजकन्या के पास में ही बैठी थी—संगीत के कार्यक्रम से पूर्व वह इस परिवर्तन की बात कहना चाहती थी।

राजकुमारी ने अपने पीछे बैठी हुई आचार्या मंजरी देवी की ओर देखकर कहा—'आचार्याजी! आप देवी विक्रमा का परिचय दें।'

'जी!' कहकर मंजरी देवी उठी और सबका अभिवादन कर बोली—'राजराजेश्वर श्रीमान् प्रतिष्ठानपुराधिपति! पूजनीया श्री महादेवीजी! और सभी महानुभावो! आज देवी विक्रमा दिव्य संगीत प्रस्तुत करेंगी। इनका परिचय देने से पूर्व मैं अपने मन का आश्चर्य अभिव्यक्त करना चाहती हूं। मैं वर्षों से राजकुमारीजी को संगीत का प्रशिक्षण दे रही हूं। किन्तु मुझे ऐसे एक भी दिन की स्मृति नहीं है, जिस दिन राजकुमारीजी के पिताश्री के अतिरिक्त कोई पुरुष इस आवास में आया हो। आज यहां पुरुष वर्ग को देखकर तथा राजकन्या के वदन पर प्रसन्नता का अनुभव कर मुझे यह आश्चर्य हो रहा है कि यह परिवर्तन घटित कैसे हुआ? मैं इसी आश्चर्य के साथ देवी विक्रमा का परिचय दे रही हूं। देवी विक्रमा अवंती नगरी की सुप्रसिद्ध गायिका हैं। इनकी अवस्था छोटी है, किन्तु राग की जो साधना इन्होंने की है, वह बड़े-बड़े संगीत-साधकों को भी आश्चर्य में डालने वाली है। अभी तीन दिन पूर्व देवी विक्रमा ने 'पटयोग' नामक राग गाया था। उसके प्रभाव से मृदंग स्वयं ताल दे रहा था। ऐसी सिद्धि मैंने पहली बार देखी थी। मुझे विश्वास है कि देवी विक्रमा आज भी हमें अपनी सिद्धि के दर्शन कराएंगी।'

इतना कहकर आचार्या बैठ गई। सुकुमारी के पास बैठी विक्रमा तत्काल उठी और सबका अभिवादन कर बोली—'आचार्या मंजरीदेवी ने मेरा जो परिचय दिया, उस योग्य मैं नहीं हूं। मैं एक सामान्य गायिका हूं। संगीत के प्रति मेरा सघन अनुराग है। इस अनुराग के कारण ही मैंने अनेक दिव्य रागों की साधना की है। आज मैं अपने मन की एक बात अभिव्यक्त करना चाहती हूं। मैं जब राजकुमारी के परिचय में आयी तब मुझे स्पष्ट प्रतीत हुआ कि उनके मन में पुरुष-जाति के प्रति घृणा है, तिरस्कार का भाव है। उनका प्रेम मिला। उन्होंने मुझे सखी माना और अपने जीवन की कहानी मुझे सुनाई। मैंने यत्किंचित् प्रयत्न किया। उनके मन का द्वेष धुल गया और आज ये विवाह करने के लिए सहमत हुई हैं। ये किसी राजा या राजकुमार से विवाह करने में कतराती हैं, किन्तु ये किसी योग्य कलाकार को अपना जीवनसाथी बनाने के लिए तैयार हैं।'

'महाराजा, महारानी तथा अन्य सभी लोग विक्रमा की ओर देखने लगे और उसके शब्दों को पीने लगे।

महाबलाधिकृत नरेन्द्रदेव विक्रमा के रूप में मुग्ध होकर उसे प्राप्त करने का उपाय सोचने में खो गए। दो क्षण रुककर विक्रमा ने कहा—'मैं सोचती हूं कि आप

सबका आश्चर्य अब शान्त हो गया होगा। अब मैं आपके समक्ष मेघराग की आराधना करूंगी। इस राग के प्रभाव से इस ग्रीष्मऋतु में वर्षा होगी, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।'

इतना कहकर विक्रमा बैठ गई और राजकन्या की ओर देखकर बोली– 'मेरे से कोई अविनय तो नहीं हुआ ?'

उत्तर में राजकुमारी के गुलाबी नेत्र पुलकित हो गए।

और संगीतसभा का कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ।

सबसे पहले दोनों वाद्यमंडलियों ने देवी सरस्वती की प्रार्थना प्रस्तुत की।

कामलता और मदनमाला – दोनों बहनों ने गीत सहित नृत्य प्रारम्भ किया। सभी दर्शकों का मन हर्ष से लबालब भर गया।

विक्रमारूपी विक्रमादित्य ने अपने मित्र अग्निवैताल की ओर अर्थभरी दृष्टि से देखा।

अग्निवैताल ने भी आंख के संकेत से उत्तर दे दिया।

विक्रमा अपने आसन से उठी और कक्ष के मध्य में निर्धारित स्थान पर आकर, सबको नमन कर बैठ गई।

उसने वाद्यमंडली से कहा – 'मेघमल्हार....।'

मेघमल्हार की स्वर-लहरियां वातावरण में थिरकने लगीं।

विक्रमा ने गंभीर और मधुर स्वर से मेघमल्हार राग की आराधना प्रारम्भ की।

कण्ठ में पीड़ा और कसक थी। राग उत्कट था – गीत में धरती अपने प्रियतम मेघ से मिलने की तड़प दिखा रही थी।

दो घटिका के पश्चात् सभी ने देखा कि भवन के बाहर आकाश में बिजली चमक रही है। बादल गरज रहे हैं। रिमझिम-रिमझिम वर्षा हो रही है।

और जैसे-जैसे मेघमल्हार राग उत्कट होने लगा, वैसे-वैसे मेघमाला का ताण्डव विकराल होता गया और सभी को यह अनुभव होने लगा कि बाहर सघन वर्षा हो रही है।

सुकुमारी तो विक्रमा की शक्ति से पहले ही परिचित थी। यह दूसरा महान् चमत्कार देखकर उसका मन अत्यधिक उल्लसित हो उठा और उसने सोचा – यदि यह गायिका विक्रमा पुरुष होती तो आज ही इसको वरमाला पहनाकर अपने प्रियतम के रूप में स्वीकार कर लेती, पर... !

विक्रमा अपने गीत के द्वारा विरह की वेदना को उद्दीप्त कर नारी-हृदय में प्रियतम की मिलन-तृष्णा को और अधिक उग्र कर चुकी थी।

सभी दर्शक समय और परिस्थिति का भान भूलकर केवल गायिका में ही तन्मय हो चुके थे।

चार घटिका पर्यन्त मेघमल्हार राग की आराधना कर विक्रमा ने विराम लिया।

अकाल में होने वाली वर्षा के चमत्कार से सब अभिभूत थे।

अग्निवैताल ने अपनी माया समेटी। वर्षा शान्त हो गई। राजकन्या ने अपने गले की मुक्तामाला विक्रमा के गले में पहना दी।

सभी दर्शकों ने विक्रमा की आराधना को सराहा और इस दृश्य को साक्षात् कर अपने जीवन को धन्य माना।

महाराजा ने रत्नहार और महारानी ने वज्र की अंगूठी देवी विक्रमा को अर्पित की।

महाराजा और महारानी ने अपनी प्रिय पुत्री सुकुमारी को छाती से लगाते हुए कहा—

'बेटी! आज हमारी महान् चिन्ता दूर हो गई। अब तू अपने संकल्प पर दृढ़ रहना।'

राजकन्या ने माता-पिता का चरण-स्पर्श किया।

माता बोली—'बेटी! अब तुझे इस एकातवास में क्यों रहना चाहिए?'

'हां, हां!....मैं किसी शुभ दिन राजभवन में आ जाऊंगी।'

सबको ससम्मान प्रस्थित कर राजकुमारी और विक्रमा—दोनों शयनकक्ष की ओर गईं।

रात्रि का तीसरा प्रहर बीत चुका था। राजकन्या ने अपने शयनकक्ष में जाते-जाते कहा—

'प्रिय सखी! आज जब मैंने तुम्हारे कण्ठों में मुक्तमाला पहनाई, तब मेरे मन में क्या-क्या विचार उठ रहे थे, वे बताऊँ?'

विक्रमा ने प्रश्नभरी दृष्टि से राजकन्या की ओर देखा।

राजकुमारी बोली—'उस समय मेरे मन में आया कि यदि तुम कोई कलाकार पुरुष होते तो आज अवश्य ही तुम्हारे गले में मैं वरमाला डाल देती। तुम्हें अपने प्रियतम के रूप में स्वीकार कर लेती।'

'और यदि मैं कोई राजा या राजकुमार होता तो....?' विक्रमा ने हंसते हुए कहा।

'तब तो मेरे भवन की रक्षिका से तुम्हारा सिर धड़ से अलग करा देती।' सुकुमारी ने हंसते-हंसते उत्तर दिया।

विक्रमा हंस पड़ी। उसने राजकुमारी के कंधों पर हाथ रखकर कहा–'राजकुमारी जी! अब ऐसी द्वेष-भावना शोभा नहीं देती।'

'यह द्वेष नहीं–तुम्हारी बात सुनने के पश्चात् मैंने मन-ही-मन यह निर्णय लिया है कि सुयोग्य कलाकार को ही प्रियतम के रूप में स्वीकार करना है। किन्तु एक प्रश्न बार-बार मेरे मन में व्यथा पैदा कर रहा है कि ऐसा कलाकार कहां से मिले?'

'राजकुमारीजी! आपके प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व मैं एक बता देती हूं।'

'क्या?'

'प्रत्येक राजा या राजकुमार दुष्ट नहीं होता।'

'कुछ भी हो! यदि मुझे सुयोग्य कलाकार नहीं मिला तो जीवन-भर मैं कुंआरी रह जाऊंगी, पर किसी राजा या राजकुमार से विवाह नहीं करूंगी।'

विक्रमा ने राजकुमारी के हाथों को दबाते हुए कहा–'भाग्य का बल अचिन्त्य होता है–आप जैसा कलाकार चाहती हैं, वैसा आपको अवश्य मिलेगा।'

'तुम मुझे आश्वासन दे रही हो–मैं एक राजकन्या हूं, ऐसे कलाकार की टोह में कहां भटकती फिरूंगी?'

'कलाकार आपको खोजते-खोजते स्वयं आएगा। महाराज के समक्ष एक योजना प्रस्तुत करें।'

'कैसी योजना?'

'महाराज स्वयं यह प्रसारित करें कि क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण कोई भी कलाकार राजसभा में राग-मंजरी अथवा मालकोश राग की आराधना कर उसका प्रभाव प्रदर्शित करेगा, वह राजकन्या का वरण कर सकेगा।'

'तुम्हें ही यह योजना महाराज को बतानी होगी।'

'राजकुमारीजी! आप निश्चिंत रहें। आपका यह प्रश्न मेरा प्रश्न बन चुका है। मेरा यहां अधिक रुकना संभव नहीं है। फिर भी मैं आपके लिए कुछ दिन यहीं रुकूंगी और महाराज को सारी योजना समझाऊंगी।'

'नहीं, सखी! अब तुम यहां से नहीं जा सकोगी।'

'राजकुमारीजी! आपके विवाह के अवसर पर मैं अवश्य ही उपस्थित हो जाऊंगी। किन्तु मेरी मां के लिए मुझे अवश्य जाना होगा।'

राजकुमारी ने विक्रमा के दोनों हाथ पकड़ लिये।

विक्रमा मौन रही।

दूसरे दिन विक्रमा ने महाराज और महारानी को राजकन्या के विवाह की योजना समझाई। महाराज ने कहा–'देवी विक्रमा! योजना सुन्दर है, पर राग-मंजरी का गायक कलाकार दस वर्षों में भी न मिला तो....?'

विक्रमा बोली – 'कृपानाथ ! मैंने अपने प्रवास में ऐसे एक युवक कलाकार को देखा था – उसके साथ बातचीत करने पर मुझे प्रतीत हुआ कि वह इसी दिशा की ओर आने वाला था। संभव है कि राजसभा में विवाह की योजना का ऐलान होने पर वह कलाकार एकाध सप्ताह में आ जाए।'

योजना स्वीकृत हो गई।

महाराज ने मंत्रियों के समक्ष इस योजना को प्रस्तुत किया और दूसरे दिन ही राजसभा में राजकन्या की भावना की घोषणा हो गयी।

राजकुमारी भी अपने एकान्तवास को त्यागकर माता-पिता के साथ राजभवन में रहने लगी।

विक्रमा भी एक शर्त पर रूपमाला के भवन पर निवास करने आयी। वह शर्त यह थी कि वह प्रतिदिन रात्रि में राजकुमारी के पास रहेगी।

२३. प्रस्थान

राजकन्या सुकुमारी किसी कलाकार के साथ विवाह करने के लिए तैयार हो गई है और उसके मन में घुलने वाला पुरुष-द्वेष धुल गया है – यह बात दो-चार दिनों में आस-पास के सभी प्रदेशों में फैल गयी।

और वही कलाकार राजकन्या को पा सकेगा जो प्रभावशाली राग गा सकेगा – इस बात से सभी प्रदेशों में कुतूहल उमड़ पड़ा।

विक्रमा ने भी अपने मित्र और मंत्री के साथ चर्चा कर ली थी। इस चर्चा में अवंती की नर्तकियों ने भी भाग लिया था। इस प्रश्न पर पूरा विचार कर यह निर्णय लिया गया कि सप्ताह में महामंत्री और दोनों नर्तकियां अवंती पहुंच जाएं और विक्रमादित्य अपना स्त्री-रूप का परित्याग कर कलाकार का वेश धारण कर राजसभा में किसी राग की आराधना करें और अग्निवैताल के सहयोग से चमत्कार दिखाकर राजकन्या का वरण करें।

यह योजना सबको पसंद आ गई थी।

पांच दिन बीत जाने पर विक्रमा ने राजकुमारी के समक्ष प्रस्थान की इच्छा व्यक्त की।

सुकुमारी बोली – 'सखी ! तुम्हारे बिना मेरा मन यहां नहीं लगेगा। तुम्हारे परिचय से मेरे मन का अंधकार दूर हुआ है। तुम्हारे सहयोग से मेरा जीवन भी धन्य बन जाएगा।'

'राजकुमारीजी ! मेरी मातुश्री का प्रश्न मेरे लिए इतना महान् है कि मैं उसकी उपेक्षा नहीं कर सकती और प्रवास भी बहुत लंबा है – वहां पहुंचने में मुझे एक महीना लग जाएगा।'

राजकुमारी ने विक्रमा का हाथ पकड़कर कहा – 'सखी! तुम अपनी योजना का परिणाम तो देखकर जाना।'

'राजकुमारीजी! यह योजना ऐसी है कि इसकी परिणति कब कैसे हो, कल्पना नहीं की जा सकती। कोई कलाकार चार दिन में भी मिल सकता है और चार महीनों में भी नहीं मिल पाता। इस अनिश्चित स्थिति में मैं रुकूं, यह उचित नहीं है।'

राजकुमारी विचारमग्न हो गई। कुछ क्षणों बाद वह बोली – 'तुम कुछ वचन मांग रही थी न?'

'आप देंगी?'

'तुम्हें न दे सकूं, ऐसी क्या बात है?'

'अब आप पुरुष जाति के प्रति द्वेष मत रखना और जब आपका विवाह हो तब मुझे ज्ञात करवाना और आप एक बार अवंती अवश्य पधारना।'

'अरे! तुमने तो कुछ भी नहीं मांगा – यह तो मेरे हित की ही बात कही।'

विक्रमा हंसती हुई बोली – 'सखी को बिना कुछ मांगे ही बहुत कुछ मिल जाता है।'

दूसरे दिन विक्रमा ने प्रस्थान करने की बात महाराज और महारानी को भी बता दी। सभी ने वहां रुकने का आग्रह किया, पर विक्रमा अपने निर्णय पर अटल रही। महाराजा ने विक्रमा की भावना को समझ ली और राज्य की ओर से उसे सवा लाख स्वर्णमुद्राएं और विभिन्न आभूषण भेंट-स्वरूप दिए।

विक्रमा महाराजा से भेंट-स्वरूप प्राप्त स्वर्णमुद्राओं और अलंकारों को लेकर रूपमाला के भवन में आयी। मदन, काम तथा रूपमाला को स्वर्णमुद्राएं और अलंकार दे दिए। महामंत्री भट्टमात्र को पचीस हजार मुद्राएं भेंट कीं और प्रतिष्ठानपुर के अनेक सार्वजनिक स्थलों के लिए भी धन वितरित किया।

तीन दिन और बीत गए।

पांचों यात्री अपने-अपने अश्वों पर आरूढ़ होकर अवंती की ओर चल पड़े। प्रस्थान के समय नगरी से दो कोस दूर तक राजकन्या, रूपमाला और राज्याधिकारी साथ में आए।

और राजकन्या के गुलाबी नयन सजल हो गए।

दस कोस की दूरी तय कर पांचों यात्रियों ने एक वन-प्रदेश में विश्राम किया।

अग्निवैताल बोला – 'महाराज! अब तो आप अपना यह स्त्री-वेश दूर करें।'

विक्रम ने मुस्कराते हुए कहा – 'क्यों मित्र! मेरा अपहरण करने की बात तो नहीं सोच रहे हो?'

अग्निवैताल ने हंसते हुए कहा – 'मेरी जाति आपसे भिन्न है, अन्यथा मुझे महामंत्री का भी भय लग रहा है।'

सभी हंस पड़े।

विक्रम ने देवकीर्ति द्वारा प्रदत्त रूप-परिवर्तन गुटिका का प्रयोग किया। वे अपने मूल पुरुष रूप में आ गए। उन्होंने पुरुष का वेश धारण किया।

उसके पश्चात् पांचों एक मध्यम गांव की सीमा में आए और छोटे-से उपवन में ठहर गए। भोजन आदि की व्यवस्था करने के लिए भट्टमात्र और अग्निवैताल दोनों गांव में गए। गांव में एक ब्राह्मण के घर पर रसोई तैयार करवाई और अग्निवैताल के लिए बहुत सारी मिठाई बनवाई। दोनों वापस उसी उपवन में आ गए।

पांचों गांव में गए। भोजन आदि से निवृत्त होकर सभी साथ में बैठकर चर्चा करने लगे। घोड़ों के लिए चारा-पानी का प्रबन्ध भी कर दिया।

सामान्य चर्चा करते-करते भट्टमात्र ने कहा – 'महाराज! आप अकेले यहां रहें, यह उचित नहीं लगता – आप भी हमारे साथ ही अवंती चलें।'

'साथ चलने में मुझे कोई बाधा नहीं है – किन्तु अवंती से प्रस्थान करने से पूर्व मैंने अपनी प्रियतमा को कहा था कि मैं राजकन्या सुकुमारी पर विजय प्राप्त करके ही लौटूंगा।'

मदनमाला ने मुस्कराते हुए कहा – 'कृपानाथ! आपने विजय प्राप्त कर ली है। राजकन्या के मन से आपने पुरुष-द्वेष को दूर कर दिया है।'

'बहन! जब तक उसका पाणिग्रहण नहीं हो जाता, तब तक कार्य अधूरा ही गिना जाएगा।'

तत्काल महामंत्री बोला – 'तो फिर हम सब वेश बदलकर प्रतिष्ठानपुर में लौट जाएं और नगरी की किसी पान्थशाला में ठहरें। आप कलाकार के रूप में कार्य सिद्ध कर राजकन्या के साथ विवाह करें – फिर हम सब साथ ही चलेंगे।'

विक्रमादित्य ने महामंत्री का हाथ पकड़कर कहा – 'जहां लगाव अत्यधिक होता है, वहां बुद्धि बेचारी बन जाती है। मित्र! राजकन्या के हृदय में पुरुषों के प्रति अब द्वेष नहीं रहा, यह सच है। पर वह किसी राजा या राजकुमार के साथ विवाह करना नहीं चाहती। वह यह मानती है कि राजा के अन्तःपुर में मान-सम्मान मिलता है, पर पति का सुख उसे पूरा प्राप्त नहीं होता। यदि यह बात उसके मन में नहीं होती तो मैं पहले ही अपना परिचय देकर उससे विवाह कर लेता और मुझे कलाकार की बात नहीं सोचनी पड़ती।'

कामकला बोली – 'कृपानाथ! आप कौन हैं, यह बात तो राजकन्या जान ही लेगी!'

'हां, इसीलिए विवाह करने के पश्चात् भी मैं यहां दो-चार महीने रुकना चाहता हूं और उसके मन को पूरा पढ़ लेने के पश्चात् ही मैं अपना असली परिचय दूंगा।' विक्रम ने कहा।

'ओह महाराज! यह तो असमय में एक नया प्रश्न खड़ा हो गया।' भट्टमात्र ने कहा।

'इसीलिए मैं सबको विदा कर रहा हूं।' विक्रम बोले।

'किन्तु आपकी यह दीर्घकालीन अनुपस्थिति राज-व्यवस्था के लिए बाधक होगी!'

बीच ही में विक्रम ने कहा – 'आप हैं, अन्य मंत्री भी हैं। मैं मन-ही-मन यह निश्चय कर लिया है कि मैं यहां तीन महीने से अधिक नहीं रुकूंगा। हम यदि अवंती से यहां पैदल आते तो आज तक यहां नहीं पहुंच पाते।'

'यह तो ठीक है!'

'और मेरा महान् मित्र अग्निवैताल आप सबको आज ही अवंती की सीमा में पहुंचा देगा। सूर्योदय से पूर्व तो यह मेरे पास आ ही जाएगा।' विक्रम ने कहा।

तत्काल अग्निवैताल बोला – 'महाराज! आप महादेवी को कुछ संदेश देने वाले थे....!'

'हां, तुझे यहां का कुशलक्षेम कहना है और अभी तीन माह लगेंगे, ऐसा महादेवी को बताना है।'

'तो फिर मैं सूर्योदय से पूर्व यहां कैसे पहुंच सकूंगा?'

'ठीक है, भले ही विलम्ब हो। मैं इसी गांव में रहूंगा – तुझे इन पांचों अश्वों को साथ ले जाना है।'

'पांचों? फिर आप क्या करेंगे?'

'हम यहां से दो अश्व दूसरे ले लेंगे। इन अश्वों को लेकर यदि हम लौटेंगे तो अवश्य पहचाने जाएंगे।'

'तो क्या मैं अवंती से दो दूसरे अश्व भेज दूं?' भट्टमात्र ने पूछा।

'नहीं, वहां से कुछ भी नहीं भेजना है – मेरे पास स्वर्णमुद्राएं उचित मात्रा में हैं। उत्तम वीणा और मृदंग आदि सारे साधन यहीं उपलब्ध हो जाएंगे।' विक्रम ने कहा।

इस प्रकार चर्चा करते-करते रात्रि का दूसरा प्रहर बीत गया। विक्रम ने अग्निवैताल से भोजन करने का आग्रह किया।

अग्निवैताल मिठाइयों से भरे करंडक लेकर एक वृक्ष के पास गया और कुछ ही क्षणों में मिठाई चट कर आ गया।

सभी अपने-अपने स्थान पर गद्दी बिछाकर सो गए। अग्निवैताल ने अपनी इच्छाशक्ति के प्रभाव से विक्रम के अतिरिक्त सबको निद्राधीन कर दिया।

फिर दोनों मित्र बात करने लगे।

पश्चिम रात्रि के अंतिम प्रहर में अग्निवैताल ने पांचों अश्वों, दोनों नर्तकियों और महामंत्री को अवंती नगरी के परिसर में स्थित एक उपवन में पहुंचा दिया।

यहां विक्रमादित्य के वस्त्र, स्वर्णमुद्राओं से भरा थैला और कुछ साधन मात्र रहे।

अग्निवैताल की शक्ति के प्रभाव से जब सब अदृश्य हो गए, तब विक्रमादित्य सुकुमारी की स्मृति करते हुए निद्राधीन हो गए।

प्रातःकाल हुआ। पक्षी चहचहाने लगे। पूर्व गगन में उषा की लालिमा बिछ गई।

विक्रमादित्य जागृत हुए। भगवान् का स्मरण कर अपनी गद्दी तथा ओढ़ने के वस्त्र को समेटकर एक वृक्ष की शाखा पर रख दिया। फिर एक हजार स्वर्ण-मुद्राएं तथा पहनने के कपड़े बगल में दबाकर वे उपवन के पास बहती छोटी सरिता की ओर गए।

उन्होंने देखा कि कुछेक पशु खेतों से घर की ओर आ रहे हैं और कुछ कृषक अपने-अपने खेतों की ओर जा रहे हैं।

विक्रमादित्य सरिता के उपकण्ठ में आए। शौच, दंतधावन, स्नान आदि प्रातःकृत्यों से निवृत्त होकर धोती और उत्तरीय को धोकर वहीं सुखा दिया।

विक्रमादित्य मात्र क्षत्रिय ही नहीं थे, मात्र नौजवान राजा ही नहीं थे, परन्तु वे समग्र मालवदेश के स्वामी थे—उनके एक इशारे पर हजारों दास-दासी सेवा के लिए तत्पर हो जाते, किन्तु वे प्रत्येक परिस्थिति के अनुसार ढलने वाले महापुरुष थे। एक-दो घटिका के बाद वस्त्र सूख गए। उन्हें एक पोटली में बांधकर वे गांव की ओर चल पड़े। गांव वहां से आधा कोस दूर था—गांव का परिसर सुन्दर और रमणीय था। लोगों के चेहरों पर आनन्द और संतोष का अपूर्व संगम दृष्टिगोचर होता था।

यह गांव महाराजा शालिवाहन के राज्य का सीमावर्ती था—गांव का बाजार बहुत बड़ा नहीं था, फिर भी वह सुन्दर था। हलवाइयों की दूकानें खुल चुकी थीं। विक्रमादित्य ने एक हलवाई से मिठाई खरीदी। फिर एक छोटी-सी पांथशाला में जाकर कलेवा किया, जलपान कर निवृत्त हो गए।

पांथशाला का मुनीम एक वृद्ध था। विक्रमादित्य ने पूछा—'क्यों, यहां घोड़े मोल मिल सकते हैं?'

उसने कहा – 'अवश्य ही मिल जाएंगे। एक स्वर्णमुद्रा की कीमत से श्रेष्ठ अश्व खरीदा जा सकता है। आप कहां के निवासी हैं ?'

'मालवदेश का।

'आप इधर से कहां जाना चाहते हैं ?'

'प्रतिष्ठानपुर की ओर।'

'क्या आप अकेले ही हैं ?'

'नहीं, मेरा एक साथी भी है। वह अभी बाहर गया है। कुछ ही समय में आ जाएगा।' विक्रमादित्य ने कहा।

वृद्ध मुनीम कुछ आगे पूछे, इतने में ही अग्निवैताल पांथशाला में आ पहुंचा। उसने अपना सारा रूप ही बदल लिया था। यदि वह विक्रम को प्रणाम नहीं करता तो विक्रम भी उसे पहचान नहीं पाते।

दोनों मित्र पांथशाला के एक कमरे में गए। अग्निवैताल ने महादेवी के कुशल-समाचार कहे तथा अवंती नगरी और राज्य-व्यवस्था की सारी बात बताई। फिर दोनों मित्र अपना-अपना सामान वहीं पांथशाला में रखकर गांव की ओर चल पड़े।

२४. वरमाला

विक्रमादित्य और अग्निवैताल ने दो अश्व तथा कलाकार के लिए उपयुक्त वस्त्र खरीदे और दो दिन उस छोटे-से गांव में रुके। तीसरे दिन वे दोनों दक्षिण भारत के कुछेक दर्शनीय स्थलों को देखने के लिए चल पड़े, क्योंकि वे दस दिन बाद प्रतिष्ठानपुर पहुंचना चाहते थे।

दोनों मित्र घूमते-घूमते विजयपट्टन आए। वहां से उन्होंने महार्घवीणा और एक मृदंग खरीदा। फिर दस दिन इधर-उधर घूम-फिरकर वे प्रतिष्ठानपुर पहुंचे और वहां की श्रेष्ठ पांथशाला में जा ठहरे।

दस-बारह दिनों के इस प्रवास में विक्रमादित्य को यह ज्ञात हो गया कि राजकन्या के विवाह की शर्त की चर्चा चारों ओर फैल गई है और दो-चार कलाकार प्रतिष्ठानपुर पहुंच भी गए हैं।

राजकुमारी के साथ विवाह करने की तीव्र इच्छा से मात्र एक ही कलाकार विजपट्टन से आया था। शेष कुतूहलवश आए थे।

विजयपट्टन से आने वाले कलाकार का नाम था जयकेसरी और वह पचीस वर्ष का युवक था। वह जाति से क्षत्रिय और श्रेष्ठ गायक था। उसने मालकोश की अपूर्व साधना की थी और पूरे दक्षिण भारत में मालकोश राग को प्रस्तुत करने में

वह सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। मालकोश राग का प्रभाव यह है कि श्रोता मुग्ध हो जाते हैं, स्तंभित हो जाते हैं और जयकेसरी जब यह राग गाता तब यह प्रभाव आंखों के सामने नाचने लग जाता।

विक्रमादित्य को जब यह ज्ञात हुआ तब उन्होंने अपने मित्र अग्निवैताल से कहा – 'मित्र! अब हमें भी महाराजा के समक्ष बात करनी चाहिए।'

'हां, किन्तु इससे पूर्व हमें जयकेसरी के पुरुषार्थ को जान लेना चाहिए। मैंने सुना है कि आज वे राजसभा में मालकोश की आराधना करेंगे। हमें भी रात में उसका मुकाबला करना है।' अग्निवैताल बोला।

'तो फिर आज महाराजा को सूचना दें?' विक्रम ने कहा।

'हां, मुकाबला हो तो बड़ा आनन्द आएगा – किन्तु हमें चमत्कार कौन-सा करना है?'

'मित्र! हम कोई महान् गायक नहीं हैं। राजकन्या की भावना रागमंजरी सुनने की है। इसलिए यही उचित रहेगा।'

'रूपमाला के वहां जैसे पानी उछाला था, वही न?'

'हां!'

'तब तो हमारी जीत सुनिश्चित ही है। किन्तु परिचय किस नाम से दिया जाए?' अग्निवैताल ने कहा।

विक्रम ने हंसकर कहा – 'जयकेसरी की प्रतिद्वंद्विता में विजयकेसरी नाम ठीक रहेगा।'

'इससे तो विजयसिंह नाम अनुकूल रहेगा।'

'पांथशाला में क्या नाम लिखाया है?'

'आपका नाम विजयसिंह और मेरा नाम सिंहमित्र लिखाया है।' अग्निवैताल ने कहा।

विक्रमादित्य ने अग्निवैताल का हाथ पकड़कर कहा – 'तुम तो बहुत चतुर हो गए हो!'

'यह आपकी मैत्री का प्रतिफल है।' वैताल बोला।

संध्या के समय विक्रमादित्य और अग्निवैताल राजभवन में गए और महाराजा से मिलकर अपना परिचय एक क्षत्रिय गायक के रूप में दिया।

महाराजा ने आनन्द व्यक्त किया और पांथशाला से दोनों का सामान लाने के लिए एक रथ भेज दिया। राज्य के अतिथिगृह के एक खण्ड में दोनों मित्र ठहर गए। दूसरे खण्ड में सुप्रसिद्ध गायक जयकेसरी अपने साजबाज के साथ ठहरा हुआ था।

रात आनन्दपूर्वक बीत गई।

दूसरे दिन दोनों मित्र रूपमाला के भवन में गए।

रूपमाला ने दोनों का सत्कार कर पूछा – 'क्या आज्ञा है ?'

विक्रमादित्य ने कहा – 'देवी ! कुछ दिनों पूर्व अवंती की प्रख्यात गायिका विक्रमा आपके यहां अतिथि रूप में ठहरी थी ?'

'हां।'

'वे मुझे मार्ग में मिली थीं – मैं भी एक गायक हूं और राजकन्या के साथ विवाह करने की भावना से यहां आया हूं। एक बात मैंने देवी विक्रमा को कही थी, तब उन्होंने आपसे मिलने की सूचना दी थी।'

'आपका शुभ नाम ?'

'विजयसिंह।'

'नाम अच्छा है – दक्षिण भारत के प्रसिद्ध गायक जयकेसरी यहां आए हुए हैं।'

'हां, देवी ! वे आज रात को मालकोश प्रस्तुत करेंगे और मैं रागमंजरी की आराधना करूंगा।'

रूपमाला ने चौंककर कहा – 'रागमंजरी....?'

'हां, किन्तु मेरे पास साज-सामग्री नहीं है। मैंने अपनी परिस्थिति देवी विक्रमा के सामने रखी, तब उन्होंने कहा कि देवी रूपमाला सारी व्यवस्था कर देंगी। इसीलिए मैं आपके पास आया हूं।'

'आपको जो साधन चाहिए, वे सब उपलब्ध हो जाएंगे।' रूपमाला ने कहा।

'देवी ! मुझे केवल आपकी वाद्यमंडली चाहिए, और कुछ नहीं।' विजयसिंह ने कहा।

'मैं इसकी व्यवस्था कर दूंगी।'

दोनों मित्र अपने आवासस्थल पर आ गए।

रात्रि का प्रथम प्रहर पूरा हो, उससे पूर्व ही राजभवन का रंगमंडप मंत्रियों, कलाकारों, श्रेष्ठियों, सुभटों तथा अन्यान्य व्यक्तियों से खचाखच भर गया। रूपमाला, आचार्या मंजरी देवी तथा नगर की पांच-सात श्रेष्ठ गायिकाएं भी आ गई थीं।

महाराजा शालिवाहन ने अपने परिवार के साथ रंगमंडप में प्रवेश किया। लोगों ने जय-जयकार से राजपरिवार का स्वागत किया। राजकुमारी सुकुमारी भी माता-पिता के साथ ही थी। उसके पीछे-पीछे एक दासी फूलमाला का एक स्वर्णथाल लिये चल रही थी। महाराजा, महादेवी, राजकुमारी, युवराज आदि सभी अपने-अपने निर्धारित स्थान पर बैठ गए।

महाराजा का संकेत पाकर महामंत्री ने प्रसिद्ध गायक जयकेसरी और विजयसिंह का परिचय उपस्थित लोगों को दिया। अंत में उन्होंने कहा– 'राजकुमारीजी ने किसी प्रभावशाली कलाकार को पतिरूप में स्वीकार करने का निश्चय किया है। अब मैं दक्षिण भारत के महान् गायक आर्य जयकेसरी से प्रार्थना करता हूं कि वे पहले अपनी साधना का हमें रसास्वादन कराएं।'

लोगों ने हर्षध्वनि की। महागायक जयकेसरी अपने स्थान पर खड़े हुए और सबको अभिवादन कर अपनी वाद्यमंडली को मालकोश स्वरलहरी प्रसृत करने का संकेत किया। सुषिरवाद्य, चर्मवाद्य, तारवाद्य, कांस्यवाद्य और काष्ठवाद्य बज उठे। मालकोश की स्वरलहरियां आकाश में थिरकने लगीं। अर्धघटिका के पश्चात् महान् गायक मालकोश की श्रुतियां प्रवाहित करने लगा।

सभी दर्शक मंत्रमुग्ध होकर एकटक गायक जयकेसरी को देख रहे थे। सभी उसकी आराधना पर आश्चर्यचकित थे। विक्रमादित्य भी इस गायक के प्रभाव से अभिभूत हो गए। उन्हें प्रतीत होने लगा कि इस महान् संगीत-साधक के समक्ष वे स्वयं कुछ भी नहीं हैं।

चार घटिका पर्यन्त मालकोश की आराधना पर जयकेसरी ने उसको सम्पन्न किया। दर्शकों ने जय-जयकार से आकाश को गुंजा दिया। विक्रमादित्य ने भी खड़े होकर महान् कलाकार को धन्यवाद दिया।

तदनन्तर महामंत्री ने दूसरे कलाकार विजयसिंह से अपनी कला प्रस्तुत करने की प्रार्थना की। विजयसिंह खड़ा हुआ। रूपमाला की वाद्यमंडली रंगमंच पर आ गई। विजयसिंह ने कहा– 'मैं आज रागमंजरी की आराधना प्रस्तुत करूंगा। इस राग का प्रभाव यह है कि जलकुंभ में भरा हुआ जल राग के स्वर-कल्लोलों के साथ उछलेगा और आपको आश्चर्यचकित कर देगा। आप धैर्यपूर्वक उसे देखें, सुनें।' रागमंजरी की आराधना प्रारंभ हुई। एक घटिका के पश्चात् गायक विजयसिंह ने अपने मित्र अग्निवैताल की ओर देखा, वैताल समझ गया और कुछ ही क्षणों के पश्चात् जलकुंभ से जल उछलने लगा। दर्शक आश्चर्य से स्तम्भित रह गए। दूसरी घटिका बीत गई। जलकुंभ का जल और ऊंचा उछलने लगा। महान् गायक जयकेसरी भी इस आराधना से स्तम्भित हो गया। उसने आज तक रागमंजरी का नाम भी नहीं सुना था और ऐसा प्रभाव कभी नहीं देखा था। तीसरी घटिका पूरी हुई। रागमंजरी की आराधना सम्पन्न होने वाली थी। दर्शक जय-जयकार कर अपना हर्ष व्यक्त कर रहे थे। भावावेश में राजकन्या खड़ी हुई और माता-पिता को नमन कर बोली– 'इस गायक की साधना से मैं प्रसन्न हूं। आपकी आज्ञा हो तो मैं इसके गले में वरमाला पहनाऊं?'

महाराजा ने प्रसन्नचित्त हो आज्ञा दी।

आराधना सम्पन्न होते ही राजकन्या आगे बढ़ी और दर्शकों के हर्षनाद के मध्य गायक विजयसिंह के गले में वरमाला पहना दी।

महामंत्री ने विजयसिंह को धन्यवाद दिया और सबके समक्ष कहा– 'राजकुमारीजी का निश्चय आज फलित हो गया है। अब शुभ दिन देखकर आर्य विजयसिंह के साथ राजकन्या का विवाह आयोजित होगा।'

सभी दर्शकों ने राजकन्या का जयनाद किया।

२५. पाणिग्रहण

समारंभ पूरा हुआ।

महाराजा शालिवाहन ने गांव के बाहर स्थित राजकन्या का भवन विजयसिंह के निवास के लिए निर्धारित किया और दूसरे दिन प्रातःकाल ही विजयसिंह रूपी विक्रमादित्य और वैताल राजा के रथ में बैठकर उस भवन की ओर चल पड़े।

विजयसिंह अब महाराजा का दामाद था। उसकी सार-संभाल के लिए दास-दासियों का एक समूह भी भेज दिया गया था।

राजपुरोहित ने उसी सप्ताह के अंत में विवाह का शुभ मुहूर्त निकाला। समूचा नगर इस समाचार से उत्साहित हो गया।

महाराजा शालिवाहन ने एक ही बेटी होने के कारण विवाह का समारंभ अत्यन्त भव्य हो, इस दिशा में मंत्रीवर्ग पूर्ण सावधान था।

दूसरे ही दिन से राजकन्या के विवाह की तैयारियां होने लगीं। महान् गायक जयकेसरी को दस हजार स्वर्णमुद्राएं भेंटस्वरूप दी गई और विवाह तक वहीं रुकने का अनुरोध किया गया। वह प्रसन्नमना रुकने के लिए तैयार हो गया।

विक्रमादित्य का मन अत्यन्त प्रसन्न था। वैताल भी पूर्ण आनन्द में था। वैताल बोला– 'महाराज! आज भाग्यशाली हैं, दीर्घदृष्टि हैं, किन्तु आप विवाह की पूर्व तैयारी नहीं कर रहे हैं।'

'हमें क्या तैयारी करनी है?'

'अवंती से कोई अलंकार अथवा दास-दासी अथवा महादेवी आदि को...।'

'फिर तुम भूल गए। यदि राजकुमारी को ज्ञात हो जाए कि मैं अवंती का राजा हूं तो उसका रोष भड़क उठेगा। मैं अभी सामान्य कलाकार के वेश में हूं– हमने निर्धन होने का दिखावा किया है, इसलिए अवंती से यहां कुछ भी ले आना उचित नहीं है। किन्तु तुम्हें एक कार्य करना होगा।'

'आज्ञा दें।'

'विवाह से एक दिन पहले मैं महादेवी के नाम एक पत्र तुम्हें दूंगा। वह पत्र तुम महादेवी को देना। उसके आधार पर वह तुम्हें नवलखा हार देगी। तुम उस हार को लेकर यहां आ जाना।'

'नवलखा हार!'

'हां, प्रिया के प्रथम मिलन पर मैं उसे यह हार देना चाहता हूं।'

'उस बहुमूल्य हार को देखकर राजकुमारी के मन में कोई संशय जागृत हो गया तो?'

'उसका उत्तर मैंने सोच लिया है। मैं कहूंगा कि मेरे राग की आराधना से प्रभावित होकर मालवपति ने मुझे यह हार भेंटस्वरूप दिया था।'

वैताल प्रसन्नदृष्टि से विक्रम को देखने लगा।

उत्सव के दिन सदा छोटे होते हैं। उल्लास के कारण दिन कब पूरा बीत जाता है, इसका भान नहीं रहता।

विवाह के एक दिन पूर्व विक्रमादित्य ने अपनी महारानी को संबोधित कर पत्र लिखा। पत्र लिखकर दो-तीन बार उसे पढ़ा। फिर उसे एक नली में बन्द कर ऊपर से सील लगा दी।

संध्या के पश्चात् पत्र लेकर वैताल को वहां से रवाना किया।

वैताल मन की गति से चलने वाला व्यन्तरराज था। उसकी शक्ति अद्‌भुत थी। वह कुछ ही क्षणों में अवंती के राजभवन में एक कक्ष में अदृश्य रूप से पहुंच गया।

अवंती की महारानी देवी कमलावती अभी-अभी उपवन से लौटी थीं।

वैताल अदृश्य था। उसने सोचा—यदि मैं अचानक ही प्रकट होऊंगा तो संभव है दास-दासी घबरा जाएं, भयभीत हो जाएं। वह पुन: राजभवन के प्रांगण में चला गया।

रात्रि का प्रारम्भ हो चुका था। सारा राजभवन दीपमालिकाओं के प्रकाश से झिलमिला रहा था।

वैताल ने दृश्यरूप धारण किया। उसने द्वारपाल के पास जाकर कहा—'महादेवी को संदेश दो कि महाराजा विक्रमादित्य के मुख्य समाचार देने के लिए दूत आया है।'

कुछ क्षणों तक द्वारपाल वैताल को देखता रहा, फिर एक दासी को भेजकर महारानी को संदेश भेजा। थोड़े ही समय में दो दासियां दूत को बुलाने आ गईं। वैताल जब महादेवी के कक्ष में गया तब नवयौवना महारानी एक आसन पर बैठी

हुई थी। उसने वैताल को पहचान लिया। वह मुस्कराती हुई बोली– 'आओ महापुरुष!'

'महादेवी! महाराजा का एक पत्र लाया हूं।' कहकर वैताल ने विक्रमादित्य का पत्र महादेवी के हाथों में थमा दिया। वह एक आसन पर बैठ गया।

महादेवी पत्र पढ़ने लगी। पत्र को पढ़कर उसका रोम-रोम हर्षित हो गया।

पूरा पत्र पढ़कर वह बोली– 'बहुत ही आनन्ददायक समाचार है। महाराज कुशलक्षेम तो हैं न?'

'हां, महादेवी! महाराज परम स्वस्थ और प्रसन्न हैं।'

'अब तुम मुझे वहां की सारी बात बताओ।'

वैताल ने अथ से इति तक सारी बात बताई। पूरी बात सुनकर महादेवी अत्यधिक आनन्दित हुई और हंसते-हंसते कहा– 'अन्त में नारी की ही जीत हुई– महाराजा को नारी-रूप का ही सहारा लेना पड़ा।'

वैताल भी हंसने लगा।

दूसरे कुछ प्रश्न पूछकर महादेवी ने वैताल से कहा– 'अब मैं तुम्हारे लिए भोजन की व्यवस्था मध्यरात्रि में ही करूं?'

'भोजन मैं कहीं भी कर लूंगा।'

'नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। मैं भोजन की व्यवस्था एक कक्ष में कर देती हूं। विश्राम करना हो तो.....।'

वैताल ने हंसते हुए कहा– 'विश्राम की आवश्यकता ही कहां है? आप आज्ञा दें तो मैं महामंत्री और दोनों नर्तकी बहनों से मिल आऊं। आप नवलखा हार तैयार रखें।'

'महाराजा तो पुरुष हैं। उनको तो केवल नवलखा हार ही याद आ रहा है। मैं अन्यान्य अलंकार भी तैयार रखूंगी। तुम जाकर शीघ्र ही आ जाना।' महारानी ने कहा।

वैताल प्रसन्नचित्त हो वहां से विदा हुआ।

महारानी कमलावती ने अपनी मुख्य परिचारिका को बुलाकर भण्डारगृह खोलने का आदेश दिया। उसमें से अलंकारों की एक पेटी खोलकर नवलखा हार, रत्नकंकण, रागिनी, बाजूबंध, कटिमेखला आदि अलंकार निकालकर दूसरी पेटी में रखकर व्यवस्थित कर, उसे अपने खण्ड में रखवा दिया। फिर वह अपने स्वामी का पत्र पुनः पढ़ने लगी।

कोई भी स्त्री अपने अन्तर्भाव अव्यक्त रख सकती है, पर वियोगकाल में वे सब आंखों में उभर आते हैं।

पत्र पढ़कर उसके मन में एक प्रश्न उभरा – प्रियतम कब आएंगे ? अभी दो-ढाई महीने तो लग ही जाएंगे। क्या मैं एक दासी के रूप में उनके पास नहीं जा सकती ?

किन्तु तत्काल उसका मन बोल उठा – नहीं, नहीं। स्वामी तो एक गरीब कलाकार का अभिनय कर रहे हैं – मैं उनके पास कैसे जाऊं ? राजभवन की जवाबदारी भी कैसे छोड़ूं ? ऐसा करना उचित नहीं है। यहीं रहकर उनकी प्रतीक्षा करनी है।

मन जब चिन्तन के जाल में फंसता है, तब वह विविध मार्गों से उड़ता रहता है। इस प्रकार महारानी के हृदय में अनेक विचार उमड़ने लगे। महामंत्री और दोनों नर्तकी बहनों को सारा वृत्तान्त बताकर वैताल मध्यरात्रि के समय अदृश्य-रूप में राजभवन पहुंच गया। महारानी कमलावती अकेली अपने शयनकक्ष में शय्या पर लेटी हुई थी। सभी दासियां अपने-अपने स्थान पर सो गई थीं। मात्र पहरेदार इधर-उधर घूम रहे थे। वैताल सबसे पहले भोजन सामग्री वाले खण्ड में गया। वहां उसके लिए विभिन्न प्रकार की मिठाइयों से भरे थाल रखे थे। केसर-कस्तूरी वाले दूध से भरे दो घड़े भी थे।

वैताल ने खाद्यसामग्री देखी। वह बहुत प्रसन्न हुआ। लम्बे समय के पश्चात् ऐसा भोजन उसे मिला था। वह भोजन को उदरस्थ करने लगा। खा-पीकर वह बहुत आनन्दित हुआ और अदृश्य रूप से महादेवी के खण्ड में चला गया। महादेवी अभी जागृत अवस्था में ही थी, किन्तु उनको वैताल दिखाई नहीं दे रहा था।

वैताल प्रकट होकर बोला – 'महादेवी की जय हो! आज बहुत दिनों के बाद मन तृप्त हुआ है। महादेवीजी! आज का भोजन मुझे बहुत याद आएगा।'

कमलावती शय्या में बैठ गई। वैताल के प्रसन्न वदन को देखकर बोली – 'महापुरुष! तुम्हें जो ले जाना है, वह तैयार है।'

'तो आप मुझे दें – यहां से मैं अपने स्थान पर जाऊंगा और प्रातःकाल महाराजा विक्रमादित्य के पास पहुंच जाऊंगा।'

महारानी अलंकारों से भरी वह पेटी वैताल के हाथों में सौंपती हुई बोली – 'पेटिका में एक ताड़पत्र रखा है। मेरे प्राणनाथ को कहना कि वे प्रसन्नहृदय से सुकुमारी के साथ विवाह कर यहां शीघ्र पधारें।'

अग्निवैताल पेटिका लेकर वातायन मार्ग से अदृश्य हो गया। रानी कमलावती प्राणनाथ के विचारों में खो गई।

महाराजा विक्रमादित्य शय्या का त्याग करें, उससे पूर्व ही वैताल उनके शयनकक्ष में पहुंच गया और उनकी रेशमी चादर को खींचते हुए बोला – 'महाराज की जय हो।'

विक्रम हड़बड़ाकर उठे और बोले– 'मित्र ! तुम आ गए ? महादेवी कुशल हैं न ?'

'अत्यन्त आनन्द में हैं। उन्होंने यह पेटिका दी है। उसमें उनके द्वारा लिखित ताड़पत्र भी है।'

विक्रमादित्य ने तत्काल पेटिका खोली। उसमें अलंकारों को देखकर वे चौंक पड़े। उन्होंने अपनी प्रियतमा का पत्र पढ़कर कहा– 'मित्र ! कमला बहुत बुद्धिमती है।'

'महाराज ! महादेवी आपको बहुत याद करती हैं और वह चाहती हैं कि आप अपनी नई रानी के साथ तत्काल अवंती पधारें, ऐसी उनकी भावना है।'

विक्रमादित्य ने पत्र को फाड़ते हुए कहा– 'मित्र ! पत्र रखना मेरे लिए अनुकूल बात नहीं है। यदि यह पत्र सुकुमारी के हाथ लग जाए तो मेरा परिचय उसे प्राप्त हो जाए।'

'मैं समझ गया, महाराज !'

महाराज विक्रमादित्य ने उस पेटिका को सम्हालकर रख लिया और प्रातःकार्य के लिए अपने मित्र के साथ बाहर आ गए।

आज राजकुमारी का विवाह होगा– इसी उमंग में समूची नगरी में उत्सव की तैयारी की जा रही थी, मानो अपनी ही पुत्री का विवाह हो, इस प्रकार सारी जनता हर्षोन्मत्त हो रही थी।

गत तीन दिनों से महाराजा शालिवाहन ने पूरे नगर को भोजन के लिए निमंत्रित किया था।

आज नगरश्रेष्ठी की ओर से भोजन-व्यवस्था थी।

आज गोधूलिका के पवित्र समय में राजभवन के विशाल प्रांगण में विजयसिंह रूपी विक्रमादित्य का विवाह राजकन्या के साथ सम्पन्न हुआ।

रात को नगरी की नर्तकियां नृत्य करने वाली थीं और महान् गायक जयकेसरी का संगीत भी होने वाला था।

२६. प्रथम मिलन की ऊर्मियां

रात्रि का पहला प्रहर बीत गया। दूसरे प्रहर के पश्चात् नवदम्पत्ति समारंभ से निवृत्त होकर सुसज्जित रथ में बैठकर नगरी के बाहर वाले भवन की ओर प्रस्थित हुए।

महाराजा शालिवाहन ने कन्यादान के निमित्त बहुत संपत्ति अर्पित की थी– रत्नालंकार, स्वर्ण, गायें, दास-दासी, रथ, हाथी, घोड़े तथा दो गांव भी दिए थे।

भवन में पदार्पण करने के पश्चात् विक्रमादित्य एक खण्ड में गए और प्रतीक रूप से स्थापित कुलदेवी के समक्ष अपनी नवोढ़ा पत्नी के साथ नमस्कार किया।

यहां विक्रमादित्य के साथ कोई मित्र नहीं था -- एकमात्र अग्निवैताल वहां उपस्थित था। वह अत्यन्त उत्साहपूर्वक साथ रह रहा था। कुलदेवी को नमन करने का कार्य पूरा कर अपनी मुख्य दासियों के साथ सुकुमारी एक खण्ड में गई।

विक्रमादित्य और अग्निवैताल भी एक कक्ष में गए। वहां राज्य के मंत्री, युवराज आदि आए हुए थे। उनके साथ घटिका पर्यन्त बातचीत कर विक्रमादित्य ने सबको विसर्जित किया।

दोनों मित्र अकेले हुए, तब अग्निवैताल बोला -- 'महाराज! आपकी साधना पूरी हुई। वास्तव में आपने एक नारीरत्न प्राप्त किया है।'

'मित्र! मेरी साधना का बल तो तुम ही हो। तुम्हारी कृपा से ही मैं विश्व की इस श्रेष्ठ सुन्दरी को प्राप्त कर सका हूं -- तुम्हारे उपकार को मैं कभी नहीं भूलूंगा।' विक्रम ने अत्यन्त भावप्रवण स्वरों में कहा।

'महाराज! जहां निर्मल मैत्री होती है, वहां उपचार या आभार जैसा कुछ नहीं रहता। मैं तो आप-जैसे पराक्रमी राजा को मित्र बनाकर धन्यता का अनुभव कर रहा हूं। यदि आपके परिचय में मैं नहीं आता तो मेरी शक्ति बुरे कार्यों में ही लगती। वास्तव में आपके उपकार का बदला मैं भव-भवान्तर में भी नहीं चुका पाऊंगा।' अग्निवैताल ने प्रसन्न स्वरों में कहा।

विक्रम ने मित्र के कंधे पर हाथ रखकर कहा -- 'मित्र! अभी तक तुमने भोजन भी नहीं किया।'

'आपकी साधना की परिणति से मैं अत्यन्त तृप्त हो गया हूं।'

'तुम्हारे शयनकक्ष में भोजन की सारी सामग्री रखी हुई है। तुम यदि भोजन नहीं करोगे तो मुझे चिन्ता सताती रहेगी।'

'मैं अवश्य ही भोजन करूंगा, परन्तु...।'

'बोलो, क्यों हिचकिचाते हो?'

'आप यहां कब तक रुकेंगे?'

'मित्र! मैंने राजकन्या के मन से द्वेषभाव दूर किया है, किन्तु उसके अन्तःकरण में अभी राजाओं और राजकुमारों के प्रति विराग है, उसे भी मिटाना है। मुझे यहां लगभग दो महीने तो रुकना ही पड़ेगा।'

'दे महीने रुकेंगे?'

'हां, ऐसा मेरा अनुमान है। मैंने विक्रमा के रूप में इसके साथ बहुत चर्चाएं की हैं। आज विजयसिंह के रूप में बातें करूंगा....और विक्रमादित्य के रूप में कब चर्चा कर पाऊंगा, यह एक प्रश्न है।'

'आप आज्ञा दें तो मैं कल यहां से अपने स्थान पर चला जाऊं। आप जब मुझे याद करेंगे, मैं हाजिर हो जाऊंगा।'

विक्रम दो क्षण तक सोचने के बाद बोले—'अच्छा, तुम जाओ। जब आवश्यकता होगी, तब मैं अवश्य ही याद करूंगा।'

रात्रि का तीसरा प्रहर चल रहा था। वैताल अपने शयनकक्ष की ओर चला गया।

विक्रम अब अपने शयन-कक्ष में गया तब पूर्णिमा के चांद-सी मनोहर सुकुमारी नववधू के वेश में अपनी सखियों और दासियों से घिरी बैठी थी।

कलाकार प्रियतम को कक्ष में प्रवेश करते देखकर सुकुमारी लज्जा के भार से झुकी हुई थी। सभी सखियां और दासियां भी खड़ी हो गईं और नमन करती हुई खण्ड के बाहर निकलने लगीं। एक वाचाल दासी बोल उठी—'कलाकार महाराज! हमारी प्रिय सखी नाम से ही सुकुमारी नहीं हैं, रूप और देह से भी सुकुमारी ही हैं।'

'तुम अपनी सखी की चिन्ता मत करो। यह तो मेरे जीवन की सौरभ है।'

वाचाल सखी तत्काल खण्ड से बाहर आ गई और शयनखण्ड का द्वार बन्द कर सांकल लगा दी।

विक्रम मुग्ध नयनों से प्रिया की ओर देखते हुए निकट आए और राजकन्या के कंधे पर हाथ रखकर कहा—'प्रिये!'

पुरुष का प्रथम स्पर्श!

सुकुमारी का शरीर वीणा के तारों की तरह झनझना उठा।

विक्रम दोनों हाथों से पत्नी को अपनी ओर खींचें, उससे पहले ही सुकुमारी छूटकर एक थाल के पास पहुंची और दोनों हाथों से एक पुष्पमाला उठा लायी।

हृदय में अदृश्य हर्ष का सागर हिलोरें ले रहा था। आनन्द की ऊर्मियां उछल रही थीं। भावना उल्लसित हो रही थी। फिर भी हाथ में पकड़ी हुई माला कंपित हो रही थी। नयनों में और मन में शोभित नारीसुलभ लज्जा मानो पुष्पमाला से नितर-नितरकर बह रही थी।

विक्रम भी उस थाल के पास आए और उसमें पड़ी दूसरी पुष्पमाला उठा लाए। इतना ही नहीं, प्रिया अपने प्रियतम को माला पहनाए, उससे पूर्व ही विक्रम लज्जारक्त वदन से शोभायमान सुकुमारी के कंठ में माला पहनाते हुए बोले—'प्रिये! नर-नारी के जीवन-सौभाग्य के इस प्रथम एकान्त क्षण में पूजा की पहली अधिकारिणी नारी होती है।'

सुकुमारी कुछ भी नहीं बोल सकी। उसने अपने प्रियतम के कंठ में माला पहना दी और विक्रम उसको बाहुपाश में जकड़ें उससे पूर्व ही वह उनके चरणों में लुट गई।

छह-छह भवों से पुरुष जाति की अग्निभरी दृष्टि से दग्ध हुई सुकुमारी को प्रेमोल्लास से विक्रम ने दोनों हाथ पकड़कर उठाया और बाहुपाश में भरते हुए कहा – 'प्रिये! तुम्हारे समर्पणभाव से आज मैं पूर्ण बना हूं – मेरे पास शब्द नहीं हैं, जिनके माध्यम से मैं अपना हर्ष व्यक्त कर सकूं। मैं मात्र इतना ही कह सकता हूं कि तुम्हारा समर्पण मेरे जीवन का मधुर संगीत बनकर रहेगा, यही गीत हमारे जीवन का पाथेय होगा।'

सुकुमारी ने प्रियतम के बाहुपाश से मुक्त होने का तनिक भी प्रयास नहीं किया। लज्जा का भार समग्र देह पर था, परन्तु आज और अभी वह भार एक वरदान जैसा लग रहा था। उसने तिरछी दृष्टि से स्वामी के प्रसन्न वदन की ओर देखा और तब उसके नयन और वदन पर प्रफुल्लता खिल उठी।

ओह! कलाकार की काया इतनी सुन्दर और बलिष्ठ है? कलाकार के नयनों में इतनी मस्ती है?

विक्रम ने प्रिया के गुलाबी अधरों पर अपने अधर रखे और दीर्घ चुम्बन। सुकुमारी को लगा – इस स्पर्श का कहीं अन्त न हो। यह अनन्त बना रहे।

विक्रम ने पूछा – 'प्रिये! मौनव्रत तो नहीं है न?'

सुकुमारी लज्जा के भार से दब चुकी थी। वह बोली – 'स्वामिन्! कभी-कभी बोलने से सुनना अधिक तृप्तिदायी होता है।'

'ओह प्रिये! ऐसी तृप्ति पुरुष के हृदय को सदा आनन्दित करती रही है।' दोनों के मन का संकोच दूर हो चुका था। जब मन का संकोच दूर हो जाता है, तब दो प्राण एक बनने का प्रयत्न करते हैं।

दोनों रत्नजटित पलंग पर बिछी पुष्प-शय्या पर बैठ गए।

विक्रम ने एक नया प्रश्न किया – 'प्रिये! एक बात पूछूं?'

सुकुमारी ने आंखों की पंखुड़ियों से स्वीकृति दी।

विक्रमादित्य ने अपनी प्रिया के कोमल हाथ अपने हाथों से पकड़कर कहा – 'प्रिये! मेरे मन का एक आश्चर्य अब तक शान्त नहीं हो पा रहा है?'

सुकुमारी ने प्रश्नभरी दृष्टि से स्वामी की ओर देखा।

विक्रम ने कहा – 'तुम जैसी रूपवती नारी को प्राप्त करने के लिए राजा ही क्या, देव भी लालायित रहते हैं और आशा का थाल भरकर तुम्हारे द्वार पर आ पहुंचते हैं। ऐसी स्थिति में तुमने एक कलाकार को वरमाला पहनाने का

संकल्प क्यों किया ? यदि तुम चाहती तो बहुत बड़े साम्राज्य की राजमहिषी बन सकती थी।'

बीच में ही सुकुमारी बोल उठी – 'कलाकार के हृदय में प्रेम, सद्भाव और विश्वास का खजाना भरा-पूरा होता है। राजा या देवों के पास ये गुण नहीं होते।'

'मैंने सुना था कि तुम विवाह के बंधन में बंधना नहीं चाहती थी।'

'हां, यह सच है। मैं एक राजकन्या हूं। स्वाभाविक बात है कि यदि मेरा विवाह होता तो वह एक राजा के साथ ही होता – किन्तु नारी का हृदय केवल वैभव नहीं चाहता, सत्ता और अधिकार की अग्नि में जलना नहीं चाहता। वह जीवन को अमृतमय बनाने वाला प्रेम मात्र चाहता है, ऐसा प्रेम राजाओं के पास कहां है ?'

'तुम्हारे विचार उत्तम हैं', कहकर विक्रम ने सुकुमारी को छाती से लगा लिया।

'और....।'

रात्रि का चौथा प्रहर प्रारम्भ हो चुका था। दोनों जीवन की प्रसन्नता में एक-दूसरे का परिचय पा रहे थे।

नर-नारी के प्रथम मिलन के समय प्रश्न एक नहीं, अनन्त बन जाते हैं और उनका उत्तर भी अनन्त हो जाता है और दोनों की बातें कभी पूरी नहीं होतीं। सदा अधूरी ही रहती हैं।

रात्रि के चौथे प्रहर की दो घटिकाएं शेष थीं। विक्रम ने वातायन की ओर देखकर कहा – 'ओह ! प्रभात होने वाला है। प्रिये ! तुम सो जाओ, आराम करो।'

'ऐसे अनन्त प्रभात आयेंगे और जाएंगे – शय्या में सोना कहां ? आराम कहां ?'

'तो ?'

'जागरण का आनन्द असीम होता है – इसमें न श्रम होता है और न विषाद।'

विक्रम को तत्काल एक स्मृति हो आयी। उसने पेटिका खोली और कमला द्वारा प्रेषित सारे अलंकार बाहर निकाले।

शयनखण्ड में एक दीपक जल रहा था। उसके प्रकाश में अलंकारों में जटित रत्न चमकने लगे। सुकुमारी शय्या से नीचे उतर आयी।

विक्रम ने कहा – 'प्रिये ! आज से दो वर्ष पूर्व एक महाराजा और महारानी ने मेरे संगीत पर मुग्ध होकर ये सारे मूल्यवान् अलंकार मुझे उपहार में दिए थे – आज मैं तुम्हें ये सारे अलंकार अर्पित कर रहा हूं।'

यह कहकर विक्रम ने प्रिया के कोमल कण्ठ में नवलखा रत्नहार पहनाया और शेष सारे अलंकरण उसको वैसे ही अर्पित कर दिये।

बाहर के उपवन में चिड़ियां चहचहाने लगीं। पक्षियों का श्रुति-मधुर कलरव होने लगा। नवदम्पत्ति परस्पर में मस्त मुग्ध होकर परम आनन्द का अनुभव कर रहे थे।

दूसरे दिन मध्याह्न की वेला में अग्निवैताल अपने निवास स्थान की ओर चला गया।

पन्द्रह दिन देखते-देखते बीत गए। दोनों में से किसी को यह भान नहीं रहा कि नूतन जीवन की पन्द्रह रात्रियां बीत गईं। दोनों यही मानते थे कि नूतन जीवन का पहला क्षण भी अभी पूरा नहीं हुआ है।

२६. आंसूभरी याद

मनुष्य जब रूप और यौवन के रंग-राग में मस्त बन जाता है, तब उसे न समय का भान होता है और न स्वयं का।

विक्रमादित्य और सुकुमारी के विवाहित जीवन के पचास दिन बीत गए। विक्रमादित्य ने अभी तक अपना मूल परिचय नहीं दिया था। वे कलाकार विजयसिंह के रूप में ही रह रहे थे।

एक बार सुकुमारी ने स्वामी को कोई प्रभावक राग गाने की प्रार्थना की। विक्रम अब राग-रागिनी के झंझट में फंसना नहीं चाहते थे। पत्नी ने जब अति आग्रह किया तब विक्रम ने कहा – 'प्रिये! जिसकी गोद में स्वयं संगीत क्रीड़ा कर रहा हो, उसको किसी दूसरी राग-रागिनी में रस नहीं रहता। दूसरी बात है कि मैं तुम्हारे प्रेम में इतना मस्त बन गया हूं कि संगीत की ऊर्मी हृदय में उठती ही नहीं – तुम्हारा सहवास ही मेरा प्रभावक संगीत है।'

नारी चाहे कितनी ही चतुर क्यों न हो, जब वह स्व-प्रशंसा सुनती है, तब सब कुछ भूल जाती है।

जल-विहार, वन-विहार, वीणावादन, कभी मंजरी देवी की आराधना, कभी रूपमाला का नृत्य-संगीत – इस प्रकार बहुविध आनन्द-प्रमोद में दो मास बीत गए।

एक दिन सुकुमारी जल्दी जाग गई। उसका मन व्याकुल था। उसने अपने स्वामी को जगाते हुए कहा – 'प्राणनाथ! मुझे आज विचित्र स्वप्न आया है।'

'अरे! तुम स्वप्न से घबरा गई हो?'

'हां, स्वामिन्! विचित्र स्वप्न था।'

'स्वप्न विचित्र ही होता है। अच्छा, तुम बताओ तो सही।'

'मैं एक लतामंडप में बैठी थी। एक भ्रमर बार-बार मेरे अधर पर दंश देने का प्रयत्न कर रहा था। मैं उस भ्रमर के आक्रमण से भयभीत हो गई। मैंने उसको दूर भगाने का पूरा प्रयत्न किया, पर वह हठी थी। वह अधर पर दंश देने के लिए और अधिक पागल हो गया। आप उसी लतामंडप में गहरी नींद में सो रहे थे। आपको जागृत करना चाहा, पर मन पीछे हट गया। मैंने भ्रमर को निकटता से देखा। वह भ्रमर नहीं, एक सिंह-शावक था। आश्चर्य से मेरा मुंह खुला और वह भ्रमर-रूपी सिंह मेरे मुंह में प्रवेश कर गया। मैं घबरा गई।'

इस विचित्र स्वप्न को सुनकर विक्रम विचार-मग्न हो गए। उन्होंने प्रसन्न स्वरों में कहा– 'प्रिये! यह तो अत्युत्तम स्वप्न है। इसमें घबराने की कोई बात नहीं है। तुम शीघ्र ही माता बनने वाली हो। तुम एक पुत्र का प्रसव करोगी। वह सिंह की तरह तेजस्वी और बलशाली होगा।'

सुकुमारी स्वप्न का वह शुभ फल सुनकर आनन्दमग्न हो गई। वह स्वामी के शरीर से लता की भांति लिपट गई। पांच-छह दिनों के पश्चात् स्वप्न की पृष्ठभूमि का रहस्य सुकुमारी को अनुभूत होने लगा।

नियमित होने वाला रजोदर्शन बन्द हो गया।

प्रतिदिन उसे वमन होने लगा।

यह बात महादेवी ने सुनी। वे राजवैद्य को साथ लेकर पुत्री के निवास-स्थान पर आयी। राजवैद्य ने नाड़ी की परीक्षा कर राजकुमारी के सगर्भा होने की बात कही।

नारी कितनी ही रूपवती और वैभवशाली क्यों न हो, परन्तु जब मातृत्व का स्वप्न साकार होता है, तब उसके हर्ष का कोई पार नहीं होता।

इस प्रकार विक्रमादित्य का नूतन संसार रसमय बना हुआ था और वे अब एक बालक के पिता बनेंगे, इस कल्पना से ही वे अत्यन्त आनन्दित हो रहे थे, पर एक चिन्ता उन्हें विचार-मग्न कर रही थी। वास्तव में यही पुत्र भविष्य में मालव देश का अधिपति होगा– किन्तु मैं तो यहां एक सामान्य कलाकार के रूप में ही हूं। सुकुमारी को वास्तविक परिचय कैसे दिया जाए? यदि मैं वास्तविक परिचय दूं और सुकुमारी का हृदय व्यथित हो जाए तो? छह भवों का अनुभूत अतीत पुनः हृदय में नाच उठे तो मुझे क्या करना चाहिए? भावी युवराज के विषय की बात सुकुमारी को बतानी आवश्यक है, पर उसका परिताप.....

विक्रम ने मन-ही-मन एक योजना बनाई। पत्नी को प्रसन्न-प्रफुल्ल बनाकर उसके मन को समझाना और यदि उचित लगे तो उसको यथार्थ से अवगत करा देना।

शीतऋतु का अंतकाल था। वसंतऋतु का प्रारम्भ निकट था। रात्रि का प्रथम प्रहर पूरा होते ही महारानी विजया पुत्री के भवन से निकलकर राजभवन की तरफ विदा हो गई। माता को विदा कर सुकुमारी स्वामी के कक्ष में आयी। पत्नी को देखकर विक्रम ने हर्ष भरे स्वरों में कहा– 'आज तो माता को बहुत समय तक रोके रखा?'

'नहीं, स्वामिन्! माताजी तो संध्या के पश्चात् यहां आयी थीं–आप कब पधार गए?' कहकर सुकुमारी विक्रम के पास बैठ गई।

'मैं अभी-अभी लौटा हूं। आज महामंत्री के भवन पर चला गया था'– विक्रम ने सुकुमारी के कंधे पर हाथ रखते हुए कहा।

'हमारे महामंत्री बहुत बुद्धिमान हैं।' राजकुमारी ने कहा।

'पुण्यवान और परम धार्मिक राजाओं को मंत्री भी श्रेष्ठ ही मिलते हैं। उनकी संतान भी उत्तम होती है। तुम्हारे भाई कितने सुन्दर और तेजस्वी हैं। और तुम्हारी बात ही क्या, देवी सरस्वती के शब्दकोश में भी वे शब्द नहीं हैं, जिनसे तुम्हारा वर्णन कर सकूं।'

'रहने दो–मेरे में ऐसा क्या देखा है?'

'बताऊं?'

सुकुमारी ने तिरछी नजरों से देखकर 'हां' कहा।

'प्रिये! रंभा, मेनका और उर्वशी स्वर्ग की श्रेष्ठ सुन्दरियां मानी जाती हैं। शास्त्रकारों ने इनका भरपूर वर्णन किया है। कवियों ने इन सुन्दरियों को माध्यम बनाकर शृंगार-रस के अनेक काव्य रचे हैं। इतना होने पर भी इन तीनों अप्सराओं को आज तक किसी ने नहीं देखा–बिना देखे ही इनकी प्रशंसा की जा रही है। तुम तो मेरी आंखों के सामने हो–तुम्हारा रूप, यौवन, देह, गमन, नयन-कटाक्ष, वाणी और वदन–ये सब स्वर्ग की रूपसियों से भी श्रेष्ठ हैं।'

'बस-बस, मेरे नजर न लग जाए–अति प्रशंसा घातक होती है।' सुकुमारी ने कहा।

'प्रिये! मैं अतिशयोक्ति या प्रशंसा नहीं कर रहा हूं। मैं मात्र यथार्थ बात कह रहा हूं। मैं तुम्हें प्राप्त कर पूर्ण सुखी हूं, किन्तु एक चिन्ता मेरे मन को व्यथित कर रही है।'

'चिन्ता?'

'हां, प्रिये! वैसी चिन्ता जो किसी को बताई नहीं जा सकती।'

'मुझे भी नहीं?'

'तुम तो मेरी अंगभूत हो...जीवन हो...तुम्हारे से छिपाऊं ऐसी वस्तु क्या है?'

'तो फिर आपको कौन-सी चिन्ता व्यथित कर रही है ?'

'प्रिये ! तुम साम्राज्ञी होने के योग्य हो — मैं तो एक छोटा-सा कलाकार हूं।'

तत्काल विक्रम के मुंह पर हाथ देती हुई सुकुमारी बोल उठी — 'स्वामिन् ! यह कैसी चिन्ता ? स्त्री अपनी पसन्द के पुरुष को स्वीकार करती है। उसे किसी दूसरे की अभिलाषा नहीं रहती।'

'मुझे बहुत बार ऐसा लगता है कि यदि मैं किसी महान् राज्य का स्वामी होता तो तुमको.... ।'

बीच में ही हंसते हुए सुकुमारी ने कहा — 'तब तो मैं आपकी अर्धांगिनी कभी नहीं बनती।'

'ओह ! तुम ऐसा क्यों मानती हो कि संसार में कलाकार ही श्रेष्ठ होता है। मालवपति विक्रमादित्य एक महान् वीर होते हुए भी श्रेष्ठ कलाकार हैं।'

'वे कुछ भी क्यों न हों — मेरे लिए तो आप ही राज-राजेश्वर हैं, हृदयेश्वर हैं, मेरे स्वप्नों के सम्राट् हैं।'

'प्रिये ! मैं धन्य हुआ। एक प्रश्न है कि तुम्हारे रूप की प्रशंसा सुनकर कोई चतुर राजा कलाकार का छद्मवेश धारण कर तुम्हें प्राप्त कर लेता तो....?'

'जो घटित ही नहीं हुआ, उसकी कल्पना करना व्यर्थ हैं'

'यह तो मैं केवल तुम्हारा मनोभाव जानने के लिए कह रहा हूं। यदि ऐसा हो जाता और बाद में तुम्हें ज्ञात होता तो तुम क्या करती ?'

'स्वामिन् ! मैं ऐसे छद्मवेशी पति से सदा दूर ही रहती।'

'तब तो प्रिये ! नारी के सतीत्व का आदर्श ही क्या रहा ?'

'आदर्श क्यों नहीं। हा, यह अवश्य है कि मेरा जीवन शून्य हो जाता। सतीत्व की रक्षा करना तो मेरा धर्म है, तप है और इसीलिए छद्मवेशी से दूर रहना मुझे पसन्द है। अरे ! किन्तु आज आप ऐसे प्रश्न क्यों कर रहे हैं ?'

'प्रिये ! कारण के बिना कोई प्रश्न होता ही नहीं ?'

'मैं समझी नहीं।'

'तुम्हारे उदर में पुत्ररत्न पल रहा है। यदि मैं किसी राज्य का सम्राट् होता तो मेरे पुत्र को उस महाराज्य का स्वामी बना देता। तुम्हारे उदर में पलने वाला पुत्र क्या जीवन-भर कंगाल ही बना रहेगा ? यह प्रश्न भी अनेक नये प्रश्न उपस्थित करता है।'

सुकुमारी ने हंसते हुए कहा — 'आप तो विचित्र कल्पना के जाल में फंस गये। हमारा पुत्र एक कलाकार बनेगा — मेरे और आपके तेज का प्रतीक बनेगा और उसे यहां भी राजसुख मिलता रहेगा।'

विक्रम ने कहा – 'प्रिये ! क्या तुम्हारे मन में किसी प्रकार का हठाग्रह तो नहीं है ?'

'नहीं, कैसा हठाग्रह ?'

'राजा-महाराजाओं के प्रति घृणाभाव।'

'ओह!' कहकर सुकुमारी विक्रम से लिपटकर बोली – 'स्वामिन्! आप न राजा हैं और न मैं राजरानी हूं – फिर चिन्ता क्यों करें ?'

विक्रम ने सोचा, चर्चा को लम्बी करने पर संभव है मेरा परिचय इसे प्राप्त हो जाए और यह अत्यन्त दुःखी हो जाए। उन्होंने प्रिया का चुम्बन लेते हुए कहा – 'सुकुमारी ! आज मुझे परम संतोष का अनुभव हो रहा है कि तुम्हारे दिल में राजरानी न होने का दुःख नहीं है।'

'तो क्या आप मेरी परीक्षा ले रहे थे ?'

'हां, तुम्हारे मन को समझने के लिए।'

'समझ लिया ?'

'हां, उचित रूप से।'

'कैसा है ?'

'निर्मल कांच-जैसा स्वच्छ और पारदर्शक।' विक्रम ने पत्नी को हृदय से लगाते हुए कहा।

एक सप्ताह आनन्दपूर्वक बीत गया।

विक्रमादित्य ने सोचा कि सुकुमारी को परिचय देने में भारी खतरा है – और यहां अधिक रुकना भी शक्य नहीं।

क्या करना चाहिए ?

हां, सुकुमारी सगर्भा है ? – काल बीतने पर वह मां बनेगी....इसका समय बालक के लालन-पालन में सहजता से बीतता रहेगा।

इस प्रकार विक्रमादित्य के मन में अनेक संकल्प-विकल्प उठने लगे। एक-एक कर दिन बीतते गए। सुकुमारी की गर्भावस्था का तीसरा महीना चल रहा था। सर्वत्र आनन्द छा रहा था।

एक दिन विक्रमादित्य ने अपनी राजमुद्रिका तथा एक ताड़पत्र में अपना परिचय अंकित कर एक पेटिका में रख दिया। उस पेटिका को अपनी प्रियतमा को देते हुए कहा – 'प्रिये ! इस पेटिका को तुम अपने प्राणों की भांति संजोकर रखना। एक-दो दिन के बाद मुझे चार-छह महीनों के लिए प्रवास में जाना पड़ेगा।'

'चार-छह महीनों का प्रवास ?'

'हां, पूर्व भारत में एक महान् संगीत-उत्सव है—उसमें भाग लेने के लिए प्रवास करना है, ऐसी मेरे गुरुदेव ने आज्ञा दी है।'

सुकुमारी अवाक् बनकर पति को देखती रही।

विक्रमादित्य बोले—'प्रिये! मैं एक क्षण के लिए तुमसे अलग नहीं हो सकता—किन्तु क्या करूं? तुम्हारी गर्भावस्था है। मैं इस अवस्था में तुम्हें प्रवास में नहीं ले जा सकता और प्रवास को नकारना भी गुरु की अवज्ञा है।'

सुकुमारी के नयन सजल हो गए। वह बोली—'आपके गुरु का संदेश कब आया था?'

'आज प्रातःकाल ही—मेरा मित्र आया था।'

'ओह! क्या प्रवास में आपको छह मास लगेंगे?'

'हां प्रिये! मुझे बंग देश जाना है। इतना समय तो लग जाएगा।'

'इतना लंबा प्रवास?'

'तुम्हारा प्रेम मेरी पांखें बन जाएगा और मैं तब अपने प्रवास को सम्पन्न कर लूंगा—तुम इस पेटिका को सावधानी से अपने खास स्थान में रख देना।'

'पेटिका में क्या है?'

'पेटिका में कोई बहुमूल्य रत्न नहीं है—इसमें मेरे पूर्व जीवन के संस्मरण हैं।'

वियोग की कल्पना मात्र से सुकुमारी स्तंभित हो गई। उसकी आंखों से अजस्र आंसू बहने लगे।

विक्रम ने बड़े प्रेम के साथ उसके आंसू पोंछे और उसी रात्रि में अपने परम मित्र वैताल को याद किया।

तीसरे दिन प्रियतमा के आंसुओं की याद के साथ विक्रम वहां से प्रस्थित हो गए।

२८. वह चोर कौन होगा?

बंग देश जाने का बहाना बनाकर विक्रम और अग्निवैताल दो तेजस्वी अश्वों पर चढ़कर वहां से चले। महाराज शालिवाहन ने दास-दासी, रक्षक, रथ, घोड़े आदि साथ में ले जाने का आग्रह किया था। किन्तु विक्रम ने इन सबको प्रवस में साथ ले जाने से इनकार कर दिया।

दोनों मित्रों को पहुंचाने के लिए महाराज, महादेवी, सुकुमारी तथा अन्यान्य राजपुरुष नगरी की सीमा तक साथ आए।

सबका आशीर्वाद लेने के पश्चात् विक्रमादित्य ने पत्नी की सजल आंखों के सामने प्रेम-भरी दृष्टि से देखा।

वियोग की कल्पना मात्र व्यक्ति को व्यथित कर देती है। वियोग जब सिर पर मंडराने लगा है तब वेदना का पार नहीं रहता।

नगरी से एक कोस दूर चले जाने के बाद अग्निवैताल ने कहा–'महाराज! यदि आप अपना यथार्थ परिचय सुकुमारी देवी को दे देते तो इनके मन को....।'

बीच में ही विक्रम ने कहा–'मित्र! मैं भी यही चाहता था। किन्तु मैंने इसका मन पढ़ लिया था। यदि मैं अपना असली परिचय दे देता तो इसके मन में मेरे प्रति पनपने वाला प्रेम रोष और तिरस्कार में परिणत हो जाता। इसको छह-छह भवों की वेदना का अनुभव है, इसलिए अल्पकालीन वियोग की व्यथा देना मुझे औचित्य लगा। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा माध्यम नहीं है।'

'आपका मध्यम मार्ग अत्युत्तम है–आप बहुत निपुण हैं। किन्तु इस वियोग-काल का अन्त तो आएगा ही। उस समय आपको अपना परिचय भी देना ही होगा। आप अवन्ती का त्याग कर प्रतिष्ठानपुर रहने वाले तो हैं ही नहीं?' वैताल ने कहा।

विक्रम ने अपने अश्वों को ठहराया और वैताल की ओर देखकर कहा–'मित्र! मैंने तुमसे यह बात नहीं कही थी कि सुकुमारी सगर्भा हैं। उसके स्वप्न के आधार पर यह निश्चित है कि वह पुत्र को जन्म देगी। कोई भी नारी जब माता बनती है, तब वह वात्सल्यरूपी अमृत की सरिता बन जाती है। जहां वात्सल्य प्रवाहित होता है, वहां रोष या द्वेष टिक नहीं पाता। वह धुल जाता है। नारी ममता बनने के पश्चात् अधिक मंगलमयी बन जाती है, इसीलिए मैंने कालक्षेप के लिए यह योजना बनाई है।'

वैताल आश्चर्य-भरी दृष्टि से विक्रम की ओर देखने लगा।

थोड़े समय पश्चात् दोनों मित्रों ने अपने-अपने अश्वों को वायुवेग से दौड़ाया। बीस कोस चलने के पश्चात् वे एक सरिता के तट पर आए और वहां विश्राम करने के लिए ठहरे। घोड़ों को विश्राम देना भी आवश्यक था। वैताल बोला–'महाराज, यदि आप अवंती के उद्यान में जाना चाहें तो हम पहुंच सकते हैं।'

'अभी?'

'हां, अभी। आपको कोई देख नहीं सकेगा और कुछ ही क्षणों में आप अवंती पहुंच जाएंगे। पुनः मुझे भी संध्या से पूर्व अपने स्थान पर पहुंचना है।'

'क्यों, मित्र?'

'हमारी जाति का सम्मेलन होने वाला है–मुझे अपने स्थान से कुछ सामग्री लेकर मैनाक पर्वत की तलहटी पर पहुंचना है। कम-से-कम तीस दिन तो मुझे वहां लग ही जाएंगे।' वैताल ने कहा।

'जैसी तुम्हारी भावना....किन्तु यदि कभी मुझे आवश्यकता हुई तो ?'

'आप मुझे यदि एक माह तक याद नहीं करेंगे तो मेरा कार्य सम्पन्न हो जाएगा। फिर भी जब आप याद करेंगे तब मैं कुछ समय के लिए उपस्थित हो जाऊंगा।' वैताल ने कहा।

'कोई महत्त्व का कार्य होगा, तभी तुम्हें याद करूंगा।' विक्रम बोले।

फिर वैताल अपनी शक्ति के योग से कुछ ही क्षणों में विक्रम और दोनों अश्वों के साथ अवंती नगरी के बाहर एक उद्यान में आ पहुंचा।

वैताल विक्रम की आज्ञा लेकर अदृश्य हो गया।

विक्रमादित्य तत्काल अपने राजभवन की ओर जाने के लिए दोनों अश्वों को लेकर चल पड़े। राजभवन में किसी को कल्पना भी नहीं थी कि आज राजराजेश्वर पधारेंगे।

महाराजा को मुख्य द्वार में प्रवेश करते देखकर द्वारपाल स्तंभित रह गया। सबने महाराजा का अभिवादन किया। एक द्वारपाल ने एक अश्व को वहीं थाम लिया और विक्रमादित्य सीधे राजभवन के प्रांगण में पहुंच गए। संध्या बीत चुकी थी। राजभवन दीपमालिकाओं से जगमगा रहा था।

महाराजा को अकस्मात् आते देखकर वहां तैनात रक्षक वर्ग ने अवंतीनाथ का जयनाद किया। दास-दासी चौंककर वातायन से देखने लगे। एक दासी दौड़कर महारानी कमलावती के खण्ड में गई और महाराजा के आगमन की शुभ-सूचना दी।

कमलावती अभी-अभी स्नान से निवृत्त होकर अपने कक्ष में आयी थी। वह तत्काल उठकर बोली– 'महाराज के साथ कौन है ?'

'महाराज अकेले ही हैं'

कमला ने सोचा–संभव है नववधू तथा उसका साज-सामान पीछे आ रहा होगा। अरे, पर महाराजा ने अपने आने की सूचना क्यों नहीं दी ?

वह तत्काल खण्ड से बाहर निकली और सोपान श्रेणी की ओर बढ़ी, उससे पूर्व ही महाराजा विक्रमादित्य वहां पहुंच गए।

स्वामी को देखते ही कमला ने भावपूर्वक नमन किया।

विक्रम ने पत्नी का हाथ पकड़ते हुए कहा– 'कमला ! कुशलक्षेम तो है न ?'

'आप ?'

'मैं पूर्ण स्वस्थ हूं।' कहकर विक्रम पत्नी का हाथ थामे कक्ष की ओर बढ़े।

खण्ड में जाने के पश्चात् विक्रम बोले– 'प्रिये ! महाप्रतिहार दिखाई नहीं देते ?'

'अभी-अभी वे अपने भवन की ओर गए हैं। किन्तु मेरी बहन कहां है? क्या रथ पीछे रह गया?'

'नहीं, सुकुमारी वहीं है। सारी बात मैं फिर बताऊंगा। पहले मैं स्नान आदि से निवृत्त हो जाऊं।'

कमला ने दासी को पुकारा और स्नान आदि की व्यवस्था करने का आदेश दिया। दासी नमन कर चली गई।

विक्रम अत्यन्त सादे वेश में थे। कमला के मन में आश्चर्य उभर रहा था। उसने पूछा, 'स्वामिन्! आप इन कपड़ों में....?'

'हां, मैंने वहां से एक कलाकार के रूप में प्रस्थान किया था। तुम एक काम करो–महाप्रतिहार और महामंत्री को सूचना भेजो। इतने में ही मैं स्नान आदि से निवृत्त हो जाऊंगा। और देखो, आज प्रात:काल मैंने अल्पाहार ही लिया है।'

'तो क्या आप आज प्रात:काल ही वहां से चले थे?'

'हां, वैताल के सहयोग से आज चले और आज ही यहां पहुंच गये।'

'ओह!' कहकर कमला खंड के बाहर आ गई।

थोड़े समय पश्चात् कमला पुन: खंड में आकर बोली–'स्वामिन्! आप स्नानगृह में पधारें।'

विक्रमादित्य तत्काल स्नानगृह में गए। स्नान से निवृत्त होकर जब वे अपने कक्ष में आए, तब वहां भोजन का थाल तैयार रखा था।

विक्रमादित्य भोजन करने बैठे। महारानी कमला पंखा झलने लगी। उसने पूछा, 'स्वामीनाथ! ऐसा क्या हुआ कि सुकुमारी को वहीं ठहरना पड़ा?'

'प्रिये! यह बात बहुत लम्बी है। फिर तुम्हें बताऊंगा। किन्तु हमारे राज्य में कोई अव्यवस्था तो नहीं है?'

'नहीं, लोग अत्यन्त आनन्द में हैं। आपके दर्शनों के लिए सारी जनता तरस रही है।'

'तुम्हारा स्वास्थ्य तो ठीक है न?'

'आपकी स्मृति सदा बनी रहती थी। इसके अतिरिक्त कोई चिन्ता नहीं थी।'

'इसीलिए मुझे तुम्हारा वदन कुछ मुरझाया-सा लगता है, प्रिये! क्या करूं, यहां आने के लिए मन बहुत व्याकुल-आतुर था, किन्तु वहां से निकल पाना अत्यन्त मुश्किल हो रहा था।'

'क्यों? क्या कोई अघटित घटना घट गई थी?'

'नहीं, प्रिये! मैं अपना वास्तविक परिचय दे ही नहीं पाया।'

'तो फिर ?'

'छद्मवेश से मैं ऊब गया था। किन्तु छद्मवेश को छोड़ना भी सम्भव नहीं था।' यह कहकर विक्रमादित्य ने संक्षेप में अथ से इति तक की घटना बता दी।

अवाक् बनकर कमला सुन रही थी। विक्रमादित्य जब भोजन से निवृत्त होकर उठे तब कमला बोली, 'यह तो अत्यन्त विकट परिस्थिति खड़ी हो गयी—सुकुमारी सगर्भा और आप....।'

बीच में ही मुखवास लेते हुए विक्रम ने कहा—'प्रिये! वियोग से प्रेम वृद्धिंगत होता है और मातृत्व की प्राप्ति के पश्चात् नारी के अन्तःकरण में वात्सल्य का झरना फूट पड़ता है। यह वात्सल्य ही उसके मनोभावों को बदल सकता है।'

कमला कुछ उत्तर दे, उससे पूर्व ही एक परिचारिका ने खण्ड में प्रवेश करते हुए कहा, 'महामंत्री आए हैं।'

'उनको यही ले आ।'

'जी!' कहकर परिचारिका चली गई।

कमला भी अन्य कक्ष में जाने के लिए अग्रसर हुई। विक्रम ने उसको वहीं रुकने के लिए कहा। वह स्वामी के पास एक आसन पर बैठ गई।

महामंत्री खंड में प्रविष्ट हुए और विक्रमादित्य की ओर प्रसन्नमुद्रा में देखते हुए बोले, 'महाराज की जय हो।'

'आओ, भट्टमात्र! मेरे अकस्मात् आगमन से आश्चर्य तो हुआ ही होगा?'

'हां, महाराज! आपकी सूचना मिल जाती तो आपका स्वागत करने का अवसर जनता को मिलता।'

'यहां पहुंचने की इतनी आतुरता थी कि मैं सीधा राजभवन में ही पहुंचा। अच्छा, राज्य में लोग तो सुखी हैं?'

'हां, कृपावतार! लोग सर्वथा सुखी हैं।'

'बाहर का कोई आक्रमण अथवा....।'

'नहीं, महाराज! अवंती की ओर देखने की शक्ति किसमें है?'

'तो फिर तुम्हारे नयनों में चिन्ता के भाव कैसे दीख रहे हैं? मुख पर भी कुछ उदासीनता उभरती-सी लगती है....।'

'आपका अनुमान सही है—गत दो महीनों से अवंती में एक विकट परिस्थिति सामने आयी है।'

'परिस्थिति! कैसी?' प्रश्न के साथ ही विक्रम आसन से उठ खड़े हुए।

'एक चोर नगरी में आया है और वह हिम्मत के साथ घरों में चोरियां कर रहा है।'

'अपनी नगरी में चोर ? इतने-इतने रक्षक, चौकीदार और गुप्तचर हैं, फिर भी चोर पकड़ में नहीं आया ?' विक्रमादित्य का चेहरा तमतमा उठा।

'महाराज ! चोर असाधारण है। अदृश्य रहकर वह चोरी करता है। वह चोरी ही नहीं करता, पर....।'

'बोलो, वह और क्या करता है ?'

'उस दुष्ट चोर ने अपने नगर की चार श्रेष्ठी-कन्याओं का भी अपहरण किया है।'

'अपहरण ?'

'हां, कृपानाथ !'

'और आपकी बुद्धि उस चोर के अवरोध में सफल नहीं हो सकी ? यहां का गुप्तचर विभाग सम्पूर्ण देश में बेजोड़ गिना जाता है। हमारा कोतवाल पाताल से भी गुनहगार को खोज निकालने में निपुण है। महाबलाधिकृत भी निपुण है। यह तो अत्यन्त दु:खद घटना है।' विक्रम ने एक ही सांस में कह डाला।

'समग्र प्रजा के लिए, हमारी शक्ति के लिए तथा हमारे कर्मचारियों की बुद्धि के लिए यह चोर एक चुनौती बन गया है। इस चोर को पकड़ने के लिए हमारा पूरा तंत्र लगा हुआ है। किन्तु इस चोर के कोई चिह्न भी नहीं मिल पाते। वह कहां रहता है, कहां से आता है, इसके साथी कौन-कौन हैं—इसका कुछ भी पता नहीं लगता। मेरा अनुमान है कि यह चोर कोई तांत्रिक शक्तियों से सम्पन्न है।' महामंत्री भट्टमात्र ने कहा।

'ओह !' कहकर विचारमग्न विक्रम अपने खण्ड में ही इधर-उधर घूमने लगे।

कमला बोली—'कृपानाथ ! मैं आपको यह बात तभी बताती, जब आप विश्राम कर चुके होते।'

'देवी ! जो राजा अपनी प्रजा का यह दु:ख दूर नहीं कर सकता, तो निश्चित ही वह अयोग्य शासक है।'

उसी समय महाप्रतिहार कक्ष में प्रविष्ट हुआ।

विक्रम ने उसकी ओर देखा। कुछ पूछताछ कर कहा, 'महामंत्री ! कल तुम महाबलाधिकृत, नगर-रक्षक, गुप्तचर विभाग के अधिकारी आदि सभी को एकत्र करना। वे प्रात:काल ही यहां आ जाएं, ऐसी सूचना करना। इस प्रश्न को हमें समाहित करना ही होगा। हमें उपाय ढूंढना ही होगा।'

महामंत्री ने मस्तक नमाकर विक्रमादित्य की आज्ञा को स्वीकृति दी। फिर कुछेक विषयों की चर्चा कर विक्रमादित्य ने महामंत्री आदि को वहां से विदाई दी।

उनका मन 'वह चोर कौन है?' 'वह चोर कौन होगा?' इन प्रश्नों की उधेड़-बुन में उलझ गया।

२६. भयंकर अट्टहास

अवंती नगरी के श्रेष्ठियों के यहां चोरी हो, चार-चार स्त्रियों का अपहरण हो जाए, फिर भी चोर को पकड़ा न जा सके। चोर कहां रहता है और कैसा है – यह ज्ञात न हो सके, यह बहुत आश्चर्य की बात थी।

आज विक्रमादित्य महीनों के वियोग के पश्चात् प्राणेश्वरी से मिलने आये थे, और मन में अनेक स्वप्न संजो रखे थे, किन्तु यहां आते ही चोर के वृत्तान्त ने उनके सभी स्वप्नों को धूलिसात् कर डाला।

शयनगृह में जाने के पश्चात् भी विक्रम का मन अनेक संकल्पों-विकल्पों में उलझा रहा।

दूसरे दिन नगर-रक्षक, महामंत्री तथा अन्य मंत्री, महाबलाधिकृत आदि महाराजा के पास एकत्रित हुए। चोर को पकड़ने के विषय में अनेक चर्चाएं चलीं, किन्तु किसी एक निर्णय पर नहीं पहुंचा गया। कोई कारगर उपाय नहीं दिखा।

नगर-रक्षक और महाबलाधिकृत का कहना था – 'यह चोर कोई भी क्यों न हो, पर वह चोरी करने के पश्चात् पीछे कुछ भी निशानी नहीं छोड़ता। उसके पदचिह्न भी नहीं मिले। इन संयोगों में चोर को कैसे पकड़ा जाए?'

महामंत्री तथा अन्य मंत्रियों ने भी यही कठिनाई प्रदर्शित की।

विक्रमादित्य बोले – 'राज्य में कहीं भी कुछ भी हो, उसकी पूरी जिम्मेदारी राजा की होती है। राजा केवल शोभा की मूर्ति नहीं है। राजा को ईश्वर का अंश इसीलिए कहा जाता है कि उसने समूची प्रजा की रक्षा करने का उत्तरदायित्व स्वयं ओढ़ा है। चोर कितना ही चतुर और मंत्रशक्ति-सम्पन्न क्यों न हो, अन्तत: वह एक मनुष्य मात्र है। मनुष्य कभी भूल न करे, यह असम्भव है।' हमारी इस नगरी से जिन चार कन्याओं का अपहरण हुआ है और धनमाल की चोरी हुई है, उसको किसी भी उपाय से पुन: प्राप्त करना है। चारों दिशाओं में गुप्तचर भेज देने चाहिए। नगरी के बाहर ऐसे कोई स्थान हों तो उनको देखना है। मेरा अनुमान है कि जो चोर चार कन्याओं का अपहरण कर ले गया है, वह नगर में तो रह नहीं सकता। वह नगर के बाहर कहीं रहता होगा। हमें रात्रि में पूरी सावधानी बरतनी होगी और कोई भी अनजान मनुष्य यदि नगरी में प्रवेश करता है तो उससे पूरी पूछताछ करनी होगी।'

नगर-रक्षक बोला – 'कृपानाथ! हमने यह सारी व्यवस्था सुचारु रूप से कर दी है।'

विक्रम ने कहा – 'फिर भी कहीं-न-कहीं कोई कमी अवश्य रही है। जब तक प्रजा की वेदना को स्वयं की वेदना न माना जाए, तब तक उस वेदना के निवारण का कोई उपाय प्राप्त नहीं होता। तुम सबको यह एक बात समझ लेनी चाहिए कि कन्याओं का अपहरण हुआ है, वे चारों कन्याएं दूसरों की नहीं, मेरी हैं, तुम्हारी हैं।'

सभी महाराजा विक्रमादित्य की ओर प्रश्न-भरी दृष्टि से देखने लगे।

महाराजा ने कहा, 'महामंत्री! आज हम दोनों रात्रि के समय नगर के बाहर जाएंगे। चोर कितना ही महान् क्यों न हो, मैं उसे पकड़े बिना सांस नहीं लूंगा। यदि दो महीनों के भीतर मैं उसे न पकड़ पाऊं, तो तुम सब स्मृति में रखना कि मैं अवंती के राजसिंहासन के योग्य नहीं हूं और उस महान् सिंहासन पर बैठने का मुझे कोई अधिकार नहीं है।'

भट्टमात्र बोले – 'कृपानाथ! इस प्रकार आवेश में.... ।'

बीच में ही विक्रम ने कहा, 'महामंत्री! चार-चार कन्याओं का अपहरण हो और राजा और उसके अधिकारियों का खून न खौल उठे, तो उनकी मानवता को धिक्कार है। आज से साठ दिनों के भीतर चोर को, जीवित या मृत अवस्था में पकड़कर दिखाना होगा। यदि चोर पकड़ में नहीं आया, तो मुझे राज्य-त्याग करना ही होगा।'

सभी ने अवाक् बनकर विक्रमादित्य की ओर देखा।

मंत्रणा पूरी हुई।

नगर-रक्षक और महाबलाधिकृत ने चारों ओर गुप्तचर और सैनिक भेजे। रात्रि के समय महामंत्री भट्टमात्र को साथ लेकर विक्रमादित्य नगर के बाहर निकल पड़े। पूरी रात घूमते रहे, पर कोई स्थान नहीं मिला।

दूसरे दिन दोनों दूसरी दिशा में गए।

और तीसरे दिन संध्या के पश्चात् महामंत्री जब राजप्रासाद में पहुंचे, तब विक्रमादित्य तैयार बैठे थे। महामंत्री को देखते ही वे बोले – 'भट्टजी! आज तो हमें अभी निकल जाना चाहिए।'

'मैं तैयार हूं।'

'कल रात मुझे विचित्र स्वप्न आया था। जब हम नगर की परिक्रमा कर लौटे तब रात्रि का तीसरा प्रहर पूरा होने वाला था। मैं विचारमग्न होकर सो गया और कुछ ही समय पश्चात् स्वप्न प्रारम्भ हुआ। मैंने देखा, दक्षिण दिशा में अवंती

नगरी से छह कोस दूर एक अगोचर और झाड़ी वाले प्रदेश में एक भयंकर कूप है। उसमें एक विशाल नाग है। उसके मुंह में एक रूपवती कन्या है। मैं चौंक पड़ता हूं– अरे, एक नाग के मुंह में कन्या! मैं कूप की मेड़ पर खड़ा होकर देखता रहता हूं। मेरे मन में यह विचार आता है कि क्या यही तो चोर का गुप्त स्थान नहीं है? मैं कुएं में उतरने का विचार करता हूं, इतने में प्रातःकाल की झालर बज उठती है और महादेवी मुझे जागृत कर रही होती हैं।'

भट्टमात्र तत्काल बोल उठा, 'महाराज! यह तो अति उत्तम स्वप्न है। आपने स्वप्न में जो स्थान देखा है, उसकी खोज करने के लिए हमें कल प्रातः ही जाना चाहिए। अभी रात्रि-वेला में कुछ भी दिखाई नहीं देगा। इस स्वप्न का फल यह होना चाहिए कि वह रूपवती कन्या आपको प्राप्त होगी।'

विक्रमादित्य महामंत्री के विचारों से सहमत हुए।

दूसरे दिन स्नान आदि प्रातःकर्म से निवृत्त होकर विक्रमादित्य महारानी कमलावती के पास गये और स्वप्न की बात बताई।

'स्वामी! आप सावधान रहें–आपकी कल्पना के अनुसार यदि उस कूप में मांत्रिक चोर होगा तो..... ।'

'प्रिये! यह तो एक विचित्र स्वप्न था। कूप है या नहीं, यह एक प्रश्न है। तुम निश्चिन्त रहो। मैं क्षण भर के लिए असावधान नहीं रहूंगा।'

महाप्रतिहार ने महामंत्री के आगमन की सूचना दी। विक्रम कमलादेवी को कहकर वहां से विदा हुए।

विक्रम और महामंत्री दोनों उत्तम अश्वों पर बैठकर दक्षिण दिशा की ओर चल पड़े।

विक्रम मन-ही-मन जानते थे कि भट्टमात्र ज्योतिर्विद्या में पारंगत हैं, इसलिए उन्होंने स्वप्न का जो फल बताया है, वह अन्यथा हो नहीं सकता। किन्तु ऐसा अनेक बार होता हे कि स्वप्न में दीखता है कुछ और उसका यथार्थ रूप कुछ और ही होता है। नाग के मुंह में कोई स्त्री कभी हो ही नहीं सकती – किन्तु इस दृश्य का मात्र यही फलितार्थ हो सकता है कि नागरूपी मांत्रिक चोर के पंजे में फंसी हुई कन्याएं मुक्त होने की चेष्टा कर रही हैं।

विक्रम को इस स्वप्न के आधार पर ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मांत्रिक चोर अब पकड़ में आ जाएगा। उन्होंने चलते-चलते कहा–'महामंत्री! तुमने स्वप्न का फल स्पष्ट नहीं किया। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि आज मेरी प्रतिज्ञा पूरी होगी। मांत्रिक चोर मेरे हाथों पकड़ा जाएगा और चारों कन्याओं की मुक्ति मेरे द्वारा होगी। नाग चोर का प्रतीक है और वह कन्या चार कन्याओं की प्रतीक है।'

'महाराज! तीन दिनों से आपके मन में मांत्रिक चोर के विचार ही आ रहे हैं, इसलिए आपने यह कल्पना की है, किन्तु स्वप्नशास्त्र के अनुसार आपको श्रेष्ठ नारी की प्राप्ति होनी चाहिए।' भट्टमात्र ने कहा।

विक्रम बोले – 'मुझे प्रतीत होता है कि आप अपनी ज्योतिष विद्या को भूल-से गए हैं, क्योंकि राजकार्य में आपकी बहुत व्यस्तता रहती है।'

भट्टमात्र ने हंसकर कहा – 'महाराज! जो विद्या आत्मसात् हो जाती है, वह कभी विस्मृत नहीं होती। वह जन्मान्तर तक भी साथ में रहती है। मैं आपको दावे के साथ कह सकता हूं कि आपको नारीरत्न की उपलब्धि होगी। यदि मेरी यह भविष्यवाणी असत्य हुई तो मैं ज्योतिष विद्या का त्याग कर दूंगा।'

ये शब्द सुनकर विक्रम ने अपने अश्व को रोककर कहा – 'महामंत्री! तो हमें अब पुनः लौट जाना चाहिए। मुझे नारीरत्न की प्राप्ति हो चुकी है।'

भट्टमात्र बोला – 'महाराज! आप उतावले न हों – यहां आए हैं तो खोजकर जाएंगे। मेरी गणना में भूल भी रह सकती है।'

दोनों मित्र आगे बढ़े। लगभग दो कोस दूर जाने के पश्चात् विक्रम ने कहा, 'भट्टमात्र! स्वप्न में मैंने ऐसा स्थान देखा था – सामने जो वटवृक्ष है, इसकी मुझे पूरी स्मृति है। मैं इसके पास से गुजरा था, ऐसा याद है।'

'तो हम उसी ओर से चलें?'

दोनों ने अपने अश्वों को वटवृक्ष की ओर मोड़ा। कुछ दूर जाने पर अगोचर और झाड़-झंखाड़ के बीच एक कूप दिखाई दिया।

विक्रमादित्य बोले – 'मित्र! मुझे यही कूप स्वप्न में दिखाई दिया था।'

दोनों कूप के पास पहुंचे और अश्वों से नीचे उतरे।

भट्टमात्र ने कहा – 'यह कूप तो सौ वर्ष पुराना प्रतीत होता है – इसका उपयोग कोई करता हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता।'

'ऐसा ही लगता है।' कहकर विक्रम ने अपना अश्व एक ओर वृक्ष के तने से बांध किया।

अश्व को बांधते-बांधते महामंत्री ने कहा – 'महाराज! हमें पूर्ण सावधानी पूर्वक कुएं के पास जाना चाहिए।'

'हां, किन्तु मैं अकेला ही जाऊंगा। तुम यहीं रुके रहो।'

'नहीं, महाराज! मैं तो साथ ही चलूंगा।'

दोनों कुएं के पास पहुंचे। अचानक उन्होंने भयंकर आवाज सुनी – 'आओ, आओ, तुम्हारे में साहस हो, वीरत्व हो तो मेरे मुंह में फंसी हुई संसार की श्रेष्ठ सुन्दरी को ले जाओ।'

दोनों चौंके – दोनों ने अंधकूप में झांककर देखा। देखते ही दोनों स्तंभित रह गए।

अजगर से भी विशाल एक भयंकर नाग कुएं में था। उसके मुंह में देवकन्या जैसी एक अति सुन्दर कमनीय कन्या फंसी हुई थी।

यह क्या हो सकता है ? इस प्रकार एक मानव कन्या नाग के मुंह में फंस नहीं सकती। भट्टमात्र आठ-दस कदम पीछे रह गया था।

विक्रमादित्य ने तत्काल उस आवाज के उत्तर में कहा – 'मैं अभी आ रहा हूं। मेरी तलवार तुम्हारी काया के टुकड़े-टुकड़े कर देगी।'

इतना कहकर विक्रम ने अपना मुकुट उतारकर महामंत्री को सौंप दिया। कुएं में से एक भयंकर अट्टहास गूंज उठा।

३०. राजलक्ष्मी का अपहरण

अट्टहास इतना भयंकर होता है कि वह मनुष्य की हड्डी-पसलियां ढीली कर डालता है।

कूप से अद्‌भुत अट्टहास भट्टमात्र के लिए असह्य था। उसने तत्काल विक्रम का हाथ पकड़ते हुए कहा – 'महाराज! आप कूप में न कूदें – भीतर भयंकर कालसर्प बैठा है।'

विक्रम ने मुस्कराते हुए कहा – 'मित्र!' स्वप्न का भावी फल तो तुमने ही बताया था – मनुष्य एक जन्म में एक ही बार मरता है। मैं मानता हूं कि यह सर्प नहीं, किन्तु अवंती को पीड़ित करने वाला मांत्रिक चोर है। वह कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, आज मेरी तलवार के एक ही वार से मृत्युधाम पहुंच जाएगा और उसकी सारी आशाएं नष्ट हो जाएंगी। तुम चिन्ता मत करो – शान्ति से देखते रहो।'

भट्टमात्र विक्रम की तेजस्वी आंखों के सामने देखता रहा।

विक्रम ने अपनी तीखी धार वाली तलवार को म्यान से मुक्त किया – मस्तक का रक्षण महामंत्री के हाथ में सौंपकर वह कूप के पास पहुंचा और उसकी मेड़ पर खड़ा होकर प्रचण्ड स्वर में बोला – 'आज मैं तुझे नष्ट कर दूंगा – तू सावधान हो जा।'

इतना कहकर मौत की तनिक भी परवाह किए बिना, विक्रम ने उस अंधकूप में छलांग लगा दी।

किन्तु यह क्या ?

विक्रम अधर में ही अटक गए। नाग के बदले वहां एक सुन्दर पुरुष खड़ा था। उसके पास वह सुन्दरी खड़ी थी। सुन्दरी का रूप-लावण्य अपूर्व था। उसके अलंकारों की प्रभा से समूचा कूप प्रकाशित हो रहा था।

विक्रम अधर में थे, फिर भी उन्होंने अपनी तलवार उत्तेजित की। नाग के रूप का त्याग कर पुरुष बना हुआ वह बोल उठा—'ओ वीर पुरुष! तुम शांत हो। मैं चोर नहीं, किन्तु एक विद्याधर हूं। तुम्हारी परीक्षा करने के लिए ही मैंने स्वप्न की रचना की थी।'

तत्काल विक्रम ने तलवार रोक दी। विद्याधर देव ने उन्हें नीचे उतारा।

कुएं की कुछ दूरी पर भट्टमात्र आंखें बन्द कर खड़ा था। वह मानता था कि विक्रमादित्य आपत्ति में फंस जाएंगे। भयंकर नाग क्या करेगा? किन्तु अब क्या हो?

संसार में बालहठ, स्त्रीहठ, राजहठ और योगीहठ—इनको टाला नहीं जा सकता।

विक्रमादित्य देव के सामने खड़े रहे, तब देव ने कहा—'राजन्! वैताढ्य पर्वत पर श्रीपुर नाम की नगरी में रहता हूं। मेरा नाम है धीर। यह मेरी रूपवती और गुणवती कन्या कलावती है। मैं अब संसार त्यागकर मुनि बनना चाहता हूं। मैं अपनी इस एकाकी पुत्री को किसी योग्य वर के हाथों में सौंपने की दृष्टि से, उसकी खोज में यहां आया हूं। वैताढ्य पर्वत पर अनेक विद्याधर परिवार हैं, किन्तु मानवजाति में जो गुण होते हैं, जो पराक्रम होता है, वह विद्याधरों में नहीं होता। दूसरी बात है कि मेरी यह कन्या भी किसी वीर पुरुष की सहधर्मिणी बनना चाहती है। आज मैं आपको पाकर अत्यन्त प्रसन्न हूं। आप मेरी कन्या को स्वीकार करें।'

विक्रम यह सुनकर अवाक् रह गए। उन्होंने कलावती की ओर देखा। वह नीची दृष्टि किए खड़ी थी। उसका रूप और लावण्य आंखों को तृप्त करने वाला था। अन्त:करण में ऊर्मियों से भरे काव्य का जागरण हो, ऐसा उसका सुकुमार वदन था।

विद्याधर ने विनयपूर्वक कहा—'राजन्! मेरी प्रार्थना आप स्वीकार करें। वर की खोज करते-करते मैं थक चुका हूं। आप मुझे निराश न करें।'

विक्रम ने हाथ जोड़कर कहा—'आपकी भावना का मैं सत्कार करता हूं।'

विद्याधर अत्यन्त आनन्दित हुआ। कलावती ने तत्काल विक्रम के चरणों में मस्तक नवाया।

विद्याधर ने अपनी इच्छाशक्ति का प्रयोग किया और तीनों तत्काल बाहर आ गए।

भट्टमात्र खड़ा-खड़ा अनेक कल्पनाएं कर रहा था। वह विक्रम को एक रूपवती कन्या और एक दिव्य पुरुष के साथ देखकर आश्चर्यचकित रह गया।

विक्रम बोले—'मित्र! तुम्हारी भविष्यवाणी सत्य साबित हुई है।' यह कहकर उन्होंने विद्याधर धीर और उसकी पुत्री कलावती का परिचय दिया।

विद्याधर बोला—'राजन्! सामने वृक्ष की ओर दृष्टि करें। वहां एक दिव्य रथ है। आप मेरी कन्या को लेकर पधारें। आज का दिन उत्तम है—मैं रुक नहीं सकता।'

सुरूपा कलावती पिता से चिपट गई। पिता ने कहा—'कला! स्वामी में ही सुख-दु:ख और जीवन का सर्वस्व है, यह मानकर सुखी रहना। तेरी भावना मैंने पूरी की है। अब मैं अधिक रुक नहीं सकता—अभी मुझे दूर-दूर के प्रदेशों तक जाना है।'

भट्टमात्र ने बीच में कहा—'महात्मन्! आपके वरदहस्त से कन्यादान....।'

विद्याधर बोला—'यह लाभ तो मुझे लेना ही है।'

इसके बाद पिता-पुत्री रथ में बैठे। विक्रमादित्य और भट्टमात्र भी साथ थे। रथ राजभवन में पहुंचा।

विक्रम ने महारानी कमला को सारी बात बताई। वह अत्यन्त प्रसन्नता से कलावती से मिली और संध्याकाल में अवंती नगरी में विवाह की आयोजना हुई।

कन्यादान की विधि सम्पन्न कर, अलंकार आदि का उपहार देकर विद्याधर धीर रात्रि के प्रथम प्रहर के बीत जाने पर वहां से प्रस्थित हो गया।

सुख और आनन्द के दिन बहुत छोटे होते हैं। कब दिन उगता है और कब अस्त होता है, यह ज्ञात ही नहीं होता। दु:ख के दिन लम्बे होते हैं। एक-एक क्षण एक युग जैसा लगता है। समय के बीतने में कोई अन्तर नहीं आता, किन्तु जब दु:ख और सुख का स्पर्श होता है, तब ऐसा परिवर्तन सहज है।

रानी कलावती के रूप-गुण से महाराज मुग्ध हो जाएं, यह सहज था—परन्तु रानी कमला भी अत्यन्त प्रसन्न बन गई थी।

रानी कलावती के लिए अलग निवास का प्रबन्ध हो चुका था। वह दिन का अधिक समय देवी कमलारानी के पास में ही बिताती थी। आठ दिन-रात बीत गए। विक्रम को ऐसा प्रतीत हुआ कि लोग इन्द्र के सुख की कितनी ही समृद्ध कल्पना क्यों न करें, किन्तु स्वयं जो सुखोपभोग कर रहा है, वह इन्द्र के सुख से अनंतगुना अधिक है।

किन्तु नौवें दिन सुख से छलकते उसके हृदय पर एक वज्राघात हुआ।

अवंती के एक धनाढ्य सार्थवाह के घर करोड़ों रुपयों के रत्नालंकारों की चोरी हो गई। यह चोरी भी मांत्रिक चोर ने ही की थी। पूरी नगरी घबरा उठी। जिस

सार्थवाह का धनभंडार इतना सुरक्षित है, जिसके भवन पर आठों प्रहर चौकीदार रहते हैं, ऐसे धनाढ्य सेठ राजशेखर के घर यदि चोरी होती है तो भला दूसरों के घर का तो कहना ही क्या ?

राजसभा में विक्रम के समक्ष जब चोरी की यह फरियाद आयी तब उसका सुख-स्वप्न धूलिसात् हो गया।

नगररक्षक उस चोर को पकड़ने में असफल रहा था। राज्य का गुप्तचर विभाग भी निराश हो चुका था।

महाबलाधिकृत, जो विराट् सेना के समक्ष अकेले जूझने में सक्षम था, वह भी इस एक अकेले चोर को पकड़ने में अक्षम प्रमाणित हुआ। पुराना महामंत्री बुद्धिसागर भी इस चोर के प्रसंग में बुद्धिहीन बन गया।

विक्रम का खून खौल उठा। उनकी आंखों से तेज निकलने लगा। उन्होंने सभा के समक्ष प्रतिज्ञा के स्वरों में कहा– 'जब तक चोर को नहीं पकड़ा जाएगा, तब तक मैं राजवैभव का त्याग कर चोर को पकड़ने के कार्य में ही जुटा रहूंगा।'

नौजवान राजा की उद्‌घोषणा सुनकर समग्र राजसभा अवाक् रह गई। विक्रम ने उसी दिन से सादा भोजन करना प्रारम्भ कर दिया था और रात्रि का प्रथम प्रहर पूरा हो, उससे पूर्व ही वे अकेले वेश-परिवर्तन कर नगर-चर्या के लिए निकल जाते–पूरी रात घूमते और प्रातः राजभवन में आ जाते।

दो रात इस प्रकार व्यतीत हुई और तीसरी रात को बिजली कड़क उठी।

विक्रम नगर-भ्रमण से निवृत्त होकर प्रातःकाल भवन में लौटे। वे नगररक्षक और मंत्रियों को बुलाकर चोर के विषय में मंत्रणा करना चाहते थे। वे ज्यों ही स्नान आदि से निवृत्त होकर, वस्त्र धारण करने लगे, तब तक परिचारिका हांफती हुई दौड़ी-दौड़ी आयी और घबराती हुई बोली–'क्षमानाथ! ऊपर पधारें.....'

'क्यों ? तू इतनी घबरा क्यों रही है ?'

'कृपानाथ! आप शीघ्र ऊपर चलें।'

विक्रम तत्काल उठे और परिचारिका के साथ भवन की प्रथम मंजिल पर गए। वहां महारानी कमला अत्यन्त उदास खड़ी थी। प्रियतमा को देखते ही विक्रम बोले– 'प्रिये! तुम इतनी उदास क्यों ?'

'महाराज! अकल्पित घटना घटित हो गई है।'

'क्या ?'

'मांत्रिक चोर रात को राजभवन में आया ऐसा प्रतीत होता है और वह नई रानी कलावती का अपहरण कर ले गया है.... ।'

'कला का अपहरण?'

'हां, नाथ! उसके पलंग पर तांबे का एक छोटा-सा पत्र पड़ा है, जिस पर खोपड़ी का चिह्न है।'

'ओह!' कहकर विक्रम ने अपने दोनों हाथों से सिर दबाया। फिर वे कमला के साथ विद्याधर-कन्या कलावती के शयन-गृह में गए।

देखते ही विक्रम का कलेजा कांप उठा — संसार की श्रेष्ठ सुन्दरी का पलंग सूना पड़ा था। जिस पलंग पर गुलाब के फूल जैसी प्रियतमा सोती थी, उस पलंग पर केवल एक कौशेय चादर पड़ी थी और एक ताम्र का टुकड़ा पड़ा था। उस पर खोपड़ी की आकृति कुरेदी हुई थी।

विक्रम ने चारों ओर देखा — एक झरोखा खुला था। विक्रम ने सोचा, वह चोर इसी झरोखे से आया होगा, किन्तु झरोखा भूमि से बहुत ऊंचा था। वह इससे कैसे आ सकता है? बाहर रक्षक पहरा देते ही हैं, वह चोर कलावती को लेकर किस रास्ते से गया होगा?

स्वामी को विचारमग्न देखकर कमला बोली — 'येन-केन-प्रकारेण मेरी बहन कला को आप शीघ्र मुक्त कराएं।'

'देवी! राजलक्ष्मी का अपहरण मेरे जीवन पर भारी कलंक है। मैं अभी सबको बुलाता हूं।'

'स्वामिन्! यह बात यदि नगरी में प्रसारित होगी तो बहुत ऊहापोह होगा और श्रेष्ठियों के परिवार नगर का त्याग करने लगेंगे।' रानी ने कहा।

रानी की इस बात में विक्रम को तथ्य लगा और उन्होंने महामंत्री, नगररक्षक आदि विश्वस्त व्यक्तियों को बुलाने का निर्णय किया।

दोनों वहां से बाहर आ गए।

३१. विक्रम की आराधना

कोई भी बात गुप्त रह सके, यह अत्यन्त कठिन है। हां, कोई विश्वस्त व्यक्ति लम्बे समय तक बात को पचाकर रख सकता है अथवा दो अभिन्न हृदयों के बीच हुई बात एक सीमा तक गुप्त रह सकती है, किन्तु जो बात छह कानों तक पहुंच जाती है, उसके पांखें आ जाती हैं और फिर न चाहने पर भी वह अनन्त आकाश में उड़ने लगती है।

महारानी कमला की बात तथ्यपूर्ण थी, फिर भी महाराजा ने महामंत्री, महाप्रतिहार, नगररक्षक, महाबलाधिृत, बुद्धिसागर आदि व्यक्तियों को रानी कलावती के अपहरण की बात बताई।

विक्रम बोले – 'यह चोर न पकड़ा जाए, यह केवल मेरे पर ही नहीं, समूचे राजतंत्र पर कलंक है और इतने भारी संरक्षण के पश्चात् भी यदि राजरानी का अपहरण हो जाता है तो राज्य की प्रजा की रक्षा कैसे संभव हो सकती है ?'

महामंत्री ने कहा – 'कृपानाथ ! इस घटना के कारण हम भी प्रजापालक को मुंह दिखाने योग्य नहीं रह जाते। इन आठ दिनों में हमारे रक्षकों ने नगर का कोना-कोना छान डाला है। कोई भवन शेष नहीं रहा है। अवंती नगरी के चारों ओर पांच-पांच कोस तक के गांव, मंदिर, गुप्त स्थल देखे जा चुके हैं – किन्तु इस मांत्रिक चोर के विषय में कोई बात ज्ञात नहीं हो सकी। उसके द्वारा चुराए गए धन और कन्याओं का भी कहीं अता-पता नहीं लगा।'

'तो क्या हम सब हाथ-पर-हाथ रखकर बैठ जाएं ?' विक्रम ने कहा।

'नहीं, कृपानाथ ! हमारा प्रयत्न इतना सघन और प्रबल है कि हम पल भर भी विश्राम नहीं करते – किन्तु जब सामुदायिक कर्म का विपाक होता है, तब सब लाचार बन जाते हैं।' नगररक्षक ने कहा।

विक्रम जानते थे कि राजतंत्र निष्क्रिय नहीं है। सभी कर्मचारी सावधान हैं – फिर भी चोर के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं हो रहा है।

सभी विचारमग्न हो गए। इस विचार-विमर्श में देवी कमला भी उपस्थित थी। उसने कहा – 'महाराज ! मुझे एक उपाय दीख रहा है।'

'प्रिये ! तुम बताओ, वह उपाय क्या हो सकता है ?'

'प्राणनाथ ! यह चोर कोई सामान्य नहीं है। यह मंत्रशक्ति या दैवीशक्ति से सम्पन्न होना चाहिए। उसको वश में करने का एकमात्र उपाय है – मंत्रशक्ति की आराधना। आप निष्ठापूर्वक तीन दिन तक चक्रेश्वरी देवी की आराधना करें। इससे आपकी और पूरे नगर की चिन्ता दूर हो सकेगी।'

रानी कमलावती का यह उपाय सबके मन को भा गया। विक्रम ने अतिप्रसन्न दृष्टि से प्रियतमा की ओर देखकर कहा – 'प्रिये ! यह उचित उपाय है। कल ही मैं चक्रेश्वरी देवी की आराधना प्रारम्भ कर दूंगा।'

नई रानी कलावती के अपहरण की बात कहीं प्रकट न हो जाए, इस बात का निर्णय लेते हुए सभी वहां से उठे – किन्तु ऐसी बातें क्या कभी गुप्त रह सकी हैं ?

मध्याह्न तक यह बात सारे नगर में, चौराहे-चौराहे पर चर्चा का विषय बन गयी।

बात जब फैलती है, तब उसके साथ अनेक नई बातें जुड़ती हैं और इसीलिए तिल का ताड़ बन जाता है।

संध्या होते-होते नगरी के अनेक श्रेष्ठी, राजपरिवार के सदस्य आदि महाराजा विक्रमादित्य से मिलने के लिए आने लगे।

दूसरे दिन प्रातः स्नान-शुद्ध होकर विक्रमादित्य अन्नजल का त्याग कर, भवन में स्थित श्रीजिन मंदिर के पास चक्रेश्वरी देवी के मंदिर में आराधना के लिए बैठ गए।

एक दिन और एक रात बीत गई।

दूसरा दिन और दूसरी रात भी बीत गई।

तीसरा दिन पूरा हुआ और रात आयी।

अखण्ड दीप जल रहा था। मंदिर के बाहर दो रक्षक सदा रहते थे। महारानी कमला भी देख-रेख में संलग्न थी।

तीसरे दिन मध्यरात्रि के समय....।

वातावरण शान्त था। गाय के घृत का दीपक जल रहा था। अन्न-जल के बिना तीन दिन बीत रहे थे, फिर भी विक्रम की निष्ठा में कोई अन्तर प्रतीत नहीं हो रहा था—चक्रेश्वरी देवी की भक्तिपूर्वक आराधना चल रही थी।

रात्रि के तीसरे प्रहर की दो घटिकाएं बीती होंगी। उस समय मंदिर में अपूर्व प्रकाश हुआ और भयंकर झंझावात निर्मित हुआ हो, ऐसी स्थिति सामने आयी। किन्तु विक्रम पराक्रमी थे, क्षत्रिय थे, वे अडोल बैठे रहे।

उनके कानों पर कुछ शब्द टकराए—'वत्स! तुम्हारी आराधना से मैं प्रसन्न हूं। बोलो, तुम क्या चाहते हो? विक्रम! आंखें खोलो!'

विक्रम ने आंखें खोलीं—चक्रेश्वरी की ऐसी तेजोमय मूर्ति थी कि उस पर दृष्टि भी नहीं टिक पाती थी। देवी के दोनों हाथ ऊंचे थे।

विक्रमादित्य ने तत्काल हाथ जोड़कर नमस्कार किया।

देवी चक्रेश्वरी बोली—'राजन्! जो चाहो मांग लो।'

'भगवती! आप प्रसन्न हुई हैं, यही मेरे लिए पुण्य का उदय है। मुझे कुछ नहीं चाहिए, मां! ....एक चोर इस नगरी में भारी उत्पात कर रहा है, महामंगलमयी। यह चोर कौन है, यह कहां रहता है—बस, इतना मात्र जानना चाहता हूं। आप कृपा कर बताएं।'

देवी ने मृदुमंजुल स्वर में कहा—'राजन्! यह चोर इतना भयंकर है कि देवता भी इसे पकड़ने में हिचकते हैं। यह तुम्हारे राज्य की अभिलाषा कर रहा है—यह दुस्साध्य है।'

'कृपामयी! आप मुझे उसका परिचय बता दें—यदि मैं इस चोर को पकड़कर अपनी प्रजा का दुःख दूर नहीं कर सकता तो मैं राजगद्दी का त्याग कर दूंगा। मुझे राज्य का कोई मोह नहीं है और चोर को पकड़ने के समय यदि मेरी मृत्यु भी हो जाए तो वह सुखद प्रसंग ही होगा।'

'वत्स ! इस चोर का पूरा इतिहास सुन लो । प्राचीन समय की बात है । इस नगरी में तुम्हारे दादा राज्य करते थे । उस समय धनेश्वर नाम का एक धनाढ्य व्यक्ति यहां रहता था । उसकी पत्नी का नाम प्रीति और पुत्र का नाम गुणसागर था । पुत्र सर्वगुण-सम्पन्न था । जब वह युवा हुआ, तब रूपवती नाम की एक श्रेष्ठि कन्या से उसका पाणिग्रहण हुआ । रूपवती देवकन्या को भी लज्जित करने वाले रूप-सौन्दर्य से युक्त थी । वह गुणों में भी श्रेष्ठ थी । विवाह के कुछ ही समय पश्चात् गुणसागर सामुद्रिक व्यापार के लिए परदेश चला गया । धनेश्वर सेठ के घर के पास पीपल का एक वृक्ष था । उसके आश्रय में एक अधम व्यंतर देव निवास करता था । वह व्यंतर गुणसागर की पत्नी रूपवती में आसक्त बन गया था । गुणसागर को परदेश गया जानकर वह व्यंतर अपनी मोहान्धता को पूरी करने में तत्पर हुआ । दस दिन पश्चात् गुणसागर का रूप बनाकर वह घर लौटा और पिता को नमस्कार कर खड़ा रहा । पुत्र को इतना शीघ्र आया देखकर पिता को अत्यन्त आश्चर्य हुआ । उसने कहा – 'गुणसागर ! तुम इतनी शीघ्र कैसे लौट आए ? क्या विदेश में मन नहीं लगा या कोई विपत्ति आ गई ?'

'पिताजी, ऐसा कुछ भी नहीं है । विदेश-गमन का मेरा उत्साह ज्यों-का-त्यों है । मार्ग में एक ज्ञानी महात्मा मिले । उन्होंने कहा – 'वत्स ! तू यदि परदेश जाएगा तो वहां तेरी मृत्यु हो जाएगी । फिर भी मैं आगे जाना चाहता था, परन्तु मुनीमों ने मुझे समझाकर यहां भेज दिया । न चाहते हुए भी मैं यहां आ गया ।'

'बहुत अच्छा किया....धन हमारे पास बहुत है....केवल अनुभव प्राप्त करने के लिए मैंने भेजा था – किन्तु अंधे की लकड़ी के समान तुम मेरे सहयोगी हो । यदि तुम्हारी मौत हो जाती तो हमारी क्या दशा होती ? तुमने लौटकर बहुत उत्तम काम किया है ।'

इस प्रकार पिता का प्रसाद प्राप्त कर गुणसागर-रूपी व्यंतर वहां रहने लगा और रूपवती के साथ विविध भोग भोगने लगा । व्यंतर का रूप साक्षात् गुणसागर जैसा ही था, इसलिए रूपवती को कोई शंका नहीं हुई । वह तो अपने पति को सर्वस्व मानकर ही उसकी सेवा कर रही थी ।

दो वर्ष बीते और एक दिन अचानक सेठ धनेश्वर के पास यह समाचार पहुंचा कि गुणसागर विदेश-यात्रा में पुष्कल धन अर्जित कर घर लौट रहा है । कल नगरी के परिसर में सब पहुंच जाएंगे । यह समाचार सुनकर सेठ धनेश्वर और समग्र पारिवारिक लोगों को बहुत आश्चर्य हुआ । व्यंतर भी कठिनाई का अनुभव करने लगा । उसने धैर्यपूर्वक पिताश्री से कहा –'पिताश्री ! मेरे नाम से कौन आ रहा है ? निश्चित ही कोई दस्यु या ठग होना चाहिए ।'

दूसरे दिन नगरी के परिसर में गुणसागर आ पहुंचा। सेठ धनेश्वर और व्यंतररूपी गुणसागर उसकी अगवानी के लिए गए। दूसरे सगे-संबंधी भी साथ में थे। असली गुणसागर को देखकर सबके आश्चर्य का पार नहीं रहा। इन दोनों में असली गुणसागर कौन है, यह एक विकट प्रश्न उपस्थित हो गया। जो पुराना मुनीम साथ में था, वह कार्यवश वहीं रुक गया था और छह महीने बाद आने वाला था। सबके सामने यही समस्या थी कि रूप, लिंग, कद, वाणी और चाल—सभी बातों में दोनों समान थे। इनमें कौन असली गुणसागर है, इसे कैसे पहचाना जाए।'

पिता ने नहीं पहचाना, किन्तु मां भी अपने असली पुत्र को नहीं पहचान पायी—रूपश्री भी भारी असमंजस में पड़ गई....उसका मन अत्यन्त व्यथित और पीड़ित हो गया....यदि प्रवास से आया हुआ गुणसागर ही वास्तविक है तो स्वयं एक जन्म में दो पति करने के दोष की भागी होगी और उदर में पांच महीने का गर्भ पल रहा था।

राजा विक्रम! इस प्रश्न का समाधान पाने के लिए सभी अवंतीनाथ के समक्ष उपस्थित हुए। वे भी असमंजस में पड़ गए। असली गुणसागर को कैसे पहचाना जाए? राज्य के बुद्धिमान मन्त्री, न्याय-विशारद सभी विचार में फंस गए। अन्त में आपके पितामह राजा ने यह आदेश दिया—इन दोनों को एक स्थान पर अलग-अलग रखना चाहिए....पन्द्रह दिनों के भीतर यह पता लग जाएगा कि असली गुणसागर कौन है। राजाज्ञा के अनुसार दोनों को राजा के एक भवन में, अलग-अलग खण्ड में, रहने के लिए कहा गया।

इधर रूपवती अत्यन्त व्यथित थी। उसने सोचा, संभव है प्रवास से आए हुए गुणसागर ही असली स्वामी हों तो मेरी सगर्भावस्था अभिशाप बन जाएगी। इसलिए उसने नगरी की एक जानकार दायण को बुलाकर तत्काल गर्भपात करा डाला....पांच मास का गर्भ जीवयुक्त था। वह दायण गुप्त रूप से उस गर्भ को गांव के बाहर ले गई और नगरी से एक कोस दूर एकान्त में पड़ी हुई मानव-खोपड़ी में रखकर आ गई।

उसी समय चंडिका नाम की एक विद्याधर देवी आकाश-मार्ग से अपने विमान से जा रही थी। उसका विमान इस खोपड़ी के ऊपर आते ही आकाश में रुक गया। चंडिका देवी चौंकी और उसने दिव्यदृष्टि से देखा कि एक अपरिपक्व, सजीव-गर्भ के कारण विमान स्तंभित हुआ है।

चंडिका तत्काल विमान से नीचे आयी और गर्भ सहित उस मानव-खोपड़ी को ले गई। उसके मन में यह विचार आया कि यदि इस गर्भ का उचित पालन-पोषण हो तो यह प्रभावशाली और पराक्रमी पुरुष तैयार होगा।

विक्रमादित्य देवी चक्रेश्वरी की बात ध्यानपूर्वक सुन रहे थे।

३२. गुफागृह में

देवी चक्रेश्वरी ने विक्रम की आराधना से प्रसन्न होकर मांत्रिक चोर का वृत्तान्त आगे सुनाते हुए कहा – 'राजन्! नगरी की उत्तर दिशा में, श्मशान से कुछ दूर एक मन्दिर है। उसमें देवी चंडिका की प्रतिष्ठा की हुई है। इस मंदिर में एक गुप्त भूगृह है। देवी चंडिका ने इसी भूगृह में खोपड़ी सहित गर्भ को सावधानी से रखा और गर्भ के पालन की व्यवस्था की।

इधर नगरी में गुणसागर की पत्नी रूपवती लोकलज्जा और भय की चिन्ता से मुक्त हो गई। दायण ने उसे ऐसी औषधि दी कि वह आठ-दस दिनों में ही स्वस्थ, सुन्दर और सुदृढ़ हो गई।

दोनों गुणसागरों को नजरबन्द किए तेरह दिन बीत चुके थे। राजा या मन्त्री कुछ भी निर्णय नहीं कर पा रहे थे। किन्तु महाराजा की चिन्ता को दूर करने के लिए नगर की श्रेष्ठ गणिका देवी चिन्तामणि तैयार हुई। वह महाराजा के पास आयी और समस्या का समाधान करना स्वीकार कर लिया।

महाराजा अत्यन्त प्रसन्न हुए। राजा ने समस्या के समाधान की बात बताने के लिए सेठ धनेश्वर के परिवार तथा नगर के अन्य गण्यमान्य व्यक्तियों को आमंत्रित किया। सभी उस स्थान पर आए, जहां दोनों गुणसागर नज़रबन्द थे। गणिका चिन्तामणि भी आ गई।

चिन्ताणि अपनी एक दासी को लेकर भवन के भीतर गई और दोनों गुणसागरों को बाहर निकालकर कहा – 'तुम दोनों में कौन असली गुणसागर है, इसका निर्णय करना कठिन है। फिर भी सत्य सदा विजयी होता है। इस दृष्टि से मैं एक उपाय कर रही हूं। मैं एक कमरे में भीतर से सांकल लगाकर बैठ जाऊंगी। तुम दोनों में से जो बिना द्वार खोले मेरे पास आएगा, वही सही गुणसागर होगा।' यह कहकर चिन्तामणि एक खण्ड में गई। सारी खिड़कियां बन्द कर, दरवाजे के भीतर से ताला लगाकर वह अन्दर बैठ गई। मनुष्य बिना दरवाजा खोले अन्दर प्रवेश कर नहीं सका, इसलिए असली गुणसागर असमंजस में फंस गया और दुष्ट व्यंतर परम प्रसन्न हुआ। वह कुछ ही क्षणों में अपनी शक्ति के प्रभाव से भीतर पहुंच गया और बोला – 'मैं सही गुणसागर हूं, सत्य ने मेरा साथ दिया है।'

'शाबास, गुणसागर! तुम विजयी हुए हो और नकली गुणसागर पराजित हुआ है। आओ, मैं सबसे पहले तुम्हारे भाल पर कुंकुम का तिलक करूं।' यह कहकर गणिका ने उसके भाल पर कुंकुम का तिलक किया। फिर वह दोनों को लेकर बाहर आयी। वहां महाराजा आदि सभी बैठे थे। वह बोली – 'कृपानाथ!

असली गुणसागर कौन है, यह निश्चय हो गया है। जिसके भाल पर तिलक है, वह दुष्ट व्यंतर प्रतीत होता है, वह दोषी है।'

व्यंतर गुणसागर घबरा गया। राजपुरुष उसे पकड़ने आगे बढ़े, वह अदृश्य हो गया और प्रवास से आया हुआ असली गुणसागर अपने परिवार से जा मिला।

समय बीतने लगा। चंडिका की कृपा से खोपड़ी में स्थित गर्भ वृद्धिंगत होने लगा। धीरे-धीरे वह चंडिका की दासियों की गोद में बड़ा होने लगा। चंडिका ने उस बालक का नाम 'खर्परक' रखा, क्योंकि वह एक मानव-खोपड़ी में बड़ा हुआ था। दिन बीतने लगे। वह बड़ा हुआ। एक ओर वह व्यंतर का बीज था, दूसरी ओर चंडिका की कृपा थी। खर्परक आठ वर्ष का हुआ, तब चंडिका उसे विविध देशों में घुमा लायी। जब वह चौबीस वर्ष का हुआ तब चंडिका ने उसे इस भूगृह में रखा और वरदान देते हुए कहा—'वत्स! इस गुफागृह में ही तेरी मृत्यु हो सकेगी। इसके अतिरिक्त किसी भी स्थान में तुझे कोई नहीं मार सकेगा।' इतना कहकर देवी ने उसे एक दिव्य तलवार दी और कहा—'वत्स! इस तलवार से तू महानतम वीरों को पराजित कर सकेगा।'

चंडिका की कृपा से समृद्ध बनकर खर्परक भूगृह में रहने लगा। उसने अदृश्य होने आदि की अनेक उपलब्धियां प्राप्त कर लीं। अन्त में खर्परक के मन में अवंती का राज्य हड़पने तथा सुन्दर स्त्रियों के साथ विवाह करने का विचार उभरा। साथ-साथ उसमें लोभवृत्ति भी जागृत हुई। वह अपनी विशिष्ट शक्तियों का उपयोग करने लगा। वह चोरी, अपहरण करने में माहिर हो गया। राजन्! उस खर्परक चोर ने ही आपकी पत्नी का अपहरण किया है और पांचों स्त्रियों को भूगृह में रखा है। यह चोर चंडिका के वरदान से अजेय बना हुआ है। इसको पकड़ पाना या मारना किसी के वश की बात नहीं है।'

'विक्रम ने कहा—'कृपामयी! आप मेरे पर प्रसन्न हुई हैं। मुझे और कुछ नहीं चाहिए। मेरी प्रजा इस चोर के त्रास से मुक्त हो, यही मेरी आन्तरिक अभिलाषा है। आपकी शरण में आया हूं। यदि चोर अजेय ही रहा तो फिर...'

'वत्स! तुम्हारी मनोकामना को मैं समझती हूं। किन्तु यह चोर चंडिका के वरदान से अजेय बन चुका है....तुम धैर्य रखकर एक बार उसकी खोज कर लो....उसके भू-गृह में प्रवेश कर जाओ....तुम बाहर उसके साथ किसी प्रकार से मत भिड़ना। उसकी मृत्यु का उपाय केवल उसके गुफागृह में ही है।'

विक्रम बोले—'महादेवी! मैं आपके दर्शन से धन्य बन गया। किन्तु उस चोर की पहचान क्या है?' चक्रेश्वरी देवी बोली—'वह चोर खर्परक प्रतिदिन रात्रि के पहले प्रहर में अवंती नगरी में आता है....परन्तु वह इतना चालाक है कि प्रत्येक

बार वह नये-नये रूप धारण करता है और जब वह चोरी करने या अपहरण क.. जाता है तब अदृश्य हो जाता है। तुम प्रतिदिन नगरचर्या में जाते रहना....वह विविध रूप में तुम्हें मिलेगा। परन्तु एक पहचान है कि खर्परक चाहे किसी भी रूप का धारण करे, उसके बाएं हाथ में लोहे का एक कड़ा अवश्य होगा। इस आधार पर उसकी पहचान कर, तुम उसके पीछे-पीछे चले जाना और उसके गुप्त स्थान को देखकर आ जाना। खर्परक प्रतिदिन कुछ-न-कुछ नयी चीजें खरीदकर ले जाता है।'

विक्रम ने देवी को साष्टांग प्रणाम किया। देवी आशीर्वाद देकर अदृश्य हो गई।

तीन दिन-रात की आराधना पूर्ण हो चुकी थी। प्रातःकाल विक्रम मन्दिर से बाहर निकले। उस समय महारानी कमला बाहर ही खड़ी थी।

उसने स्वामी का सत्कार किया। स्वामी के चेहरे को देखकर वह समझ गई थी कि तीन दिन तक उपवासी रहने पर भी स्वामी के वदन पर प्रसन्नता क्रीड़ा कर रही है, इससे प्रतीत होता है कि साधना का सुपरिणाम अवश्य आता है।

पत्नी को प्रेमपूर्ण दृष्टि से देखते हुए महाराजा विक्रम ने कहा—'प्रिये! मेरी साधना फलवती हुई है।'

वहां खड़े रक्षकों ने महाराजा का जयनाद किया। वहां से विक्रम भवन में गए। तेले की तपस्या का पारणा किया और महारानी कमला को चक्रेश्वरी देवी की सारी बात संक्षेप में बताई।

थोड़े समय पश्चात् सभी मन्त्री आ गए। महाराजा विक्रम ने खर्परक चोर की सारी बात बताई और उसे पकड़ने के उपायों की चर्चा की।

विक्रम वेश-परिवर्तन कर रात्रि के प्रथम प्रहर में नगरचर्या के लिए निकले।

चौथे दिन उन्होंने देखा कि एक अजनबी व्यक्ति हलवाई की दूकान से मिठाई खरीद रहा है। उसके हाथ में लोहे का कड़ा था। मिठाई लेकर वह आदमी चला। विक्रम भी उसके पीछे-पीछे पूर्ण सावचेती से चले।

नगरी से बाहर आकर विक्रम और अधिक सचेत हो गए और उसके पीछे चलते रहे....वह व्यक्ति मांत्रिक चोर खर्परक ही था। वह चंडिका के मंदिर के निकट आया। मन्दिर के पिछले भाग के भू-गृह में वह प्रविष्ट हुआ और द्वार बन्द कर लिया।

विक्रम स्थान का पूरा निर्णय कर तत्काल लौट गया। दूसरे दिन विक्रम एक दरिद्र क्षत्रिय का वेश धारण कर खर्परक के आने के मार्ग पर बैठ गया। यथा-समय खर्परक नये रूप में भू-गृह से बाहर निकला और मस्ती से नगर की ओर चला।

इसी मार्ग पर एक चट्टान पर विक्रम दरिद्र क्षत्रिय के वेश में बैठे थे। उन्होंने रात्रि के सघन अंधकार में भी खर्परक को पहचान लिया। खर्परक जब निकट आया तब विक्रम ने खड़े होकर हाथ जोड़कर प्रार्थना की – 'भाग्यशाली की जय हो। मैं एक गरीब परदेशी हूं....तीन दिन से भूखा हूं.... मेरे पर दया करें....प्रभु आपकी मनोकामना पूर्ण करेंगे।'

'यहां क्यों बैठे हो ?' खर्परक ने पूछा।

'कहां बैठूं, महाराज! न मेरा कोई स्थान है, न मकान है और न पास में एक कौड़ी है। सामने माताजी का एक मन्दिर है, वहां पूजा करने गया था, किन्तु वहां न कोई पुजारी मिला और न कोई प्रसाद प्राप्त हुआ, इसलिए भूखा-प्यासा यहां आकर बैठा हूं।'

खर्परक ने पूछा – 'किस जाति के हो ?'

'महाराज! जाति से क्षत्रिय हूं...किन्तु दुर्भाग्य से सब कुछ गंवा बैठा हूं।'

'चल मेरे साथ नगरी में....लौटते हुए मेरा कुछ सामान तो ढोकर ले आएगा ?'

'धन्य हो, महाराज! जरूर ही आपका सामान ढो लाऊंगा...किन्तु मैं भूखा हूं।'

'निश्चिन्त होकर मेरे पीछे-पीछे आ जा....' कहकर खर्परक आगे बढ़ा। थोड़े समय के पश्चात् दोनों ने नगरी में प्रवेश किया। सबसे पहले खर्परक ने एक हलवाई की दूकान से मिठाई का एक करंडक भरवाया और दरिद्र वेशधारी विक्रम को मिठाई खाने के लिए दी।

फिर वह एक मद्य की दूकान में गया और वहां से मद्य का एक घड़ा खरीदकर विक्रम से बोला – 'तू यहां बैठकर मिठाई खा ले और इस करंडक और भांड को पास में रख, मैं कुछ ही समय में लौट आऊंगा।'

'जय हो! जय हो! महाराज, मैं यहीं बैठकर आपकी प्रतीक्षा करता हूं।' विक्रम ने कहा।

खर्परक एक गली में गया और अदृश्य होकर एक जौहरी के घर में घुसा। रात्रि का दूसरा प्रहर चल रहा था। खर्परक ने जौहरी के रत्न-भंडार से बहुमूल्य रत्नों की एक पोटली बांधी और घर से बाहर आ गया।

जौहरी के घर के सदस्य जागते बैठे थे और बातें कर रहे थे। किन्तु उनको इस चोरी का पता नहीं चला।

रत्नों की पोटली कमर में बांधकर खर्परक उस स्थान पर आया, जहां विक्रम प्रतीक्षा में बैठा था। उसने वह मिठाई स्वयं न खाकर एक कुत्ते को खिला दी।

खर्परक बोला – 'चल, इन दोनों वस्तुओं को उठा।'

विक्रम मद्यभांड को सिर पर रख और मिठाई के करंडक को हाथ में लेकर खर्परक चोर के पीछे-पीछे चला।

नगरी के बाहर निकलकर खर्परक ने पूछा – 'अरे! तेरा नाम क्या है ?'

'विक्रमो!'

'अरे नाम तो सरस है, मालवपति का नाम भी विक्रमादित्य है।'

'बापू! सबके अपने-अपने कर्म होते हैं। कहां तो मैं विक्रमो और कहां विक्रम!'

आधी रात के बाद दोनों गुफागृह के द्वार पर पहुंच गए। खर्परक ने कहा, 'तू यहीं बैठ। मैं ये अन्दर रखकर आता हूं।'

'बापू! आप क्यों कष्ट करते हैं, आज तो मेरे सोने का सूरज उगा है। आप कहें, वहीं मैं इन्हें रख दूंगा।'

'नहीं, तू यहीं बैठ।' कहकर खर्परक ने गुफा का द्वार खोला और मद्यभांड और मिठाई का करंडक लेकर अन्दर गया।

विक्रम को देवी चक्रेश्वरी की बात याद थी। इस तांत्रिक चोर की मृत्यु इस गुफा के अतिरिक्त दूसरे स्थान में हो नहीं सकती। गुफागृह में जाने के पश्चात् खर्परक अपने मूल रूप में आ जाता है। इस स्वर्ण अवसर को नहीं खोना चाहिए। जो अवसर को खो देता है, वह पीछे पछताता है। यह सोचकर विक्रम भी गुफागृह में प्रविष्ट हुआ। वह कुछ सोपान धीरे-धीरे नीचे उतरा। वह इस गुफागृह से अनजान था। कुछ दूर उतरने पर उसके कानों में कुछ शब्द टकराये – कोई परस्पर बातचीत कर रहा था। वहां प्रकाश भी दृष्टिगोचर हुआ। विक्रम ने देखा कि छोटा दिखाई देने वाला गुफागृह भीतर से अत्यन्त विशाल और भव्य है, कम-से-कम उसमें पांच-छह कक्ष अवश्य होने चाहिए।

विक्रम एक ओर छिपकर खड़ा हो गया और क्या बातचीत हो रही है, उसे ध्यान से सुनने लगा।

३३. रक्त का फव्वारा

गुफागृह के आभ्यंतर खण्ड से चारों श्रेष्ठी कन्याएं बाहर आयीं और खर्परक को देखकर एक कन्या बोली, 'खर्परक! तुम कितने निर्दयी हो। हमारी करुणाभरी प्रार्थनाओं और आंसुओं से भी तुम्हारा दिल नहीं पिघला। हमें प्रतीत होता है कि तुम्हारे भीतर मनुष्य का नहीं, राक्षस का कलेजा है।'

'बकवास बन्द करो – क्या मैं तुम्हें भूखा-प्यासा रखता हूं ?'

'यदि तुम हमें भूखे मार डालते तो अच्छा होता। इस कारावास से तो मरना अच्छा है, जिससे इस नारकीय जीवन से छुटकारा तो हो जाता।'

खर्परक हंसते हुए बोला, 'अब अधिक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ेगी। तुम सबने मेरी शक्ति का अन्दाजा तो लगा ही लिया होगा? अवंतीनाथ की नई रानी को भी तुम्हारे साथ ही रखा है। अब दो सुन्दरियां और लानी हैं। एक-दो सप्ताह के भीतर मैं दो रूपवती कन्याओं को ले आऊंगा, फिर अवंतीनाथ की हत्या कर मालवदेश का अधिपति बन जाऊंगा और सातों रूपसियों के साथ विवाह कर स्वर्ग-सुख का अनुभव करूंगा।'

चारों में से एक कन्या बोली, 'ओह! गुफागृह में चोरी-छिपे रहने वाले एक चोर को सिंहासन चाहिए? खर्परक! तुम्हारा यह स्वप्न कभी पूरा नहीं हो पाएगा। तुम हमें मुक्त कर दो। तुमने रानी कलावती का अपहरण किया है। तुम नहीं जानते हमारे प्रतापी महाराजा विक्रम के पराक्रम को। वे तुम्हें पाताल में भी खोज लेंगे और टुकड़े-टुकड़े कर तुम्हें यमलोक पहुंचा देंगे।'

खर्परक जोर से हंस पड़ा। वह बोला, 'अवंती का प्रतापी राजा! उसकी भुजाओं में कितना बल है, मैंने जान लिया। उसकी सुन्दर रानी को मैं उठा लाया, यह क्या कम बात है? अब चुपचाप अन्दर चली जाओ।'

तीसरी कन्या बोली – 'खर्परक! हम तुम्हारे साथ लड़ना नहीं चाहतीं, तुम्हें जो करना है, वह करो, किन्तु हमें छोड़ दो। रानी कलावती ने यहां आने के पश्चात् अभी तक अन्न-जल ग्रहण नहीं किया है। हम भी कल प्रातःकाल से अन्न-जल का त्याग करेंगी।'

'अरे! तुम सब एक सप्ताह तक धैर्य रखो। तुम सबने देखा है कि मेरे पास कितनी सम्पत्ति है। जो सम्पत्ति और वैभव विक्रम के पास नहीं है, वह मेरे पास है। मैं तुम सबको सुखी बना दूंगा।'

'खर्परक! तुम्हारे पास जो धन है, वह तुम्हारे पुण्य का फल नहीं है। यह चुराया हुआ धन है। इस धन से सुख कहां मिलेगा? यदि तुम हमें मुक्त नहीं करोगे, तो हम पांचों कल से अन्न-जल का त्याग कर देंगी।'

'कन्याओं! मैंने आज तक तुम्हारे साथ किसी प्रकार का अभद्र व्यवहार नहीं किया, क्योंकि कुछ ही समय के बाद मैं सबके साथ विधिवत् विवाह करने वाला हूं। यदि तुम सब कल से अन्न-जल त्याग करोगी तो मैं अपनी मर्यादा को भंग कर अपनी काम-वासना को शांत करूंगा।'

चारों कन्याएं भय से कांपने लगीं और उसी समय दरिद्र वेशधारी विक्रम आगे बढ़कर बोला, 'महाराज की जय हो।'

'कौन है तू ?'

विक्रम ने खर्परक की ओर देखा। खर्परक का रूप परिवर्तित था। वह जब नगरी में गया था, तब वह कृत्रिम रूप से गया था, किन्तु गुफागृह में पहुंचते ही उसने अपना मूल रूप बना लिया था—देवी चंडिका का ऐसा वरदान था।

विक्रम बोला—'अरे ! तुम कौन हो ?' मेरी मजदूरी दिए बिना, मुझे बाहर बिठाकर एक व्यक्ति अन्दर आया था, वह कहां गया है ?'

'अरे ! मैं वही हूं....किन्तु तू मेरी आज्ञा के बिना अन्दर कैसे आ गया ?'

'तुम तो कोई चोर प्रतीत हो रहे हो। मुझे साथ लेकर आया था, वह तो बहुत सज्जन मनुष्य था।'

'अरे ओ भिखारी ! वाचाल मत बन, अन्यथा....।'

बीच में ही विक्रम बोल उठा—'मैं क्षत्रिय हूं। मेरी मजदूरी दे दे, अन्यथा जो करूंगा, वह भुगतना पड़ेगा।'

चारों कन्याएं इस अनजान दरिद्र मनुष्य की हिम्मत देखकर अवाक् रह गईं।

खर्परक रोष से भर गया। उसने चारों कन्याओं से कहा, 'तुम सब अपने कक्ष में चली जाओ। मेरे गुफागृह में आने वाला कोई जीवित नहीं रह सकता।' कन्याएं भीतर चली गईं। खर्परक ने इस दरिद्र-वेशधारी विक्रम की ओर देखकर कहा, 'तेरी मजदूरी ! ठहर, अभी तेरे रक्त से चुकाता हूं।'

विक्रम ने मन-ही-मन सोचा, देवी के वरदान से शक्तिशाली बना हुआ यह खर्परक यदि सावचेत हो गया तो सम्भव है, यहां से अदृश्य हो जाए। आज अच्छा अवसर मिला है, इस अवसर को गंवाना मूर्खता होगी, किन्तु पहले इसके क्रोध को प्रचण्ड करना चाहिए। क्रोध मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है। क्रोध बुद्धि, स्मृति और विवेक को नष्ट करता है।

विक्रम बोला—'अरे ! तुम तो वर्णसंकर लगते हो, अन्यथा एक क्षत्रिय के समक्ष ऐसी मूर्खतापूर्ण बातें नहीं करते। मैं गरीब हूं, छोटा हूं, किन्तु हूं एक क्षत्रिय। मुझे मारकर रक्त बहाने वाले को पहले अपना रक्त बहाना होगा, समझे ? मुझे मेरी मजदूरी दे दो।' ऐसा कहते-कहते विक्रम खिसककर मद्यभांड के पास पहुंच गया।

'मुझे प्रतीत होता है कि तेरी मौत तुझे यहां खींच लायी है ? तू मुझे नहीं पहचानता, इसीलिए इस प्रकार बोल रहा है।' खर्परक ने क्रोध में कहा।

'मैं तुम्हें पहचानता हूं। तुम एक अपहर्ता हो, पागल चोर हो। जब सब निद्राधीन हो जाते हैं, तब तुम चोरी करते हो। जब कन्याएं सोयी रहती हैं, तब तुम

उनका अपहरण करते हो। इसमें तुम्हारी क्या बहादुरी है? यदि किसी बहादुर मनुष्य से मुकाबला होता, तो तुम्हें मां का दूध याद आ जाता।'

'ओह शैतान! कुत्ते! तू मेरे कलेजे में आग लगा रहा है।' यह कहकर खर्परक ने खूंटी पर टंगी हुई अपनी तलवार संभाली। खर्परक की आंखें अत्यन्त लाल हो चुकी थीं। वह अपनी तलवार म्यान-मुक्त करे, उससे पहले ही विक्रम ने मद्य का भांड खर्परक पर फेंका। खर्परक के हाथ से तलवार छूटकर जमीन पर गिर पड़ी। मद्य का भांड फूट गया। खर्परक का शरीर मद्य से लिप्त हो गया और सारा कक्ष मदिरामय बन गया।

खर्परक ने नीचे झुककर तलवार उठाई। विक्रम ने अपने शरीर पर लपेटे हुए चीथड़े उतार फेंके और वह मूल वेश में आ गया। उसने अपनी कमर पर लटकी हुई तलवार को म्यानमुक्त किया।

खर्परक क्रोध के आवेश से पागल बन गया था। वह कड़कर बोला—'तू कौन है?'

विक्रम बोला—'मैं विक्रम हूं, तेरी मौत!'

'विक्रमो से विक्रम बन गया? किन्तु आज तेरा शरीर मेरी तलवार का भोग बनेगा। तू अपने इष्टदेव का स्मरण कर ले।'

'अरे दुष्ट! पापी! शैतान! तू अपने पापों को याद कर। आज तू मेरे हाथों मारा जायेगा। आज तक तूने केवल निर्दोष और सोये व्यक्तियों को ही पीड़ित किया है, किन्तु किसी वीर से मुकाबला नहीं हुआ। उठा अपने इस लोहे के टुकड़े को—मैं प्रहार करूं, इससे पूर्व तुझे प्रहार करने का अवसर देता हूं।' विक्रम ने कहा।

'अरे ओ परदेशी! तुझे इतना अभिमान है? तू मेरी प्रचण्ड शक्ति का अपमान कर रहा है। ले, अब तू अपने काल का ग्रास बन।' यह कहकर खर्परक अपनी तलवार घुमाता हुआ विक्रम की ओर आगे बढ़ा।

विक्रम ने एक छलांग लगाकर खर्परक के पहले प्रहार को व्यर्थ कर डाला।

क्रोध के आवेग से हांफता हुआ खर्परक अपने वेग को संभाल नहीं सका और वह मदिरा के कीचड़ में फिसलकर नीचे गिर पड़ा।

विक्रम हंस पड़ा। वह बोला, 'काल की झपट! नादान! उठ और तत्काल गुफा से बाहर चला जा।'

'ओह!' कहकर खर्परक उठा और घायल सिंह की भांति विक्रम पर झपटा।

विक्रम बोला—'पागल! संभल जा। यह रजपूती प्रहार है, कभी निष्फल नहीं जाता।'

विक्रम की ओर बढ़ते हुए खर्परक ने भयंकर अट्टहास किया। विक्रम ने गुफा को प्रकंपित करने वाला सिंहनाद किया और खर्परक की तलवार के टुकड़े कर डाले।

खर्परक की तलवार के दो टुकड़े जमीन पर पड़े थे। खर्परक विस्मित होकर उन्हें देखने लगा। खर्परक तत्काल भीतरी खण्ड की ओर दौड़ा, जहां देवी चंडिका द्वारा प्रदत्त दिव्य खड्ग रखा हुआ था।

विक्रम ने अग्निवैताल को याद किया। अग्निवैताल की कालावधि पूरी हो चुकी थी। खर्परक अपना दिव्य खड्ग लेकर आए, उससे पूर्व ही अग्निवैताल वहां आ पहुंचा। आते ही उसने कहा – 'महाराज की जय हो। आपने मुझे यथासमय याद किया है। यह दुष्ट खर्परक दिव्य खड्ग लेकर आयेगा। उस खड्ग के समक्ष कोई नहीं टिक सकता। किन्तु आप धैर्यवान् हैं। आप उसे छकाते रहें, फिर मैं अपनी करामात दिखाऊंगा।'

'कृतज्ञ हूं मित्र!' विक्रम ने कहा।

इतने में ही यम के वाहन भैंसे-जैसा खर्परक हाथ में दिव्य खड्ग लेकर भीषण गर्जना करता हुआ वहां आ गया।

'अरे दुष्ट! दूसरा लोहखण्ड ले आया?' विक्रम ने ललकारते हुए कहा।

'यह लोहखण्ड नहीं है, तेरा काल है। मेरे इस खड्ग के समक्ष इन्द्र भी नहीं ठहर सकते।' कहते हुए खर्परक ने विक्रम पर प्रहार किया।

किन्तु खड्ग-युद्ध में निपुण विक्रम ने खर्परक के प्रहार को व्यर्थ कर दिया। देवी चंडिका के खड्ग का प्रहार व्यर्थ हुआ देखकर खर्परक अत्यन्त क्रुद्ध होकर फुफकार उठा। उसकी नासिका फूल उठी और उसकी आंखों से अंगारे बरसने लगे।

विक्रम जानता था कि जब तक खर्परक के हाथ में दिव्य खड्ग है, तब तक उसको पराजित नहीं किया जा सकता। इसलिए अग्निवैताल की सूचना के अनुसार विक्रम ने उसको और अधिक थकाने और छकाने के लिए मंडल-व्यूह की रचना की।

खर्परक के पास शक्तिशाली दिव्य खड्ग था, किन्तु वह इस बात से अजान था कि किस प्रकार के व्यूह-युद्ध में कैसे लड़ा जाता है। फिर भी वह अपने आपको महान् योद्धा समझता था। मण्डल-व्यूह के कारण खर्परक दो-तीन बार गिरते-गिरते संभला। विक्रम उसको थका रहा था। अग्निवैताल अदृश्य रहकर यह संग्राम देख रहा था। उसने देखा कि खर्परक थक गया है और विक्रम प्रसन्न हैं, उसने अदृश्य रूप से ही दैवी खड्ग का अपहरण कर उसे विक्रम के हाथों में सौंप दिया और विक्रम का खड्ग खर्परक के हाथ में दे दिया।

खर्परक कुछ भी समझ नहीं सका। स्वयं के हाथ से खड्ग नीचे कैसे गिरा, यह एक आश्चर्य बन गया। उसने विक्रम की तलवार उठाई। वह उसे बहुत हल्की लगी। उसने देखा – देवी चंडिका का खड्ग विक्रम के हाथ में है, यह कैसे हुआ ? खर्परक मन-ही-मन झुंझला उठा और गुफा में छिपने के लिए दौड़ा। उसी समय विक्रम ने ललकारते हुए कहा – 'अरे! तू किस आधार पर अहं कर रहा था ? मौत से डरने वाला क्या अवंती का नाथ बन सकता है ? कायर! इधर आ और अपने बाहुबल का परिचय दे।'

विक्रम की ललकार से खर्परक तिलमिला उठा। वह बोला, 'अरे भिखारी! मुझे तेरे पर दया आ गयी थी। पर नियति है कि तेरी मौत आ गई है।'

दोनों के मध्य तलवार-युद्ध प्रारंभ हुआ – किन्तु यह युद्ध मात्र दो क्षण तक टिका। विक्रम ने एक ही प्रहार से खर्परक के हाथ की तलवार के टुकड़े-टुकड़े कर डाले।

विक्रम ने भी दैवी खड्ग को एक ओर फेंकते हुए कहा – 'नि:शस्त्र व्यक्ति पर शस्त्र-प्रहार करना कायरता का सूचक है।' परन्तु खर्परक उस दैवी खड्ग को लेने दौड़ा। विक्रम जान गया। खर्परक उस खड्ग के निकट पहुंचे, उससे पूर्व ही विक्रम ने खर्परक को बाहुपाश में जकड़कर खण्ड के मध्य ला पटका। खर्परक की आंखों के सामने अंधेरा छा गया। उसने मन-ही-मन सोचा, एक भिखारी की भुजाओं में इतनी शक्ति! खर्परक हिम्मत कर उठा और तड़ककर बोला – 'तू भिखारी नहीं है, कोई छद्मवेशी है।'

'भिखारी तो तू है। मैं विक्रमादित्य हूं, जिसका राज्य हड़पने की बात तू सोच रहा है, जिसके नगर की चार कन्याओं और राजलक्ष्मी का तूने अपहरण किया है।'

'ओह! तब तो मेरा शिकार मेरे घर स्वयं ही आ गया है। अच्छा हुआ', कहकर खर्परक पुन: दहाड़ा और उसने अपनी कमर में बंधी कटार निकाली। विक्रम के पास कोई शस्त्र नहीं था। खर्परक कटार का प्रहार करने के लिए उठा पर विक्रम ने चपलता से उसका हाथ पकड़कर इतना जोर से धक्का मारा कि खर्परक जमीन पर लुढ़क गया। विक्रम उसकी छाती पर चढ़ बैठा। खर्परक अभी भी सावधान था। उसने विक्रम की छाती में कटार भोंकने का विचार किया। वह अपने विचार को क्रियान्वित करे, उससे पूर्व ही विक्रम ने खर्परक के गले पर पास में पड़े दैवी खड्ग का प्रहार कर डाला।

रक्त का फव्वारा ऊपर उछला – कुछ तड़पकर खर्परक ने प्राण तोड़ दिए। अदृश्य वैताल प्रकट होकर बोला – 'महाराज की जय हो। आपने आज एक महान् कार्य किया है।'

विक्रम बोला – 'मित्र! तुम्हारी कृपा का ही यह परिणाम है।'

३४. मस्तक-शूल

विक्रम ने दैवी खड्ग के दो टुकड़े करते हुए कहा – 'मित्र! ऐसे भयंकर शस्त्र का नष्ट होना ही अच्छा है।'

'महाराज! यह दैवी शस्त्र सुरक्षित रखने योग्य था। खैर, अब हम भीतर के खण्ड में चलें।' अग्निवैताल ने कहा।

दोनों भीतर गए। एक खण्ड में नगर की चारों श्रेष्ठी कन्याएं और रानी कलावती आश्चर्यविमूढ़ होकर बैठी थीं।

अपने स्वामी को आते देखकर कलावती उठ बैठी। विक्रम ने पत्नी का हाथ पकड़कर कहा – 'प्रिये, मेरा यह महान् मित्र यदि सहयोग नहीं करता, तो आज क्या परिणाम आता, उसकी कल्पना तक नहीं की जा सकती।'

कलावती स्वामी के तेजस्वी वदन की ओर देखती रही। फिर विक्रम और वैताल ने चोरी के माल वाला भण्डार देखकर सारे गुफागृह की छानबीन की।

'मित्र! अब हमें इन बालाओं को लेकर यहां से जाना चाहिए। प्रतीत होता है कि रात्रि का अंतिम प्रहर अब समाप्त होने वाला ही है।' विक्रम ने कहा।

'आप पांचों स्त्रियों को लेकर चलें। मैं समूचा खजाना आपके भवन में पहुंचा देता हूं।' अग्निवैताल ने कहा।

'प्रातःकाल नगररक्षक आएगा और सारा सामान ले जाएगा। तुम हमारे साथ ही चलो।'

'तो फिर मुझे जाने की आज्ञा दें।'

'क्यों? आतिथ्य स्वीकार नहीं करोगे?'

'आतिथ्य तो जब कभी मांग लूंगा। परन्तु अभी एक उपाधि खड़ी हो गई है।'

'उपाधि! तुम जैसे समर्थ के लिए?'

'महाराज! कहते कुछ लज्जा का अनुभव हो रहा है। मेरे मन में विवाह करने की इच्छा उत्पन्न हुई है।'

'वाह! इसमें उपाधि कैसी? वह भाग्यशालिनी कौन है?'

'मैं मैनाक पर्वत पर गया था। मेरी जाति की ही एक सुन्दरी मिल गई है।' वैताल बोला।

'वाह मित्र! यह तो आनन्द की बात है। विवाह के समय मुझे भूल तो नहीं जाओगे?'

'यही तो उपाधि है।' अग्निवैताल बोला।

'क्यों ?'

'हमारे प्रदेश में मनुष्य प्रवेश नहीं कर सकता।'

'ओह! तब तो....।'

'आपके आशीर्वाद से ही मुझे सन्तोष मानना होगा।' वैताल बोला।

उसके पश्चात् पांचों सुन्दरियों के साथ विक्रम गुफा से बाहर आये।

विक्रम और पांचों स्त्रियों को राजभवन में पहुंचाकर अग्निवैताल अदृश्य हो गया।

'महाराजा विक्रमादित्य खर्परक चोर को मारकर नगरी की चारों कन्याओं को लेकर आ गए हैं'—यह बात नगर में चारों ओर फैल गई।

दिन का पहला प्रहर पूरा हो, उससे पूर्व ही हजारों नगर-जन महाराजा को धन्यवाद देने आए। नगरी की चारों कन्याओं को उनके मां-बाप को सौंप दिया गया और सूर्यास्त से पूर्व खर्परक ने जिन-जिनका माल लूटा था, वह सारा सामान उन-उन अधिकारी व्यक्तियों को दे दिया गया।

रानी कमलावती ने छोटी बहन कलावती को गले लगाकर सारी बात पूछी।

महाराजा विक्रमादित्य ने भी रात्रि के समय अपनी दोनों प्रियतमाओं को खर्परक के साथ हुए संग्राम की बात बताई।

नगरी में आनन्द छा गया।

'वीर विक्रम अपने जीवन को खतरे में डालकर भी प्रजा की रक्षा करते हैं' यह बात सारे राज्य में फैल गई।

कोई भी बात जब एक गांव से दूसरे गांव, एक देश से दूसरे देश में पहुंचती है, तब वह और अधिक विस्तृत होती जाती है। वीर विक्रम के पराक्रम की यह घटना अन्यान्य कल्पनाओं से विस्तृत होती हुई सारे राज्य में गूंजने लगी।

दिन बीतने लगे। बात-ही-बात में छह महीने बीत गए। वीर विक्रम अपने राजकार्य तथा दोनों प्रियाओं में इतने तल्लीन हो गए कि महाराजा शालिवाहन की एकाकी पुत्री—प्रियतमा सुकुमारी को भूल गए।

प्रवृत्ति-बहुलता आदमी को अतीत से दूर खींच लाती है।

वीर विक्रम ने सुकुमारी से छह मास के भीतर-भीतर लौट आने का वादा किया था, पर आज वे इसे पूर्ण विस्मृत कर चुके थे।

प्रतिष्ठानपुर में देवी सुकुमारी पिता के राजभवन में रह रही थी। उसका स्वास्थ्य ठीक था। अब प्रसूति के केवल दो-चार दिन शेष हैं, ऐसा लग रहा था। किन्तु उसका मन अत्यन्त चिन्ताग्रस्त था। स्वयं के कलाकार स्वामी अभी प्रवास से लौटे नहीं थे और कोई संदेश भी नहीं मिला था। उसका हृदय टूट रहा था। वह

सोचती – क्या पुरुष अपनी अर्धांगिनी को भूलने में ही अपना पुरुषार्थ मानते हैं ? क्या स्वामी बंगदेश में पहुंचकर वहां किसी नवयौवना के नयनबंधन में बंध गए हैं ?

पुत्री की मनोव्यथा को दूर करने का प्रयत्न उसकी मां, पिता और सखियों ने करना चाहा, किन्तु कोई प्रयत्न सफल नहीं हुआ। नारी के हृदय में सबसे बड़ा प्रश्न होता है पति का।

सुकुमारी की व्यथा उत्तरोत्तर बढ़ती गई। पति के अभाव में वह अपने आपको शून्य मानने लगी। उसे सदा पति की ही स्मृति आती। उसे लगता कि पति के अभाव में वह पगला जाएगी।

इस प्रकार दर्द, व्यथा और आश्वासन के बीच एक दिन सूर्योदय के समय उसने पुत्र रत्न को जन्म दिया।

पुत्रोत्पत्ति का शुभ समाचार सुनकर महाराजा शालिवाहन ने याचकों को दान दिया।

सुकुमारी का पुत्र अत्यन्त सुन्दर था। उसका प्रत्येक अंग-प्रत्यंग शुभ लक्षणों का सूचक था। सवा महीने के पश्चात् जब ज्योतिषी ने उस नवजात शिशु की जन्म-पत्रिका बनाई तब उसकी माता तथा नाना-नानी को बहुत प्रसन्नता हुई; क्योंकि नवजात शिशु की जन्म-कुंडली में राजयोग था और पराक्रम का योग भी था।

शिशु का नाम देवकुमार रखा गया।

समय के ऐसे पंख होते हैं कि वह कब उड़ता है और कब विराम लेता है, कोई नहीं जान पाता। छह महीने देखते-देखते बीत गए। सुकुमारी अपने प्रिय पुत्र के लालन-पालन में इतनी तल्लीन हो गई कि उसे समय बीतने का भान ही नहीं रहा।

मातृत्व की मंगल-याचना स्त्री के जीवन में वात्सल्य के सागर को प्रकट करती है। इस सागर की लहरों में स्त्री सब कुछ भूल जाती है और अपने हृदय की समग्रता अपने पुत्र में उंड़ेल देती है।

फिर भी नारी अपने प्रियतम को कभी विस्मृत नहीं करती। जब तक संतान की प्राप्ति नहीं होती, तब तक नारी का आधार होता है स्वामी। किन्तु संतान की प्राप्ति के पश्चात् उसका समग्र मन वात्सल्य से भरा-पूरा हो जाता है। सुकुमारी अपने पुत्र में तदाकार बनकर रहती थी। फिर भी वह अपने कलाकार स्वामी को कभी नहीं भूल पायी। वह सोचती, स्वामी छह मास का वादा कर गए थे। आज पूरा एक वर्ष बीत गया है। वे लौटे क्यों नहीं ? क्या ऐसे सुन्दर पुत्र को देखने की अभिलाषा उनमें नहीं जागी ? क्या पुरुष-जाति स्वभाव से ही इतनी कठोर और चंचल होती है ?

सुकुमारी पति के कोई समाचार न पाकर अत्यन्त दुःखी और व्यथित थी। उसने अपनी मनोव्यथा मां के पास रखी। मां ने कहा – 'बेटी यह चिन्ता का विषय अवश्य है, किन्तु धैर्य गंवाने का अवसर नहीं है। विजय एक कलाकार हैं। वे स्वभाव से नम्र हैं, परन्तु कलाकार धुनी होता है। वह जाता कहीं है और निकलता कहीं है। संभव है, तेरे स्वामी किसी अन्य देश में चले गए हों ?'

सुकुमारी बोली – 'मां ! कलाकार धुनी होता है, पर वह अपने प्राणों को कैसे भूल सकता है ? पिताश्री ने उनकी खोज करने दो दूत बंगदेश की ओर भेजे। वे भी खाली हाथ लौट आए हैं। मेरे स्वामी का कोई अता-पता नहीं मिला। मुझे संशय हो रहा है कि अब वे कभी लौटेंगे या नहीं ?

महाराजा शालिवाहन भी उस समय वहां आ गए। उन्होंने सारी बात सुनी। सुकुमारी को आश्वासन दिया।

सुकुमारी बोली – 'सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि हम कलाकार विजयसिंह के निवास-स्थान और परिवार को नहीं जानते।'

विजयसिंह-रूपी विक्रम ने जिस दिन यहां से प्रस्थान किया था, तब उन्होंने सुकुमारी को एक छोटी पेटिका दी थी। उस पेटिका में उनका परिचय था, किन्तु यह वृत्तान्त सुकुमारी की स्मृति में ओझल हो गया था। उसे इस विषय की बात कुछ भी याद नहीं रही।

प्रतिष्ठानपुर में जब प्रियतमा सुकुमारी अपने प्रियतम के आगमन की बाट देख रही थी, तब प्रियतम विक्रम दो-दो सुन्दरियों के सहवास में मौज-मस्ती मना रहे थे।

मनुष्य जब प्रेम और मोह में अंधा बन जाता है, तब वह बहुत कुछ भूल जाता है। विक्रम जानते थे कि उन्होंने सुकुमारी को सगर्भावस्था में छोड़ा है। सुकुमारी के स्वप्न के आधार पर उन्होंने यह भी निश्चय किया था कि सुकुमारी एक तेजस्वी पुत्र का प्रसव करेगी। वह पुत्र और कोई नहीं, अवंती के सिंहासन का उत्तराधिकारी होगा। किन्तु विक्रम अपनी प्रियतमा सुकमारी को बिल्कुल भूल गए थे।

एक दिन अग्निवैताल अपनी पत्नी को साथ लेकर विक्रमादित्य से मिलने आया और उस समय भी विक्रम को सुकुमारी की याद नहीं आयी। वैताल केवल एक दिन रुका और फिर वहां से पत्नी के साथ विविध प्रदेशों की यात्रा के लिए निकल पड़ा।

खर्परक जैसे भयंकर चोर को नष्ट करने के पश्चात् आठ महीने सुख-शान्तिपूर्वक व्यतीत हुए। किन्तु नौवें महीने में एक नयी उपाधि आ गई।

नगर की दक्षिण दिशा में एक कोस की दूरी पर एक कूप था। 'वहां चमत्कार होता है', यह बात नगर में फैली हुई थी। चमत्कार की बात राजा विक्रम के कानों तक भी पहुंची।

इस कूप में क्या था या है, कोई नहीं बता सका। किन्तु एक महीने के भीतर पांच पथिक उस कूप के भोग बन चुके थे। आश्चर्य की बात तो यह थी कि कूप में गिरे पांचों व्यक्तियों के शव प्राप्त नहीं हो सके थे। शवों की पूरी खोज की गई, पर प्रयत्न व्यर्थ ही हुआ। कोतवाल ने शवों की खोज में दो व्यक्तियों को कूप में उतारा, पर वे भी भीतर गायब हो गए। सभी आश्चर्यचकित थे कि कूप में सात-सात आदमी कहां अदृश्य हो गए?

वीर विक्रम ने जब यह वृत्तान्त सुना तो वे विचारमग्न हो गए। वे मंत्रियों और अन्यान्य राज्याधिकारियों को साथ लेकर कूप पर गए। एक सैनिक की कमर में रस्सी बांधकर उसे नीचे उतारा। उस प्रयत्न का परिणाम जानने के लिए सभी उत्सुक नयन थे। किन्तु जब सैनिक के बदले कूप से केवल रस्सी ही बार निकली, तब सब घबरा गए। दो-चार दिन बाद उस रास्ते से आना-जाना बन्द हो गया।

यह क्या रहस्य है, इसको कैसे जाना जाए—ये प्रश्न विक्रम के लिए मस्तकशूल बन गये।

३५. प्रेत-सम्राट्

यह क्या रहस्य है, जो व्यक्ति उस कूप के पास जाता है, वह उसी कूप में समा जाता है। न वह जीवित बाहर निकल पाता है और न उसका मृत शरीर ही बाहर आता है। यह चिन्ता का विषय बना हुआ था। विक्रम ने सोचा और इस कूप को भर देने का निर्णय लिया। हजारों लोगों के प्रयत्न से एक ही दिन में उस कूप को भर दिया गया। विक्रम ने सोचा, अब कूप ही नहीं रहा तो फिर उसमें गिरकर मरने का भय भी कैसा? सभी लोग निश्चिंत होकर रहने लगे। पर दूसरे ही दिन राजसभा में एक किसान ने शिकायत की—'महाराज! कृपा करें। मेरी जवान पुत्री उस कूप की भक्ष्य बन गई है।'

किसान के ये शब्द सुनकर सभा में उपस्थित सभी सदस्य आश्चर्यचकित रह गए। महामंत्री ने खड़े होकर कहा—'भाई! तुम उस कूप की बात कितने दिनों पूर्व की कह रहे हो?'

किसान बोला—'आज प्रात:काल की बात कह रहा हूं। मैं और मेरी पुत्री उसी रास्ते से आ रहे थे। हम हाथ-मुंह धोने के लिए कूप के किनारे पर गए और अचानक मेरी पुत्री कूप में गिर पड़ी।'

महामंत्री बोले – 'भले मनुष्य ! तुम्हें कुछ गलतफहमी हुई है। कूप तो कल ही पाट दिया गया था।'

विक्रम खड़े हो गए थे। किसान को देख रहे थे। किसान बोला – 'अन्नदाता ! कूप वैसा का वैसा है, जैसा आठ दिन पूर्व था। यदि आपको मेरी बात पर विश्वास न हो तो आप उसकी परीक्षा करने के लिए किसी को भेजें।'

विक्रम राजसभा का कार्य स्थगित कर महाप्रतिहार और दो रक्षकों को साथ लेकर एक रथ में बैठकर कूप की ओर चल पड़े। कूप के पास पहुंचकर आश्चर्य के साथ देखा कि जो कूप कल पाट दिया गया था, वह आज ज्यों का त्यों है। यह आश्चर्यकारी घटना थी। ऐसा होना न कभी सुना था और न देखा था। विक्रम ने सोचा – 'यदि यह कूप न पाटा जा सके, तो मेरी प्रजा के लिए यह एक अभिशाप होगा।'

निराश होकर विक्रम राजभवन में लौट आए। स्वामी को खिन्न और चिंतित देखकर रानी कमलावती ने पूछा – 'आज आप इतने चिंतित क्यों हैं ?'

विक्रम ने कहा – 'प्रिये ! लोग राजा बनने के लिए तप करते हैं, आराधना करते हैं, पुण्य करते हैं। किन्तु वे नहीं जानते कि राज्यसत्ता सुख की शय्या नहीं है, किन्तु जीवन को भस्मसात् करने वाली एक चिनगारी है।' विक्रम ने कूप की पूरी घटना रानी को सुनाई।

पूरी बात सुनकर रानी बोली – 'प्राणनाथ ! यह अमानवीय कृत्य लगता है। कोई दुष्ट आत्मा या कोई दुष्ट यक्ष कूप के आश्रय में रहता है और वही यह कार्य कर रहा है।'

विक्रम बोले – 'कमला ! कुछ भी हो। मुझे समस्या का निवारण नहीं सूझ रहा है।'

'उपाय तो आपकी मुट्ठी में ही है।' कमला ने हंसते हुए कहा।

'मेरी मुट्ठी में ?'

'हां, स्वामी ! ऐसे समय में आप अपने महान् मित्र को कैसे भूल रहे हैं ?'

विक्रम हर्षित होकर प्रियतमा को बाहुपाश में भरते हुए बोले – 'कमला ! तुम मेरी प्रेरणा हो। मैं अभी अपने मित्र को याद करता हूं।'

विक्रम ने अग्निवैताल का स्मरण किया। कुछ ही क्षणों में वैताल अदृश्य रूप में आ उपस्थित हो गया और प्रकट होकर बोला – 'महाराज, क्या आज्ञा है ?'

विक्रम ने अपने महान् मित्र को एक आसन पर आदरपूर्वक बिठाया और कूप का सारा वृत्तांत कह सुनाया। सारी बात सुनकर अग्निवैताल ने कहा – 'महाराज ! प्रश्न बड़ा विचित्र है। प्रेत-सम्राट् बर्बरक डेढ़ महीने से अपने पूरे परिवार

के साथ इसी कूप के नीचे बने हुए एक महल में निवास कर रहा है। उसने जितने मनुष्यों को पकड़ा है, वे सब जीवित हैं, किन्तु इस अमावस्या की मध्यरात्रि में वह सबको भक्ष्य लेगा। प्रेत-जाति के एक वैद्य ने उसके रोग-निवारण का ऐसा उपाय बतलाया है। अमावस में अभी दस दिन शेष हैं। इसी बीच यदि बर्बरक रोगमुक्त हो जाएगा तो सभी मनुष्यों को बंधनमुक्त कर देगा, अन्यथा वह सभी को मार डालेगा।'

विक्रम बोले – 'मित्र ! बर्बरक को रोगमुक्त करने का उपाय क्या है ?'

'महाराज, बर्बरक प्रेत-सम्राट् है। इसलिए मेरी शक्ति इसके समक्ष कार्यकर नहीं होगी। आप साहस करें तो एक उपाय बताऊं।'

'बोलो, मैं तैयार हूं।'

वैताल ने कहा – 'बर्बरक के महलों के द्वारपाल की पत्नी लम्बे समय से रोगग्रस्त है। मैं आपको एक औषधि देता हूं। आप उस औषधि का प्रयोग सबसे पहले द्वारपाल की पत्नी पर करें। औषधि के प्रभाव से वह तत्काल स्वस्थ हो जाएगी और फिर आप पर प्रसन्न होकर द्वारपाल आपको बर्बरक के पास ले जाएगा।'

विक्रम ने पूछा – 'किन्तु बर्बरक के रोग की चिकित्सा क्या है ?'

अग्निवैताल ने बर्बरक के रोग की समूची बात विक्रम को बताई और उससे मुक्त करने का उपाय भी सुझाया। फिर वह बोला – 'महाराज ! जब बर्बरक निरोग हो जाएगा, तब वह आपका दास बन जाएगा।' यह कहकर वैताल अदृश्य हो गया।

अब तक शांत भाव से बैठी कमला बोल उठी – 'नाथ ! आपके बिना ऐसा साहस कोई नहीं कर सकेगा।'

और उसी दिन संध्या के पश्चात् विक्रम ने एक वैद्य का रूप धारण किया और अग्निवैताल द्वारा प्रदत्त औषधि लेकर चामत्कारिक कूप की ओर प्रस्थित हुए। विक्रम अश्व से नीचे उतरे और प्रशिक्षित अश्व की पीठ थपथपाते हुए बोले – 'अब तू जा।'

अश्व ने विक्रम का मनोभाव जान लिया। वह तत्काल नगरी की ओर चला गया।

मन में इष्टदेव पार्श्वनाथ का स्मरण कर 'ॐ ह्रीं नमः' मंत्र का इक्कीस बार जाप कर विक्रम कूप के पास गये। कूप की अदृश्य शक्ति से वे कूप के भीतर खींच लिये गए। अन्दर जाते ही एक प्रेत ने उन्हें पकड़ लिया।

विक्रम बोले – 'मित्र ! मुझे पकड़ने में कोई लाभ नहीं है। मैं तुम्हारी पत्नी को रोगमुक्त करने आया हूं। मैं एक समर्थ वैद्य हूं।'

'अरे ! तुम वैद्य हो ! कहां रहते हो ?' द्वारपाल प्रेत ने पूछा।

विक्रम बोले – 'मैं बहुत दूर रहता हूं। अवंती में एक योगी ने तुम्हारी पत्नी के रोग की चर्चा की थी, इसलिए मैं अपनी इच्छा से आया हूं।'

'वैद्य ! यदि तुम मेरी पत्नी को स्वस्थ कर दोगे, तो मैं तुम्हें अपने स्वामी बर्बरक से मिलाऊंगा। यदि तुम मेरे स्वामी को भी रोगमुक्त कर दोगे तो जो मांगोगे, वही मिलेगा।'

'भाई ! मैं कुछ पाने के लिए यहां नहीं आया हूं। सही वैद्य लालची नहीं होता। तुम मुझे अपनी पत्नी के पास ले जाओ। मैं उसके रोग-निवारण का प्रयत्न करूंगा।'

द्वारपाल एक दूसरे पिशाच को अपने स्थान पर बिठाकर विक्रम को अपने निवासस्थान पर ले गया। वैद्य को एक आसन पर बिठाकर कहा – 'वैद्य ! तुम यहां बैठो। मैं पत्नी को बुला लाता हूं।' विक्रम वहीं बैठ गये। कुछ ही क्षणों में द्वारपाल अपनी बीमार पत्नी को ले आया।

विक्रम वैद्य-विधि जानता नहीं था, फिर भी उसने वैद्य का अभिनय किया। उसने प्रेतपत्नी से पूछा – 'बहन ! तुम्हें क्या पीड़ा है ?'

प्रेतपत्नी बोली – 'वैद्यराज ! मैं अत्यन्त पीड़ित हूं। मेरी पीड़ा अपार है। दिन में मैं अंधी हो जाती हूं और रात को दीखने लगता है, किन्तु पूरी रात मुझे दस्त लगते रहते हैं। यदि आप मुझे वर्षों की बीमारी से मुक्त कर दें तो मैं आपको भगवान मानूंगी।'

विक्रम ने उस प्रेतपत्नी की आंखें देखीं, पेट देखा, जीभ देखी और नाड़ी देखी। फिर बोले – 'अरे बहन ! यह कोई कठिन रोग नहीं है। कल प्रातःकाल तक तुम स्वस्थ हो जाओगी। यह दवा देता हूं। इसे दूध के साथ ले लेना। यदि प्रातः तुम्हारा अंधापन दूर हो जाए तो मुझे बताना।'

विक्रम ने औषधि दी। प्रेतपत्नी ने तत्काल उसे दूध के अनुपान से ले लिया। द्वारपाल ने विक्रम को विश्राम करने के लिए कहा।

चमत्कार घटित हुआ। औषधि-सेवन के पश्चात् प्रेतपत्नी को एक भी दस्त नहीं लगा और प्रातःकाल वह सब कुछ देखने में समर्थ हो सकी। जिस खण्ड में विक्रम सो रहे थे, वहां दोनों – द्वारपाल प्रेत और उसकी पत्नी आए। द्वारपाल ने कहा – 'वैद्यराज ! आप मनुष्य नहीं हैं, देव हैं। मेरी पत्नी का सारा रोग एक ही रात में दूर हो गया। अब आप मेरे पर कृपा करें।'

'बोलो, क्या बात है ?' विक्रम ने कहा।

'आप मेरे स्वामी प्रेतसम्राट् बर्बरक का दर्द मिटाएं। साथ ही मेरी यह तुच्छ भेंट भी स्वीकार करें।' यह कहकर द्वारपाल ने वज्ररत्न की एक मुद्रिका उनके हाथ में रखी।

विक्रम ने कहा – 'तुम्हारी पत्नी का स्वास्थ्य ठीक हो गया, यही मेरे लिए बड़ी भेंट है।'

द्वारपाल ने आग्रह किया। अन्त में विक्रम ने उस वज्रमुद्रिका को प्रेतपत्नी के हाथ में देते हुए कहा – 'बहन! तुम प्रेत योनी में हो, फिर भी मैंने तुम्हें बहन कहा है, इसलिए एक भाई की भेंट स्वीकार करो।'

प्रेतपत्नी ने गद्गद होकर उस मुद्रिका को पहन लिया। फिर द्वारपाल विक्रम को प्रेतसम्राट् बर्बरक के पास ले गया और नमस्कार कर बोला –'महाराज! ये एक महान् वैद्य हैं। इन्होंने मेरी पत्नी को एक ही रात में रोगमुक्त कर दिया। मैं इन्हें आपकी चिकित्सा करने लाया हूं।'

बर्बरक विक्रम की ओर देखता रहा। वह एक विशाल पलंग पर सो रहा था। उसके पास विचित्र वेशभूषा में उसकी आठ रानियां बैठी थीं। पचास भूत उसकी सेवा में खड़े थे।

विक्रम बोला – 'प्रेतसम्राट्! मैं आपका रोग जान गया हूं।'

बर्बरक ने कहा – 'अरे वैद्यराज! तुम मेरी नाड़ी का परीक्षण किए बिना ही रोग जान गए?'

'हां, महाराज! मैं दृष्टि वैद्य हूं। मुझे नाड़ी देखने की आवश्यकता नहीं होती। आप कहें तो आपका रोग बता दूं।'

ये शब्द सुनकर बर्बरक को बहुत आश्चर्य हुआ। वहां जो भूत सेवा के लिए खड़े थे, वे सभी विस्मित होकर विक्रम की ओर देखने लगे। बर्बरक बोला – 'अच्छा वैद्यराज! बताओ, मुझे क्या रोग है?'

तत्काल विक्रम बोले – 'महाराज! आप भयंकर अजीर्ण रोग से ग्रस्त हैं, सारा दिन बेचैनी में बीतता है। रात-भर नींद नहीं आती। बताएं, क्या यही आपकी स्थिति है?'

'हां, भाई! जो तुमने कहा है, वही सही है। अब तुम जो औषधि दोगे मैं उसका सेवन करूंगा।'

विक्रम बोले – 'महाराज! आप भोजन कब करते हैं?'

'मध्यरात्रि में!'

'जब आप भोजन करने बैठें, तब मुझे बुला लेना। उस समय आपके रोग के निवारण का उपय बताऊंगा।'

वैसा ही हुआ। मध्यरात्रि के समय जब बर्बरक भोजन के लिए बैठा, तब उसने वैद्य विक्रम को आदरपूर्वक वहां बुला भेजा और स्वर्ण-आसन पर बिठाया। विक्रम ने देखा कि बर्बरक के पास उतना भोजन पड़ा है, जिससे सौ व्यक्ति भूख

मिटा सकते हैं। आठ स्त्रियां पंखा झल रही हैं। सौ से अधिक भूत इधर-उधर खड़े हैं। अग्निवैताल ने जो बात विक्रम को कही थी, वह अक्षरशः सही थी। विक्रम बोला – 'महाराज! अब आप भोजन करें।'

बर्बरक भोजन करने लगा। उसने सारा भोजन उदरस्थ कर डाला। तत्पश्चात् विक्रम बोले – 'महाराज! आपके रोग-निवारण का उपाय मुझे मिल गया है। मैं बिना औषधि दिए आपको स्वस्थ करता हूं। जब आप दूसरी बार भोजन करने बैठें, तब आपके पास कोई भी व्यक्ति या रानी उपस्थित न रहे। यही मेरा उपाय है। यदि आपका रोग आज आधा कम हो जाए तो फिर आप प्रतिदिन एकांत में भोजन करते रहें, आप स्वस्थ हो जाएंगे।'

दूसरे दिन मध्यरात्रि में भोजन के समय बर्बरक ने विक्रम के कथनानुसार सबको अलग कर, एकांत में भोजन किया। उसके कोई पीड़ा नहीं हुई। वह रात में आराम से सोया।

प्रातःकाल बर्बरक अत्यन्त प्रसन्नचित्त था। उसने विक्रम को बुलाकर कहा – 'वैद्य! तुम्हारा उपाय कारगर सिद्ध हुआ है। मैं औषधि का सेवन किये बिना ही स्वस्थ कैसे हो गया, यह समझ में नहीं आ रहा हैं'

विक्रम ने कहा – 'प्रेत सम्राट्! जब आप भोजन करने बैठते थे, तब आपके आस-पास खड़े भूतों की दुष्ट दृष्टि आपके भोजन पर पड़ती और तब वह भोजन दृष्टि-विषमय बन जाता था। वही भोजन सारी गड़बड़ियां पैदा करता था। आपके और कोई रोग नहीं है।'

बर्बरक खड़ा हुआ और विक्रम को छाती से लगाते हुए बोला – 'वैद्य! तुम्हें जो मांगना हो, वह बिना किसी हिचकिचाहट के मांग लो। जिना धन चाहिए, सम्पत्ति चाहिए, वह मांगो। तुम्हें सब कुछ मिलेगा।'

विक्रम बोले – 'महाराज! मैं तो अयाचक वैद्य हूं। आप रोगमुक्त हो गए, यही मेरा बड़ा पुरस्कार है। वास्तव में मैं वैद्य नहीं, अवन्ती का सम्राट् विक्रमादित्य हूं। मेरे प्रजाजन आपके पास फंसे पड़े हैं, इसलिए मुझे यहां आना पड़ा।'

'क्या आप स्वयं वीर विक्रम हैं? मैं धन्य हुआ। मैं तो आपका दास हूं। महाराज! आप जब मुझे याद करेंगे, तब मैं उपस्थित हो जाऊंगा। आप जो कहेंगे, वह करूंगा।'

उसी दिन वीर विक्रम कूप में कैद किए हुए सभी व्यक्तियों को साथ लेकर नगरी में लौट आए और यह समाचार पवन की भांति सारे नगर में फैल गया।

३६. वैताल ने सावचेत किया

अपनी प्रजा के प्राणों की रक्षा के लिए अपने जीवन की बाजी लगाने वाले वीर विक्रम की कीर्ति चारों दिशाओं में चंपक के फूल की तरह महक उठी।

मनुष्य जब कीर्ति की पांखों से उड़ने लगता है, तब उसके कर्त्तव्य की सीमा बढ़ जाती है, दायित्व बढ़ जाता है और लोगों के हृदय में उसके प्रति आत्मीय-भाव जागृत होता है। वीर विक्रम केवल मालवदेश में ही नहीं, समग्र राष्ट्र में प्रसिद्ध हो चुके थे। जब प्रसिद्धि होती है, तब अनेक श्रेष्ठी, कलाकार उसके पास आते-जाते हैं।

तीन महीने बाद कश्मीर प्रदेश के एक छोटे से गांव के एक यंत्रशिल्पी ने वीर विक्रम की बात सुनी। उसके मन में एक भावना उभरी और अपनी वर्षों की साधना की निष्पत्ति वीर विक्रम के चरणों में समर्पित करने की इच्छा हुई। इस यंत्रशिल्पी ने एक बेजोड़ वस्तु का निर्माण किया था। उसने काष्ठ का एक सुन्दर सिंहासन तैयार किया था। वह काष्ठ ऐसा था, जो न कभी सड़-गल सकता था और न अग्नि में जल सकता था। उस सिंहासन पर भांति-भांति के चित्र उत्कीर्ण थे। उस सिंहासन को देखकर कोई भी व्यक्ति चौंक पड़ता और अवाक् बन जाता। उस सिंहासन में बत्तीस पुतलियां थीं। इनकी विशेषता यह थी कि वे सभी पुतलियां नाचती थीं, बोलती थीं। ये पुतलियां यंत्र से नियंत्रित थीं और यंत्र में निश्चित किये हुए वाक्यों का उच्चारण करती थीं। ऐसे देव-दुर्लभ सिंहासन के निर्माण में यंत्रशिल्पी ने बारह वर्ष लगाए थे। उस सिंहासन को तैयार किए अभी एक वर्ष ही पूरा हुआ था, किन्तु उस महान् सिंहासन को किसे दिया जाए, यह प्रश्न यंत्रशिल्पी को सता रहा था; क्योंकि जीवन में फिर वैसे अद्भुत सिंहासन का निर्माण करना असंभव था। उस एक सिंहासन के निर्माण में शिल्पी ने अपना पूरा श्रम और धन व्यय कर डाला था। फलतः पूरा परिवार दरिद्र बन गया था। शिल्पी के तीन पुत्र और एक पुत्री थी। वे सदा कहते—'आप इस सिंहासन को बेच डालें। इससे कुछ धन मिलेगा। उससे हमारा दारिद्र्य भी मिटेगा और हम अन्यान्य व्यवसाय भी कर सकेंगे।'

शिल्पी यह सब समझता था। किन्तु पैसों के लिए अपने जीवन की अमूल्य निष्पत्ति को ज्यों-त्यों या जहां-तहां गंवा देना नहीं चाहता था। जब उसके कानों से वीर विक्रम की यशोगाथा के शब्द टकराए, तब उसने अवंती जाने का विचार किया। उसने यह बात अपनी पत्नी से कही। वह बोली—'कहां अवंती और कहां हमारा यह छोटा गांव! वहां तक पहुंचने में छह मास तो लग ही जाएंगे!'

शिल्पी बोला – 'जो कुछ भी हो। यदि मैं इस अमूल्य निधि को किसी सुपात्र के हाथों सौंपता हूं तो मेरी साधना सफल होती है।'

शिल्पी के परिवार ने उसकी बात स्वीकारी और तीन गाड़ियों में सामान और सिंहासन लेकर पूरा परिवार अवंती की ओर चल पड़ा। शिल्पी-परिवार जब घर से चला, तब उत्तम शकुन हुए थे। सब प्रसन्न थे। नदी-नाले और पर्वतों को पार करते हुए वे पांच महीनों के कठिन प्रवास के पश्चात् अवंती नगरी में पहुंचे।

महाराजा विक्रमादित्य राजसभा में अवस्थित थे। वहां अनेक कलाकार, कवि, श्रेष्ठी उपस्थित थे। ऐसी राजसभा में कश्मीर प्रदेश से वह यंत्रशिल्पी आ पहुंचा। उसने देखा कि जो कुछ उसने सुना था, उससे अधिक नयनानन्दकारी हैं राजा वीर विक्रम और उनकी राजसभा। सामान्य कार्यवाही के पश्चात् यंत्रशिल्पी अमरदेव ने खड़े होकर महाराजा का अभिवादन किया। वह अभी पचास वर्ष की वय वाला था, फिर भी उसके केश श्वेत हो चुके थे। उसकी आंखों में विज्ञान का तेज था, फिर भी उसका मुख-कमल मुरझाया हुआ था।

महामंत्री भट्टमात्र ने उस अपरिचित परदेशी को देखकर कहा – 'भाई, आगे आओ और अपना पूरा परिचय दो।'

यंत्रशिल्पी आगे गया और बोला – 'मेरा नाम अमरदेव है। मैं कश्मीर प्रदेश से अपने परिवार को साथ लेकर यहां आया हूं। कृपानाथ! मैंने एक महान् वस्तु बनाई है। मनुष्यलोक में कहीं प्राप्त न हो सके, ऐसा देवदुर्लभ सिंहासन मैंने बनाया है। महाराज! इसकी निर्मिति में मैंने बारह वर्षों का भोग दिया है। मैं आपकी श्लाघा सुनकर यहां आया हूं।'

विक्रम ने कहा – 'मैं धन्य हुआ। आप-जैसे महान् शिल्पी मेरे राज्य में आएं, यह एक शुभ सूचना है।'

विक्रम का कथन सुनकर शिल्पी अमरदेव का हृदय बांसों उछलने लगा। उसने कहा – 'राजन्! नगर के बाहर मैं एक सार्थवाह के साथ ठहरा हूं। आप आज्ञा दें तो मैं बारह वर्षों की अपनी साधना के विषय में कुछ कहूं?'

विक्रम बोले – 'आप अभी प्रवास से आए हैं। थकान है। राज्य के अतिथिगृह में रहें। फिर सारी बात कहना।'

मंत्री बुद्धिसागर ने शिल्पी के निवास की पूरी व्यवस्था की।

शिल्पी अत्यन्त प्रसन्न हो गया। उसने सोचा, राजा कितना महान् है। अभी तक इन्होंने सिंहासन की बात भी नहीं सुनी और मुझे इतना सम्मान दे रहे हैं।

तीन दिन बीत गए।

चौथे दिन विक्रम स्वयं अतिथि की सार-संभाल करने अतिथि-गृह में पहुंच गए। विक्रम को देखते ही शिल्पी अमरदेव विस्मित रह गया। उसने बत्तीस पुतलियों

वाले चामत्कारिक सिंहासन की पूरी बात विक्रम को बताई। सारी बात सुनकर विक्रम बोले – 'वाह-वाह! आप तो महानतम शिल्पी हैं। पुण्ययोग से ही आपका साक्षात्कार हुआ है। क्या सिंहासन तैयार है?'

'हां, महाराज! सिंहासन तो तैयार है, किन्तु उसमें स्वर्ण और रत्नों को जटित करने का कार्य अभी शेष है, क्योंकि मेरे पास उनका अभाव है।'

विक्रम ने अमरदेव के कंधे पर हाथ रखकर कहा – 'आज से आप अवंती के शिल्प-सम्राट् हैं। अब आपको यहीं रहना है। मैं आपके स्थायी निवास की पूरी व्यवस्था कर देता हूं। सिंहासन को पूर्ण करने के लिए आपको जितना स्वर्ण चाहिए, जितने रत्न चाहिए, वे सब आपको उपलब्ध होंगे।'

विक्रम वहां से चले गए। उन्होंने अमरदेव के लिए सुन्दर व्यवस्था कर दी और सारे साधन जुटाने का निर्देश दे दिया। अमरदेव ने रत्नों का कार्य प्रारम्भ किया।

कश्मीर का एक परिवार अवंती का परिवार बन गया।

पन्द्रह दिन बीत गए। एक दिन महाराजा विक्रमादित्य अपने उपवन में भ्रमण कर रहे थे। उस समय एक योगी ने आकर विक्रमादित्य को आशीर्वाद दिया। विक्रम ने प्रश्न-भरी दृष्टि से योगी की ओर देखो। योगी की काया ताम्रवर्णी थी। वह सुगठित और सशक्त थी। उसकी जटा भव्य थी। उसने अपने कमंडलु से फल निकाले और विक्रमादित्य के समक्ष रखते हुए कहा – 'राजन्! यह एक रत्न-फल मैं आपको भेंट करता हूं।'

'योगिराज! आप कहां रहते हैं?'

'यहां से बीस कोस की दूरी पर एक वन-प्रदेश है। ऐसे रत्न-फल वहां सहज-सुलभ हैं। मैं एक रत्न-फल आपको अर्पित करने आ गया हूं।'

'योगिराज! मैं एक संसारी प्राणी हूं। दान लेने का मेरा अधिकार नहीं है। दान देने का अधिकार है, धर्म है।'

'राजन्! राजा, ब्राह्मण, साधु, पुरुष और स्त्री – सभी भेंट लेने के अधिकारी हैं। यह फल अत्यन्त दुर्लभ है। मैं आपको इस फल का चमत्कार बताऊं' – यह कहकर योगी ने फल को तोड़ा और विक्रम ने फटी आंखों से देखा कि फल के बीज रूप में एक चमकीला रत्न था।

विक्रम बोले – 'योगिराज! अद्‌भुत फल है यह। आपकी प्रसादी के रूप में मैं इस फल को स्वीकार करता हूं। आप मुझे सेवा का लाभ दें।'

'राजन्! इस फल के निमित्त मैं एक बात कहना चाहता हूं।'

'प्रसन्नता से कहें। चलें, उस वृक्ष के नीचे बैठें।'

दोनों वृक्ष के नीचे बैठ गए। योगी ने कहा – 'राजन्! मैंने स्वर्ण-पुरुष को सिद्ध करने की साधना की है। यदि आप इस साधना में कुछ सहयोगी बनें, तो मेरा वर्षों का स्वप्न सिद्ध हो जाए।'

'मुझे सहयोग रूप में क्या करना होगा?'

'केवल एक रात्रि का काम है। आगामी चतुर्दशी के दिन मुझे यह साधना सम्पन्न करनी है। उस रात यदि आप मेरे उत्तर-साधक बनते हैं तो मेरा बड़ा उपकार होगा।'

विक्रम विचार-मग्न हो गए।

योगी बोला – 'राजन्! मैंने आपकी यशोगाथा बहुत सुनी है। आप अनेक दु:खी-जनों की सहायता करते हैं, अनेक व्यक्तियों की मनोकामना पूर्ण करते हैं। मेरे कार्य में आपको केवल एक रात देनी होगी। आप अवश्य कृपा करें।'

'योगिराज! मुझे वहां क्या करना होगा?'

'कोई खास बात नहीं है। जब मैं यज्ञ-कुण्ड के पास आराधना की अंतिम स्थिति में होऊं, उस समय आपको मेरी रक्षा करनी होगी। फिर मौन रहकर निकट से एक शव लाना होगा। मैं रात्रि के चौथे प्रहर में अंतिम आहुति दूंगा। उसी समय यज्ञ-कुण्ड की तीन बार प्रदक्षिणा कर आपको एक श्रीफल उस कुंड में डालना होगा। बस, मेरा कार्य पूरा हो जाएगा और अद्वितीय स्वर्ण-पुरुष तैयार हो जाएगा।'

'योगिराज! आप तो वनवासी हैं, त्यागी हैं। आप स्वर्ण-पुरुष का क्या करेंगे?'

'राजन्! हम योगी-जन जो कुछ करते हैं, वह केवल स्वार्थ के लिए ही नहीं करते, परन्तु विश्व-कल्याण के लिए करते हैं। जो स्वर्ण-पुरुष निर्मित होगा, उसे मैं आपको ही समर्पित करूंगा।'

विक्रम ने विचार-मग्न होकर योगी के सुदृढ़ शरीर की ओर देखा। उसने सोचा, क्या योगी का कहना सच है?

योगी बोला – 'आप किसी बात का संशय न करें। मेरी मंत्र-साधना निष्फल न हो, इसीलिए मैंने आप-जैसे समर्थ और निर्भीक पुरुष से प्रार्थना की है।'

विक्रम बोले – 'आप ऐसा न कहें। आप आज्ञा देने के अधिकारी हैं। मैं जरूर सहयोगी बनूंगा। मुझे कहां कैसे आना है और साथ में क्या-क्या लाना है, यह आप बताएं।'

'राजन्! मैं आज धन्यता का अनुभव कर रहा हूं। मेरी आशा पूर्ण होगी, यह निश्चित है। आप चतुर्दशी के दिन प्रात:काल यहां से प्रस्थान करें। एक अश्व इस वृक्ष के नीचे खड़ा रहेगा। उस पर सवार होकर आप बाहर निकलें। वह अश्व

आपको मध्याह्न से पूर्व मेरे पास पहुंचा देगा। आप अपने साथ दो स्वच्छ वस्त्र लेते आएं, और कुछ भी साथ न लाएं।'

विक्रम बोले – 'अच्छा, किन्तु मेरे रक्षक.....।'

बीच में ही योगी बोला – 'राजन्! आप स्वयं रक्षक हैं, वीर और साहसी हैं। दूसरी बात है कि स्वर्ण-पुरुष की आराधना-क्रिया आप और मेरे सिवाय कोई न देख सके, यह ध्यान रखना है। राजन्! आप किसी प्रकार का भय न रखें। आपको आंच तक नहीं आएगी। आपको धैर्य रखना पड़ेगा।'

विक्रम ने योगी की ओर प्रश्न-भरी दृष्टि से देखा।

योगी बोला – 'वीर पुरुष! जब मैं मंत्र की आराधना करूंगा, तब नीची जाति के देव, यक्ष, प्रेत आदि मेरी साधना में विघ्न उपस्थित करने के लिए आएंगे। वे भयंकर रूप धारण कर मेरी साधना को भंग करने का प्रयत्न करेंगे। उस समय आपको पूर्ण धैर्य रखना है। मैं आपकी सुरक्षा के लिए मंत्र-सिद्ध एक वर्तुल निर्मित करूंगा। उसमें आपको खड़ा रहना होगा। वहां कोई भी दुष्ट सत्त्व आपका अहित करने में समर्थ नहीं होगा। किन्तु यदि आप डरकर उस वर्तुल की मर्यादा का उल्लंघन कर देंगे, तो वे दुष्ट सत्त्व मेरी साधना को छिन्न-भिन्न कर देंगे। इसीलिए आप-जैसे समर्थ व्यक्ति को उत्तर-साधक बनाने के प्रयोजन से यहां आया हूं।'

विक्रम ने स्थिर स्वर में कहा – 'योगिराज! आप निश्चिंत रहें। आपकी साधना पूर्ण होगी। जगत् की कोई भी दुष्ट शक्ति आपकी साधना को भंग नहीं कर सकेगी।'

योगिराज आशीर्वाद देकर चले गए। विक्रम राजभवन में आए। उन्होंने मन-ही-मन निश्चय कर लिया कि योगी की इस बात की चर्चा कहीं नहीं करेंगे और जब उनकी दोनों प्रियाओं ने पूछा – 'आज इतना विलम्ब कैसे हो गया?' तब विक्रम ने हंसते हुए कहा – 'एक योगी आया था। उसके साथ चर्चा करने में विलम्ब हो गया।'

रात हुई। विक्रम नगरचर्चा के लिए अकेले ही निकलते थे। उस समय उनके कानों में अचानक चिरपरिचित शब्द टकराया – 'महाराज! किस ओर....?'

विक्रम चौंके। पीछे देखा कि अग्निवैताल हंस रहा है। विक्रम तत्काल अश्व से नीचे उतरे और वैताल की ओर देखकर बोले – 'ओह! वैताल! अचानक....।'

वैताल ने गंभीर स्वरों में कहा – 'क्या करूं, महाराज! आपसे मित्रता की है, इसलिए मुझे सतत सावधान रहना होता है।'

'मैं कुछ समझा नहीं।'

'महाराज! आज प्रातःकाल जो योगी आपके पास आया था, वह अत्यन्त दुष्टात्मा है। आप बत्तीस लक्षण-युक्त पुरुष हैं। इसलिए वह आपकी ही आहुति

देना चाहता है, क्योंकि वह दस वर्षों से बत्तीस लक्षण वाले पुरुष की खोज कर रहा है। अन्त में आप उसे मिल गए हैं। मैं आपको सावधान करने आया हूं।'

'ओह मित्र! मैं तुम्हारा उपकार मानता हूं। बताओ, अब मुझे क्या करना चाहिए?'

'चतुर्दशी के दिन आपको वहां जाना ही नहीं चाहिए।'

'मित्र! मैंने उस योगी को वचन दे दिया है, इसलिए जाना तो पड़ेगा ही।' विक्रम ने कहा।

'अच्छा, जब वह योगी आपको यज्ञकुंड की तीन प्रदक्षिणा देने के लिए कहे, तब आपको जागरूक रहना है और उसी को पकड़कर यज्ञकुंड में होम देना है।' वैताल ने कहा।

विक्रम ने वैताल का आभार माना और आज की रात राजभवन में रहने का आग्रह किया।

वैताल ने हंसते हुए कहा– 'महाराज! आप जानते ही हैं कि अब मैं संसारी बन गया हूं। पत्नी के क्रोध के समक्ष मेरी शक्ति पंगु हो जाती है। मैं बड़े-से-बड़ा प्रश्न समाहित कर सकता हूं। किन्तु......।'

विक्रम ने हंसकर कहा– 'क्या तुम्हारी जाति की स्त्रियों में इतना बल होता है?'

वैताल कुछ उत्तर दे, उससे पहले ही अदृश्य रूप में कुछ मीठा और गम्भीर हास्य दोनों के कानों से टकराया। वैताल चौंका। वह संभले उससे पहले ही उसकी पत्नी दृश्य होकर बोली– 'आप अपने मित्र के समक्ष मेरी निन्दा करने के लिए ही आते हैं न?'

विक्रम ने उत्तर दिया– 'देवी! मैं आपका स्वागत करता हूं। मेरे मित्र ने आपकी निंदा नहीं की, किन्तु स्त्री की शक्ति का जो भान उसे हुआ, वह बताया है। आप अचानक यहां कैसे?'

वैताल पत्नी ने सहज भाव से कहा– 'महाराज! अचानक ये चले गए, इसलिए मैं इनके पीछे चली आयी।'

वैताल ने कहा– 'प्रिये! महाराजा विक्रम को मैं परम उपकारी मानता हूं। इनके सहवास से ही मैंने मांस, मदिरा आदि दूषणों का परित्याग किया है और कुछ धर्म की आराधना कर पाया हूं। इसलिए मैं इनके विषय में सावचेत रहता हूं। आज प्रातः मैंने इनका चिन्तन किया और मुझे वह दुष्ट योगी दिखाई दिया। इसलिए मुझे अभी अचानक यहां आना पड़ा है। बोल, इसमें मैंने क्या अनुचित किया?'

विक्रम बोले – 'हम यहां मार्ग के मध्य में पति-पत्नी के कलह का निपटारा कैसे करें? आज तुम दोनों मेरे अतिथि बनो और मनुष्य रूप धारण करके मेरे भवन में चलो।'

३७. स्वर्णपुरुष की प्राप्ति

चतुर्दशी आ गई। राजभवन के उपवन में उस वृक्ष के नीचे अश्व खड़ा था। वह योगी द्वारा मंत्र-विद्या से भेजा गया था। राजा उपवन में आया और उस घोड़े पर सवार होकर आश्रम की ओर चल पड़ा।

आज योगी अत्यन्त आनन्दित था। उसे यह विश्वास था कि वीर विक्रम अपने वचन पर कटिबद्ध रहेगा। वचनभंग करना उसके लिए मरने से बढ़कर है, इसलिए वह अवश्य ही आएगा। उसके आने पर वर्षों से अधूरा पड़ा मेरा यह कार्य पूरा होगा और संसार में जिसे किसी ने प्राप्त नहीं किया, वह स्वर्णपुरुष मुझे मिल जाएगा।

योगी की यह भावना थी कि वह स्वर्णपुरुष को सिद्ध कर संसार में धनकुबेर बन जाएगा। अर्जित किया हुआ धन एक दिन नष्ट हो जाता है, पर स्वर्णपुरुष कभी नष्ट नहीं होता। संसार की समग्र समृद्धि इससे खरीदी जा सकती है। योगी का यह भौतिक स्वप्न था। आज वह पूरा होने वाला था। बत्तीस लक्षणों वाला वीर विक्रम आज उत्तर-साधक के रूप में आएगा और इस हवनकुण्ड में जलकर भस्म हो जाएगा।

योगी को अटूट विश्वास था कि विक्रम अवश्य ही आएगा, फिर भी मध्याह्न के पश्चात् भी विक्रम के न पहुंचने पर योगी अधीर हो उठा। उसके चित्त में संशय की चिनगारी प्रकट हुई – विक्रम भूला तो नहीं होगा? वह भयभीत तो नहीं हो गया? इस प्रकार अनेक संशय उसके मन में उभरे और वह विक्रम को देखने के लिए अधीर हो गया।

दिन का चौथा प्रहर प्रारम्भ हुआ। योगी अत्यन्त विह्वल हो उठा। किन्तु उसने उसी विह्वलता के क्षणों में विक्रम को अश्व पर आते हुए देखा। योगी उसका स्वागत करने उठा। जैसे ही विक्रम निकट आया, योगी ने दोनों हाथ ऊपर उठाकर उल्लासपूर्ण शब्दों में कहा – 'मालवनाथ की जय-विजय हो। हे महान् राजन्! आपको देखकर मेरा हृदय नाच उठा है। भगवान् आपको यश, कीर्ति और दीर्घ आयुष्य दें।'

विक्रम अश्व से नीचे उतरे और मधुर हास्य के साथ बोले – 'योगिराज! आपके आशीर्वाद को मैं सिर पर चढ़ाता हूं। मुझे पहुंचने में विलम्ब तो नहीं हुआ?'

योगी बोला – 'नहीं, महाराज! हमारा काम संध्या के बाद ही प्रारम्भ होगा। किन्तु उससे पूर्व हम कुछ प्रारंभिक क्रियाएं सम्पन्न कर लें।'

विक्रम को साथ लेकर योगी अपने आश्रम में आया। विक्रम ने देखा, आश्रम के चौक में एक विशाल अग्निकुण्ड बनाया गया है। उसके आस-पास विविध सामग्री पड़ी है। वहां विविध रंगों के वस्त्र भी पड़े हैं। पर्णकुटीर के एक वृक्ष के नीचे एक अश्व और दो गाएं बंधी हुई हैं।

योगी ने मृगचर्म बिछाया और विक्रम को उस पर बैठने के लिए कहा। विक्रम वहां बैठ गए। योगी ने स्वर्णपुरुष की सिद्धि के लिए प्राथमिक तैयारियां प्रारम्भ की। संध्या के समय विक्रम को मंत्रपूत जल से स्नान कराया और कुछेक मंत्रों से उसकी प्रतिष्ठा की।

विक्रम मन-ही-मन जानते थे कि योगी मुझे ही होम डालना चाहता है, किन्तु उन्होंने अपना मनोभाव व्यक्त नहीं होने दिया। योगी ने विक्रम को वल्कल धारण कराकर कहा – 'राजन्! अब मैं यज्ञ प्रारम्भ करता हूं। आपको उस मंत्रशक्ति वाले वर्तुल में खड़े रहना है और अप्रमत्त रहकर आस-पास ध्यान रखना है।'

योगी ने फिर कहा – 'अर्ध प्रहर रात्रि के बीत जाने पर सामने वाले वटवृक्ष पर लटकने वाले शव को मेरे पास लाकर रखना है। फिर मैं उस शव पर बैठकर आह्वान करूंगा। उस समय तुम्हें पूर्ण धैर्य रखना है, क्योंकि उस समय तुम्हारे वर्तुल के आस-पास भूत, प्रेत, डाकिन, शाकिन और दुष्ट व्यंतर देव एकत्रित होंगे और मेरे यज्ञ को खण्डित करने का प्रयास करेंगे। वे विविध रूप धारण करेंगे। यह उपद्रव मात्र आधे प्रहर तक चलेगा। किन्तु तुम्हारे हाथ में मंत्रसिद्ध कृपाण देखकर वे सारी दुष्ट आत्माएं आगे नहीं बढ़ पाएंगी। ठीक मध्यरात्रि में मेरी साधना पूरी होगी और तब सारी दुष्ट आत्माएं अदृश्य हो जाएंगी। फिर केवल प्रदक्षिणा की क्रिया शेष रहेगी।'

विक्रम ने कहा – 'महात्मन्! मैं जब शव लेने जाऊंगा तब तो मुझे वर्तुल से बाहर निकलना ही होगा?'

'हां, किन्तु जो कुछ उपद्रव होगा, वह शव को यहां लाने के पश्चात् ही होगा।'

'शव को लाने के लिए जाते समय क्या मुझे विशेष अनुष्ठान करना पड़ेगा?' विक्रम ने पूछा।

'नहीं, केवल मौन रहना है।' योगी बोला।

'ठीक है। मैं इस कार्य को भली-भांति पार लगा दूंगा।'

'मुझे विश्वास है कि मेरा अनुष्ठान सफल होगा। समय हो गया है, अब हमें अनुष्ठान प्रारंभ कर देना चाहिए।' योगी ने कहा।

योगी यज्ञकुण्ड के समक्ष एक चौकी पर बैठ गया और विक्रम को पास में बने वर्तुल में खड़ा कर दिया।

फिर योगी ने उसे एक मंत्रसिद्ध कृपाण देते हुए कहा – 'राजन्! यह मंत्रसिद्ध कृपाण है। इसके प्रभाव से कोई भी दुष्ट आत्मा तुम्हारे पास नहीं आ सकेगी। तुम निश्चिंत खड़े रहना।'

विक्रम कृपाण को हाथ में ले धैर्यपूर्वक खड़े हो गए।

योगी ने मंत्रोच्चारण के साथ विविध सामग्रियों से हवन प्रारम्भ किया। एक ओर रखे हुए ईंधन के ढेर से ईंधन डालने लगा। अर्ध प्रहर रात्रि बीतने के पश्चात् योगी ने विक्रम की ओर देखकर कहा – 'राजन्! अब मैं मंत्र-स्मरण में बैठता हूं। तुम जाओ और निर्दिष्ट वटवृक्ष पर लटकते हुए शव को ले आओ।'

तत्काल विक्रम मंत्रसिद्ध कृपाण हाथ में लेकर उस वटवृक्ष की ओर चले।

मित्र असावधान न रह जाए अथवा योगी की क्रिया में तन्मय होकर सब कुछ भूल न जाए, यह सोचकर वैताल वहां कभी का आ गया था। वह अदृश्य रहकर सब कुछ देख रहा था। वह भी विक्रम के पीछे-पीछे गया। उसने देखा, एक शाखा पर मानव शव लटक रहा है। विक्रम ने अपने इष्टदेव पार्श्वनाथ का स्मरण किया और 'ॐ ह्रीं नमः' का जाप कर वृक्ष पर चढ़े और सावधानीपूर्वक शव को कंधों पर लादकर वृक्ष से नीचे उतरे। वह एक-दो कदम चले होंगे कि कंधों पर पड़ा शव खिलखिलाकर हंस पड़ा। यह देखकर विक्रम को आश्चर्य हुआ, किन्तु वे किंचित् भी भयभीत नहीं हुए और यज्ञकुंड की ओर अग्रसर हुए। निर्जीव शव बोल उठा – 'राजन्! मेरी एक बात सुनो, फिर तुम मुझे ले जाना।'

विक्रम खड़े रह गए। वे कुछ भी बोलने की स्थिति में नहीं थे, क्योंकि उन्हें मौन रहना था। कंधे पर पड़े शव ने एक छोटा-सा वृत्तान्त प्रारम्भ किया और उसका अन्त एक प्रश्न के साथ हुआ और विक्रम ने न चाहते हुए भी हां भर ली। तत्काल शव कंधों से ऊपर उठा और वृक्ष की शाखा पर जाकर लटक गया।

आश्चर्य के साथ विक्रम ने दूसरी बार शव को शाखा से उतारा और उसने फिर प्रश्नभरी कहानी प्रारम्भ की। प्रश्न ऐसे उपस्थित होते कि मौन तोड़ने की संभावना-सी लगती। पर, विक्रम सावचेत थे। शव ने इस प्रकार पचीस वृत्तान्त सुनाए। पचीसवीं बात सुनकर भी विक्रम मौन रहे और आगे बढ़ने लगे।

उस समय अग्निवैताल विक्रम के समक्ष प्रकट होकर बोला – 'मित्र! मुझे आपके प्राणों का भय लग रहा था, इसलिए मैंने स्वयं मृतदेह में प्रवेश कर इतना विलम्ब किया। राजन्! यह योगी अत्यन्त दुष्ट है और नीच प्रकृति का है। और आप अपने वचन का भंग करने वाले नहीं हैं, इसलिए आप मेरी अंतिम बात को

भूल मत जाना। उसे स्मृति में बनाए रखना। योगी जब आपको यज्ञकुण्ड में प्रदक्षिणा देने के लिए कहे, तब आपको प्रदक्षिणा नहीं देनी है और योगी से ही प्रदक्षिणा सीखने के बहाने उससे प्रदक्षिणा दिलवानी है। जब योगी तीसरी प्रदक्षिणा पूरी करे, उसी समय निःसंकोच और अभय होकर योगी को उठाकर यज्ञकुण्ड में डाल देना है; अन्यथा आपकी मृत्यु निश्चित है। मैं यहीं उपस्थित रहूंगा, किन्तु योगी के मंत्र-प्रभाव के कारण मैं कुछ भी नहीं कर पाऊंगा।'

विक्रम ने एक हाथ ऊंचा कर वैताल को संकेत दे दिया कि उसे अंतिम बात याद है।

विक्रम शव को लेकर योगी के पास पहुंचे। योगी आकुल-व्याकुल हो रहा था। शव को लाने में इतना विलम्ब क्यों हुआ, यह प्रश्न उसे शल्य की भांति चुभ रहा था। मध्यरात्रि हो गई थी। योगी अपने आसन से उठ सकने की स्थिति में नहीं था।

विक्रम ने योगी के समक्ष शव को रखा और अपने वर्तुल में जा खड़े हो गए। योगी बोला – 'राजन्! इतना विलम्ब ?'

विक्रम ने कहा – 'महात्मन्! यह शव बार-बार उड़कर वृक्ष पर जा लटकता था। पचीस बार प्रयत्न करने के पश्चात् इस शव को यहां ला सका हूं।'

'कोई बात नहीं है। अब तीसरे प्रहर के अंत में हमारा कार्य पूरा हो जाएगा। तुम सावधान रहना।' योगी बोला।

योगी ने शव पर एक घड़ा पानी डाला। फिर उस पर कुछ सुगन्धित द्रव्य डाले और मंत्रोच्चारपूर्वक शव पर दर्भ का एक आसन बिछाया। तत्पश्चात् योगी खड़ा हुआ, दोनों हाथ ऊपर उठाकर गुह्य भाषा में मंत्रोच्चार करने लगा। उसका स्वर इतना प्रचण्ड था कि सुनने वाले की छाती फट जाए। फिर वह शव पर वीरासन की मुद्रा में बैठ गया। वन-प्रदेश का सारा वातावरण हिल उठा। योगी के मुंह से जो मंत्र-शब्द निकल रहे थे, वे अत्यन्त भयंकर और रौद्र थे।

एक घटिका बीत गई। अपूर्व धैर्यशाली विक्रम भी मंत्रोच्चार सुनकर कांप उठा।

अब उपद्रव प्रारम्भ हुए। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि भयंकर गजराज, वराह और सिंह चारों ओर से आ रहे हैं। भूत और पिशाच विकराल रूप धारण कर नाच रहे हैं, किलकारियां कर रहे हैं। विक्रम सावचेत थे। उनके हाथ का कृपाण अंधेरे में भी चमक रहा था और योगी की रक्षा कर रहा था।

योगी की अंतिम साधना सम्पन्न हुई। जैसे ही योगी शव से नीचे उतरा, सारी भूतलीला अदृश्य हो गई और योगी ने उल्लास भरे स्वरों में विक्रम से कहा –

'राजन्! मैं तुम्हारा उपकार जीवन-भर नहीं भूल सकता। तुमने आज मेरे वर्षों के स्वप्न को साकार किया है। अब कोई भय नहीं है। तुम्हें अब केवल तीन प्रदक्षिणा इस यज्ञकुंड की देनी है।'

दूर खड़ा हुआ वैताल अत्यन्त व्यथित हो रहा था। किन्तु विक्रम का उत्तर सुनकर वह शान्त हो गया।

विक्रम ने मधुर स्वरों से योगी को कहा– 'महात्मन्! मैं प्रदक्षिणा की विधि नहीं जानता। कृपा कर आप मुझे प्रदक्षिणा देकर बताएं। आपकी साधना के दृश्यों को देखकर मैं इतना आश्चर्यचकित बन गया हूं कि मुझे कुछ भी भान नहीं है।'

योगी को विक्रम की बात में कोई संशय दिखाई नहीं दिया। उसने कहा– 'राजन्! देखो, मैं इस स्थान से तीन प्रदक्षिणा देता हूं, तुम्हें भी इसी प्रकार से करना है।' यह कहकर योगी ने प्रदक्षिणा प्रारम्भ की। एक प्रदक्षिणा पूरी हुई, दूसरी पूरी हुई और जैसे ही तीसरी प्रदक्षिणा पूरी होने वाली थी कि विक्रम ने योगी को दोनों हाथों से गेंद की तरह ऊपर उठाया और यज्ञकुण्ड में फेंक दिया। उस समय यज्ञकुण्ड से जो ज्वालाएं निकलीं, वे आकाश को छू रही थीं। योगी की चीख से वातावरण कांप उठा और कुछ ही क्षणों में अग्नि शांत हो गई। विक्रम ने स्थिर दृष्टि से यज्ञकुण्ड की ओर देखा। उसे स्वर्णमयी मानव प्रतिमा चमकती हुई वहां दीख पड़ी और उसी समय विक्रम के कानों से गंभीर ध्वनि टकराई– 'हे वीर पुरुष! मैं इस स्वर्णपुरुष का अधिष्ठायक देव गांगेय हूं। हे साहसिक पुरुष! मैं तुम्हें इस साहस के लिए धन्यवाद देता हूं। इस स्वर्णपुरुष को तुम अपने राजभवन में ले जाओ और इसकी सुरक्षा करो। दिन में तुम इस स्वर्णपुरुष के जितने अंग-प्रत्यंग काटोगे, रात्रि में वे पूरे वैसे ही निर्मित हो जाएंगे। तुम्हें एक बात का ही विशेष ध्यान रखना होगा कि रात्रि में इस स्वर्णपुरुष का कोई भी अंग न काटा जाए। हे वीर विक्रम! इस स्वर्णपुरुष से तुम्हें अपार स्वर्ण की प्राप्ति होगी। तुम इस धन का उपयोग जन-कल्याण के लिए करना। तुम्हारी कीर्ति चारों ओर फैल जाएगी।' इतना कहकर देव अदृश्य हो गया। और तब वैताल प्रकट हुआ।

वैताल बोला– 'महाराज! मैं आपको किन शब्दों में धन्यवाद दूं? आपका साहस देखकर मेरा हृदय बांसों उछल रहा है। अब आप राजभवन की ओर प्रस्थान करें। मैं इस स्वर्णपुरुष को लेकर राजभवन में पहुंच रहा हूं।'

विक्रम अपने मित्र वैताल से बोले– 'मित्र! आज जो कुछ हुआ है, वह तेरे ही पराक्रम से हुआ है। तुम-जैसे मित्र जिसको मिले हों, उसे किसी प्रकार का दुःख हो ही नहीं सकता। मित्र! मैं तुम्हारा आभारी हूं।'

३८. सिंधुपति का संदेश

वीर विक्रम अपने खण्ड में पहुंचें, उससे पूर्व ही वैताल स्वर्णपुरुष को लेकर वहां पहुंच गया। वीर विक्रम राजभवन में प्रविष्ट हुए, उस समय मंत्रिगण, महाप्रतिहार, रानियां आदि सभी अत्यन्त आकुल-व्याकुल हो रहे थे। विक्रम किसी को कुछ भी सूचित किए बिना चले गए थे, इसलिए सब चिन्तित थे। चारों ओर उनकी खोज हो रही थी। महाराजा को प्रसन्नचित्त आते हुए देखकर महाप्रतिहार अजयसेन ने उनका जय-जयकार किया और विक्रम अपने अश्व से नीचे उतरें, उससे पूर्व ही वहां पहुंचकर बोला – 'कृपानाथ! हमने पूरी रात आपकी खोजबीन की। आप किस ओर पधार गए थे?'

एक सेवक के हाथ में अश्व सौंपकर विक्रम बोले – 'अजय! मैं एक दूसरे कार्य के लिए गया था। भवन में सब कुशल तो हैं न?'

'हां, महाराज! सभी आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। महामंत्री तो कभी से यहां बैठे हैं।'

'चलो, मैं आ रहा हूं', कहकर विक्रम अग्रसर हुए।

नीचे के खण्ड में महामंत्री तथा अन्य मंत्री महाराजा का जयनाद सुनकर खण्ड से बाहर निकले और अपने प्रिय राजा को देखकर हर्ष-विभोर हो उठे। महामंत्री भट्टमात्र ने कहा – 'महाराज! बिना किसी को सूचित किए आप कहां चले गए थे?'

विक्रम ने हंसते हुए कहा – 'कल रात में एक अद्‌भुत घटना घट गई। आप यहां बैठें, मैं अभी आ रहा हूं।'

विक्रम ऊपरी खंड में गए। वहां दोनों रानियां आतुरतापूर्वक प्रतीक्षा कर रही थीं। स्वामी को देखते ही दोनों के नयन आनन्दित हो गए। विक्रम ने कहा – 'कल रात में जो घटना घटी, वह बड़ी रोचक है। मैं सबको बताऊंगा। पहले स्नान की व्यवस्था करो।' यह कहकर विक्रम अपने कक्ष में गए। वहां उन्होंने देखा कि जमीन पर बिछी हुई एक गद्दी पर स्वर्णपुरुष की विशाल प्रतिमा पड़ी है और वैताल एक आसन पर बैठा है। विक्रम ने मुस्कराते हुए वैताल की ओर देखकर कहा – 'प्रिय! तुम्हारी गति को मनुष्य कैसे पहुंच पाए? कब आ गए?'

वैताल ने कहा – 'मेरी गति को आप जानते ही हैं। मैं तो वहां से चला और क्षण-भर में यहां पहुंच गया। अब मुझे जाने की आज्ञा दें।'

'प्रिय मित्र! मैं तुम्हारे उपकार को भूल नहीं सकता। मैं तुम्हें जाने की आज्ञा कैसे दूं?'

वैताल ने कहा – 'महाराज! मेरी तेज-तर्रार पत्नी का परिचय तो आपने जान ही लिया है। यदि मैं यथासमय नहीं पहुंचा तो.... ।'

बीच में ही विक्रम बोले – 'बस....बस....बस.... तुम्हारी प्रिया अदृश्य रहकर तुम्हारी बातें सुन लेगी और तब उसे राजी करने के लिए तुम्हें तपस्या करनी होगी। तुम खुशी से जाओ।'

हंसता-हंसता वैताल अदृश्य हो गया।

स्नान आदि से निवृत्त होकर विक्रम ने दोनों पत्नियों और मंत्रिमण्डल के सदस्यों के समक्ष स्वर्णपुरुष की सारी घटना सुनाई। सारी बातें सुनकर सब आश्चर्यविमूढ़ बन गए।

महामंत्री ने कहा – 'महाराज! आपने बहुत खतरा उठाया है। ऐसा साहस कभी-कभी कठिनाई में डाल देता है।'

'महामंत्री! क्षत्रिय के रक्त में साहस भरा हुआ ही होता है। मनुष्य यदि भय का विचार करता रहे तो कुछ भी नहीं कर सकता।'

स्वर्णपुरुष को राज्यभण्डार में स्थापित कर दिया गया। विक्रम ने उसके दोनों हाथ-पैर काटकर अलग कर दिए। उस स्वर्ण का उपयोग जन-कल्याणकारी कार्यों में प्रारम्भ हुआ। दिन बीता और दूसरे दिन स्वर्णपुरुष के दोनों हाथ और पैर पूर्ववत् निर्मित हो गए। यह कार्य प्रतिदिन होता। अब जन-कल्याण की अनेक योजनाएं प्रारम्भ हुईं और मालवदेश की जनता सुखी रहने लगी।

इधर कश्मीर से जो कलाकार आया था, उसने बत्तीस पुतलियों वाला सिंहासन तैयार कर दिया। वह सिंहासन लकड़ी का था, किन्तु रत्नजटित स्वर्ण-सा प्रतीत होने लगा। एक दिन शिल्पी अमरदेव वह चामत्कारिक सिंहासन राजा के समक्ष ले गया।

सिंहासन को देखकर महाराजा विक्रमादित्य अत्यन्त प्रसन्न हुए और उसे राजभवन में रख दिया। शिल्पी अमरदेव ने उस सिंहासन की करामात समग्र राजसभा के समक्ष दिखाई।

ज्योंही महाराजा विक्रमादित्य उस सिंहासन पर बैठे, उस समय बत्तीस पुतलियों ने अपने-अपने अंगों की मरोड़ से विविध हावभाव प्रदर्शित किए। सभी पुतलियों की आंखें रत्नमंडित थीं, इसलिए वे असली आंखें जैसी चमक रही थीं। सभी पुतलियां अपने निश्चित शब्द बोलने लगीं। यह देखकर सभी आश्चर्यचकित रह गए।

शिल्पी की सही साधना तो यही है कि वह जड़ को भी चेतन का रूप दे देता है। शिल्पी अमरदेव ने यंत्ररचना के द्वारा निर्जीव सिंहासन को भी जीवंत बना डाला था। विक्रम ने शिल्पी को छाती से लगाते हुए कहा – 'अमरदेव! विश्व में

सभी पदार्थों का मूल्य हो सकता है, किन्तु कला का मूल्य नहीं आंका जा सकता। कला अमूल्य होती है। सिंहासन अमूल्य है, फिर भी मैं नैवेद्य के रूप में तुम्हें एक गांव बख्शीश करता हूं और साथ ही ग्यारह लाख स्वर्ण-मुद्राएं भी देता हूं।'

अमरदेव गद्गद हो गया और महाराजा के चरणों में लुटकर बोला— 'कृपानाथ! आपने मुझे बहुत दे डाला। कला को देखने वाले अनेक होते हैं, पर उसके पुजारी विरले ही मिलते हैं। मेरी वर्षों की साधना आज सफल हुई। यदि मैं कश्मीर से यहां नहीं आता तो मेरी कला-साधना अज्ञात ही रह जाती। आपने मेरा बहुत सम्मान किया है। अब मैं एक यांत्रिक अश्व बनाकर आपको समर्पित करूंगा।'

विक्रम ने शिल्पी के दोनों हाथ पकड़कर उठाते हुए कहा— 'मित्र! आज से तुम अवंती के नागरिक बन गए हो। तुम्हारी कला-साधना दिनों-दिन वृद्धिंगत होती रहे, वह कभी अस्त न हो, इसलिए तुम उसमें नये-नये निखार लाते रहना। मेरे से जो कुछ सहयोग अपेक्षित है, वह पाते रहना।'

राजसभा ने विक्रम का जयघोष किया।

दूसरे ही दिन अमरदेव को गांव का ताम्रपत्र प्राप्त हो गया और ग्यारह लाख स्वर्ण-मुद्राएं भी उसे दे दी गईं।

निराश और दरिद्रता के भार से दबा हुआ शिल्पी अमरदेव अत्यन्त प्रसन्न हुआ और नये जीवन को पाकर धन्य बना।

बत्तीस पुतलियों वाले सिंहासन की चामत्कारिक बातें चारों ओर फैलने लगीं और छह महीनों के पश्चात् अनेक राजा, राजकुमार, राजपुरुष, कलाकार, शिल्पी और सौदागर उस सिंहासन को देखने के लिए आने लगे। सिन्धु देश के प्रतापी राजा ने जब अपने गुप्तचरों के माध्यम से सिंहासन की बात सुनी, तब एक दूत के साथ उन्होंने विक्रम को संदेश भेजा—'राजराजेश्वर मालवपति श्रीविक्रमादित्य के कर-कमलों में इस पत्र द्वारा सिंधुपति राजा शंखपाद यह निवेदन प्रस्तुत करते हैं कि आपने एक चामत्कारिक सिंहासन बनवाया है। इसके फलस्वरूप आपने एक गांव और ग्यारह लाख स्वर्ण-मुद्राएं शिल्पी को दी हैं। मैं आपको विनम्र प्रार्थना करता हूं कि सिंहासन के बदले आपको बीस गांव, बीस हाथी, तीन सौ अश्व और तीन सौ सुन्दर और जवान दासियां तथा एक कोटि स्वर्ण-मुद्राएं देने के लिए तैयार हूं। मुझे विश्वास है आप मेरी इस प्रार्थना पर विचार करेंगे। आप यह भी जानते हैं कि क्षत्रिय अपनी भावना को पूरी करने में सब कुछ न्यौछावर कर डालता है। वह भावना को पूर्ण किए बिना नहीं रहता। आप यह भी जानते ही होंगे कि जीवन में अनेक बार छोटे प्रश्न बहुत बड़े बन जाते हैं और उनका परिणाम होता है विनाश! आपका दिव्य सिंहासन ऐसा ही एक छोटा प्रश्न है और वह मेरी उदारता से हल्का हो जाएगा। आप अवश्य ही मेरी बात पर ध्यान देंगे.....इति।'

पवनवेगी ऊंटनी पर इस संदेश को लेकर दूत सिन्धु देश से रवाना हुआ और सातवें दिन मालव देश की राजधानी अवंती में आ पहुंचा। उसने सिन्धुपति का संदेश-पत्र विक्रमादित्य के हाथों में सौंप दिया।

महाराजा विक्रमादित्य ने सिन्धुपति का संदेश-पत्र महामंत्री को दिया और राजसभा के नियमानुसार उसका वाचन हुआ। पत्र को सुनकर सभासद तिलमिला उठे। उस पत्र में मालवपति को अपमानित करने जैसी भावना थी और धमकी भी थी। महाराजा विक्रमादित्य ने दूत की ओर दृष्टिपात कर कहा – 'दूत! महाराजा सिन्धुपति क्षत्रिय हैं, यह बात वे जानते हैं या नहीं, इसमें मुझे संदेह है। क्योंकि राज्य-दण्ड, राज्य-सिंहासन, राज्य-सत्ता और राज्य-लक्ष्मी—ये चार चीजें मूल्य से प्राप्त नहीं की जा सकतीं। तुम अपने स्वामी से कहना कि विक्रम व्यापारी नहीं हैं, एक क्षत्रिय हैं। यह सिंहासन मूल्य से प्राप्त नहीं हो सकता। इसके पीछे सर्जक की अनेक वर्षों की तपस्या है। दूत! तुम अपने राजेश्वर को बताना कि मूल्य वस्तु का हो सकता है, परन्तु भावना और तपस्या का मूल्य नहीं आंका जा सकता।'

राजदूत ने हाथ जोड़कर विनम्र शब्दों में कहा – 'राजन्! यदि हम दीर्घदृष्टि से सोचते हैं तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सिंहासन मात्र एक वस्तु है। वस्तु का मूल्य होता है। आप यदि इसे किसी दूसरी शर्त पर देना चाहें तो बताएं।'

महामंत्री ने कहा – 'राजदूत! महाराज विक्रम ने जो सत्य कहा है, वह तुम्हारी समझ में नहीं आया, ऐसा लगता है। वस्तु का विनिमय करना व्यापारी का काम है, क्षत्रिय का नहीं। यदि महाराजा शंखपाद भेंट-स्वरूप सिंहासन की याचना करते तो मालवनाथ अवश्य ही उनकी याचना पूर्ण करते, क्योंकि उनके द्वार से कोई भी याचक खाली नहीं लौटता। किन्तु महाराजा शंखपाद ने संदेश-पत्र में धमकी दी है, इसका स्पष्ट अर्थ तुम बता सकते हो?'

दूत ने महामंत्री से कहा – 'मंत्रीश्वर! मेरे स्वामी का संकेत स्पष्ट है, फिर भी आप स्पष्टता चाहते हैं तो मुझे कहना पड़ेगा कि महाराजा शंखपाद एक बलवान महारथी हैं। उनका भुजबल गांधार तक व्याप्त है। उनके सैनिक रणशूर हैं। वे पीछे हटना जानते ही नहीं। उनकी अश्व-सेना संसार का एक आश्चर्य है। किन्तु एक छोटे-से प्रश्न के लिए मित्र-राज्यों से टकराहट हो, यह उचित नहीं है।'

विक्रम ने कहा – 'राजदूत! मेरी शर्त से ही यह सिंहासन प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नहीं।'

दूत ने सोचा, सिन्धु की सेना की कीर्त्ति सुनकर विक्रम भयभीत हो गये हैं। वह हर्ष-भरे स्वरों में बोला – 'कृपानाथ! आपकी शर्त क्या है, वह मुझे बताएं।'

विक्रम बोले – 'राजदूत! सिंधुपति से तुम कहना कि वे अवंती में अवश्य पधारें और जब मैं प्रातःकाल याचकों को दान देता हूं, उस समय याचक बनकर

इस चामत्कारिक सिंहासन की याचना करें। मैं उदारतापूर्वक यह सिंहासन उन्हें दान में दूंगा। यदि उन्हें अपनी शक्ति का गर्व है तो वे अपनी शक्ति के साथ यहां आएं, मैं यथायोग्य उनका स्वागत करूंगा और वे अपनी शक्ति के सहारे इस सिंहासन को प्राप्त करें। यदि वे यहां आने का श्रम न उठाना चाहें तो मैं उनके इस संदेश का उत्तर देने और उनकी शक्ति की थाह लेने स्वयं वहां पहुंच जाऊंगा।'

दूत ने रोष-भरे स्वरों में कहा– 'राजन्! आपने हमारे महाराजा का बहुत बड़ा तिरस्कार किया है। क्षत्रिय कभी याचक नहीं होता। वह अपनी इच्छा शक्ति के सहारे ही पूरी करता है, इसलिए आप युद्ध के लिए तैयार रहें।'

दूसरे ही दिन महाराजा विक्रमादित्य ने महाबलाधिकृत को चतुरंगिणी सेना सज्जित करने की आज्ञा दे दी।

३६. जय-पराजय

राजा शंखपाद का दूत सिंधु देश की राजधानी में पहुंचे, उससे पूर्व ही अवंती से रवाना हुआ गुप्तचर सीधे रास्ते से वहां पहुंच गया। दूत शंखपाद की राजसभा में पहुंचा। राजा ने अर्थभरी दृष्टि से उसकी ओर देखा। दूत शंखपाद के पास गया, प्रणाम कर बोला– 'सिंधुपति की जय हो। आपके संदेश का जवाब मुझे मिल गया है। आप जहां कहें, वहां उसे निवेदित करूं।'

शंखपाद बोले– 'यहीं बता दे। तू इतना घबराया हुआ क्यों है?'

दूत ने कहा– 'कृपानाथ! वहां की बात ही कुछ अजब-सी है। बत्तीस पुतलियों वाले सिंहासन के विषय में आपने जो सुना है, उससे भी वह अधिक सुन्दर है। मैंने स्वयं अपनी आंखों से उसे देखा है। स्वर्ण की सुन्दर और जीवंत दीखने वाली पुतलियां, विक्रम जब सिंहासन पर बैठते हैं, तब हावभाव, नृत्य आदि करती हैं। जब वे बोलती हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है कि बत्तीस लड़कियां सचेतन अवस्था में बोल रही हैं। वह सिंहासन अत्यन्त मूल्यवान् रत्नों से जटित है। ऐसा सिंहासन इन्द्र के पास भी होगा या नहीं, इसमें संदेह है। इस सिंहासन को देखकर मैंने पहले तो सोचा कि आपका संदेश विक्रम को न दूं, किन्तु मैंने वह संदेश विक्रम को दिया। संदेश को पढ़ने के पश्चात् महाराजा विक्रम ने कहा– 'राज्यदण्ड, राज्यसिंहासन, राज्यसत्ता और राज्यलक्ष्मी–ये चार मूल्य से नहीं मिलतीं। विक्रम ने यह भी कहा कि वे क्षत्रिय हैं, विनिमय करने वाले बनिये नहीं हैं। मैंने उनको समझाया और किसी भी शर्त पर सिंहासन देने की बात कही। उन्होंने मेरी प्रार्थना स्वीकार करने के बदले विचित्र उत्तर दिया, जिसको बताते हुए मेरी जीभ लड़खड़ा रही है।'

शंखपाद सिंहासन से उठे और तेज स्वरों में बोले– 'भृगुदेव! विक्रम ने जो कहा है, वह हमें बिना किसी हिचकिचाहट के बताओ।'

दूत भृगुदेव ने कहा– 'कृपानाथ! राजा विक्रम प्रतिदिन याचकों को दान देते हैं। उस समय यदि आप याचक बनकर सिंहासन की मांग करते हैं तो वह आपको मिल सकता है। दूसरी शर्त यह है कि यदि राजा शंखपाद याचना कर सिंहासन ले जाना नहीं चाहते हैं, तो वे अपने भुजबल से उसे प्राप्त करें। विक्रम ने यह भी कहा कि अब हमारा मिलन समरांगण में होगा। मैं तब उनका पूर्ण स्वागत करूंगा।'

राजा शंखपाद विचारमग्न हो गये। राजसभा के सभी सदस्यों ने इसे सिंधु देश के नायक का बड़ा अपमान माना। सबने यही सोचा कि सस्ते दान से कीर्ति प्राप्त करने वाले विक्रम क्या यह मान बैठे हैं कि सिंधु देश की रजपूती मर गई है।

राजा शंखपाद ने मंत्रिगण, सेनापतियों तथा अन्यान्य परामर्शदाताओं से मंत्रणा कर पन्द्रह दिन के पश्चात् अवंती पर आक्रमण करने के लिए चतुरंगिणी सेना को कूच करने का आदेश दिया।

सिंधु देश से आये हुए मालव देश के गुप्तचर ने सारी स्थिति की पूरी जानकारी कर अवंती की ओर प्रस्थान कर दिया।

वीर विक्रम जानते थे कि सिंधु देशाधिपति शंखपाद युद्ध की स्थिति उत्पन्न करेगा, इसलिए उन्होंने एक सप्ताह के भीतर ही बीस हजार की चतुरंगिणी सेना सज्जित कर सिंधु देश की ओर उसे कूच करने का आदेश दे दिया। वे स्वयं सेना के साथ थे।

पन्द्रह दिन बीत गए।

महाराजा शंखपाद के सेनानायक एक लाख की सेना सज्जित करना चाहते थे, पर वे केवल बीस हजार की सेना तैयार कर पाए। महाराजा चिंतित हुए। उन्होंने इसी सेना को लेकर अवंती पर आक्रमण करने की बात सोची।

राजा शंखपाद अपनी राजधानी से कूच करें, उससे पूर्व ही महाराजा विक्रम की सेना ने सिंधु देश की सीमा में प्रवेश कर दिया। यह समाचार राजा शंखपाद तक पहुंचा और वे अपनी सज्जित सेना को लेकर समरभूमि में विक्रम का स्वागत करने सीमा पर पहुंचने के लिए प्रस्थित हो गए।

सिंधु देश की राजधानी से मात्र चालीस कोस की दूरी पर दोनों सेनाएं आमने-सामने मिल गईं। विक्रम ने एक दूत के द्वारा यह संदेश भेजा कि यदि शंखपाद क्षमा मांगकर घर चले जाएं, तो मैं उन्हें प्राणदान दे सकता हूं। मेरा उनसे कोई वैर नहीं है। मैं उन्हें मित्र-राजा मानने के लिए तैयार हूं। छोटे कारणों से देश को विनाश के कगार पर ला खड़ा करना क्षत्रिय का धर्म नहीं है।

दूत ने यह संदेश दिया और महाराजा शंखपाद ने इसका उत्तर दिया उस दूत का सिर धड़ से अलग कर।

दूसरे दिन भयंकर युद्ध छिड़ गया।

चार दिनों तक घमासान युद्ध हुआ। अनेक वीर योद्धा मारे गए। हजारों घायल हो गए। सिंधु देश की सेना के पैर उखड़ने लगे। वे पीछे हटने लगे।

राजा विक्रम ने अपने सेनानायकों से मंत्रणा कर यह निश्चित किया कि महाराजा शंखपाद को जीवित बंदी बना लिया जाए। युद्ध भयानक स्थिति से गुजर रहा था। सिंधु देश की सेना समरभूमि को छोड़कर भागने लगी। मालव देश के सैनिकों ने उसका पीछा किया। सातवें दिन शंखपाद अपने सेनापतियों के साथ शरणागत हो गया। सिंधु देश के लगभग बारह हजार सैनिक पकड़े गए और सभी ने वीर विक्रम की शरण ली।

महाराजा विक्रम की जीत हुई।

महाराजा शंखपाद पराजित हुए।

महाराजा विक्रम अपने साथियों के साथ एक विशाल पटगृह में बैठे थे। इतने में ही उनके सेनानायकों ने शंखपाद को बन्दी अवस्था में उपस्थित किया। सेनापति ने विक्रम से कहा – 'कृपानाथ! अपने भुजबल से मालव की जनता को पीस देने का स्वप्न देखने वाले राजा शंखपाद आपके समक्ष उपस्थित हैं।

विक्रम ने देखा कि शंखपाद मस्तक झुकाए खड़ा है। उन्होंने महाप्रतिहार अजय से कहा – 'अजय! राजा शंखपाद को बंधनमुक्त करो।'

तत्काल सेनापति ने कहा – 'कृपानाथ! आप यह क्या कर रहे हैं?'

विक्रम ने मुस्कराते हुए कहा – 'सेनापतिजी! मैंने क्षात्र-धर्म का प्रतिनिधित्व करने वाली आज्ञा दी है। हम किसी के राज्य पर आक्रमण करना नहीं चाहते थे। हम मात्र शंखपाद को क्षात्र-धर्म की स्मृति कराना चाहते थे और वह हमने किया है।'

शंखपाद को बंधनमुक्त कर दिया गया।

फिर विक्रम ने शंखपाद को अनेक शिक्षाप्रद बातें कहीं।

शंखपाद विक्रम की उदारता से गद्गद हो गया। उसने कहा –'महाराज! आपने मेरे पर अपार कृपा की है। यदि आप मुझे बोधपाठ नहीं देते तो मेरा गर्व आकाश को छूने लगता। आप महान् हैं।'

विक्रम ने खड़े होकर शंखपाद को छाती से लगाते हुए कहा – 'राजन्! अब आप मुक्त हैं। एक बात याद रखें, मनुष्य का गर्व उसको माटी में मिला डालता है। इस छोटे से संग्राम में आपके शूरवीरों का काफी नुकसान हुआ है। मेरे भी चौदह

सौ वीर वीरगति को प्राप्त हुए हैं। मैं प्रतिशोध लेना नहीं चाहता। आपके सभी बंदी सैनिकों को भी मैं मुक्त करता हूं।'

शंखपाद नौजवान विक्रम के चरणों में लुठ गया और बोला—'कृपानाथ! आपने मुझे क्षमा किया है, यह आपका महान् उपकार है। आपने मेरी आंखें खोल दीं। अब आप मेरी एक प्रार्थना स्वीकार करें।'

विक्रम ने हंसकर कहा—'मित्र! यदि आपको बत्तीस पुतली वाला सिंहासन चाहिए तो भेज दूं....।'

'नहीं.....महाराज! ....ऐसे सिंहासन पर बैठने की योग्यता कहां है मेरे में। मैं दूसरी प्रार्थना करना चाहता हूं।'

विक्रम ने प्रश्नभरी दृष्टि से शंखपाद की ओर देखा।

शंखपाद ने कहा—'महाराज! आप हमारी राजधानी में पधारें। मेरी बहन लीलादेवी अत्यन्त सुन्दर और सुयोग्य है। उसका पाणिग्रहण कर आप हमें कृतार्थ करें।'

विक्रम ने शंखपाद की इस प्रार्थना को स्वीकार किया। वे राजधानी में गए। सिंधु देश की जनता ने उनका भावभीना स्वागत किया।

तीसरे दिन विक्रम के साथ लीलादेवी का विवाह हो गया। महाराजा शंखपाद ने दहेज में प्रचुर धन दिया। महाराजा विक्रम आठ दिन तक वहां रुके और नौवें दिन अपनी अजेय सेना और नववधू को साथ ले मालव देश की ओर चल पड़े।

४०. भील दम्पति

सिंधुराज शंखपाद पर विजय प्राप्त करने और उनकी बहन लीलादेवी के साथ विवाह करने की बात अवंती में पहुंच गई थी। अवंती की प्रजा अपने धीर-उदार राजा के आगमन की प्रतीक्षा कर रही थी।

और जिस दिन वीर विक्रम अवंती से सात कोस दूर रहे, तब हजारों पुरवासी जन अपने प्रिय राजा का वर्धापन करने के लिए वहां पहुंच गए।

और दूसरे दिन प्रथम प्रहर में जनता के अपूर्व उत्साह के साथ वीर विक्रम ने अपनी नयी वधू के साथ अवंती में प्रवेश किया। राजभवन में जब पहुंचे, तब वहां दोनों रानियों ने अपने स्वामी और नयी रानी को पुष्पमालाएं अर्पित कीं।

सिंधु देश की विजय का समाचार नगरी के घर-घर में प्रसृत हो गया। लोगों के मन में अपने महाराजा के प्रति प्रेम का समुद्र उमड़ पड़ा। उन्होंने अपना प्रेमभाव व्यक्त करने के लिए आठ दिनों तक विजयोत्सव मनाया।

डेढ़ वर्ष का समय पलक भर में बीत गया।

डेढ़ वर्ष के अल्पकाल में विक्रम ने ग्यारह राजाओं का मानमर्दन और बाईस राज-कन्याओं के साथ पाणिग्रहण कर अपने अन्तःपुर को बढ़ाया।

उन्होंने अपनी एक पत्नी देवी सुकुमारी को भुला दिया था। वह अपने पीहर में रहती हुई अपने एकाकी पुत्र के लालन-पालन में समय बीता रही थी।

विक्रम स्वस्थ थे, तेजस्वी थे, युवा थे और कीर्ति के अश्वों पर चढ़े हुए थे। इसलिए अनेक राज-कन्याओं ने इन्हें मन-ही-मन अपना पति स्वीकार कर लिया था। उन सबके साथ पाणिग्रहण करना इनके लिए अनिवार्य हो गया था।

एक दिन विक्रम राजभवन के उद्यान के एक बैठक-गृह में अपने मंत्रियों, सुभटों तथा अन्यान्य राज्याधिकारियों के साथ बैठे थे। उस समय एक परदेशी अत्यन्त सुन्दर, तेजस्वी और शुभ लक्षणों से युक्त दो अश्वों को लेकर उस उपवन में आया।

द्वार के पास खड़े महाप्रतिहार ने पूछा – 'भाई, कैसे आए हो?'

परदेशी बोला – 'मालवनाथ की प्रशंसा सुनकर मैं अपने दोनों अश्वों को बेचने आया हूं।'

महाप्रतिहार ने यह समाचार महाराजा वीर विक्रम को दिया। वीर विक्रम के मन में उत्तम अश्वों के प्रति बहुत अनुराग था। वे अश्वों का निरीक्षण करने के लिए बैठक-गृह से बाहर आए और अश्वों को देखते ही उनके प्रति आकृष्ट हो गए। दोनों अश्व उत्तम लक्षणों वाले थे। दोनों अश्वों के शरीर पर पंच-कल्याणक थे। उनकी अश्वशाला में हजारों अश्व थे, पर इन-जैसा एक भी अश्व नहीं था। विक्रम ने महामंत्री की ओर देखा। महामंत्री ने कहा – 'महाराज! अश्व अत्यन्त सुन्दर हैं, किन्तु इनकी सही परीक्षा आप ही कर सकेंगे, क्योंकि अश्वशास्त्र में आप निष्णात हैं।'

विक्रम ने महाबलाधिकृत की ओर देखा। महाबलाधिकृत ने उत्साह भरे स्वरों में कहा – 'कृपानाथ! दोनों अश्व देवकोटि के हैं, उत्तम हैं।'

विक्रम ने दोनों अश्व खरीद लिये और परदेशी ने जो मूल्य मांगा, उससे अधिक मूल्य देकर उसे संतुष्ट किया। दो सेवक दोनों अश्वों को अश्वशाला में ले गए।

एक सुभट बोला – 'कृपानाथ! अश्व अति उत्तम हैं, परन्तु एक बार परीक्षा कर इन्हें खरीदा जाता तो अच्छा था।'

विक्रम ने कहा – 'अब अश्व अपने ही अधीन हैं। जब चाहेंगे, तब परीक्षा कर लेंगे। हम ठगे गये नहीं हैं।'

सभी ने विक्रम के शब्दों को सराहा और दूसरे ही दिन एक अश्व की परीक्षा करने का निश्चय हो गया।

दूसरे दिन मध्याह्न के पश्चात् कुछेक मंत्रियों, मित्रों, सुभटों और रक्षकों के साथ एक अश्व को लेकर विक्रम गांव के बाहर गए और अश्व की गति, चाल आदि की परीक्षा करने के लिए वे एक छलांग मारकर उस पर आरूढ़ हो गए। उसी क्षण अश्व दोनों पैरों से नृत्य करने लगा। सभी दर्शकों ने धन्य-धन्य का घोष किया। महाप्रतिहार और दस रक्षक भी अपने-अपने अश्वों पर सवार हो गए।

और वीर विक्रम ने अपने तेजस्वी अश्व को गतिमान किया। अश्व चौंका। उसका रक्त थनथना उठा। उसने वायुवेग से गति पकड़ी। यह गति देखकर सब अवाक् रह गए—वाह-वाह! क्या अश्व है, मानो कि यह वायु की पांखों से उड़ रहा है....! इसकी क्या गति है मानो कि धनुष से छूटा हुआ बाण हो!

दर्शकों ने यही सोचा था कि वीर विक्रम एक चक्कर लगाकर लौट आएंगे। किन्तु अश्व वायुवेग से दौड़ा जा रहा था और बेचारे महाप्रतिहार और सभी रक्षक पीछे रह गये थे। वीर विक्रम का अश्व दृष्टि से ओझल हो गया।

अश्व की गति बहुत तीव्र थी। विक्रम को यह गति बहुत रुचिकर थी। उनको यह विश्वास था कि इस अश्व पर कहीं भी जाने में समय की बचत होगी। किन्तु....अरे, यह क्या ? अश्व पुनः मुड़ ही नहीं रहा था। विक्रम जैसे-जैसे अश्व को थामने का प्रयत्न करते थे, अश्व की गति बढ़ती जाती थी।

एक घटिका....दो घटिका....चार घटिका...और सूर्य अस्ताचल की ओर जाने लगा। फिर भी अश्व की गति वैसी ही थी। अश्व किस दिशा में जा रहा है, यह भी विक्रम को ज्ञात नहीं था। अश्व एक वन-प्रदेश में प्रवेश कर चुका था और ऊबड़-खाबड़ मार्ग पर चल रहा था। विक्रम के सभी प्रयत्न निष्फल हो चुके थे। वे अश्व को रोक नहीं पाए।

रात पड़ी। वन-प्रदेश में अंधकार व्याप्त हो गया। अश्व हांफ रहा था, फिर भी वह अविराम गति से दौड़ रहा था। विक्रम भी थककर चूर हो गए थे। इस प्रकार की गति की एक धारा में प्रवास करना सरल कार्य नहीं है।

वन-प्रदेश के एक अगोचर भाग में वह थका-मांदा अश्व अचानक रुक गया। तत्काल विक्रम अश्व से नीचे उतर गए। अश्व कांप रहा था। उसका सांस फूल रहा था। वह तृषा से अत्यन्त आकुल हो रहा था। विक्रम भी थक गए थे। वे एक वृक्ष के नीचे विश्राम लेने के लिए जाएं, उससे पहले ही अश्व धड़ाम से पृथ्वी पर गिर पड़ा। उसके प्राण उड़ गए। विक्रम ने यह दृश्य देखा। उनका सिर चकराने लगा। भूख और प्यास से वे आकुल थे। वृक्ष के पास पहुंचते-पहुंचते वे भी मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर पड़े।

उनके पीछे अश्वों पर आते हुए महाप्रतिहार और रक्षक कहां हैं, कौन कल्पना कर सकता है ?

इस सुनसान वन-प्रदेश में विक्रम को अश्व से उतरते हुए देखकर एक भील, जो उधर से निकल रहा था, ने सोचा – कोई परदेशी पथिक भटक गया है, ऐसा प्रतीत होता है। उसने देखा – अश्व जमीन पर निढाल पड़ा है। वह निकट गया। अश्वारोही को नीचे पड़ा देखकर भील के आश्चर्य का पार नहीं रहा। वह अश्व के निकट गया। अश्व प्राण तोड़ चुका था और अश्वारोही मूर्च्छित पड़ा था।

एक क्षण का भी विलम्ब किए बिना वह भील निकट के बहते झरने पर गया और कंधे पर रखा कपड़ा पानी में भिगोकर दौड़ता हुआ लौटा। मूर्च्छित अश्वारोही को सचेत करने के लिए उसने वह भीगा कपड़ा निचोड़ा। आंख-मुख पर पानी की धार पड़ी। शीतल जल के स्पर्श से विक्रम सचेत हुए। आंखें खोलकर उन्होंने आस-पास देखा। भील बोला – 'भाई ! तुम बैठो। तुम्हारे चेहरे को देखने से लगता है कि तुम भूख और प्यास से आकुल हो रहे हो। मेरा निवास पास में ही है। तुम मेरे साथ चलो।'

विक्रम उठ बैठे। उन्होंने भील की ओर देखते हुए जमीन पर निढाल पड़े अश्व पर नजर डाली। भील बोला – 'भाई ! तुम्हारा अश्व तो मर गया। क्या तुम भटक गए हो या किसी कार्यवश इस रास्ते से जा रहे हो ?'

विक्रम बोले – 'भाई ! यह स्थान कौन-सा है ?'

'यह स्थान राजा वीर विक्रम का महावन है, किन्तु इस मार्ग से कोई पथिक आता नहीं। तुम कौन हो ? कहां रहते हो ?'

विक्रम ने भील की ओर प्रसन्न-दृष्टि से देखते हुए कहा – 'भाई ! जिसका यह वन-प्रदेश है, मैं वही विक्रम हूं। मैं अश्व की परीक्षा करने निकला था। अश्व वायुवेग से दौड़ने लगा। अनेक उपाय करने पर भी वह रुका नहीं। मैं अवंती से कितनी दूर आ गया हूं, इसकी मुझे कल्पना भी नहीं है।'

अपने राजा को सामने देखकर भील का हृदय नाच उठा। वह बोला – 'महाराज ! अवंती यहां से पचास कोस दूर है। आप मेरे आंगन को पवित्र करें।'

विक्रम खड़े हुए और भील के पीछे-पीछे चलने लगे। कुछ दूर जाने पर एक टेकड़ी दिखाई दी। रात्रि का अन्धकार था, फिर भी भील उस मार्ग पर चलने का अभ्यस्त था। वह बोला – 'महाराज ! इस सामने दीखने वाली टेकड़ी में मेरी गुफा है। आपको वहां आराम मिलेगा।'

दोनों कुछ चले और टेकड़ी पर चढ़ने लगे। गुफा दिखाई दी। विक्रम ने देखा कि गुफा से मंद-मंद प्रकाश आ रहा है। दोनों गुफा में गए। वहां कोई बिछौना

या गद्दी नहीं थी, केवल एक छोटी-सी खाट थी। भील ने खाट बिछायी और विक्रम को वहां बिठा दिया। भील ने एक कोने में रसोई बना रही भीलनी की ओर देखकर कहा– 'अरे, सुन! आज हमारे घर मालवा के नाथ अतिथि हुए हैं। जल्दी से पानी ला और रसोई कुछ अच्छी बनाना।'

भीलनी खड़ी हुई। पानी का पात्र और मिट्टी की परात लेकर विक्रम के सामने आयी। राजा ने शीतल पानी पिया। पानी पीते ही मानो सारे शरीर में प्राण-संचार हो गया। एक साथ पांच-सात गिलास पानी पी लिया। फिर भीलनी की ओर दृष्टि कर कहा– 'बहन! यहां कोई दूसरे परिवार भी रहते हैं या नहीं?'

उत्तर देते समय भीलनी शरमा गई। चूल्हे में जो लकड़ियां जल रही थीं, उनके प्रकाश में विक्रम ने देखा कि भील और भीलनी दोनों में अत्यन्त प्रेम है। भील ने कहा– 'महाराज! यहां तो केवल मैं और मेरी पत्नी–दो ही रहते हैं। किन्तु एकाध कोस के परिसर में दो-तीन परिवार और रहते हैं। इस वन में सिंह-बाघ आदि का भय रहता है, इसलिए हमें इस प्रकार की गुफा में रहना पड़ता है।'

वनवासी भील की बातों में वीर विक्रम को रस आ रहा था। वे अनेक प्रश्न पूछ रहे थे। भील उत्तर दे रहा था। भीलनी चूल्हे के पास चली गई।

उसने मन-ही-मन सोचा, आज हमारे आंगन में राजा आए हैं, किन्तु उनके आतिथ्य के लिए बाजरे के सिवाय कुछ है नहीं। चूल्हे पर राबड़ी पक रही है। किन्तु अब क्या हो? अभी और कुछ मिल नहीं सकता। यह सोचकर भीलनी बाजरे के रोट बनाने बैठी।

जिस व्यक्ति को पानी मांगते समय स्वर्णपात्र में दूध मिलता था और भोजन में बत्तीस प्रकार की सामग्रियां परोसी जाती थीं, छब्बीस-छब्बीस पत्नियां जिसकी सेवा में खड़ी रहती थीं, उस राजा विक्रम को आज मिट्टी के पात्र का पानी बहुत मीठा लगा था और भूख इतनी तीव्र थी कि कुछ भी सामने आए, वह उसे उदरस्थ कर लेना चाहते थे।

रोट तैयार हो गए, तब भीलनी ने संकेत से अपने पति भील को निकट बुलाकर कहा– 'इस राबड़ी और रोट के अतिरिक्त घर में कुछ भी नहीं है। दूध भी अब मिल नहीं सकता।'

भील बोला– 'अरे, लहसुन का मसाला है या नहीं?'

'हां, कुछ पड़ा है। कुछ सूखी हुई मिरचें भी हैं।'

'ठीक है, जो हो वह जल्दी ले आ। उस परात में राबड़ी निकाल। रोटी पत्थर के पट्ट पर रखेंगे।' यह कहकर भील विक्रम के पास गया। भीलनी ने दो पात्र राबड़ी से भरे। पत्थर के एक पट्ट पर रोट और मसाला रखा। राजा विक्रम और

भील—दोनों भोजन करने बैठे। रोट इतना मोटा और मजबूत था कि यदि किसी के कपाल पर उसका प्रहार किया जाए तो बड़ा फोड़ा हो जाए। किन्तु वह रोट आज विक्रम को इतना मीठा लग रहा था कि उसकी मिठास के समक्ष राजभवन के पकवान फीके हो गए थे। जो राबड़ी कैदी भी नहीं खा सकते, वह विक्रम को अमृत जैसी लग रही थी। राबड़ी में और कुछ नहीं था, केवल बाजरे का आटा, छाछ, पानी और नमक।

जब व्यक्ति भूखा होता है तब कोई भी भोजन मीठा लगता है। भूख के बिना जब भोजन करना होता है, तब ललचाने वाली अनेक सामग्री बनानी पड़ती है।

विक्रम ने दो बड़े पात्र भरकर राबड़ी पी और एक रोट खाया। इतना भोजन उन्होंने इन वर्षों में कभी नहीं किया था।

भील ने महाराज के हाथ धुलाए। पानी पिलाया। उसने भी ब्यालू कर लिया था। शेष जो बचा, उसे भीलनी ने खा लिया। उसने एक लक्कड़ ऐसा जला रखा था, जो रात-भर धीरे-धीरे जलता है और मंद-मंद प्रकाश फैलाता रहता है।

विक्रम आज बहुत थक गए थे। यहां से अवंती कैसे पहुंचा जाए, यह प्रश्न उन्हें सता रहा था। भील दम्पति के आतिथ्यभाव से वे बहुत प्रसन्न थे।

भीलनी जब ब्यालू सम्पन्न कर भील के पास आकर बैठ गई तब विक्रम बोले—'भीलराज! आज से तुम मेरे मित्र बन गए हो। यदि आज तुम्हारा सहयोग मुझे प्राप्त नहीं होता तो मेरा क्या होता, कौन जाने? और तुम दोनों ने आधे भूखे रहकर मुझे खिलाया, यह उपकार मैं जीवन भर नहीं भूलूंगा।'

भील ने हंसते-हंसते कहा—'महाराज! इसमें उपकार कैसा? हम तो वनवासी हैं। वन में इधर-उधर घूमते हैं और दो रोटियों का इंतजाम कर लेते हैं, किन्तु जब हमारे आंगन में कोई अतिथि आ जाता है तो हमारा भी तो कोई कर्त्तव्य होता है!'

इस प्रकार जब बातें करते-करते आधी रात बीत गई तब भील ने उस टूटी-फूटी खाट पर एक फटा कपड़ा बिछाकर विक्रम को उस पर सोने के लिए प्रार्थना की। विक्रम तत्काल वहां गए और कुछ ही क्षणों में घोर निद्राधीन हो गए। यह देखकर भील ने भीलनी से कहा—'तू इस कोने में सो जा। रात में महाराज यदि जागें और कुछ मांगें तो उन्हें दे देना। मैं गुफा के द्वार पर पत्थर रखकर पहरा दूंगा।' यह कहकर भील गुफा के बाहर चला गया और एक बड़ा पत्थर गुफा के द्वार पर आड़े रखकर स्वयं पहरा देने बाहर बैठ गया; क्योंकि यदि स्वयं गुफा के भीतर सो जाए तो गुफा का द्वार बन्द नहीं किया जा सकता और यदि द्वार खुला रहे तो कोई भी हिंसक प्राणी अन्दर आकर अतिथि को कठिनाई में डाल सकता है।

विक्रम गुफा के भीतर गहरी नींद में सो रहे थे और एक कोने में भीलनी पड़ी थी। उसे नींद नहीं आ रही थी। जब बानवे लाख प्रजा के स्वामी सामने सो रहे हों तो भला नींद कैसे आए और जब वे जागें और कुछ मांगें, उस समय यदि स्वयं सो जाए तो अतिथि को कितना कष्ट हो, यह सोचकर वह जागती हुई सो रही थी।

बहुत बार ऐसा होता है कि मनुष्य जागृत रहने का निर्णय करता है, तब ही पृथ्वी की सारी नींद उसे आ घेरती है। भीलनी दो घटिका पर्यन्त जागती रही, फिर अचानक उसकी आंखें लग गईं और वह निद्राधीन हो गई।

रात का तीसरा प्रहर चल रहा था। बाहर पहरे पर बैठे भील की आंखों में नींद ने डेरा डाला और अचानक उसने बाघ की हुंकार सुनी। समग्र वन-प्रदेश को प्रकंपित कर देने वाली उस हुंकार को सुनकर भील खड़ा हो गया और आस-पास देखने लगा। इतने में ही मृत्यु का रूप धारण कर बाघ भील पर झपटा। भील एक चीख के साथ भूमि पर लुढ़क गया। प्रयत्न कर वह उठा और बाघ से जूझने लगा। संयोगवश भील की लाठी एक ओर गिर गई थी। बाघ भील पर उछला और उसकी छाती को चीर डाला। भील के मुंह से एक करुण चीख निकली और वह सदा के लिए शान्त हो गया।

यह चीख और बाघ का हुंकार सुनकर वीर विक्रम खाट से उठ खड़े हुए। भीलनी भी उठ गई। विक्रम ने कहा – 'बहन, जल्दी द्वार खोल। बाहर कुछ घटना घटी है।'

भीलनी ने प्रकाश के लिए जलती हुई लकड़ी को हाथ में लिया और वह द्वार की ओर जाते हुए बोली – 'महाराज! गुफा के द्वार के आड़े पत्थर रखा हुआ है। मेरे स्वामी के सिवाय कोई उसे हटा नहीं सकता।'

विक्रम तत्काल आगे बढ़े, पत्थर पर एक लात मारी। पत्थर वहां से खिसक गया। पत्थर के खिसकने की आवाज सुनकर भील का रक्त चूसने में तल्लीन बाघ भाग गया। विक्रम और भीलनी–दोनों बाहर आए। पश्चिम रात्रि के चांद की चांदनी फैल चुकी थी। विक्रम ने देखा कि स्वयं को बचाने वाला भील मर चुका है।

भीलनी अपने पति की यह दशा देखकर रक्त से सने उसके शरीर पर गिर पड़ी। वह करुण स्वर में बोली – 'अरे मेरे स्वामी! यह तुम्हें क्या हो गया? अरे रे! तुमने मेरा विचार भी नहीं किया?' इतना कहते ही भीलनी के प्राणपखेरू भी उड़ गए।

राजा विक्रम अवाक् रहकर इस हृदय-द्रावक दृश्य को देख रहे थे। उन्होंने नीचे झुककर देखा कि भीलनी का शरीर भी निर्जीव हो गया है। अब क्या करें?

किन्तु यह दृश्य देखकर राजा विक्रम के मन में एक विचार उभरा। उन्होंने सोचा, इन दोनों ने मेरे पर महान् उपकार किया है और अन्नदान देकर मुझे जीवित रखा है। इसका यह परिणाम आया ? दान और उपकार करने वालों को यदि ऐसा ही फल मिलता है तो दान और उपकार कल्पना मात्र रह जायेंगे।

इस प्रश्न पर विचार करने का समय नहीं था। वीर विक्रम ने दोनों शवों को गुफा के भीतर सावधानीपूर्वक एक ओर रख दिया। फिर विचारमग्न होकर उस खाट पर बैठ गए।

प्रातःकाल हुआ। वन में पक्षियों ने प्रातःगान प्रारम्भ किया। विक्रम गुफा से बाहर निकले। उनके मन में इस दम्पति के अग्नि-संस्कार की भावना जागी। किन्तु वहां कोई दूसरा मनुष्य नहीं था। चारों ओर हरीतिमा और पक्षियों का कलरव था। वे स्वयं उस प्रदेश से बिल्कुल अनजान थे। किस ओर जाना है, इसका निर्णय न कर सकने के कारण वे एक चट्टान पर बैठ गए। उनके मन में विविध संकल्प-विकल्प उठ रहे थे। उन संकल्पों में वे उन्मज्जन-निमज्जन कर रहे थे। उसी समय उनके कानों से अश्वों के पदचाप की ध्वनि टकराई। विक्रम तत्काल खड़े हुए और चारों ओर देखने लगे। कुछ ही समय के पश्चात् महाप्रतिहार और रक्षक, चारों ओर देखते-देखते, आते हुए दिखाई दिए। विक्रम ने जोर से चिल्लाकर कहा— 'अजय! अजय! इस ओर.....!'

अजय ने उस छोटी टेकड़ी की ओर देखा। वहां महाराज विक्रम को खड़े देखकर वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ और तब सभी ने 'महाराज की जय हो' के घोष से सारे आकाश को गुंजा दिया। कुछ ही क्षणों में सभी टेकड़ी पर आ गए। महाराजा ने आते ही पूछा— 'अजय! यहां कैसे आ गए ?'

अजय बोला— 'महाराज! हम कल मध्याह्न से ही आपके पीछे-पीछे चल रहे थे। किन्तु आपका अश्व वायुवेग से दौड़ रहा था। हम उसके साथ चल नहीं सके। सारी रात आपको ढूंढते-ढूंढते इधर आ गए।'

वीर विक्रम ने संक्षेप में सारी घटना बताई और फिर भील दम्पति का अंतिम दाह-संस्कार किया।

लगभग मध्याह्न के पश्चात् सभी अवंती की ओर प्रस्थित हुए और जब वे सब अवंती पहुंचे तब दूसरे दिन का प्रथम प्रहर बीत चुका था।

अपने महाराजा को सुरक्षित आए हुए जानकर अवंती के पौरजन अत्यन्त आनन्दित हो उठे। सारा देश प्रसन्नता से झूम उठा।

तीन महीने बीत गए।

इन्हीं दिनों एक पर्वतीय प्रदेश के राजा के जुल्मों के सामने युद्ध करने के लिए विक्रम को जाना पड़ा।

जो युद्ध मात्र दो महीने में समाप्त होने वाला था, उस युद्ध में साढ़े चार महीने लग गए। वीर विक्रम अपने पराक्रम से पर्वतराज को नष्ट कर उसकी अपार सम्पत्ति और तीन कन्याओं से पाणिग्रहण कर पांच महीनों के बाद अवंती में आए।

अवंती के अन्तःपुर में अब उनतीस रानियां हो गई थीं। समृद्धि आकाश को छू रही थी। विक्रम की वीरता की चर्चा चारों ओर फैल गई। राजसभा में अनेक कवि, भाट, चारण और पंडित आते, महाराजा वीर विक्रम की गुण-गाथा गाते और उनकी तुलना इन्द्र से करते।

मनुष्य के आस-पास जब प्रशंसा के फूल बिखरते हैं, तब वह अपने पराक्रम के नशे में मस्त बन जाता है। एक बार वीर विक्रम महादेवी कमला रानी के शयनागार में विश्राम कर रहे थे। दोनों चर्चा में तन्मय थे। बात-ही-बात में विक्रम ने कमलादेवी से कहा– 'प्रिये! जब तुम यहां आयी थी, तब मेरे पास क्या था? आज मैंने अपने भुज-पराक्रम से इतना वैभव एकत्रित कर लिया है कि इसके समक्ष इन्द्र का वैभव भी फीका-फीका लगता है। देखो, मैंने स्वर्णपुरुष प्राप्त किया है। मेरे पास ऐसा सिंहासन है, जो इन्द्र के पास भी नहीं है। मैंने अनेक राजाओं का गर्व-भंग किया है। मेरी कीर्ति आज देश की शोभा बनी हुई है।'

कमलावती आश्चर्यभरी दृष्टि से विक्रम की ओर देखती रही। वह मृदु स्वर में बोली– 'प्राणनाथ! आप जिससे सदा दूर रहते थे, उस गर्व को आपने सिर पर क्यों बिठा रखा है? स्वामिन्! पुरुष बलवान् नहीं होता, पुण्य बलवान् होता है। इस विशाल विश्व में आपसे भी अधिक बलशाली पुरुष विद्यमान हैं। किन्तु उनकी पुण्य-प्रकृति दुर्बल होने के कारण वे आगे नहीं आ सकते।'

राजा खिलखिलाकर हंस पड़ा– 'मेरे से बलवान्....?'

४१. आश्चर्य की परम्परा

दूसरे दिन प्रातःकाल रानी कमलावती ने अपने स्वामी के मन में उभरे हुए अहंकार का निवारण करने के लिए कुलदेव की आराधना करने का निश्चय किया तथा अहंकार के प्रायश्चितस्वरूप एक तेला (तीन दिन की तपस्या) करने का निर्णय किया। दूसरे दिन ही वह आराधना करने बैठ गई। उसने स्वामी के अहं की बात किसी को नहीं कही। रानी कलावती भी इससे अनजान थी। वह तेले की तपस्या का प्रण लेकर कुलदेव के मंदिर में मौन बैठ गयी।

स्त्री पति के केवल सुख में ही हिस्सा नहीं बंटाती, वह उसके दुःख में भी सहभागी बनती है। स्वामी के कल्याण के लिए वह अपने प्राणों की आहुति देने के लिए भी सदा तत्पर रहती है। कमला रानी स्वामी के अहंकारपूर्ण वचन सुनकर

मन-ही-मन कल्पना कर रही थी कि गर्व के शिखर पर चढ़ा हुआ मनुष्य अवश्य ही नीचे आ गिरता है। राजा रावण को अपने विज्ञान, महान् सेना और प्रचण्ड भुजबल का गर्व हुआ था और उसके परिणामस्वरूप उसे अपने प्राण गंवाने पड़े। इस दुष्परिणाम से बचाने के लिए कमला देवी ने आराधना प्रारंभ की।

और विगत नौ-नौ महीनों से राजा के हृदय में दान और उपकार की निष्फलता का प्रश्न शल्य की भांति चुभ रहा था। राजसभा समाप्त होने पर विक्रम ने महामंत्री से कहा— 'भट्टमात्र! कल से दान देने का यह नाटक बन्द कर दो।'

भट्टमात्र अवाक् बन गया। उसने आश्चर्य के साथ कहा— 'महाराज! आप यह क्या कर रहे हैं? हजारों-हजारों लोग आपके दान की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हैं। हजारों व्यक्तियों का दारिद्र्य दूर होता है। हजारों व्यक्तियों के हृदय ठण्डे होते हैं। यदि आप दान बन्द करेंगे, तो जनता में अनेक प्रकार की शंकाएं-कुशंकाएं उभरेंगी।'

विक्रम ने कहा— 'महामंत्री! दान मिलने पर लोग वाह-वाह करते हैं और न मिलने पर निन्दा करते हैं, यह बात सही है। किन्तु जिस दान और उपकार का फल केवल शून्य होता है, उसको बनाए रखना बुद्धिमत्ता नहीं है। मुझे दान और उपकार की निष्फलता का साक्षात् प्रमाण मिल चुका है। अब मैंने यह निश्चय कर लिया है कि इस प्रवृत्ति को बंद कर देना चाहिए। दान और उपकार, यह मनुष्य की कल्पना की उपज है। इनके फल की अलौकिक बातें भी काल्पनिक हैं। अब आपको मेरी आज्ञा के अनुसार दान बंद कर देना है।'

महामंत्री अवाक् बनकर सब कुछ सुनता रहा।

आज महाराजा विक्रम सभी पत्नियों को साथ लेकर जल-विहार के लिए राजभवन के सरोवर पर जाने वाले थे। परन्तु जब उन्होंने सुना कि कमलादेवी तेले की तपस्या कर आराधना में बैठी है, तब उन्होंने जल-विहार के कार्यक्रम को स्थगित कर दिया; क्योंकि कमलादेवी के बिना वे आमोद-प्रमोद में जाना नहीं चाहते थे। उन्होंने आराधना के कारणों की पूछताछ की, पर किसी से कुछ ज्ञात नहीं हुआ। इसलिए निराश होकर विक्रम अपने अश्व पर आरूढ़ होकर नगर के बाहर परिभ्रमण के लिए निकल पड़े। किसी को उन्होंने अपने साथ नहीं लिया। उनके मन में यह गर्व था कि मेरी शक्ति को दूसरे के संरक्षण की क्या जरूरत है? इस प्रकार अपने भुजबल और पुरुषार्थ पर अहं करते हुए विक्रम अश्व को सरपट दौड़ाते हुए चले जा रहे थे। मध्याह्न बीतने वाला था। विक्रम की दृष्टि एक खेत की ओर गई और वे आश्चर्यचकित रह गए— अरे, यह क्या? वे तत्काल अश्व को रोककर नीचे उतरे और एक वृक्ष की ओट में खड़े हो गए।

खेत में एक हृष्ट-पुष्ट किसान हल जोत रहा था। हल जोतना कोई आश्चर्यकारक नहीं है, किन्तु विक्रम ने वहां अकल्पित आश्चर्य देखा। हल में दो बैल जुते हुए नहीं थे, किन्तु एक ओर केसरी सिंह और दूसरी ओर भयंकर बाघ जुता हुआ था। इससे भी आश्चर्यकारी बात यह थी कि दोनों हिंसक प्राणियों के बंधी हुई रस्सी, सूत या रेशम की नहीं थी, किन्तु भयंकर विषधरों से बनी हुई थी। ऐसा दृश्य विक्रम ने कभी नहीं देखा था। एक-एक ग्रामीण इतना पराक्रमी है कि वह सिंह और बाघ जैसे प्राणियों पर नियंत्रण रख सके? अरे, इस किसान का भुजबल कितना प्रचण्ड है? क्या मेरे राज्य में ऐसे शक्तिशाली व्यक्ति छिपे पड़े हैं?

किसान अपने कार्य में तल्लीन था और विक्रम अपलक इस दृश्य को देख रहा था। संध्या का समय होने वाला था। किसान ने अपने हल को रोककर अस्ताचल की ओर देखा। फिर उसने रस्सी के रूप में बांधे हुए विषधरों को मुक्त किया तथा सिंह और बाघ को भी छोड़ दिया। वहां से बंधन-मुक्त होते ही सिंह और बाघ अपनी पूंछ दबाकर वन की ओर भाग गए और सर्प सर्-सर् कर चले गए। फिर किसान अपने हल को कंधे पर रख चलने लगा। इतने में ही विक्रम ने वृक्ष की ओट से बाहर आकर किसान से पूछा— 'अरे भाई! थोड़ा ठहरो। मेरी शंका का समाधान तो करते जाओ।'

किसान रुक गया।

विक्रम ने पूछा— 'क्या सिंह और बाघ तुम्हारे पालतू पशु हैं?'

'नहीं रे भाई! मैं तो रोज जंगल में जाता हूं और इन्हें उठाकर ले आता हूं और सांझ को छोड़ देता हूं। इनको पालतू बनाकर रखूं कहां?'

विक्रम ने उसके कंधे पर हाथ रखकर कहा— 'शाबाश! तेरी शक्ति को देखकर मैं अवाक् रह गया। निश्चित ही तेरा भुजबल अपार है।'

किसान ने हंसकर कहा— 'भाई! तुम अपना परिचय तो दो।'

विक्रम बोले— 'भाई! मैं इस देश का राजा विक्रम हूं। किन्तु आज तुम्हारा पराक्रम देखकर मुझे यह निश्चय हो गया है कि संसार में सेर को सवा सेर मिल जाता है।'

विक्रम की बात सुनकर किसान खिलखिलाकर हंस पड़ा। वह बोला— 'अहो! तुम ही हमारे राजा हो। आज तो मेरे सोने का सूरज उगा है। किन्तु राजन्! मेरी दशा दूसरी ही है।'

'क्यों?'

'तुम मुझे बलशाली मानते हो, किन्तु मुझे अपनी हथेली से पीस देने वाला मेरा एक शत्रु है। वह मेरी आंखों के सामने मेरी पत्नी के साथ भोग भोगता है, पर मैं कुछ भी नहीं कर सकता। मेरी शक्ति वहां पंगु बन जाती है।'

'यह तुम क्या कह रहे हो ?'

'भाई विक्रम ! मैं सच बता रहा हूं। यदि तुम्हें इस बात की परीक्षा करनी हो तो तुम मेरे साथ मेरे घर चलो। मेरा गांव इसी ढलान में है।' कहकर किसान ने उस ढलान की ओर अपना हाथ लंबा किया।

विक्रम को इस आश्चर्य ने जकड़ लिया था। वे किसान के पीछे-पीछे अश्व को लेकर चल पड़े। जब वे ढलान को पार कर गांव में पहुंचे, तब अंधकार हो चुका था। किसान ने विक्रम को अपने घर की छोटी कोठरी में बिठाया और स्वयं अपनी पत्नी के पास गया।

कुछ समय पश्चात् वह किसान रोटी और दूध लेकर विक्रम के पास आया। दोनों ने साथ बैठकर ब्यालू किया। फिर विक्रम ने पूछा – 'वह व्यक्ति कब आता है ?'

'बस अब आने ही वाला है। उसके आने से पहले ही हमें मेरी पत्नी के कमरे में छिप जाना चाहिए।' किसान बोला।

विक्रम तैयार हो गए। किसान की पत्नी अभी रसोईघर में ही बैठी थी और अपने 'यार' के लिए तिलपपड़ी बना रही थी। विक्रम और किसान – दोनों उस कमरे के अंधेरे कोने में छिपकर बैठ गए। विक्रम ने धीरे से पूछा – 'तुम्हारी पत्नी क्या कर रही है ?'

'वह मिठाई बना रही है अपने यार के लिए।'

'तो तुम अपनी घरवाली को भी कुछ नहीं कह सकते ?'

'यही तो कठिनाई है। यदि मैं कुछ भी बोलूं, तो वह रांड उससे बात कह दे और फिर वह मेरी हड्डी-पसली ढीली कर दे। इसलिए सब कुछ सहन कर चुपचाप बैठा रहता हूं। जिस घर का सदस्य असमझ हो, उसका क्या किया जाए ?'

लगभग एक घटिका के बाद किसी के पदचापों की तीव्र आवाज कानों में पड़ी। किसान ने धीरे से कहा – 'वह आ गया....।' इतने में ही एक लंबे-चौड़े और शक्तिशाली पुरुष ने कमरे में पैर रखे और कहा – 'अरे ! अभी तक दीया नहीं जलाया ?'

कोमल-मधुर आवाज आयी – 'तुम पलंग पर बैठो। मैं अभी आ रही हूं।'

वह व्यक्ति पलंग पर बैठ गया। कुछ ही क्षणों के पश्चात् किसान की पत्नी एक हाथ में दीपक और दूसरे हाथ में मिठाई का थाल लेकर आयी। उसने दीपक

को एक ओर रखा और उस व्यक्ति से सटकर पलंग पर बैठ गई। उसने मिठाई का थाल बीच में रख दिया।

विक्रम और किसान—दोनों रोष से सुलगती आंखों से यह दृश्य देख रहे थे। किसान की पत्नी मिठाई के ग्रास उस व्यक्ति के मुंह में देने लगी और वह प्रेमी अपनी प्रेमिका के मुंह में मिठाई के ग्रास देने लगा। फिर दोनों परस्पर हास्य-विनोद करने लगे। यह दृश्य विक्रम के लिए असह्य हो गया। वे दोनों उस कोने से बाहर आए और विक्रम प्रचण्ड स्वर में बोले—'दुष्ट! पर-स्त्री के साथ क्रीड़ा करते हुए तुझे शर्म नहीं आती?'

वह हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति खड़ा हो गया और बोला—'अरे! मुझे शिक्षा देने वाला तू कौन है? हमारे दोनों का संबंध तो कुंआरेपन से चला आ रहा है। तुम दोनों बाहर चले जाओ। हमारे रंग में भंग मत करो।'

किसान बोला—'आज तो तेरा अन्त करने पर ही मेरा छुटकारा हो सकता है।'

वह व्यक्ति खिलखिलाकर हंसा और चीते की तरह स्फूर्ति से कूदकर दोनों के पास आ पहुंचा। दोनों को हाथों में उठाकर बोला—'आज तो दोनों को क्षमा करता हूं, फिर कभी ऐसी मूर्खता की तो दोनों का सिर फोड़ दूंगा।' यह कहकर वह दोनों को फूल की गेंद की तरह उठाकर कमरे से बाहर आया और दोनों को घुमाकर फेंक दिया। भाग्यवश दोनों चारे के एक विशाल ढेर पर जा गिरे और मरने से बच गए।

किसान बोला—'विक्रम! देख लिया न? जैसे घास का पूला फेंका जाता है, वैसे ही हम फेंके गए। किन्तु मेरा एक बन्धु है, जो इससे भी अधिक शक्तिशाली है। जो वह आए तो इस दुष्ट को मजा चखाए।'

विक्रम अपनी गर्दन को खुजला रहे थे। वे बोले—'तेरा बंधु कहां रहता है?'

'यहीं पास में रहता है। एक वर्ष से वह परदेश गया था, आज ही वह लौटा है। तुम यहीं खड़े रहो, मैं अभी उसे बुलाकर लाता हूं।' किसान ने कहा।

विक्रम ने स्वीकृति दी। किसान बाहर निकला। विक्रम ने मन-ही-मन सोचा—अरे! मैं अपने भुजबल का अहंकार करता था, किन्तु यहां के दृश्यों को देखकर मेरा गर्व चूर-चूर हो गया। भुजबली और पराक्रमी कोई एक नहीं होता। कमलारानी ने मुझे सच कहा था कि बल और पराक्रम का अहं करना मनुष्य की सबसे बड़ी कमजोरी है। विक्रम ऐसा ही सोच रहे थे कि वह किसान अपने बन्धु को लेकर वहां आ पहुंचा। विक्रम ने देखा, वह अत्यन्त हृष्ट-पुष्ट और शक्तिशाली प्रतीत हो रहा था।

फिर तीनों उस कमरे की ओर गए। कमरा खुला था। वे दोनों कल्लोल कर रहे थे। तीनों कमरे में घुसे और उस किसान ने ललकारा। वह दुष्ट अपने पलंग से उठा और जोर-जोर से बोला – 'मुझे लगता है कि आज मौत तुम दोनों को यहां घसीट लायी है।' यह कहकर वह दुष्ट विक्रम और किसान की ओर बढ़ा। इतन में ही वह किसान-बन्धु बीच में कूद पड़ा और उस दुष्ट यार को पकड़ लिया। दोनों के बीच मल्ल-युद्ध होने लगा और वह युद्ध कुछ ही क्षणों तक टिक पाया। उस किसान-बन्धु ने दुष्ट को मार डाला।

विक्रम आश्चर्य में डूब गया। किसान जीवित सिंह-बाघ को पकड़े, उससे भी अधिक शक्तिशाली एक व्यक्ति किसान के सामने ही उसकी पत्नी का उपभोग करे और उससे भी बलिष्ठ व्यक्ति उस यार को मार डाले। इनमें मैं किसके पराक्रम की प्रशंसा करूं ? इनके समक्ष मेरे भुजबल की गिनती ही क्या है ?

विक्रम इस प्रकार विचार कर रहा था और विचार-ही-विचार में उसके नेत्र बन्द हो गए। जब उसने नेत्र उघाड़े, तब उसके आश्चर्य का पार नहीं रहा – न घर था, न गांव था, न किसान था, न उसकी पत्नी थी, कुछ भी नहीं था। वे मात्र अपने घोड़े की लगाम थामे एक वृक्ष की ओट में खड़े थे। विक्रम ने आंखें मलीं, अपने अंगों को मरोड़ा। उन्हें विश्वास हो गया कि वे जागृत हैं। तो यह सब कहां गया ? इस प्रकार वह विचारों में उलझ रहा था कि वहां अचानक एक दिव्य पुरुष प्रकट होकर बोला – 'हे राजन्! मैं तुम्हारा कुलदेवता हूं। तुम्हारी प्रिय रानी तुम्हारे गर्व के निवारण के लिए तेले की तपस्या कर आराधना कर रही है। राजन्! तुमने जो कुछ देखा, वह सारी मेरे द्वारा रचित माया थी, जो गर्व के शिखर पर से गिरते हुए तुमको बचाने के लिए रची थी। राजन्! आज तक जिन-जिन लोगों ने शक्ति और पराक्रम का अहं किया है, वे सब नष्ट हो गए हैं। महाराजा बली का गर्व केवल साढ़े तीन पगों में पाताल में जा दबा। हिरण्यकश्यप का गर्व उसे मौत के मुंह में ले गया। जरासंध के गर्व ने उसका नामोनिशान मिटा डाला। भुजबल के पराक्रम से अपने-आपको अजेय मानने वाला दुर्योधन बुरी मौत मरा। हे राजन्! इस पृथ्वी पर जो भी गर्व करता है, उसका बुरा हाल होता है। जो मनुष्य विद्वत्ता का गर्व करता है, तो उसका ज्ञान वहीं अटक जाता है। जो मनुष्य सम्पत्ति, वैभव और लक्ष्मी का गर्व करता है, उसका ऐश्वर्य कपूर की तरह विलीन हो जाता है। हे राजन्! तुम्हारे अहं का कोई बुरा परिणाम आए, उससे पहले ही तुम्हारी रानी कमलावती ने तुम्हें बचा लिया है। एक बात याद रखना, किसी भी बात का अहं जीवन की सबसे बड़ी हार है।'

विक्रम कुलदेवता के चरणों में नत हो गए। कुलदेवता अदृश्य हो गए। विक्रम ने आकाश की ओर देखा। सूर्यास्त होने में अभी बहुत समय शेष था।

गर्व के भार से हल्के हुए विक्रम अश्व पर आरूढ़ होकर अवंती की ओर गए। जैसे ही वे राजभवन पहुंचे और सोपान श्रेणी से चढ़ने लगे, वहीं नगर के सुप्रसिद्ध सेठ आर्य धनदत्त आ पहुंचे। विक्रम खड़े रह गए। धनदत्त ने हाथ जोड़कर कहा – 'कृपानाथ! अभी आपको मेरे साथ चलना होगा।'

विक्रम ने प्रसन्न स्वरों में पूछा – 'अभी ?'

धनदत्त बोला – 'मेरे यहां आज एक सुन्दर पुत्र का जन्म हुआ है। जैसे ही रात आयी, वह नवजात शिशु बोलने लगा कि महाराज विक्रम को मेरे पास बुलाओ। मेरा उनसे काम है। इसलिए मैं आपके पास आया हूं।

विक्रम बोले – 'सेठजी! यह तो मानने जैसी बात नहीं है। अभी तो जन्मा है, एक रात भी नहीं बीती है, वह कैसे बोल सकता है ?'

धनदत्त ने कहा – 'कृपानाथ! असत्य बोलने का कोई कारण नहीं है। मैं क्यों असत्य बोलूं ? हम सब आश्चर्यमग्न हैं।'

विक्रम तत्काल रथ में बैठकर धनदत्त के भवन की ओर चल पड़े। उनके पीछे महाप्रतिहार और सेवक भी गए। विक्रम ने सोचा – आज का दिन विचित्र दिन है। एक के बाद दूसरा आश्चर्य चल रहा है। बहुत विचित्रता है। मैंने आज महामंत्री को दान बन्द करने को कहा, उसे आश्चर्य हुआ। फिर तो एक के बाद दूसरा आश्चर्य घटित होता ही गया।

थोड़े समय में ही रथ धनदत्त के भवन में पहुंचा। धनदत्त की पत्नी ने पूरे बारह वर्ष पश्चात् पुत्र-रत्न का प्रसव किया था और यही पुत्र जन्मते ही बोलने लग गया।

धनदत्त महाराजा विक्रम को लेकर बालक के पास गया। पालने में बालक सो रहा था। उसने विक्रम को देखते ही कहा – 'आओ, विक्रम! मुझे पहचाना या नहीं ?'

राजा विक्रम अवाक् बनकर बालक की ओर देखने लगे। बालक बोला – 'विक्रम! नौ महीने दस दिन पहले की बात याद करो। तुम वन में भटक गए थे। मैंने तुमको अपनी गुफा में आश्रय दिया और तुम्हारा आतिथ्य करते हुए हम दोनों – मैं और मेरी पत्नी मारे गए। कुछ याद करो।'

'हां, अरे भील दम्पति! मैं तो तुम दोनों को कभी का भूल गया था।'

बालक बोला – 'राजन्! दान और उपकार की निष्फलता को देखकर तुम्हारे मन में घोर अज्ञान छा गया था। किन्तु आज तुम देख रहे हो कि मेरे द्वारा किये गए सामान्य दान के परिणामस्वरूप मैं एक धनकुबेर के घर एकाकी पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ हूं।'

विक्रम ने कहा – 'तुम्हारी पत्नी ?'

बालक ने कहा – 'राजन्! पांच दिन बाद वह सेठ श्रीकान्त के यहां पुत्री के रूप में जन्म लेगी और भविष्य में वही मेरी पत्नी होगी। राजन्! तुम अपने अज्ञान को तत्काल दूर कर लो।' यह कहकर बालक मौन हो गया।

विक्रम को अपनी भूल ज्ञात हुई। उन्होंने सोचा, अभी मेरे पुण्य प्रबल हैं। वे राजभवन गए और महामंत्री को तत्काल आज्ञा दी कि दान और उपकार के कार्यों में रुकावट न आए। वे पूर्ववत् चालू कर दिए जाएं।

४२. शतरंज का खेल

कमलारानी जब अपना व्रत सम्पन्न कर राजभवन में आयी तब विक्रम ने उसको अपने हाथों से 'पारणा' कराते हुए कहा – 'प्रिये! तुम्हारी आराधना का शुभ परिणाम तुम्हें उपलब्ध हो गया है। मैं समझता हूँ कि मेरे पुण्य को तुम्हारे जैसी अर्धांगिनी ही बचा सकती है और नीचे गिरते हुए को थाम सकती है। यदि मुझे यह विवेक नहीं मिलता तो दान और उपकार की प्रवृत्ति बन्द हो जाती।' यह कहकर विक्रम ने भील और भीलनी के उपकार और उसके परिणाम की पूरी जानकारी कमलारानी को दी।

कमलारानी ने प्रेम-भरी दृष्टि से स्वामी को देखते हुए कहा –'प्राणनाथ! आपका पुण्य-बल प्रबल है। आप-जैसे प्रतापी पति मुझे प्राप्त हुए, यह कम गौरव की बात नहीं है। बहुत बार मनुष्य विविध प्रकार के नशों में भान भूल जाता है। किन्तु आप सरल हृदय हैं। भूल को भूल रूप में स्वीकार कर लेते हैं।'

चार दिन बाद राजा वीर विक्रम सभी रानियों को साथ लेकर जल-विहार के लिए गए। विक्रम का जीवन सभी तरह से आनन्दित था। उनतीस-उनतीस रानियों के होते हुए भी किसी रानी को असंतोष नहीं था। सबके लिए अलग-अलग निवास-स्थल थे। सबके पृथक् धन-भण्डार और अलंकार थे। वे सभी प्रकार से सुखी थे। पर एक बात का दु:ख था कि इतनी रानियां होने पर भी उनके कोई पुत्र नहीं था, सात पुत्रियां थीं। वे यह भूल गए थे कि सुकुमारी उनकी पत्नी है और वे एक सुन्दर पुत्र के पिता बन चुके हैं।

विक्रम अपने राज्यकार्य में भी सचेत रहते थे। वे यदा-कदा नगरचर्चा जानने के लिए गुप्तवेश में निकल पड़ते और जनता की चर्चा को ध्यान से सुनते। वे मानते थे कि लोग मुंह पर प्रशंसा करते हैं, पर राज्य-संचालन मे कहां क्या त्रुटि रहती है, इसको जानना हो तो नगरचर्चा से अधिक सुन्दर कोई उपाय नहीं है।

अवंती नगरी बहुत समृद्ध और विशाल थी। वहां सैकड़ों कोट्याधीश रहते थे। वस्त्र-व्यापारी भी प्रचुर थे। अवंती की नर्तकियां, वेश्याएं, गणिकाएं भी प्रसिद्ध थीं। उनके निवास स्थान अलग थे। विशेष बात यह थी कि अवंती का तेलीवाड़ा समग्र मालव प्रदेश में प्रसिद्ध था। वहां बारह सौ कोल्हू चलते थे। वहां 'गंगु डोसी' नाम की तेलिन रहती थी, जो बानवे वर्ष की थी। उसी के कारण वह तेलीवाड़ा समूचे देश में विख्यात हो गया था। उस डोसी का एक नाम 'गांगणी' तेलिन भी था। वह मंत्र-विशारद थी। वह आकाश में उड़ते हुए पक्षियों को नीचे गिराने, उच्चाटण, मारण, वशीकरण, स्तंभन, आकाश-गमन, रूप-परिवर्तन आदि क्रियाओं में निपुण थी। उसने इन सारी विद्याओं को सिद्ध कर लिया था। इन्हीं विद्याओं के कारण वह तेलीवाड़ा जगत्-विख्यात् हो गया था। 'गंगु डोसी' अत्यन्त वृद्ध होने के कारण घर में ही रहती, बाहर नहीं निकलती थी। वहीं 'नागदमनी' नामक की सैंतीस वर्ष की एक तेलिन बहुत प्रभावशाली थी और उसकी सतरह वर्ष की कन्या देवदमनी शापभ्रष्ट देवकन्या जैसी लगती थी।

एक दिन महाराजा विक्रम अपने रक्षकों, महामंत्री तथा महाप्रतिहार के साथ प्रातःभ्रमण के लिए गांव के बाहर निकले। लौटते समय वे तेलीवाड़ा के मध्य से गुजरे। उस समय देवदमनी अपने मकान के सामने गली वाले रास्ते को बुहार रही थी। धूल उड़ रही थी। विक्रम के साथ वाले दो सेवक उसके पास आकर बोले– 'ऐ छोकरी! देखती नहीं, महाराजा विक्रम इस ओर आ रहे हैं? इतनी धूल क्यों उड़ा रही है? एक ओर हो जा।'

देवदमनी ने दोनों सेवकों की ओर देखकर कहा– 'राजा है तो वह अपने घर का है, मुझे क्या? मैं तो अपना आंगन बुहार रही हूं। तेरे राजा ने कोई पंचदंड वाला छत्र धारण नहीं कर रखा है कि जो धूल से खराब हो जाए।' यह कहकर देवदमनी बुहारने के काम में लग गई।

उसी समय महाराजा विक्रम और महामंत्री के अश्व वहां खड़े रह गए और उन्होंने देवदमनी के शब्द सुन लिये थे। वीर विक्रम ने देवदमनी की ओर देखा। उसको देखते ही राजा स्तंभित हो गए। ऐसा रूप! ऐसा तेज! ऐसा मोहक यौवन! क्या यह तेलिन है या देवकन्या? विक्रम ने महामंत्री के सामने देखकर इस कन्या के विषय में पूरी जानकारी करने के लिए संकेत किया और स्वयं महाप्रतिहार को साथ ले आगे बढ़ गए।

राजभवन जाने के पश्चात् स्नान आदि से निवृत्त होकर विक्रम बैठक-कक्ष में आए। उसी समय महामंत्री भट्टमात्र आ पहुंचे। विक्रम ने पूछा– 'वह लड़की कौन थी?'

महामंत्री ने कहा – 'कृपानाथ ! तेलीवाड़ा में जैसे 'गंगु डोसी' प्रख्यात है, वैसे ही नागदमनी नाम वाली एक तेलिन भी प्रख्यात है। वह लड़की इसी नागदमनी की बेटी है। इसका नाम देवदमनी है और यह भी एक विद्याधरी है।'

विक्रम बोले – 'भट्टमात्र ! वह कैसी भी क्यों न हो, उसने जो पंचदंड वाले छत्र की बात कही, वह क्या है ?'

भट्टमात्र हंसकर बोला – 'महाराज ! यह लड़की बहुत विचित्र है। इसके कथन को समझना बहुत मुश्किल है।'

'अभी देवदमनी को यहां बुला भेजो। पंचदंड वाले छत्र की बात को जाने बिना मुझे चैन नहीं पड़ेगा।' विक्रम ने कहा।

भट्टमात्र ने मन-ही-मन सोचा – स्त्री, बालक, गुरु और राजा – ये चारों हठीले होते हैं। उसने राजाज्ञा के अनुसार बाहर आकर चार सैनिकों को एक नायक के साथ देवदमनी को बुलाने भेजा।

वह नायक चार सैनिकों को साथ लेकर तेलीवाड़ा में नागदमनी तेलिन के घर पहुंच गया। नायक की आवाज सुनकर नागदमनी घर से बाहर निकली और चार सैनिकों के साथ नायक को देखकर अवाक् रह गई। नायक ने कहा – 'तुम्हारी बेटी देवदमनी कहां है ?'

'क्यों भाई, उससे क्या काम है ?'

'मालवपति तुम्हारी बेटी को बुला रहे हैं।' नायक ने कहा।

'अरे, क्यों ? बिना अपराध किए ही। यदि राजा इस प्रकार लड़कियों को बुलाता रहेगा तो राज्य में रहेगा कौन ? हमारा कोई दोष नहीं है, अपराध नहीं है। हमने राजा के कार्य में व्यवधान नहीं डाला है, फिर मेरी बेटी को बुलवाया किसलिए ?'

नायक बोला – 'अरे, नागदमनी बहन ! क्या तुम राजा वीर विक्रम को नहीं पहचानती ? वे किसी नारी पर बुरी नजर नहीं करते। उनका यश देवलोक तक व्याप्त है। बहन ! कोई महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए ही तुम्हारी बेटी को महाराजा ने याद किया है। तुम संशय मत करो। अपनी बेटी को मेरे साथ भेजो। मैं उसे सकुशल यहां पहुंचा दूंगा।'

नागदमनी ने कहा – 'भाई नायक ! राजाज्ञा का पालन तो प्रजा को करना ही चाहिए। किन्तु मेरी बेटी अभी नादान है, इसलिए वह बोलने में लापरवाह भी हो सकती है। यदि मैं चलूं तो कोई आपत्ति नहीं है न ?'

'बहन ! तुम चलो।' नायक ने कहा।

तत्काल नागदमनी वस्त्र बदलने घर में गई और कुछ ही क्षणों में वेश बदलकर आ गई।

नायक नागदमनी को लेकर राजभवन में पहुंच गया। महाराजा प्रतीक्षा कर ही रहे थे।

महाप्रतिहार अजय नागदमनी को लेकर विक्रम के समक्ष गया और बोला – 'कृपानाथ! देवदमनी के बदले उसकी मां नागदमनी उपस्थित है।'

नागदमनी ने महाराजा विक्रम को नमस्कार किया।

विक्रम बोले – 'आओ बहन, आओ। तुम अपनी बेटी को साथ नहीं लायी?'

महाप्रतिहार खंड के बाहर चला गया।

नागदमनी ने कहा – 'कृपानाथ! मेरी बेटी अभी बच्ची है, इसलिए यहां आने में उसे संकोच होता है। आपका जो काम है, वह आप मुझे कहें।'

विक्रम ने नागदमनी की ओर देखकर कहा – 'आज प्रात: मैं तुम्हारे घर के पास से निकला, उस समय तुम्हारी बेटी रास्ते को बुहार रही थी। उसने पंचदंड वाले छत्र की बात कही थी। मैं यह जानना चाहता हूं कि वह छत्र क्या है? वह कैसा है?'

नागदमनी बोली – 'कृपानाथ! इस छत्र की जिज्ञासा न करें, यही उचित है।'

विक्रम ने कहा – 'नागदमनी! मैं परिणाम की चिन्ता नहीं करता। भाग्य को कोई अन्यथा नहीं कर सकता। मुझे उस छत्र की बात अवश्य जाननी है।'

नागदमनी चिन्ता में पड़ गई। कुछ समय मौन रहकर वह बोली – 'महाराज! इस छत्र की पूरी जानकारी मेरी बेटी को है, किन्तु वह बता नहीं सकती। यदि आपको यह जानकारी करनी है तो आपको एक जुआ खेलना पड़ेगा।'

'जुआ? मैं समझा नहीं।'

'मैं आपको समझाती हूं। आपको अपने उद्यान में एक द्यूतमंडप की रचना करनी होगी। फिर आपको मेरी कन्या देवदमनी के साथ शतरंज खेलना होगा। इस खेल में यदि मेरी कन्या लगातार तीन बार पराजित हो जाएगी तो आप विजयी होंगे और तब आपको उसके साथ विवाह करना होगा। फिर वह आपको उस छत्र का पूरा विवरण बताएगी। उस शतरंज की बाजी के समय निरीक्षक के रूप में मैं रहूंगी। हम तीनों के अतिरिक्त वहां कोई नहीं रहेगा।'

विक्रम ने पूछा – 'शतरंज की बाजी मैं हार गया तो?'

नागदमनी ने हंसकर कहा – 'कृपानाथ! आपकी हार बेटी के लिए गौरव बन जाएगी। आप पराजित होकर कुछ खोएंगे नहीं, केवल छत्र के विषय का विवरण आप नहीं जान पाएंगे।'

विक्रम विचारमग्न हो गए। उन्होंने सोचा, मैं शतरंज खेलेने में निपुण हूं। कमला, कलावती और लीलावती – तीनों रानियां शतरंज खेलने में अति चतुर

होने पर भी मुझे कभी नहीं हरा सकीं। उनके अतिरिक्त महामंत्री भट्टमात्र और बुद्धिसागर भी मुझे नहीं जीत सके। इसलिए इस खेल में देवदमनी को पराजित करना कठिन नहीं है। यदि मैं जीत जाऊंगा तो देवदमनी की प्राप्ति होगी और हार जाऊंगा तो कुछ दिनों तक लोगों में चर्चा होगी, और कुछ नहीं। यह सोचकर विक्रम ने देवदमनी के साथ शतरंज खेलना स्वीकार कर लिया।

नागदमनी ने कहा – 'कृपानाथ! आप एक बार और सोच लें। मेरी बेटी देवदमनी शतरंज खेलने में अत्यन्त निपुण है। आज तक उसको कोई जीत नहीं सका है। यदि आप उससे हार गए तो लोगों में आपकी हंसी होगी, अवज्ञा होगी।'

विक्रम बोले – 'नागदमनी! चिन्ता मत करो। सुयोग्य खिलाड़ी के साथ खेलकर हारना भी जीवन का एक आनन्द है। मुझे न हारने का भय है और न जीतने का हर्ष। तीन दिन पश्चात् मैं तुम्हें कहलवा दूंगा। तब तक द्यूतमंडप तैयार हो जाएगा।'

नागदमनी उठी, राजा वीर विक्रम का जयनाद कर प्रणत हो गई। विक्रम ने तत्काल महाप्रतिहार को बुलाकर भेंट देने के लिए तैयार रखा हुआ थाल मंगवाया। थाल आने के पश्चात् वीर विक्रम ने नागदमनी का सत्कार किया और नागदमनी वहां से घर के लिए विदा हो गई।

उसी दिन सायंकाल महामंत्री मिलने आए, तब वीर विक्रम ने शतरंज वाली बात कही। भट्टमात्र बोले – 'आपने उतावलेपन में निर्णय किया है। ये दोनों मां-बेटी – नागदमनी और देवदमनी – खतरनाक जादूगरनियां हैं। ये दोनों अनेक प्रकार के कामण-टूमण जानती हैं। लोग यह भी कहते हैं कि एक बार इनके फंदे में फंसने पर छुटकारा पाना कठिन होता है।'

विक्रम ने हंसते हुए कहा – 'भट्टजी! जहां विद्या होती है, वहां ऐसे लोक-वाक्य प्रसृत हो जाते हैं। मुझे किसी भी कीमत पर यह काम करना है। मैं जो बात पकड़ता हूं, उसे पूरी किए बिना सुख की सांस नहीं सोता, यह आप जानते हैं। अब दो दिन के भीतर उद्यान के दक्षिण भाग में एक मंडप तैयार कराओ। उसमें उत्तम आसन रखाए जाएं और उसको भली प्रकार से शृंगारा जाए।'

राजाज्ञा को स्वीकार कर महामंत्री वहां से उठ गए।

दो दिन में मंडप तैयार हो गया।

चौथे दिन महाराजा विक्रम का रथ नागदमनी और देवदमनी को लाने गया। दोनों – मां और बेटी दिन के प्रथम प्रहर के बाद आ गईं। मंडप में स्वर्ण के दो आसन बिछे थे। एक पर वीर विक्रम और दूसरे पर देवदमनी बैठ गई। नागदमनी पास में एक आसन पर बैठ गई।

वीर विक्रम ने देवदमनी की ओर देखकर कहा – 'देवी! तुम्हारे साथ खेलकर हारने में भी मुझे आनन्द आएगा, यही मानकर मैं खेलने बैठा हूं। मैं हारूंगा तो कोई चिन्ता की बात नहीं है। तुम हारोगी तो मुझे तुम-जैसा नारीरत्न प्राप्त होगा। अब तुम पहली चाल चलो।'

देवदमनी बोली – 'कृपानाथ! मेरा प्रारंभ अति खतरनाक होता है, इसलिए मैं आपको पहला अवसर देना चाहती हूं।'

'देवदमनी! तुम्हारे खतरनाक प्रारम्भ की मुझे चिंता नहीं है। कुछ भी हो, तुम एक नारी हो और मेरी अतिथि हो। मुझे अतिथि के गौरव का संरक्षण करना ही होगा।'

देवदमनी हंस पड़ी। वह कुछ नहीं बोली। खेल प्रारम्भ हुआ। उसने पहले चार चालें चलीं। विक्रम ने उसका सुन्दर उत्तर दिया। नागदमनी ने देखा कि वीर विक्रम ने देवदमनी को आगे बढ़ने से रोकने के लिए एक पाल बांधी है।

शतरंज का खेल जितना शांत है, उतना ही आनन्ददायी है। शतरंज खेलने वाले भूख-प्यास को भूल जाते हैं। जब संध्याकाल में दो घटिकाएं शेष रहीं तब देवदमनी ने जान लिया कि विक्रम भी कोई निर्बल खिलाड़ी नहीं हैं।

खेल अधूरा रहा। मां-बेटी दोनों अपने घर चली गईं। इसी प्रकार खेलते-खेलते चार दिन बीत गए। इन चारों दिनों में एक बार भी खेल पूरा नहीं हुआ। किन्तु लोगों में बहुत ऊहापोह होने लगा। रात्रि में जब वीर विक्रम नगरचर्चा सुनने के लिए निकलते तब स्थान-स्थान पर उन्हें स्वयं के विषय की हास्यास्पद बातें सुनने को मिलतीं।

पांचवे दिन खेल ने रंग बदला। देवदमनी चार दिनों तक केवल विक्रम की चालों को जानने मात्र के लिए खेल रही थी। आज उसने आक्रमणात्मक खेल खेला। विक्रम आक्रमण को देखकर चौंके। फिर भी वे निपुण खिलाड़ी थे। धैर्य-पूर्वक उन्होंने आक्रमण का सामना किया, किन्तु यह आक्रमण एक सामान्य खिलाड़ी का नहीं, एक जादूगरनी का आक्रमण था।

संध्या से पूर्व विक्रम बाजी हार गए। विक्रम ने खेदपूर्वक देवदमनी की ओर देखकर कहा – 'देवी! मैं सबसे पहले तुम्हारी विजय का अभिनन्दन करता हूं।'

देवदमनी बोली – 'कृपानाथ! मैं धन्य हुई। मुझे प्रतीत होता है कि दो-तीन दिनों में ही खेल समाप्त हो जाएगा।'

विक्रम ने हंसकर कहा – 'और वह भी तुम्हारी विजय से!'

'आप सच कहते हैं। नारी कभी पराजित नहीं होती।'

विक्रम ने देवदमनी के सुन्दर वदन की ओर देखा।

देवदमनी नागदमनी के साथ घर चली गई।

आज की पराजय से विक्रम के हृदय पर भारी आघात लगा। उसने सोचा – एक नारी यदि खेल में ऐसे जीत जाए तो बहुत अपकीर्ति होगी। इसलिए क्या करना चाहिए ? तत्काल उसके मन में एक विचार उभरा –राजा का और राज्य का संरक्षण क्षेत्रधाम करता है। आज रात्रि में मैं क्षेत्रधाम के मंदिर में जाकर उसकी आराधना करूंगा।

४३. खेल अधूरा रहा

कृष्णपक्ष की द्वादशी। रात्रि का प्रथम प्रहर बीत चुका था। वीर विक्रम वेश बदलकर क्षेत्रपाल की आराधना करने के लिए राजभवन से पैदल बाहर निकले।

अंधेरी रात। घनघोर अंधकार।

विक्रम आड़े मार्ग से नगर के बाहर निकल गए। क्षेत्रपाल का मन्दिर नगर से तीन खेत दूर था। प्रतिवर्ष राजा अपने पूरे परिवार के साथ क्षेत्रपाल की पूजा करने आते थे और खाद्य-सामग्री से भरे अनेक थाल उनके समक्ष रखते थे।

वीर विक्रम के पूर्वजों ने इस मंदिर का निर्माण करवाया था। राज्य ही इसकी देखरेख रखता था। यह माना जाता था कि राज्य के रक्षण का भार क्षेत्रपाल पर होता है। विक्रम ने यह भी सुना था कि एक बार उनके पितामह ने विपत्ति के निवारण के लिए क्षेत्रपाल की आराधना की थी और वह विपत्ति दूर हो गई।

मन में इस श्रद्धा को संजोकर वीर विक्रम किसी रक्षक को साथ न लेकर अकेले ही निर्जन मार्ग पर बढ़ते जा रहे थे।

विक्रम के मन में देवदमनी के विचार घुल रहे थे। स्वयं शतरंज के खेल में निपुण होने पर भी एक स्त्री से पहली बार हार गए थे। हार-जीत से भी यह बात महत्त्व की थी कि देवदमनी अत्यन्त रूपवती, चपल और आकर्षक थी। ऐसा नारीरत्न एक तेली के यहां जन्म ले, यह भी विस्मयकारी बात थी। यदि स्वयं हार जाता है तो देवदमनी प्राप्त नहीं हो सकती और लोगों में भी अपकीर्ति होगी।

इस प्रकार अनेक विचारों में उलझे हुए विक्रम क्षेत्रपाल के मंदिर के निकट पहुंच गए। मन में क्षेत्रपाल का स्मरण कर वे मंदिर की चारदीवारी में घुसे। मंदिर में कोई नहीं था। पुजारी सायं दीपक जलाकर चला जाता था और दीपक भी कुछ समय तक जलकर बुझ गया था।

जिन दिनों का यह कथानक है, उन दिनों मंदिरों के ताले नहीं लगाए जाते थे। केवल कुत्तों और बिल्लियों के निवारण के लिए मंदिर के गर्भद्वार और मुख्यद्वार के कपाट बाहर से सांकल लगाकर बन्द कर दिए जाते थे। मंदिर में कितना भी धन

हो, अलंकार हो, किन्तु मंदिर से कोई चोर भी चोरी नहीं करता था। जहां मनुष्य छोड़ना सीखता है, वहां चोरी कैसे की जाए?

वीर विक्रम ने द्वार खोलकर अन्दर प्रवेश किया। अंधकार सघन था, भीतर का अंधकार और अधिक गहरा था। वीर विक्रम ने गर्भद्वार खोला – क्षेत्रपाल की मूर्ति अंधकार में अदृश्य हो गई थी। आंखें बन्द कर वीर विक्रम ने क्षेत्रपाल का स्मरण प्रारम्भ किया। अर्ध घटिका के बीतते-बीतते दो दीपक अपने आप जल उठे। उनके प्रकाश में विक्रम ने देखा कि क्षेत्रपाल की भयानक मूर्ति साक्षात् रूप धारण कर बोल रही है – 'आओ राजन्! मुझे क्यों याद किया है?'

विक्रम ने क्षेत्रपाल को देखकर मस्तक नमाया, फिर कहा – 'आप राजा और राज्य के रक्षक हैं, इसलिए आपके पास आया हूं। मैं एक विपत्ति में फंस गया हूं।'

क्षेत्रपाल ने हंसते हुए कहा – 'राजन्, मैं तुम्हारी विपत्ति को जानता हूं। तुमने बहुत साहस किया है। देवदमनी एक सुन्दरी है और वह मंत्रशक्ति से देवताओं को भी बंधनग्रस्त करने में समर्थ है। राजन्! तुमने उसके साथ शर्त करने में उतावल की। देवदमनी को देवता भी नहीं पहुंच सकते।'

'महाराज! कुछ भी कहें, मैंने एक आशा के तंतु के सहारे उससे शर्त की है। मैं हार जाऊं, इसका मुझे खेद नहीं है। किन्तु मैं जो पाना और जानना चाहता हूं, वह मुझे प्राप्त नहीं होगा तो बुरा होगा। मैं समझता हूं कि हार जाने पर मेरी निन्दा होगी और देवदमनी का महत्त्व बढ़ेगा किन्तु लोकनिन्दा अल्पस्थायी होती है। कुछ दिनों में वह मिट जाती है। फिर भी मैं देवदमनी को जीतना चाहता हूं। आप मुझे जीत का उपाय बताएं।'

क्षेत्रपाल कुछ क्षणों तक मौन रहें। फिर वे प्रसन्न स्वरों में बोले – 'वीर विक्रम! तुम वास्तव में ही भाग्यशाली हो। प्रतिवर्ष देवदमनी सिकोत्तरी देवी के समक्ष फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी की रात में नृत्य करती है। वह रात परसों ही है। परन्तु....।'

'आप कहते-कहते रुक क्यों गए?' विक्रम ने आशाभरी दृष्टि से पूछा।

'राजन्! जिस स्थान पर यह नृत्य होता है, वह स्थान यहां से दो सौ योजन दूर है और वहां पहुंचने के लिए समय है नहीं।'

'देवदमनी वहां कैसे पहुंचती है?' विक्रम ने पूछा।

क्षेत्रपाल ने कहा – 'वह कुछ ही क्षणों में वहां पहुंच जाती है। उसकी शक्ति अपार है।'

'देवराज, मैं भी वहां कुछ ही क्षणों में पहुंच जाऊंगा। आप मुझे स्थान का निर्देश करें और मुझे क्या करना है, वह बताएं।'

क्षेत्रपाल ने कहा – 'राजन्! यहां से उत्तर दिशा में दो सौ योजन की दूरी पर सिकोत्तर नाम का एक सुन्दर पर्वत है। इस पर्वत के मध्य भाग में उच्चतम शिखर पर सिकोत्तरी माता का भव्य मंदिर है। इस देवी की देवता भी पूजा करते हैं, इसलिए यह प्रदेश जनशून्य है। वहां कुछेक वनवासी रहते हैं। परसों रात्रि के दूसरे प्रहर में इन्द्र अपनी प्रिया और मित्रों के साथ वहां आएंगे। उस समय देवदमनी भी अपनी चार सखियों के साथ आएगी। वह सिकोत्तरी देवी के मंदिर के चौक में इन्द्र के समक्ष नृत्य करेगी। देवराज इन्द्र उसके नृत्य से प्रसन्न होकर उसे उपहार देंगे। उस उपहार को ज्यों-त्यों प्राप्त कर, तुम्हें यहां आ जाना है।'

बीच में ही विक्रम ने पूछा – 'महाराज! उस सभा में मनुष्य को स्थान मिलेगा?'

'हां, राजन्! सिकोत्तर पर्वत पर रहने वाले वनवासी उस उत्सव में भाग लेते हैं। तुम्हें भी वनवासी के वेश में उनके मध्य बैठ जाना है। तुम्हें कोई बाधा नहीं आएगी। देवराज इन्द्र और उनके मित्रो को भी तुम देख सकोगे। देवदमनी को प्राप्त होने वाले उपहार को किस प्रकार प्राप्त करना है, यह तुम्हें ही सोचना होगा। वे उपहार प्राप्त करने के पश्चात् दूसरे दिन जब देवदमनी शतरंज खेलने के लिए तुम्हारे साथ बैठे तब तुम्हें किसी भी बहाने इस चतुर्दशी की बात कहनी होगी और प्राप्त उपहार में से किसी एक वस्तु को दिखाना होगा। वह इससे तत्काल क्षुब्ध होगी और बाजी हार जाएगी। इसी प्रकार दूसरी और तीसरी बाजी में भी करना है और वह तीनों बाजियां हार जाएगी।'

'महाराज! आप मेरे और राज्य के रक्षक हैं। आपने मुझ पर परम उपकार किया है। अब कल सायं मैं नैवेद्य उपस्थित करूंगा।' विक्रम ने कहा।

क्षेत्रपाल ने प्रसन्न दृष्टि से विक्रम की ओर देखते हुए कहा – 'राजन्! राजा और राज्य का रक्षण करना मेरा कर्त्तव्य है। जब तक इस सिंहासन पर बैठने वाले राजा इस प्रकार का श्रद्धाभाव रखेंगे तब तक मैं अपने कर्त्तव्य का पालन करता रहूंगा। जब श्रद्धा का दीपक बुझ जाएगा, तब मेरा कर्त्तव्य भी पूरा हो जाएगा। हे राजन्! छोटे-बड़े सभी देवता श्रद्धा और भक्ति के वश में होते हैं।'

उसी समय दोनों दीपक अपने आप बुझ गए। अंधकार छा गया। साकार क्षेत्रपाल भी अदृश्य हो गया। वीर विक्रम ने क्षेत्रपाल की मूर्ति को पुनः नमन किया और फिर वे मन्दिर से बाहर निकल गए।

दूसरे दिन निश्चित समय पर नागदमनी अपनी रूपवती कन्या देवदमनी के साथ उस द्यूत-मंडप में आ पहुंची और वीर विक्रम भी आ गए।

आज शतरंज का दूसरा खेल प्रारम्भ करना था। देवदमनी बोली – 'महाराज! आप एक खेल हार चुके हैं।'

'मुझे याद है, देवी!'

'आज दूसरा खेल प्रारम्भ हो रहा है। यदि आप इसको जीत जाएंगे तो पहले खेल की मेरी जीत निष्फल होगी और यदि आप हार जाएंगे तो मुझे तीसरा खेल भी जीतना होगा।'

वीर विक्रम ने मुस्कराते हुए कहा– 'सुन्दरी! यदि तुम यह जानती हो कि पंचदंड वाले छत्र की बात जानने के लिए ही मैं यह प्रयत्न कर रहा हूं तो तुम यह बात मन से निकाल देना। पंचदंड वाले छत्र की बात ज्ञात हो जाए तो अच्छा है, किन्तु मन में उसके विषय में कोई आग्रह नहीं है।'

'तो फिर यह शर्त क्यों की आपने?' देवदमनी ने आश्चर्यभरी दृष्टि से विक्रम की ओर देखते हुए पूछा।

वीर विक्रम ने हंसते हुए कहा– 'देवदमनी! तुम बुद्धिमान हो, तेजस्वी हो और दूसरे के मन को पढ़ने में चपल हो। फिर भी मैं शतरंज का यह अनोखा खेल क्यों खेल रहा हूं, यह तुम नहीं समझ सकोगी।'

देवदमनी का आश्चर्य बढ़ा।

नागदमनी मध्यस्थ भाव से चुप बैठी थी। वह बोल उठी–'पृथ्वीनाथ! आपने तो पंचदंड की ही बात कही थी।'

'ठीक है। यह मैंने एक निमित्त बनाया था। मैं जानता था कि तुम्हारी पुत्री शतरंज खेलने में अति निपुण है, फिर भी मैंने शर्त मान ली।'

'क्यों, महाराज?' देवदमनी ने पूछा।

'हारने के लिए, सुन्दरी! एक तेजस्विनी नारी का पूरा परिचय प्राप्त करने के लिए मेरे समक्ष दूसरा कोई उपाय नहीं था। मैं मालव का राजा हूं। तुम मेरी प्रजा हो। किसी का दिल दुखाना दोष है। जब मैंने तुम्हें पहली बार देखा तो मेरे मन में यह जिज्ञासा जागी कि तुम्हारे जैसी देवदुर्लभ सुन्दरी के परिचय में आना चाहिए। एक राजा होने के कारण दूसरे किसी भी प्रकार से मैं परिचय प्राप्त नहीं कर सकता। मेरी भावना के लिए पंचदंड की बात सहायक सिद्ध हुई। मुझे लगा कि तुम्हारे साथ जितने दिन शतरंज खेलने में बीतेंगे, वे मेरे जीवन के अविस्मरणीय दिन होंगे।'

देवदमनी लज्जारक्त वदन से नीचे देखने लगी।

नागदमनी ने कहा– 'कृपानाथ! आपने प्रतिष्ठा और कीर्ति को दांव पर लगा दिया। निश्चित ही आपने लोकनिन्दा की परवाह नहीं की।'

बीच में ही विक्रम बोले– 'नागदमनी! ऐसे देवदुर्लभ कन्यारत्न को प्राप्त करने के लिए मैं तुम्हें धन्यवाद देता हूं। मनुष्य जब भावना के प्रवाह में बहता है, तब मान, प्रतिष्ठा, कीर्ति–ये सब गौण हो जाते हैं और देखो, इस शर्त की पृष्ठभूमि में आशा की एक किरण भी थी।'

देवदमनी ने प्रश्नभरी दृष्टि से विक्रम की ओर देखा। वीर विक्रम ने नागदमनी की ओर देखकर कहा -- 'यदि मैं जीत गया तो मेरा स्वप्न साकार होगा और एक सुन्दरी का जीवन भर सहचार मिल जाएगा।'

'यदि आप विजेता बनेंगे तो मैं भी धन्य हो जाऊंगी, किन्तु यह शक्य नहीं है' नागदमनी ने कहा।

'नागदमनी! मुझे इसकी भी चिन्ता नहीं है। हारने का निश्चय करके ही मैंने खेलना शुरू किया है। जैसे विजय का आनन्द अपूर्व होता है, वैसे ही हार में छिपी हुई मस्ती भी अनन्य होती है। अब हम खेल प्रारम्भ करें।'

वीर विक्रम ने यह चर्चा सकारण की थी। आज का खेल अधूरा रहे, वे यह चाहते थे। क्योंकि कल खेलने के पश्चात् अमावस्या के दिन क्षेत्रपाल द्वारा निर्दिष्ट युक्ति के अनुसार खेलना चाहते थे।

देवदमनी भी वीर विक्रम की चर्चा से अत्यन्त प्रभावित हो गई थी। उसके अन्तर में भी यह भावना जाग गई थी कि यदि वीर विक्रम जैसे पति मिल जाएं तो जीवन सफल हो जाए। उसने जान ही लिया था कि वीर विक्रम सुन्दर, स्वस्थ और तेजोमूर्ति हैं। जिस नारी ने पूर्वजन्म में अपूर्व तप तपा है, उसे ही ऐसे स्वामी मिल सकते हैं।

किन्तु यह आशा कैसे सफल हो ? खेल में हार जाना, यह किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है और हारे बिना ऐसा प्रियतम मिलना दुर्लभ है।

तब ?

खेल प्रारम्भ हो चुका था। देवदमनी ने यह निश्चय कर लिया था कि आज ही दो बार जीत जाना है, किन्तु सांझ तक जीत-हार किसी की नहीं हुई।

खेल अधूरा ही रहा।

नागदमनी बोली – 'कृपानाथ! कल मेरी पुत्री कारणवश नहीं आ सकेगी, इसलिए...।'

'कोई बात नहीं है। परसों हम फिर खेलेंगे।' यह कहकर विक्रम उठ खड़े हुए।

नागदमनी और देवदमनी भी घर की ओर चल पड़ीं।

विक्रम ने भवन में आकर देखा – क्षेत्रपाल के लिए नैवेद्य की सामग्री तैयार कर रथ में रख दी गई है।

वीर विक्रम सभी रानियों को साथ लेकर क्षेत्रपाल के मंदिर की ओर प्रस्थित हुए। साथ में अनेक रक्षक भी थे।

४४. सिकोत्तरी का मंदिर

प्रात:काल की झालर बज उठी। राजभवन की वाद्यमंडली ने प्रात:काल के अनुरूप रागिनी प्रवाहित की। गायकवृन्द प्रार्थना-गान गाने लगे।

राजा वीर विक्रम सिंधुकुमारी लीलादेवी के आवास में सो रहे थे। स्वामी को गहरी नींद में सोये हुए जानकर लीलादेवी ने उन्हें नहीं जगाया। वह धीरे से पलंग से नीचे उतरी और प्रात:काल की तैयारी में लग गई।

किन्तु प्रात: संगीत की स्वरलहरियां सम्पूर्ण राजभवन को रसमय बना रही थीं और वीर विक्रम भी कुछ ही देर पश्चात् जागृत हो गए–उन्हें कुछ याद आया। आज कृष्ण पक्ष की अमावस्या है। आज शतरंज खेलने देवदमनी नहीं आएगी; क्योंकि उसने कार्य का बहाना बनाया है।

वीर विक्रम के क्षेत्रपाल द्वारा निर्दिष्ट उपाय स्मृतिपटल पर उभर आया। वे शय्या से एकदम नीचे उतरे। एक थाल में पड़े मुकुट और उत्तरीय को धारण कर खंड से बाहर आ गए।

उसी समय लीलादेवी आ पहुंची और स्वामी को बाहर जाते हुए देखकर बोली–'महाराज! प्रात:कार्य.....।'

बीच में ही विक्रम ने मुस्कराते हुए कहा–'प्रिये! चिन्ता मत करो। एक महत्त्व का कार्य याद आ गया है।'

लीलादेवी ने विशेष आग्रह नहीं किया। प्रणत होकर खड़ी रही। वीर विक्रम उसके गाल पर थपकी देकर त्वरित गति से चले गए।

लीलादेवी के आवास से वे सीधे अपने मुख्य भवन में आ गए। कलावती और कमलावती उसी भवन में साथ रहती थीं। उस समय दोनों स्नान करने गई हुई थीं।

वीर विक्रम अपने कक्ष में आए। वे प्रात:कार्य से निवृत्त हुए। इतने में ही कमलारानी और कलावती–दोनों वहां आ पहुंचीं।

कमलावती ने आश्चर्य के साथ पूछा–'आज तो आप लीलादेवी के आवास में गए थे न?'

'वहीं से आ रहा हूं।'

'इतने शीघ्र?'

'हां, कुछ कार्य याद आ गया, इसलिए।'

वीर विक्रम ने दोनों रानियों के साथ शतरंज की कुछ चर्चा की और कहा–'प्रिये! मनुष्य का खेल कभी अनन्त नहीं होता। यह खेल भी पूरा होगा। जो व्यक्ति खेल में हारने का भय रखता है, वह कभी विजयी नहीं हो सकता। मुझे हारने का

तनिक भी भय नहीं है। मैंने कल देवदमनी से कहा था कि मैं हारने के लिए ही खेल रहा हूं।'

दोनों रानियां अपने महान स्वामी के तेजस्वी वदन की ओर देखने लगीं।

फिर वीर विक्रम मंत्रणा-गृह में गए। द्वार बन्द कर उन्होंने अपने मित्र अग्निवैताल को याद किया।

आंखें बन्द कर स्थिर मन से वैताल को याद करते ही कुछ क्षण में चिरपरिचित हास्य विक्रम को सुनाई दिया। विक्रम ने आंखें खोलकर देखा तो वैताल उस मंत्रणा-गृह में सामने खड़ा-खड़ा हंस रहा था।

विक्रम ने प्रसन्नता से वैताल का स्वागत किया और अपने पास बिठाते हुए कहा– 'चित्त तो स्वस्थ है न!'

'हां, मित्र! चित्त अत्यन्त प्रसन्न है, किन्तु एक कठिनाई है' –कहकर वैताल हंस पड़ा।

'तुम्हारे कठिनाई.....?'

'हां, महाराज! पत्नी तो एक ही है, किन्तु उसका बंधन एक हजार पत्नियों जितना है। उसकी आज्ञा-पालन में ही मुझे रुक रहना पड़ता है।'

'यह कोई कठिनाई नहीं है, यह तो स्नेहमय मधुर बंधन है। प्रियतम को प्रिया के और प्रिया को प्रियतम के बंधन में बंधे रहना ही सहजीवन का सच्चा सुख है।'

'किन्तु प्रिया-प्रिया के बीच आकाश-पाताल का अन्तर होता है। फिर भी मुझे एक बात से आश्वासन मिलता रहता है।' वैताल ने कहा।

'किस बात से ? प्रिया के बाहुबंधन....।' विक्रम बोले।

'नहीं-नहीं, महाराज! मुझे जब आप याद आते हैं, तब आश्वासन मिल जाता है।'

'मैं समझा नहीं।'

'एक प्रिया के बंधन से ही मैं गले तक भर गया हूं, तो फिर तीस प्रियाओं के बीच रहने वाले आपकी क्या स्थिति होती होगी ? बस, यह विचार आता है और मुझे संतोष मिल जाता है।' वैताल ने कहा।

विक्रम ने हंसते हुए कहा– 'मित्र! तीस-तीस पत्नियां होते हुए भी मैं पूर्ण मुक्त हूं और इकतीसवीं प्रिया को प्राप्त करने के लिए तुम्हें याद करना पड़ा है।'

'महाराज! आपने क्या सोचा है ?'

'भाई! मेरी बात सुनो', कहकर विक्रम ने नागदमनी, देवदमनी, शतरंज का खेल, शर्त और सफलता का उपाय–ये सारी बातें वैताल को कह सुनाई।

पूरी बात सुनने के बाद अग्निवैताल ने कहा – 'महाराज ! आपने यह क्या किया ? देवदमनी तो हमारी जाति में भी बहुत प्रसिद्ध है। उसने मंत्रशक्ति से अनेक देवी-देवताओं को प्रसन्न कर अपने वश में किया है। किन्तु आप निश्चिन्त रहें – मैं आपका कार्य पूरा करूंगा और आज ही रात्रि के प्रथम प्रहर में हम सिकोत्तर पर्वत पर पहुंच जाएंगे। आप वेश परिवर्तन कर तैयार रहें। मैं तो अदृश्य ही रहूंगा और इन्द्र जो उपहार देवदमनी को देंगे, मैं उनका अपहरण कर लूंगा।'

'मित्र ! मुझे विश्वास था कि यह कार्य तुम्हारे हाथों से ही पूरा होगा। अब तो यहीं रहना है न ?'

'नहीं, महाराज ! मैं अत्यन्त मधुर किन्तु अति कठोर बन्धन में बंधा हुआ हूं। मुझे अभी उसे प्रसन्न कर रात के लिए आज्ञा लेनी होगी।' वैताल बोला।

'अरे, उसको साथ में ही ले लो न।'

'नहीं, महाराज ! उसका स्वभाव बहुत चंचल है। समय पर हमारी योजना ही उलट जाए।' अग्निवैताल ने कहा।

उसी समय उसके पीछे-पीछे अदृश्य रूप से आयी हुई उसकी पत्नी बोली – 'महाराज ! आपके मित्र की बात में कोई सचाई नहीं है। आपके कार्य में कभी बाधक नहीं हूं। किन्तु आपके मित्र ही ऐसे हैं कि वे क्षण भर के लिए भी मेरे से अलग नहीं रह सकते। वास्तव में मेरे मधुर बन्धन को इन्होंने अपने कठोर बन्धन में जकड़ रखा है।'

महाराजा ने मित्र की पत्नी का सत्कार करते हुए कहा – 'देवी ! तुम्हारी बात सुनकर मुझे बहुत आनन्द आया। स्वामी के कठोर बन्धन को मधुरता में बदल देने का कार्य तुम्हारा है। संसार में माधुर्य के समक्ष कठोरता लाचार बनी रहती है।'

वैताल-पत्नी अपने स्वामी की ओर देखकर हंस पड़ी। वह बोली –'आप मौन क्यों हो गए ? आज मैं भी आपके साथ ही चलूंगी और महाराजा के कार्य में सहायक बनूंगी। महाराजा को भी विश्वास हो जाएगा कि मैं चंचल नहीं, किन्तु चतुर हूं।'

'अगर तुम चंचल नहीं होती, तो मेरे पीछे-पीछे गुप्तचरी करने क्यों आती ?'

'गुप्तचरी करने नहीं आयी हूं, किन्तु यह जानने आयी हूं कि आप महाराजा विक्रम के समक्ष मेरी क्या बात करते हैं ?'

पति-पत्नी का यह मीठा कलह आगे न बढ़े, इसलिए विक्रम ने आगे कहा – 'भाभीजी ! तुम्हारे आगमन से मैं बहुत खुश हूं। मेरा मित्र मेरे साथ वचन से बंधा हुआ है, इसलिए उसे मेरे कार्य में सहयोग देना पड़ता है –किन्तु तुम वचनबद्ध न होने पर भी जो सहयोग देना चाहती हो, यह शुभ है। तुम अवश्य ही साथ आना।'

फिर वैताल और उसकी पत्नी वहां से विदा हो गए।

विक्रम मंत्रणा-गृह से बाहर आए।

वे बहुत दिनों बाद आज राजसभा में गए थे। वहां का कार्य सम्पन्न कर वे राजभवन की ओर चले। उस समय मध्याह्न काल बीत चुका था।

रात्रि का प्रारम्भ होते ही वीर विक्रम ने वनवासी का वेश धारण किया। स्वामी को इस वेश में देखकर कला और कमला – दोनों रानियां हंस पड़ीं।

विक्रम ने पूछा – 'क्या छद्म वेश यथार्थ नहीं लगता ?'

'महाराज ! आप तो वेश-परिवर्तन में बहुत निपुण हैं।'

'तो फिर हंसने का कारण ?'

'आपका यह वेश ! किसी दिन नहीं और आज आपने ऐसा छद्म वेश धारण क्यों किया है ?'

'प्रिये ! आज मुझे कुछ दूर जाना है।'

'कितनी दूर ?'

'तुम चिन्ता मत करना। मैं समय पर आ जाऊंगा। किन्तु सारी बात दो दिन बात ही कहूंगा। जब तक कार्य सिद्ध न हो जाए, तब तक कुछ कहना उचित नहीं है।' विक्रम ने दोनों प्रियाओं की ओर देखकर कहा।

फिर वे भवन के गुप्त द्वार से राजभवन के उपवन में चले गए।

कुछ ही समय पश्चात् वैताल अपनी पत्नी के साथ आ पहुंचा।

और वैताल की दैवी शक्ति के प्रभाव से मात्र अर्ध-घटिका में तीनों सिकोत्तर पर्वत पर स्थित सिकोत्तरी देवी के मंदिर में पहुंच गए।

वैताल बोला – 'महाराज ! आज के उत्सव को देखने के लिए वनवासी आ रहे हैं। आप भी उनके साथ मिल जाना। मैं और मेरी प्रियतमा अदृश्य रूप से मंदिर में ही चले जाते हैं।'

विक्रम ने वैताल दम्पति का आभार माना और वे मंदिर की ओर अग्रसर हुए।

अभी रात्रि का प्रथम प्रहर चल रहा था। लगभग बीस वनवासी मंदिर के बाहर के प्रांगण में आकर बैठ गए थे। विक्रम भी उनके बीच शांति से बैठ गए।

मंदिर के सभा-मंडप के द्वार से विक्रम ने अन्दर झांका। उसने देखा, देवदमनी चार सुन्दर युवतियों के साथ एक ओर बैठी है। उसने उत्तम वस्त्रालंकार धारण कर रखे थे। उसके मस्तक पर तेजस्वी वज्ररत्न-जटित दामिनी बिजली की तरह चमक रही थी। नीलमवज्र के बाजूबंध, नीलमवज्र के कंकण, मुक्ता, नीलम

और वज्ररत्न की मालाएं, मणिजटित कर्णपूर आदि अनेक अलंकार देखकर राजा विक्रम आश्चर्य-मुग्ध हो गए। ऐसे मूल्यवान् अलंकार देवदमनी को कहां से प्राप्त हुए होंगे ? किसी सम्राट् के यहां भी दुर्लभ ऐसे कौशेय वस्त्र उसने पहन रखे थे।

सुकेसरी रंग का कमरपट्ट ! बादल के रंग का कंचुकी-बन्ध और गहरे गुलाबी रंग का उत्तरीय !

वास्तव में देवदमनी देवकन्या की भांति लग रही थी। उसने अपनी विशाल केशराशि का कमलगुच्छ बनाया था और उसमें सुन्दर पुष्प गुंथे थे।

विक्रम ने मन-ही-मन सोचा–यह देवदमनी अपूर्व सौन्दर्य से मंडित है....इन्द्र के पास इतनी अप्सराओं के होते हुए भी नृत्यांगना बनने का सौभाग्य इसे कैसे प्राप्त हुआ है ?

और विक्रम ने सिकोत्तरी माता की भव्य प्रतिमा की ओर देखा–'अरे ! क्या यह मणिरत्न की प्रतिमा है या स्फटिक की ? कितनी चमक है ? देखने वालों को ऐसा ही प्रतीत होता है कि साक्षात् देवी सिकोत्तरी सिंहासन पर विराजमान हैं।....और उसका पुजारी....अति वृद्ध होने पर भी कितना बलशाली है ?

विक्रम अन्य दिशा की ओर देखे, उससे पूर्व ही इन्द्र के मित्र और उनकी पत्नियां वहां पहुंच गयीं। सभी देवी को नमन कर अपने-अपने निर्धारित स्थान पर बैठ गये।

कुछ ही क्षणों पश्चात् देवेन्द्र अपनी प्रिया के साथ दृश्य हुए। दोनों ने सिकोत्तरी देवी को भावपूर्ण नमन किया और दिव्य पुष्पों की दो मालाएं पुजारी के हाथ में सौंपीं.....

वहां चार अप्सराएं, आठ-दस देवता, दस-दासियां आ गए।

विक्रम ने सोचा–ये सब किस मार्ग से आए होंगे ?

किन्तु इस प्रश्न का उत्तर अभी खोज पाना कठिन था। सभी देव-देवी यथा-स्थान बैठ गए....और वयोवृद्ध पुजारी ने एक हजार एक दीपकों की आरती उतारने की तैयारी की।

विक्रम ने यह भी देखा कि गांधर्वों की एक वाद्यमंडली अपने विविध वाद्यों के साथ देवदमनी के पास बैठ गई है।

आरती प्रारम्भ हुई।

घंटानाद, झालर की झनकार और कांस्यवाद्यों की ध्वनि से अद्‌भुत वातावरण निर्मित हो रहा था।

४५. देवदमनी हार गई

देवी सिकोत्तरी की आरती सम्पन्न हुई। सभी देव खड़े हो गए। इन्द्र अपनी पत्नी के साथ सबसे आगे आया। देवदमनी और उसकी दासियां भी खड़ी हो गईं।

बाहर के प्रांगण में बैठे वनवासी भी खड़े हो गए।

देव की स्तुति प्रारंभ हुई।

इस अवसर का लाभ उठाते हुए अग्निवैताल ने अपनी पत्नी को मानव सुन्दरी का रूप धारण कर देवदमनी की दासियां के साथ खड़े रहने के लिए कहा।

वैताल-पत्नी ने तत्काल वैसा ही किया।

लगभग एक घटिका पर्यन्त स्तुतिगान होता रहा।

इन्द्र की स्तुति पूरी होते ही देवी सिकोत्तरी के गले से तत्काल दो दिव्य पुष्पमालाएं स्वत: निकलकर इन्द्र और उसकी पत्नी के गले में आरोपित हो गईं।

सभी ने उल्लास के साथ देवी सिकोत्तरी का जय-जयकार किया और वृद्ध पुजारी ने सबको चरणामृत दिया।

इस विधि के सम्पन्न होते ही सभामंडप में खड़े देव और देवांगनाएं—सभी अपने-अपने स्थान पर बैठ गए।

गांधर्वलोक के वाद्यकारों ने 'पद्मऋजा' नाम की अपूर्व रागिनी प्रारम्भ की।

और देवदमनी खड़ी हुई...इन्द्र महाराज को नमस्कार कर उसने देवी सिकोत्तरी के समक्ष 'देववंदना' नाम का नृत्य प्रारम्भ किया।

वनवासी के वेश में विक्रम आश्चर्यमुग्ध होकर देवदमनी के रूप-लावण्य को ही निरख रहे थे। ऐसा आकर्षक माधुर्य और ऐसी महान् नृत्यसिद्धि! क्या देवदमनी कोई अप्सरा है?

पद्मऋजा नाम की रागिनी को विक्रम समझ नहीं पा रहे थे, किन्तु उन्होंने यह अवश्य जान लिया था कि गांधर्वलोक के महासंगीत की यह कोई अपूर्व रागिनी है....इसकी स्वर-लहरियां देवताओं को भी स्थिर-स्तब्ध बना रही हैं।

किन्तु देवदमनी का अंग-मरोड़, हाथ की मुद्राएं, भावों की अभिव्यक्ति, तिरछे नयनों की भावमस्ती और स्वयं की यौवन छटा अद्‌भुत थी। क्या यही देवदमनी मेरे साथ शतरंज खेलती है? विक्रम वास्तव में ही उस पर मुग्ध हो रहे थे।

देववन्दना का नृत्य पूरा हुआ। इन्द्र ने प्रसन्न होकर नंदनवन के दिव्य फूलों की एक माला देवदमनी की ओर फेंकी।

देवदमनी ने इन्द्र को नमन कर उस पुष्पमाला को दूर बैठी दासियों की ओर फेंका।

अग्निवैताल की पत्नी ने तत्काल उसे झेल लिया और अपने करंडक में सावधानीपूर्वक रख लिया।

देवदमनी की चारों दासियों ने अवाक् रहकर उस नयी सुन्दरी की ओर देखा। उन्होंने सोचा, यह दासी देवदमनी की कोई प्रिय सखी प्रतीत होती है और अवंती से ही साथ आयी हो ऐसा लगता है।

और देवदमनी ने दूसरा नृत्य प्रारम्भ किया। इस नृत्य के अनुरूप गांधर्वों ने एक मस्त रागिनी प्रारम्भ की।

इस दूसरे नृत्य में देवदमनी ने अपनी कला के अद्‌भुत रूप प्रस्तुत किए। उल्लास और प्रेरणा के भाव उसके अंग-प्रत्यंग से निखरने लगे। सभी देवी-देवता एकटक उसे निहार रहे थे। इन्द्र अत्यन्त प्रसन्न हो रहा था और प्रांगण में बैठे हुए विक्रम भी मुग्ध हो रहे थे। उनको यह भी भान नहीं था कि वे यहां किस प्रयोजन से आए हैं?

वह दूसरा अभिनय नृत्य सम्पन्न हुआ।

इन्द्र ने प्रसन्न होकर एक रत्नजटित नूपुर देवदमनी की ओर उछाला। देवदमनी ने नूपुर को झेलकर इन्द्र और इन्द्राणी के समक्ष मस्तक नमाया और उपहार में प्राप्त नूपुर को दासियों की ओर फेंका। वैताल-पत्नी ने उसे भी चपलता से झेलकर करंडक में रख लिया।

वैताल-पत्नी ने जो पुष्पमाला और नूपुर करंडक में रखा था उसे वैताल उठा ले गया। प्रांगण में बैठे विक्रम केवल नृत्य, नृत्यांगना और देवसभा में अपने आपको खो बैठे थे।

देवदमनी ने तीसरा नृत्य प्रारम्भ किया। इसमें विदाई के मधुर भाव उभर रहे थे।

रात्रि का तीसरा प्रहर पूरा होने वाला था और देवदमनी का यह विदाई-नृत्य पूर्णेन्दु की शीतल चांदनी की तरह शोभित हो रहा था।

वंदना, उल्लास, प्रेरणा और अन्त में विदाई की भावभरी ऊर्मियां।

देवता धन्य-धन्य कहने लगे और चौथे प्रहर की एक घटिका के बाद नृत्य पूरा हुआ।

इन्द्र अत्यन्त प्रसन्न थे। उन्होंने स्वर्ण की एक डिबिया में मनुष्य को नवयौवन अर्पित करने में समर्थ एक गुटिका रखकर उर्वशी की तरह शोभित होने वाली देवदमनी की ओर उसे फेंका।

देवदमनी ने डिबिया थाम ली। उसने भावपूर्वक नमन कर उस डिबिया को भी दासियों की ओर फेंका। वैताल-पत्नी ने उसे भी बीच में ही थामकर करंडक में रख लिया। उसी क्षण वैताल ने उस डिबिया का हरण कर लिया।

सभी देवता खड़े हुए और देवी सिकोत्तरी को प्रणाम कर वहां से प्रस्थित होने लगे।

अग्निवैताल भी अपनी पत्नी के साथ अदृश्य होकर बाहर आ गया।

जो चार दासियां थीं, वे इन्द्र की भेजी हुई थीं। वे भी अदृश्य हो गईं।

वैताल ने अदृश्य रहकर ही मुग्धभाव से देवदमनी को एकटक निहारने वाले विक्रम का कंधा हिलाया।

विक्रम सावधान हो गए। वे वनवासियों के मध्य से बाहर आए। कुछ दूर जाने पर दृश्य होकर वैताल बोला – 'महाराज! आपका कार्य पूरा हो गया है। इन्द्र ने सबसे पहले नंदनवन के ऐसे पुष्पों की माला दी थी, जो एक वर्ष तक भी नहीं मुरझाये। दूसरी बार उन्होंने एक रत्नजटित नूपुर दिया था और तीसरी बार यौवन को बनाए रखने वाली एक गुटिका स्वर्ण की डिबिया में रखकर दी थी। ये तीनों वस्तुएं मेरे पास हैं। देवदमनी को उसका पता भी नहीं है। अब हमको शीघ्र ही अवंती पहुंच जाना चाहिए।'

वैताल-पत्नी बोल उठी – 'महाराज! आपके मित्र झूठी शेखी बघार रहे हैं। इन तीनों वस्तुओं को मैंने झेला था।'

'मेरी दृष्टि में तुम दोनों एक हो...मैं दोनों का आभार मानता हूं।' विक्रम ने कहा।

बीच में ही वैताल बोल उठा – 'कर्त्तव्य-पालन में आभार या उपचार शोभा नहीं देता। अब आप मेरा हाथ पकड़ लें। देवदमनी वहां पहुंचे उससे पहले ही हमें वहां पहुंच जाना है और मेरी घरवाली एक चमत्कार भी करेगी।'

'क्या?'

'देवदमनी एक वृक्ष पर बैठकर आयी है। उसी वृक्ष पर बैठकर वह लौटेगी। देखें, वह मंदिर से बाहर निकल रही है। उसके हाथ में एक करंडक है। वह करंडक खाली है, ऐसी कल्पना भी उसे नहीं है। जैसे ही यह वृक्ष अवंती की ओर उड़ेगा, मेरी पत्नी अदृश्य रूप से उस वृक्ष पर बैठ जाएगी। मार्ग में एक सरोवर आता है। वृक्ष जब सरोवर के ऊपर उड़ेगा, तब मेरी पत्नी देवदमनी के हाथ से उस करंडक को नीचे गिरा देगी। करंडक सरोवर में ही गिरेगा। देवदमनी उसे पा नहीं सकेगी। वह यह मानेगी कि उपहार में प्राप्त तीनों वस्तुएं आकस्मिक ढंग से नीचे गिर पड़ी हैं।'

विक्रम बोले – 'तब तो इस कार्य का सारा यश तुम्हारी पत्नी को ही मिलना चाहिए।'

वैताल-पत्नी ने कहा – 'महाराज! मैं जानती हूं। देवदमनी से पूर्व ही मुझे वृक्ष पर बैठ जाना है।'

वैताल और विक्रम भी आकाशमार्ग से उड़ चले।

कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी। तारों का मन्द प्रकाश पृथ्वी पर पड़ रहा था।

देवदमनी वृक्ष पर बैठ गई। वह विचित्र भाषा में कुछ मंत्र बोली और उसी क्षण वृक्ष विमान की भांति आकाश में उड़ने लगा। लगभग एक घटिका के बाद वह वृक्ष एक सरोवर के ऊपर से जा रहा था।

देवदमनी ने उस करंडक को एक डाली पर रखकर उसको हाथ से पकड़ रखा था। अचानक करंडक देवदमनी के हाथ से छूटा। देवदमनी चौंकी। नीचे विशाल सरोवर दिखाई दिया। अब क्या हो?

तारों के मंद प्रकाश में उसने देखा कि करंडक सरोवर में जा गिरा है। उपहारस्वरूप प्राप्त वस्तुओं का मिलना अब अशक्य है, यह उसने जान लिया। कुछ ही क्षणों में वृक्ष सरोवर को पार कर आगे बढ़ गया।

कार्य पूरा कर वैताल-पत्नी अदृश्य रूप से वृक्ष को छोड़कर अपने स्वामी की ओर उड़ गई।

अवंती के राजभवन में जब तीनों पहुंचे तब प्रात:काल होने वाला ही था। वैताल ने देवदमनी को उपहार में प्राप्त तीनों वस्तुएं महाराज विक्रम को सौंप दीं। विक्रम ने उन्हें रुकने का आग्रह किया, पर वे रुके नहीं और कक्ष से ही अदृश्य हो गए।

विक्रम विश्राम करने के लिए एक आसन पर बैठे।

प्रात:काल का समय हो गया।

राजगायकों ने प्रार्थनागान प्रारंभ कर दिया था। वाद्यकारों के वाद्य भी प्रात:काल का अभिनंदन कर रहे थे। दास-दासी जागृत होने लगे।

विक्रम ने एक दास को बुलाकर छोटी पेटिका मंगाई। वह महाराज को इतना जल्दी जागृत हुए देखकर आश्चर्यचकित रह गया। वह तत्काल गया और छोटी पेटिका ले आया। महाराजा विक्रम ने कहा – 'मेरे स्नान की तैयारी कर।'

दास प्रणत होकर चला गया। विक्रम ने उस छोटी पेटिका में सबसे नीचे गुटिका वाली स्वर्ण डिबिया, उसके ऊपर स्वर्ण नूपुर और उसके ऊपर पुष्पमाला रखी। फिर उस छोटी पेटिका को लेकर वे अपने खंड में गए। उसका निजी परिचारक रामदास उठ गया था। वह नमन कर बोला – 'महाराज! लगता है आप अभी-अभी पधारे हैं?'

'हां, रामदास! महादेवी अभी सो रही हैं?'

'हां, कृपानाथ! देर रात तक दोनों महादेवियां आपकी प्रतीक्षा में जागती रहीं। क्या उन्हें जगाऊं?'

'नहीं, तू मेरे वस्त्र तैयार कर। देख, इस पेटिका को संभालकर रखना। जब मैं शतरंज खेलने जाऊं, तब मेरे पास लाकर इसे रख देना।'

'जी' कहकर रामदास ने पेटिका को सुरक्षित रख दिया। फिर वह बाहर चला गया।

वीर विक्रम जब स्नानगृह में गए, तब दोनों रानियां जागृत हो बाहर आ गई थीं। जब उन्होंने रामदास के मुंह से महाराजा के आने की बात सुनी, तब वे निश्चिन्त हो गईं।

यथासमय वीर विक्रम उस छोटी पेटिका को लेकर शतरंज खेलने के मंडप में पहुंच गए। देवदमनी अभी वहां पहुंची नहीं थी।

विक्रम ने उस पेटिका को इस प्रकार रखा कि खोलने पर भी देवदमनी उसमें रखी हुई चीजें देख न सके।

वीर विक्रम के मानस पर अभी भी देवदमनी का नृत्यांगना का स्वरूप नाच रहा था। ऐसी महान् कला...ऐसा रूप और ऐसी सिद्धि मेरे ही राज्य की एक तेलिन लड़की में। विक्रम का हृदय आश्चर्य से भरा था। उन्होंने देवदमनी को क्षुब्ध करने का उपाय सोच लिया था।

उसी समय मंडप का द्वार खुला। देवदमनी अपनी मां नागदमनी के साथ मंडप में प्रविष्ट हुई। विक्रम ने दोनों का स्वागत किया।

नागदमनी बोली—'कृपानाथ! प्रात:कार्य सम्पन्न करने में कुछ विलम्ब हो गया था, इसलिए यहां कुछ विलम्ब से पहुंचे हैं। मैं क्षमा चाहती हूं।'

'नहीं-नहीं, नागदमनी! संसारी प्राणियों के अनेक झंझट होते हैं। किसी दिन विलम्ब भी हो जाता है।' यह कहकर विक्रम ने देवदमनी की ओर देखा। देवदमनी अपने आसन पर बैठ गई। विक्रम ने पूछा—'देवदमनी! चित्त प्रसन्न तो है न?'

'हां, महाराज! मेरा चित्त अत्यन्त आनन्दित और आह्लादित है। आज मैं आपको दूसरी बार हराने के उत्साह के साथ आयी हूं।'

'तब तो मुझे बहुत आनन्द आएगा। यदि मैं हारूंगा तो भी सुन्दरी से पराजित होने का गौरव मिलेगा।'

शतरंज का खेल प्रारंभ हुआ।

आज शतरंज का खेल खेलते-खेलते महाराज विक्रम विचारमग्न हो जाते और विलम्ब से चाल चलते। इस प्रकार आठ-दस चाल चलने के पश्चात् देवदमनी

ने पूछा – 'महाराज! आज आप अस्वस्थ तो नहीं हैं? इतने विचार-मग्न कैसे हो जाते हैं?'

'देवी! मैं पूर्ण स्वस्थ हूं, किन्तु उत्तररात्रि में मैंने एक विचित्र स्वप्न देखा था। वह मेरे मन पर अमिट छाप छोड़ चुका है। मैं उसे विस्मृत करना चाहता हूं, पर वह मानस-पटल से हटता ही नहीं।'

'स्वप्न?'

'हां, देवदमनी! वैसे तो मुझे स्वप्न आते ही नहीं, किन्तु इस रात्रि के स्वप्न में तुम थी, इसलिए मैं उसे भुला नहीं पा रहा हूं।'

देवदमनी ने हंसते हुए कहा – 'महाराज! यदि आपकी इच्छा हो तो वह स्वप्न आप मुझे बताएं।'

विक्रम दो क्षण मौन रहे, फिर देवदमनी की ओर देखकर बोले – 'देवी! स्वप्न बहुत विचित्र और अनोखा है। मैं ऐसे पर्वत पर चढ़ा, जिसको मैंने कभी नहीं देखा था। भूख और प्यास से मैं आकुल-व्याकुल हो रहा था। संध्या बीत चुकी थी। रात्रि का अंधकार सघन होता जा रहा था। मेरे में चलने की शक्ति भी चुक गई थी। वहां कुछ दूरी पर एक छोटी झोंपड़ी दिखाई दी। मैं ज्यों-ज्यों वहां पहुंचा। उस झोंपड़ी में वनवासी रहते थे। उन्होंने मुझे भोजन कराया। मुझे बहुत संतोष हुआ। वे वनवासी बोले – भाई! आज हमारे माताजी का उत्सव है। क्या तुम देखने चलोगे? मैं अकेला बैठा-बैठा क्या करता। उनके साथ उत्सव देखने चल पड़ा। हम एक विशाल मंदिर के प्रांगण में पहुंचे। मंदिर में इतना प्रकाश था कि दिन का आभास हो रहा था। मन्दिर से सौरभ निकल रही थी। मैं एकटक मंदिर को देख रहा था। मैं चौंका। मुझे लगा कि मंदिर के सभामंडप में अनेक देवी-देवता बैठे हैं और उनके समक्ष तुम नृत्य कर रही हो।'

देवदमनी चौंकी, किन्तु उसी क्षण हंसकर बोली – 'क्या आपने मुझे देखा? असम्भव। देवी-देवताओं के मध्य मैं कैसे जा सकती हूँ?'

किन्तु मेरा स्वप्न सुनने जैसा है। जैसे ही तुमने पहला नृत्य पूरा किया, तब देवताओं में श्रेष्ठ एक देव ने तुम पर पुष्पमाला फेंकी, तुमने वह ले ली और उसे दूर बैठी पांच-छह सुन्दर स्त्रियों की ओर उछाल दी।'

'महाराज! यह स्वप्न कभी सत्य नहीं हो सकता। आपको शायद भ्रम हुआ है।'

'नहीं, देवी! मुझे भ्रम नहीं हुआ है। मैं एक बार जिसे देख लेता हूं, उसे कभी भूलता नहीं।' वीर विक्रम ने कहा।

'नहीं, महाराज! यह स्वप्न भ्रम ही है, और कुछ नहीं।'

'नहीं, देवी! मेरे पास उसका प्रमाण भी है।' कहकर विक्रम ने गुप्त रूप से रखी हुई उस पेटिका से नंदनवन के पुष्पों की माला निकाली और देवदमनी की ओर फेंकते हुए कहा – 'इस पुष्पमाला को मैंने स्वप्न में देखा था और जब मैं जागा तब देखा कि वह पुष्पमाला मेरी शय्या पर पड़ी है।'

पुष्पमाला को देखकर देवदमनी क्षुब्ध हो गई। वह कुछ नहीं बोली। विक्रम ने शतरंज का खेल चालू रखा। मात्र अर्ध घटिका के भीतर देवदमनी बाजी हार गई।

नागदमनी भी चौंकी। उसने सोचा, मेरी पुत्री कभी किसी से पराजित नहीं होती, आज वह फिर कैसे हार गई। कल रात्रि में देवदमनी अपनी मंत्र-विद्या से सिकोत्तर पर्वत पर गई थी और इन्द्र ने पुष्पमाला का उपहार दिया था, पर वह उपहार तो सरोवर में गिर गया था।

विक्रम ने दूसरी बाजी प्रारंभ की। देवदमनी कुछ स्वस्थ हो गई थी। शतरंज का खेल आगे बढ़ा।

विक्रम बोले – 'देवी! मेरा स्वप्न तुमने पूरा नहीं सुना। तुमने वहां दूसरा नृत्य प्रारम्भ किया। वह नृत्य बहुत अद्‌भुत था। मैं उसे देखता ही रहा। जब नृत्य पूरा हुआ तब बड़े देवता ने प्रसन्न होकर एक रत्नजटित नूपुर तुमको उपहारस्वरूप दिया।'

'महाराज! आप क्या कह रहे हैं? स्वप्न झूठा होता है।'

'नहीं, देवी! यह रहा वह नूपुर।' कहकर विक्रम ने पेटिका से नूपुर निकाला और देवदमनी की गोद में डाल दिया। मैंने इसी नूपुर को स्वप्न में देखा था, पर पता नहीं कैसे यह भी शय्या पर पड़ा हुआ मिला।'

देवदमनी अत्यन्त क्षुब्ध हो गई।

वह दूसरी बाजी भी हार गई।

विक्रम बोले – 'देवदमनी! मैंने दो बाजियां लगातार जीत ली हैं। यदि मैं इस तीसरी बाजी को भी जीत लेता हूं तो तुम्हें मेरे साथ विवाह करना होगा और पंचदंड वाले छत्र की बात बतानी होगी।'

देवदमनी ने कहा – 'महाराज! अभी आपने मुझे दो बार ही जीता है। तीसरी बार आप कभी नहीं जीत सकते।'

विक्रम ने कहा – 'देवदमनी! मैं तो प्रारम्भ से ही कहता रहा हूं कि मैं हारने के आनन्द के लिए ही खेल रहा हूं। तुम्हारे जैसी निष्णात के समक्ष हारना भी जीवन का अपूर्व आनन्द है, किन्तु प्रतीत होता है कि आज तुम्हारा चित्त कुछ अस्वस्थ है। तुम्हारी इच्छा हो तो आज तीसरी बाजी न खेलकर इसे कल के लिए स्थगित कर दें।'

'नहीं, महाराज! नियम के अनुसार मैं अवश्य खेलूंगी। मैं तनिक भी अस्वस्थ नहीं हूं।'

और तीसरी बाजी प्रारंभ हुई।

विक्रम ने स्वप्न-कथा प्रारंभ करते हुए कहा – 'देवी! स्वप्न बहुत विचित्र था। मैंने देखा कि तुमने तीसरा नृत्य प्रारम्भ किया। वह नृत्य अत्यन्त भव्य और आह्लादक था। उस नृत्य की सम्पन्नता पर तुम्हें उपहार स्वरूप स्वर्ण की एक डिबिया मिली.... ।'

'कृपानाथ..... !'

'मैं सच कहता हूं, देवदमनी! वह डिबिया भी मुझे प्रातःकाल शय्या पर मिली। देखो, यह रही डिबिया....' कहकर विक्रम ने स्वर्ण की वह डिबिया देवदमनी को दी।

देवदमनी के हृदय में अत्यन्त क्षोभ हुआ।

वह तीसरी बाजी भी हार गई।

तत्काल वीर विक्रम अपने आसन से उठकर बोले – 'प्रिये! शर्त के अनुसार मैंने तीनों बाजियां एक-एक कर जीत ली हैं। तुमने मेरे हारने के आनन्द का अपहरण कर लिया है।'

देवदमनी का वदन लज्जा से लाल हो गया। वह उठी और विक्रम के चरणों में झुक गई।

नागदमनी बोली – 'महाराज! शर्त के अनुसार आप मेरी बेटी को स्वीकार करें। आप कहें उसी दिन विधिवत् विवाह की रस्म पूरी करूंगी।'

'मैं राज-ज्योतिषी को पूछकर कहूंगा' – कहकर विक्रम ने देवदमनी को दोनों हाथ पकड़कर उठाया और रस-भरी वाणी में कहा – 'प्रिये! बहुत बार सत्य स्वप्न का रूप धारण कर आता है।'

देवदमनी नीची दृष्टि किए खड़ी रही।

४६. पंचदंड छत्र की जानकारी

अपनी पुत्री देवदमनी को लेकर नागदमनी घर की ओर गई। देवदमनी के मन में एक प्रश्न बार-बार उभर रहा था – मैं सिकोत्तरी देवी के मन्दिर में गई थी और मैंने इन्द्र के समक्ष नृत्य कर उनसे तीन दुर्लभ वस्तुएं उपहारस्वरूप प्राप्त की थीं। किन्तु इसकी जानकारी महाराजा विक्रमादित्य को कैसे हुई? और सरोवर में गिरी वस्तुएं महाराज के पास कैसे आ गईं?

घर जाकर नागदमनी ने पुत्री से पूछा– 'बेटी! तेरा हार जाना मेरे लिए नयी बात है। शतरंज के खेल में तू इतनी निष्णात है कि तुझे कोई जीत नहीं सकता। परन्तु तू हार गई। यह कैसे हुआ? राजराजेश्वर ने तेरी गुप्त बात कैसे जान ली? मंत्रशक्ति के बल पर ही तू इतनी दूर गई थी। महाराजा इतनी दूर जा सकें, यह असंभव था....सायंकाल जब मैंने पूछताछ की तो पता चला कि महाराजा भवन में ही हैं....और रात्रि-चर्चा के लिए भी नगर में गए थे।'

'मां! मैं कुछ भी नहीं जान सकी।'

'कोई बात नहीं है, बेटी! तेरी हार में भी तेरे जीवन का आनन्द छिपा हुआ है। सात-सात जन्म तक तप करने पर भी ऐसे स्वामी नहीं मिल सकते....जो कुछ हुआ है, वह अच्छा ही हुआ है। किन्तु विवाह के पश्चात् तुझे अपनी मर्यादा में रहना है।'

'हां, मां! अवंतीनाथ की रानी के पद-गौरव को मैं सुरक्षित रखूंगी। मैं अपनी साधना को एक ओर रख दूंगी, केवल स्वामी की इच्छा के अधीन ही रहूंगी।' देवदमनी ने कहा।

'इस बात से मैं निश्चिन्त हूं....किन्तु महाराज के और भी अनेक रानियां हैं। तुझे उन सबके साथ दूध-मिश्री की तरह रहना होगा।'

'हां, मां! अनन्त जन्मों की तपश्चर्या से प्राप्त स्वामी के अनुकूल रहूंगी....एक बात का मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूं कि तुम्हारे पास छोटी-बड़ी कोई भी शिकायत नहीं आयेगी।' देवदमनी ने हृदय के भाव कहे।

पुत्री की यह बात सुनकर मां नागदमनी अत्यन्त प्रसन्न हुई।

और राजभवन के सारे समाचार वायु-वेग से प्रसृत हो गए थे।

सबसे पहले वीर विक्रम ने कमला और कला को अपनी विजय का संवाद सुनाया। स्वामी का विजय-संवाद सुनकर दोनों रानियां अत्यन्त हर्षित होकर स्वामी के चरणों में झुक गईं। विक्रम ने दोनों का आलिंगन कर कहा, 'यह विजय मेरी नहीं है, यह तुम दोनों की भावना का परिणाम है।'

यह चर्चा चल ही रही थी, अन्तःपुर की अन्यान्य रानियां भी अपना हर्ष व्यक्त करने के लिए वहां आ पहुंचीं। वीर विक्रम ने प्रत्येक रानी का आश्लेष लेते हुए उनकी प्रसन्नता को बढ़ाया और प्रत्येक रानी को एक-एक रत्नहार अर्पित करने की बात कही।

जैसे ये समाचार राजभवन में फैल गए थे, उसी प्रकार रात्रि के प्रथम प्रहर में पूरी नगरी में महाराजा की विजय और मंत्रशक्ति-सम्पन्न देवदमनी की पराजय का समाचार भी प्रसृत हो गया।

अब एक-एक पदाधिकारी आने लगे।

महामंत्री भट्टमात्र ने आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा, 'कृपानाथ! आपने अशक्य को शक्य बना डाला....नगरी में किसी को यह विश्वास नहीं था कि आप देवदमनी को हरा देंगे।'

वीर विक्रम ने गम्भीर स्वरों में कहा, 'महामंत्री! यह विजय मेरी हुई है, यह आप न मानें....आप सबकी चिन्ता और प्रार्थना का ही यह परिणाम है। मुझे इस बात का हर्ष है कि मेरी जनता सदा मेरे कल्याण की कामना करती रहती है। इस विजय की खुशी में कल याचक जो कुछ भी मांगें, वह उन्हें मिले, ऐसी व्यवस्था कर देना।'

और दूसरे दिन गांव के हजारों-हजारों लोग महाराज का अभिनन्दन करने आए। राजा ने अपनी प्रिय प्रजा का उचित सत्कार किया।

जनता के उल्लास को देखकर वीर विक्रम ने यह जान लिया कि जो राजा प्रजा के सुख में सुखी और दु:ख में दु:खी होता है, तो प्रजा भी राजा के सुख में सुखी और दु:ख में दु:खी होती है। जो राजा सत्ता के मद में पागल बन जाता है, और जनता को पीड़ित करता है, वह राजा या पदाधिकारी एक दिन जनता की आहों से भस्मसात् हो जाता है।

राजपुरोहित ने नौवें दिन विवाह का शुभ मुहूर्त निकाला और उस दिन जनता के अपार उल्लास के मध्य वीर विक्रम का देवदमनी के साथ धूमधाम से विवाह हो गया।

लग्न-विधि का कार्य पूरा होने पर देवी को नमस्कार कर कमला रानी देवदमनी को उसके आवास पर ले गई। वीर विक्रम मित्रों और मंत्रियों के साथ एक कक्ष में गए।

आज विवाह के निमित्त वीर विक्रम ने वैताल दम्पति को भी याद किया था। वैताल दम्पति मानव रूप में वहां सभी क्रिया-कलापों में भाग ले रहा था। इनके भोजन की व्यवस्था वीर विक्रम के निजी खंड में की गई थी।

मध्यरात्रि में वीर विक्रम ने वैताल दम्पति को उत्तम भोज्य-सामग्री से तृप्त किया और कहा, 'मित्र! यह यश तुम्हारे हिस्से में जाता है। तुम्हारी पत्नी ने भी पूरा सहयोग दिया था....तुम दोनों ने मुझे जो सहयोग दिया, वह बात आज तक मैंने अपने मन में ही रखी थी, किन्तु आज मुझे वह बात बतानी ही पड़ेगी।'

वैताल-पत्नी बोली– 'अच्छा, नई महारानी को बतानी है न? यह तो हमारे मनाह करने पर भी आप कहेंगे ही। प्रथम रात्रि में पुरुष स्त्री के समक्ष मक्खन जैसा कोमल और मुलायम हो जाता है।'

'ये तो तुम्हारे अनुभव के शब्द हैं। किन्तु वैताल तो आज भी उतना ही कोमल है। तुमको क्षण भर के लिए भी नाराज न करना उसका व्रत है....मेरी बात निराली है। मेरा अन्त:पुर सुन्दर पत्नियों से भरा पड़ा है। अनेक बार मैं यह भी भूल जाता हूं कि आज मुझे किस पत्नी के आवास पर रात बितानी है।'

वैताल दम्पति हंस पड़े।

भोजन से निवृत्त होने के पश्चात् अग्निवैताल अपनी पत्नी के साथ अदृश्य हो गया।

विक्रम देवदमनी के आवास की ओर गए।

देवदमनी अपने प्रियदर्शन स्वामी की प्रतीक्षा में एक आसन पर बैठी थी। दो समवयस्क परिचारिकाएं सामने बैठकर राजभवन की बातें बता रही थीं।

और महाराज विक्रमादित्य के आगमन की आवाज आयी।

दोनों परिचारिकाएं खड़ी हो गईं....किन्तु देवदमनी ने दोनों को बैठने का संकेत किया।

उसी समय वीर विक्रम ने देवदमनी के शयनखंड में प्रवेश किया। दोनों परिचारिकाएं पायल की मधुर ध्वनि के साथ शयन-खण्ड से बाहर चली गयीं। बाहर जाते समय उन्होंने खण्ड का द्वार बन्द कर दिया।

महाप्रतिहार अजय द्वार पर दो रक्षिकाओं को नियुक्त कर स्वयं अपने भवन की ओर चला गया।

देवदमनी के हृदय में अनन्त बातें और अनन्त प्रश्न खलबली मचा रहे थे, किन्तु स्वामी को देखते ही वे प्रश्न गायब हो गए।

देवदमनी नवयौवना थी। किन्तु आज नववधू के वेश में उसका रूप और यौवन लज्जा की अरुणिमा के साथ सहस्र गुना खिल उठा था। उसने नीची दृष्टि किए खड़ी होकर स्वामी के कंठ में एक सुन्दर पुष्पमाला आरोपित कर दी।

विक्रम ने देवदमनी को बाहुपाश में लेते हुए कहा – 'प्रिये! शतरंज खेलते समय तो तुम्हारे में कोई संकोच ही नहीं था....?'

देवदमनी मौन रही, स्वामी के विशाल वक्षस्थल में मस्तक छिपाए खड़ी रही।

विक्रम ने अपने दोनों हाथों से उसके मस्तक को ऊंचा किया और चुम्बन लेते हुए कहा, 'इतना संकोच किसलिए?'

'उस दिन....।' देवदमनी आगे नहीं बोल सकी।

किन्तु उसके मनोभाव को जानते हुए विक्रम ने मधुर स्वर में कहा, 'उस दिन प्रतिस्पर्धिनी थी...और आज पराजित....।'

'नहीं, ऐसा भाव नहीं है।'

'तो फिर इतना संकोच ?'

'जीवन के सहवास की पहली रात है इसलिए।'

'ओह प्रिये! लज्जा का कोई कारण नहीं है—चलो, हम आराम से बैठें।'

दोनों स्वर्णजटित पलंग पर बैठे। विक्रम ने देवदमनी से कहा, 'प्रिये! जब पहले दिन मैंने तुमको देखा था, उस क्षण से ही मेरा मन तुम्हारे प्रति आकर्षित हो गया था। आज मैं प्रसन्न हूं कि मुझे एक गुणवती पत्नी प्राप्त हुई है।'

फिर विक्रम ने सिकोत्तर पर्वत पर पहुंचने आदि की सारी बात उसे अथ से इति तक बता दी। पूरी बात सुनकर देवदमनी स्वामी से लिपटकर बोली—'आप बड़े खिलाड़ी हैं।'

'तुम्हारे कजरारे नयनों ने मुझे खिलाड़ी बना डाला था। अब तुम्हें मुझे पंचदंड वाले छत्र की बात बतानी होगी।'

'हां, स्वामी! कल मेरी मां आपसे मिलने आएगी और आपको उसका विवरण देगी। किन्तु वह छत्र छिन्न-भिन्न हो चुका है....उसकी सारी सामग्री प्राप्त करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है।'

'प्रिये! देवताओं का दमन करने वाली और इन्द्र को प्रसन्न करने वाली तुम्हारे जैसी सुन्दरी, जो मेरे लिए स्वप्न जैसी ही थी, उसको मैं प्राप्त कर चुका हूं, तो पंचदंड वाले छत्र को प्राप्त करना मेरे लिए कठिन नहीं हो सकता। न जाने मेरा मन किस धातु से बना है कि मैं अशक्य को शक्य करने में अधिक रस लेता हूं।'

'मुझे विश्वास है कि आप अवश्य ही सफल होंगे।' देवदमनी ने प्रेम-भरे स्वरों में कहा।

'तुम्हारे विश्वास-बल के आधार पर मैं साहस करूंगा। मेरा मित्र अग्निवैताल मुझे पग-पग पर सहायता देगा।' यह कहकर विक्रम ने प्रिया को बाहुपाश में जकड़ लिया।

देवदमनी अपने प्रियतम के तेजस्वी वदन की ओर देखने लगी।

और...।'

शय्या में बिछे हुए पुष्प मधुर हास्य बिखेरते-बिखेरते श्रीहीन हो गए।

यौवन का आज अभिनन्दन हुआ था।

मोतियों की माला टूट गई और एक-एक मोती धरती पर बिखरकर हंसने लगा।

दूसरे दिन मध्याह्न के पश्चात् नागदमनी अपनी पुत्री देवदमनी से मिलने आयी। कन्या ने अपने मन की प्रसन्नता व्यक्त की। फिर वह वीर विक्रम के पास गई।

वीर विक्रम ने नागदमनी का उचित सत्कार किया और उसको अपने एकांत खण्ड में ले गए।

नागदमनी बोली– 'महाराज! मेरी पुत्री निर्मल और पवित्र है। आप इसकी पूरी सार-संभाल करना।'

'देवी! यह तुम्हारी कन्या है, पर मेरी धर्मपत्नी है, अर्धांगिनी है। मैं अपने कर्त्तव्य को जानता हूं। तुम निश्चिन्त रहो। अब तुम मुझे पंचदंड छत्र की जानकारी दो।'

'हां, महाराज! इसीलिए मैं आयी हूं। किन्तु इससे पूर्व मैं एक प्रश्न पूछ लेती हूं।'

'अवश्य!'

'महाराज! पंचदंड छत्र की बात मात्र जाननी है या उसे प्राप्त भी करना है?'

'वह छत्र मुझे प्राप्त करना है।'

'महाराज! कार्य बहुत कठिन है। संभव है जीवन को खतरे में डालना पड़े और घोर विपत्ति का सामना करना पड़े।'

'देवी! विपत्ति के साथ खेलने में ही सच्ची मर्दानगी है। मेरा स्वभाव साहसिक है और मुझे कभी मौत का भय नहीं सताता।'

'आपके साहस से मैं परिचित हूं। मेरी पुत्री को हराने के लिए आपने कितना खतरा उठाया, यह बात आज सुबह मुझे देवदमनी ने बताई थी।' नागदमनी बोली।

विक्रम हंस पड़े।

नागदमनी ने बताना प्रारम्भ किया– 'राजराजेश्वर! पंचदंड वाले छत्र का निर्माण कुबेर ने करवाया था। एक बार उसने इस छत्र को एक विद्याधर राजा को उपहार-स्वरूप दिया। अनेक वर्ष व्यतीत होने के पश्चात् यह छत्र मृत्युलोक में आया और दुर्योधन उसे प्राप्त करे, उससे पूर्व ही यह छत्र दस्युओं के हाथ लग गया। उसके झालर में लगे रत्न अलग कर दिए गए और पांचों दंडों को बिखेर दिया गया। आज वे पांचों दंड भिन्न-भिन्न स्थानों पर हैं.....झालर का रत्नसमूह वैसे ही पड़ा है। यदि यह दिव्य छत्र प्राप्त करना हो तो मैं जैसे कहूं, वैसे ही आपको करना होगा।'

'तुम जैसा कहोगी, वैसा ही करूंगा।' विक्रम ने सहर्ष कहा।

'यहां से लगभग आठ सौ कोस की दूरी पर ताम्रलिप्ति नाम की एक नगरी है। वह अत्यन्त स्वच्छ और मनोहारी है। वहां का राजा है चन्द्रभूप। उसकी कन्या का नाम है लक्ष्मीवती। वह राजभवन की सातवीं मंजिल में रहती है। उसके पास

एक रत्न-पेटिका है। उस रत्न-पेटिका को आप पहले प्राप्त करें....फिर आगे क्या करना है, वह मैं आपको बताऊंगी।' नागदमनी ने कहा।

महाराजा विक्रमादित्य ने उल्लास-भरे स्वरों में कहा, 'देवी! वह रत्नपेटिका मैं अवश्य ही प्राप्त कर लूंगा। ताम्रलिप्ति का नाम तो मैंने भी सुना है। वहां मैं अवश्य जाऊंगा।'

नागदमनी बोली, 'महाराज! आपकी मनोकामना अवश्य ही पूरी होगी। जब पंचदंड की सारी सामग्री उपलब्ध हो जाएगी, तब स्वयं मैं उस छत्र का निर्माण-कार्य आपको सौंपूंगी।'

विक्रम ने प्रसन्न हृदय से नागदमनी का अभिवादन किया।

नागदमनी वहां से विदा हुई।

ताम्रलिप्ति कैसे पहुंचा जाए, यह प्रश्न विक्रमादित्य के हृदय में घुलने लगा।

४७. ताम्रलिप्ति की सीमा में

रात्रि के दूसरे प्रहर की दो घटिकाएं बीत जाने पर वीर विक्रम देवदमनी के आवास में गए।

आज विवाह की पांचवीं रात थी। वीर विक्रम प्रायः पांच रात्रियां नयी रानी के साथ बिताते थे और फिर रानियों के क्रम से उनके पास जाते थे...किंतु दिन को वे रानी कमला और कला के पास ही बिताते थे। ये दोनों रानियां उन्हें बहुत प्रिय थीं।

देवदमनी ने पुष्पमाला अर्पित कर अपने स्वामी का स्वागत किया। विक्रम ने देवदमनी से कहा– 'प्रिये! कल प्रातःकाल तुम भी कमला के पास आना। एक महत्त्वपूर्ण विषय पर चर्चा करनी है।'

'ऐसी क्या बात है?'

'तुम्हारी मां के साथ जो बात हुई थी, वह तो मैंने तुमको बता दी है।'

'हां.....क्या आप ताम्रलिप्ति जाना चाहते हैं?'

विक्रम ने हंसकर कहा– 'हां, प्रिये! साहस को यौवन प्रिय होता है और यौवन को साहस प्रिय होता है।'

'किन्तु वह नगरी तो बहुत दूर है।'

'मैं जानता हूं, किन्तु वहां पहुंचने का उपाय मैंने ढूंढ लिया है। तुम अपनी मंत्रशक्ति द्वारा वृक्ष को ताम्रलिप्ति पहुंचा देना।' हंसकर वीर विक्रम ने कहा।

देवदमनी ने स्वामी के दोनों चरण पकड़कर कहा– 'महाराज! आपके चरणों की दासी बनने का सौभाग्य प्राप्त करने के पश्चात् मैंने अपनी सारी सिद्धियों को तिलांजलि दे डाली है।'

'क्यों, प्रिये ?'

'मैं आपकी धर्मपत्नी हूं। यही मेरे जीवन की सफल सिद्धि है। यदि नारी को अपने प्राणाधार के प्रति समर्पित होना हो, तो उसे नारी के सामान्य गौरव को महान् गिनना चाहिए। मंत्र, तंत्र और विभिन्न साधनाएं कभी-कभी अनिष्ट घटित कर देती हैं। कभी-कभी मानव अमानव बन जाता है। मैं अपने गौरव को विशुद्ध रखना चाहती हूं, इसीलिए मैंने अपनी सारी साधनाओं से मुंह मोड़ लिया है।'

'ओह प्रिये ! मुझे क्षमा करना.....वास्तव में तुमने महान् त्याग किया है।'

'मेरी पराजय का परिणाम तो आना ही चाहिए।' देवदमनी ने कहा।

वीर विक्रम ने प्रिया को बाहुपाश में जकड़ते हुए कहा, 'प्रिये ! बहुत बार विजय से भी पराजय में अधिक तृप्ति और आनन्द मिलता है। बहुत बार विजय मनुष्य को तोड़ देती है और अनेक बार पराजय भी विषरूप बन जाती है। किन्तु तुम्हारी पराजय में एक विजयी नारी का गौरव गुंथा हुआ है। तुम जैसे मेरी दासी बनी हो, वैसे ही मैं विजित होकर भी तुम्हारा किंकर बन गया हूं।'

बीच में ही देवदमनी बोल उठी, 'ऐसा कहकर आप मुझे नरक में न ढकेलें। आप मेरे इस लोक और परलोक के सर्वस्व हैं।'

विक्रम ने देवदमनी को दोनों हाथों पर उठा लिया।

और.... ?

दूसरे दिन स्नान आदि से निवृत्त होकर विक्रम कमला रानी के खण्ड में आए, तब कलावती और देवदमनी वहीं बैठी थीं।

तीनों पत्नियों ने उठकर स्वामी का अभिवादन किया।

प्रातराश आ चुका था। प्रातराश करते-करते विक्रम ने पंचदंड छत्र की चर्चा की और यह भी कहा कि कल वे ताम्रलिप्ति की ओर प्रस्थान करना चाहते हैं।

कमला रानी बोली, 'ताम्रलिप्ति बहुत दूर है।'

'इसकी मुझे चिन्ता नहीं है....मेरा मित्र कुछ ही क्षणों में मुझे वहां पहुंचा देगा।'

कलावती बोली – 'महाराज ! आपके किस बात की न्यूनता है, जो आप रत्नों के लिए इतना खतरा उठा रहे हैं ?'

'प्रिये ! मुझे रत्न-प्राप्ति की लालसा नहीं है, यह बात तुम सब जानती हो। परन्तु क्या करूं ? मेरे मन में जो बात जम जाती है, उसको पूरा किए बिना चैन नहीं मिलता।'

तीनों रानियों ने अपनी-अपनी भावनाएं रखीं और अपने स्वामी की सफलता के लिए मंगल-कामना व्यक्त की।

विक्रम ने तीनों रानियों का आलिंगन किया और वे वहां से राजसभा की ओर चल पड़े।

राजसभा का कार्य सम्पन्न कर उन्होंने महामंत्री, महाबलाधिकृत, नगरसेठ और अन्य मंत्रियों को रात के समय राजभवन में आने को कहा।

रात्रि के प्रथम प्रहर के पश्चात् सभी मंत्री, बलाधिकृत, नगरसेठ आदि आ गए।

विक्रम ने सबके समक्ष पंचदंड वाले छत्र की चर्चा की और ताम्रलिप्ति जाने की इच्छा बताई। विक्रम ने यह भी स्पष्ट कहा कि वे अकेले ही जाएंगे। कोई साथ नहीं रह सकेगा।

महाराज का यह निर्णय सुनकर सब अवाक् रह गए। ऐसा साहस अकेले महाराज करें, यह उचित नहीं लगा। सबने अपने-अपने तर्क रखे और ऐसे कार्य में संलग्न न होने की प्रार्थना की।

वीर विक्रम अपने निश्चय पर अटल थे। वे बोले, 'मैं सभी की बातें समझता हूं। आप सब जानते हैं कि मैं एक साहस-प्रिय क्षत्रिय हूं। मेरे रक्त के कण-कण में क्षत्रियत्व भरा पड़ा है। इसलिए मुझे किसी प्रकार का भय नहीं लगता। आप मेरे उत्साह को बढ़ाएंगे तो मेरा पुरुषार्थ अवश्य ही सफल होगा।'

सभी महाराज विक्रमादित्य की तेजस्वी आंखों को देखने लगे।

सभी ने उन्हें पुरुषार्थ करने की प्रेरणा दी और अपने प्रिय राजराजेश्वर को नमन कर सभी अपने-अपने भवन की ओर चले गए।

दूसरे दिन मध्य रात्रि के पश्चात् वीर विक्रम अपने निजी कक्ष में गए। वहां उन्होंने अपने मित्र अग्निवैताल के लिए उत्तम मिष्टान्न आदि अनेक वस्तुओं से थाल भरकर रखवा दिये थे। सब कुछ वहां उचित है, ऐसा विश्वास हो जाने पर उन्होंने अग्निवैताल को याद किया। लगभग अर्धघटिका के पश्चात् अग्निवैताल अपनी प्रिया के साथ वहां आ पहुंचा।

विक्रम ने दोनों का आदर-सत्कार किया और दोनों को भोजन करने की प्रार्थना की।

दोनों ने प्रसन्न मन से भोजन किया। फिर दोनों ने केसर-कस्तूरी-युक्त दूध पिया। अग्निवैताल ने फिर पूछा, 'महाराज! क्या आज्ञा है?'

विक्रम बोले – 'मित्र! मुझे ताम्रलिप्ति नगरी में जाना है।'

'इतनी दूर? वहां का कोई काम हो तो मैं कर आऊं?'

'नहीं, ऐसा नहीं....कार्य तो मुझे ही करना होगा।'

'ऐसा कौन-सा कार्य है, महाराज! क्या कोई सुन्दरी नारी का निमंत्रण है?' वैताल-पत्नी ने हंसते-हंसते प्रश्न किया।

विक्रम भी हंसते हुए बोले, 'ऐसा कोई काम नहीं है, किन्तु मेरे ग्रहयोग ऐसे हैं कि जहां जाता हूं, वहां कोई-न-कोई सुन्दरी मिल ही जाती है।'

'वहां फिर क्यों जाना है ?' वैताल ने पूछा।

'तुम्हारी सहायता से मुझे देवदमनी प्राप्त हुई....अब ताम्रलिप्ति के राजा चन्द्रभूप की लक्ष्मीवती नाम की सोलह वर्षीय पुत्री है। उसके पास रत्नों की एक पेटिका है। उसे मुझे लाना है।' विक्रम ने कहा।

'तब तो सुन्दरी-रत्न के साथ ही रत्न-पेटिका आयेगी।' वैताल-पत्नी ने कहा।

'लक्ष्मीवती सुन्दरी-रत्न है या नहीं, मैं नहीं जानता और मेरी कोई वैसी इच्छा भी नहीं है।' विक्रम ने कहा।

'इच्छा तो नहीं....किन्तु संशय तो है ही ?' वैताल-पत्नी ने चुटकी लेते हुए कहा।

'विचित्र ग्रहयोग को मैं कैसे टाल सकता हूं ?'

वैताल बोला – 'कब चलना है, महाराज ?'

'मैं तैयार हूं।' कहकर विक्रम खड़े हुए और एक बाजोट पर पड़ी झोली उठा ली। खूंटी पर लटकती तलवार कमर में बांध ली।

वैताल बोला, 'बस, इतना ही सामान ?'

'बस, मित्र ! दो जोड़ी वस्त्र, अदृश्यकरण गुटिका और कुछ स्वर्ण साथ में लिया है।'

वैताल दम्पति भी उठे। वैताल-पत्नी बोली, 'महाराज ! यदि आप चाहेंगे, तो हम दोनों आपके साथ वहीं रुके रहेंगे।'

'नहीं, मैं इस प्रकार तुमको व्यथित करना नहीं चाहता। आवश्यकता होगी तो मैं कभी भी तुम्हें याद कर लूंगा।' विक्रम ने सहज-भाव से कहा।

थोड़े ही क्षणों पश्चात् अग्निवैताल अपनी पत्नी और वीर विक्रम को लेकर आकाशमार्ग से उड़ चला।

सूर्योदय से पूर्व ही वैताल ने वीर विक्रम को ताम्रलिप्ति नगरी के परिसर में उतारते हुए कहा, 'महाराज ! जो सामने दिखाई दे रही है, वही है ताम्रलिप्ति नगरी। यहां से वह केवल एक कोस की दूरी पर है – यहां जलाशय सुन्दर है, इसीलिए मैंने आपको यहां उतारा है...आप कहें तो आपको नगरी में... '

'नहीं, मित्र ! तुम्हारा आभारी हूं। अब मैं यहां निश्चिन्त होकर प्रात:कार्य सम्पन्न कर नगरी में चला जाऊंगा।'

तत्काल वैताल दम्पति अदृश्य हो गया।

विक्रम ने जलाशय की ओर देखा, स्वच्छ स्फटिक-सा जल। आस-पास का वातावरण शीतल और लुभावना। उनका मन नींद लेने को हुआ, क्योंकि सात दिन तक वे पूरी नींद कभी नहीं ले पाये थे। वे थैली को सिरहाने रखकर निद्रादेवी की गोद में चले गए।

जब वे जागृत हुए, तब दिवस का पहला प्रहर बीतने वाला था। विक्रम तत्काल खड़े हुए। उन्होंने सोचा– 'ओह! इतना दिन चढ़ गया....वातावरण अत्यन्त सुन्दर और मधुर है....स्थान श्रमापहारी है।

यह सोचकर विक्रम प्रातःकार्य आदि से निवृत्त हुए।

वीर विक्रम अपना सामान लेकर ताम्रलिप्ति नगरी की ओर चल पड़े।

४८. विक्रम की उदारता

ताम्रलिप्ति नगरी की गगनचुम्बी अट्टालिकाएं स्पष्ट दीखने लगीं। उन्हें देखकर विक्रम ने सोचा– क्या सभी अट्टालिकाएं अभी-अभी निर्मित हुई हैं ? क्या समूची नगरी का नवनिर्माण हुआ है ? यह नगरी तो बहुत प्राचीन है। प्राचीन कथाओं में भी इसका उल्लेख आता है। इतनी स्वच्छ और निर्मल अट्टालिकाएं! विक्रम आश्चर्य से भर गए।

इन विचारों में उलझे हुए विक्रम नगरी की ओर जा रहे थे। नगरी से कुछ दूर एक नदी आयी। अरे, यह क्या ? नदी के उस तीर पर हजारों नर-नारी क्या कर रहे हैं ? क्या कोई उत्सव है ? चारों ओर धुआं उठ रहा था, मानो कि स्थान-स्थान पर रसोई बन रही हो। क्या किसी सार्थवाह का पड़ाव है ? अरे! पड़ाव तो इतना विशाल नहीं हो सकता। देखूं, वहां क्या हो रहा है। किन्तु वहां पहुंचूं कैसे ?– विक्रम सोच रहे थे।

विक्रम उस किनारे की ओर आगे बढ़े। थोड़ी दूर पर एक घाट आया। वहां एक नौका में बैठकर वे उस किनारे पहुंचे। नौका का भाड़ा था मात्र एक कपर्दिका। किन्तु विक्रम के पास केवल स्वर्ण और रौप्य मुद्राएं थीं। उन्होंने एक रौप्य मुद्रा नाविक को दी। नाविक विक्रम की ओर विस्मय से देखने लगा।

नौका से उतरकर विक्रम आगे चले। थोड़ी दूरी पर एक वृद्ध पुरुष मिला। विक्रम ने उसे नमस्कार कर कहा– 'भाई! यहां इतने पुरुष एकत्रित होकर क्या कर रहे हैं ?'

'आप कोई परदेशी लगते हैं, ये स्त्री-पुरुष इसी नगरी के हैं।'

'तब क्या कोई उत्सव है ?'

'नहीं, हमारे यहां रोज ऐसा उत्सव होता रहता है। हमारे महाराजा ने अभी तीन वर्ष पूर्व ही नगरी का नवनिर्माण कराया है। नगरी का कोई भी मकान रसोई के

धुएं से काला न हो जाए, इसलिए नगरी के सभी प्रजाजन यहां एकत्रित होते हैं और रसोई बनाकर भोजन करते हैं।'

'वाह! तो क्या राजभवन में भी रसोई नहीं होती?'

'नहीं, राजा का रसोईघर भी यहीं नदी के किनारे है। यहां से भोजन तैयार होकर राजभवन में पहुंचता है। अनेक सेठ-साहूकारों का भोजन भी नदी के किनारे आये हुए पृथक्-पृथक् मकानों में बनता है और उन-उनके मकान में पहुंच जाता है। आप कहां के निवासी हैं?'

'मैं यहां से बहुत दूर मालवदेश में रहता हूं।'

'मालवदेश? हां...हां... महाराज भर्तृहरि का राज्य?'

'हां। मुझे इस नगरी में विश्राम लेना है। तो क्या पांथशाला या अन्य कोई स्थान प्राप्त हो जाएगा?

'हमारे नगर की पांथशालाएं अत्यन्त सुन्दर और रमणीय हैं। किन्तु वहां भोजन का प्रबन्ध नहीं है। इसलिए आप नगरी के बाहर के उपवन में आरामिका में ठहरें। वहां आपको सुविधा रहेगी। वहां प्रतिदिन आपको दस कपर्दिकाएं देनी होंगी।' वृद्ध ने कहा।

विक्रम ने पूछा—'भोजन के लिए वहां क्या व्यवस्था है?'

'सबको नगरी के बाहर जाना पड़ता है। देखें, सामने लाल रंग का तंबू दिखाई देता है। वहां पांच कपर्दिका में उत्तम भोजन सामग्री मिलती है और जो पीला तंबू है, वहां भोजन का कुछ भी मूल्य नहीं लिया जाता। एक राजा की ओर से और दूसरा नगरसेठ की ओर से चल रहा है।'

विक्रम नमस्कार कर आगे बढ़े। भूख लगी हुई थी। मध्याह्न का समय हो रहा था। वे लाल तंबू के पास गए। भीतर दो सौ मनुष्य भोजन कर रहे थे। वहां के एक सेवक ने विक्रम को आदरपूर्वक बिठाया।

भोजन-कार्य सम्पन्न कर विक्रम नगरी के एक उपवन में आए। उपवन के रक्षक ने विक्रम का सत्कार किया। विक्रम ने कहा—'मैं यहां कुछ दिन रहना चाहता हूं।' रक्षक ने उनके लिए एक कुटीर की व्यवस्था कर दी।

विक्रम की दृष्टि उपवन के एक वृक्ष पर पड़ी। वृक्ष के नीचे एक तेजस्वी ऊंट खड़ा था। विक्रम ने उस रक्षक से पूछा—'यह ऊंट तुम्हारा है?'

'नहीं, श्रीमान्! यह ऊंट किसी विदेशी अतिथि का है। वे मुझे दस कपर्दिका के बदले प्रतिदिन पचास कपर्दिकाएं देते हैं।'

विक्रम ने रौप्य मुद्रा निकालकर उसके हाथ में देते हुए कहा—'इसके विनिमय में कितनी कपर्दिकाएं मिल सकती हैं?'

'महाराज ! यह मुद्रा विदेशी है। इसके विनिमय में कम-से-कम एक हजार कपर्दिकाएं अवश्य मिलेंगी।'

'इसे तुम रखो। मैं तुम्हें प्रतिदिन एक रौप्य मुद्रा दूंगा। तुम मेरे भोजन आदि की समुचित व्यवस्था कर देना।'

माली अत्यन्त प्रफुल्लित हो गया। प्रतिदिन एक रौप्य मुद्रा! एक हजार कपर्दिकाएं! उसने मन-ही-मन सोचा--यह अतिथि श्रीमान् है। किन्तु इसके पास कोई विशेष सामान क्यों नहीं है?

माली को आश्चर्यमुग्ध देखकर विक्रम बोले--'मुझे नगरी में जाना है। मैं सांझ को लौटूंगा। तुम मुझे मार्ग तो बताओगे न?'

'हां, सेठजी! किन्तु यदि आपको अभी जाना हो तो मेरा एक अतिथि युवक तैयार हो रहा है। थोड़ा ठहरें, मैं उसे यहीं बुलाकर ले आता हूं।' माली उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही प्रसन्न हृदय से उस युवक के पास पहुंच गया।

विक्रम वहां एक खाट पर बैठ गए। उन्होंने सोचा, कहां अवंती नगरी और कहां ताम्रलिपि! कहां मेरा वैभवशाली राजभवन और कहां यह घासफूस की कुटीर! भाग्यचक्र की गति अत्यन्त विचित्र और रहस्यमयी होती है।

इतने में ही वह माली दौड़ता हुआ आया और बोला--'सेठजी! पधारो। मेरे अतिथि का ऊंट-चालक नगरी की ओर जा रहा है।'

तत्काल विक्रम उठे और अपना थैला लेकर बाहर निकल गए। पचीस वर्ष का एक युवक वृक्ष के नीचे खड़ा था। वह कृष्ण वर्ण का था। उसके वस्त्र दास जैसे थे। उसका शरीर दृढ़ और सुगठित था। विक्रम ने उसके चेहरे की ओर देखा। उन्हें लगा कि यह युवक वाचाल होना चाहिए।

दोनों उपवन से बाहर निकले। विक्रम ने पूछा--'मित्र! तुम कहां रहते हो?'

'सेठजी! मैं एक दास हूं। आप मुझे मित्र......'

बीच में ही विक्रम ने उसके कंधे पर हाथ रखते हुए कहा--'दास भी मित्र बन सकता है।'

'आज मैं धन्य हो गया, सेठजी! मैं चक्रधरपुर राज्य का निवासी हूं और चक्रपुर के राजकुमार भीमकुमार का मुख्य ऊंटचालक हूं।'

'चक्रपुर राज्य? यह कहां है?'

'यहा से दो सौ कोस की दूरी पर है। सेठजी! आप कहां के निवासी हैं?'

'मैं मालवदेश का निवासी हूं, यात्रा के लिए निकला हूं। आज यहां आ पहुंचा हूं। तुम भी यात्रा के लिए ही तो निकले हो, क्यों?'

'अरे सेठजी! मेरे भाग्य में यात्रा कहां? मैं अपने राजकुमार के साथ आया हूं।'

'आश्चर्य! तुम्हारे राजकुमार राजा के अतिथि बनें और तुम्हें इस घासफूल की झोंपड़ी में रखें।'

'सेठजी! आप यहां से बिल्कुल अनजान हैं। चक्रपुर के राजा और यहां के राजा की जन्मजात शत्रुता है। यदि इन्हें यह ज्ञात हो जाए कि चक्रपुर के राजकुमार यहां आए हुए हैं तो हम दोनों के सिर धड़ से अलग करवा दें। राजकुमार भी यहीं झोंपड़ी में ठहरे हुए हैं।'

'अरे, तुम्हारे राजकुमार तो बहुत साहसिक हैं?'

'नहीं, सेठजी! ऐसी बात नहीं है। यहां अभी एक अवसर प्राप्त हुआ है कि चन्द्रभूप की नाक कट जाए, इसलिए हम यहां आए हैं।' दास बोला।

नगरी का तोरणद्वार आ गया था। लोग आ-जा रहे थे। विक्रम ने कहा— 'मित्र! तुम इस नगरी में पहले कभी आए थे?'

'जी हां, प्रातः मैं मुखवास लेने आया था।'

'अच्छा, तो हम मुखवास वाले की दूकान पर चलें।'

दोनों तोरणद्वार में प्रविष्ट हुए। नगर स्वच्छ और सुन्दर थी। मकान उज्ज्वल और रमणीय थे। सड़कें भी पत्थर की बनी हुई थी। बाजार बड़ा था।

वे दोनों चलते-चलते एक पनवाड़ी की दूकान पर आए। दूकानदार ने पूछा— 'क्या चाहिए?'

विक्रम ने कहा— 'उत्तम द्रव्य से युक्त दो पान'।

'वैसा पान दो कपर्दिकाओं में मिलेगा।'

'उससे भी उत्तम पान है?'

'हां, सोने के वरक वाला पान दस कपर्दिकाओं में मिलेगा।'

'दो पान दो।' विक्रम बोला।

कुछ ही क्षणों में तैयार कर पनवाड़ी ने दो पान विक्रम के हाथों में सौंप दिए।

विक्रम ने एक रौप्य मुद्रा निकालकर पनवाड़ी को दे दी।

पनवाड़ी विक्रम की ओर देखता रहा। फिर बोला— 'भाई! यह परदेशी सिक्का है?'

'हां, मैं एक परदेशी हूं।'

'किन्तु इस सिक्के का मूल्य मुझे ज्ञात नहीं है।' पानवाले ने कहा।

'कोई बात नहीं है। तुम्हारे पान उत्तम हैं। तुम इस मुद्रा को रख लो।' कहकर विक्रम दास का हाथ पकड़कर चलते बने।

दास बोला— 'सेठजी! आपने बहुत उदारता दिखाई। आपने नौ सौ अस्सी मुद्रिकाएं गंवा दीं।'

'उसका भाग्य !' कहकर विक्रम हंसने लगे।

दोनों बात करते-करते मुख्य बाजार में आ गए। वे एक जवाहरात की दूकान पर आए। जौहरी को एक स्वर्णमुद्रा देते हुए विक्रम ने कहा–'सेठजी ! मैं परदेशी हूं। इस स्वर्णमुद्रा के बदले आप मुझे यहां की मुद्राएं दें। मुझे सुगमता होगी।'

जौहरी ने स्वर्णमुद्रा का परीक्षण किया और उसके विनिमय में विक्रम के हाथ में एक थैली थमा दी, जिसमें रौप्य और ताम्र मुद्राएं भरी थीं।

विक्रम ने थैली ले ली।

दोनों आगे बढ़े। दास ने कहा–'सेठजी, आपने बहुत जल्दबाजी की।'

'क्यों ? कैसे ?'

'आपको दो-चार दूकानों पर पूछताछ करनी चाहिए थी। उस जौहरी ने आपको विनिमय में कितनी मुद्राएं दी हैं, उनको भी आपने नहीं गिना ?'

'मित्र ! धन तो हाथ का मैल है। इस पर ममता नहीं रखनी चाहिए। बोलो, अब किस ओर चलना है ?'

'यहां से कुछ दूर पर एक पानागार है। मेरे स्वामी को मैरेय पीने की आदत है। एक भांड लेकर लौट आता हूं। क्या आप भी मैरेय-पान करेंगे ?' दास ने पूछा।

'नहीं, मित्र ! मैं यात्रा के लिए घर से निकला हूं, इसलिए नशा नहीं कर सकता। तुम्हारी इच्छा हो तो तुम भी पी लेना।'

'मैं कैसे पी सकता हूं ! मेरे स्वामी ने उतने ही पैसे दिए हैं, जिनसे मैं केवल एक मदिरा भांड ही खरीद सकता हूं।' दास बोला।

'अरे मित्र ! पैसे की चिन्ता क्यों करते हो ? चलो पानागार में।'

दोनों पानागार की ओर चले। पानागार में भीड़ नहीं थी। दास ने मैरेय का एक भांड खरीदा। विक्रम ने पानागार के मालिक से पूछा–

'उत्तम प्रकार का मैरेय है या नहीं ?'

'है, श्रीमान्। पांच ताम्रमुद्राओं का एक पात्र।'

'उससे मूल्यवान् ?'

'दस ताम्रमुद्रा का एक पात्र।'

'दो पात्र दो।' विक्रम ने आज्ञा दी।

थोड़े ही समय में एक सेवक उत्तम मैरेय के दो प्याले ले आया। दोनों प्याले विक्रम ने अपने ऊंटचालक मित्र को पिला दिए।

फिर दोनों ने एक पनवाड़ी की दूकान से दो पान लिए और उन्हें मुंह में चबाते हुए आरामिका की ओर चल पड़े।

विक्रम ने पूछा–'मित्र ! हमने अभी राजभवन तो देखा ही नहीं ?'

'मैंने भी नहीं देखा है....यदि आपको देखना हो तो हम पूछते-पूछते उधर से निकल जाएंगे।'

'आए हैं तो देखते ही चलें। कल से मैं मंदिरों को देखने के लिए निकल पडूंगा....तुम भी मेरे साथ चलना।'

'सेठजी! मेरे भाग्य में देवदर्शन कहां? आज आधी रात के पश्चात् हमें यहां से लौट जाना है।'

'शत्रु की नाक काटे बिना ही?'

'नहीं, नाक काटकर ही....गांव के बाहर निकलकर पूरी बात बताऊंगा।' दास ने कहा।

वह मैरेय के रंग में रंग चुका था।

दो-चार नागरिकों को पूछकर दोनों राजभवन के पास पहुंचे। राजभवन अत्यन्त भव्य और सात्तभौम था।

विक्रम को राजभवन का रास्ता ज्ञात करना था.....राजभवन का नक्शा मन में अंकित कर विक्रम बोले— 'मित्र! राजभवन अति मनोहर है। चलो, सांझ होने वाली है। जल्दी चलें।'

दोनों नगरी के बाहर आए।

चलते-चलते दास ने कहा— 'सेठजी! यहां के राजा की कन्या लक्ष्मीवती बहुत सुन्दर है। वह सोलह वर्ष की है और राजा उसके विवाह की निरंतर चिन्ता लिए बैठा है। राजा ने वर के चुनाव के लिए आस-पास के लगभग सौ राजाओं, राजकुमारों के चित्रांकन मंगाए थे। परिहास करने के लिए हमारे राजा ने भी अपने एक राजकुमार की छवि भेजी थी। सभी चित्रांकनों को देखने के पश्चात् राजकुमारी ने हमारे राजकुमार की छवि पसन्द की थी। किन्तु छवि के पीछे जो परिचय लिखा हुआ था, उसे देखकर राजा ने अपनी प्रिय पुत्री से निर्णय बदलने के लिए कहा....किन्तु राजकुमारी अपने निर्णय पर अटल रही और उसने गुप्त रूप से एक दूत भेजकर हमारे राजकुमार भीमकुमार को यह संदेश भेजा कि वे यहां आकर उसका अपहरण कर ले जाएं....इस कार्य के लिए आज रात्रि निश्चित हुई और हम कल यहां आ पहुंचे। आज रात को राजकुमारी लक्ष्मीवती का अपहरण कर हम चले जाएंगे। एक बात और है कि हमारे राजकुमार की छवि उतनी ठीक नहीं है, जितनी चित्र में अंकित है।'

विक्रम ने मन-ही-मन सोचा— मेरा भाग्य अनुकूल है, अन्यथा आज रात्रि को लक्ष्मीवती चली जाती और उसकी रत्नपेटिका का कोई अता-पता नहीं रहता। अब भीमकुमार उसका अपहरण करे, उससे पहले ही मुझे रत्नपेटिका प्राप्त कर लेनी चाहिए।

कुछ दूर चलने के पश्चात् उपवन दिखाई दिया। विक्रम बोले – 'मित्र! तब तो तुम्हारी मित्रता केवल मध्य रात्रि तक ही है। मैं तो आशा करता था कि कल पूरा दिन तुम्हारा साथ मिलेगा, परन्तु क्या हो ? तुम्हारा कार्य ही ऐसा है कि तुम्हें जाना ही पड़ेगा।'

'सेठजी! आपका परिचय तो केवल दो घटिका का ही है, किन्तु मैं इसे जीवन-भर नहीं भूल सकूंगा....आपका शुभ नाम ?'

'विक्रमशी सेठ!'

तुम्हारा नाम ?

'श्याम।'

'श्याम, मैं भी तुम्हें नहीं भूलूंगा...मित्र! मैं तुम्हें यादगार में एक वस्तु देता हूं।' कहकर विक्रम ने अपनी झोली से एक स्वर्णमुद्रा निकालकर उसके हाथ में रखी।

श्याम बोला – 'सेठजी! यह तो अधिक है।'

'अरे! क्या मैंने तुम्हें नहीं कहा था कि धन हाथ का मैल है। तुम इसे रख लो।'

श्याम अत्यन्त आनन्दित हो उठा। यदि उसके हाथ में मैरेय पात्र नहीं होता तो वह विक्रम के चरणों में झुक जाता।

दोनों उपवन की सीमा में पहुंचे।

विक्रम को आज अनायास ही महत्त्वपूर्ण सूचना मिल गई थी। यदि यह सूचना नहीं मिलती तो उनको खाली हाथ निराश लौटना पड़ता। पंचदंड छत्र का स्वप्न टूट जाता।

दोनों अपने-अपने कुटीर में गए।

माली ने उत्तम भोजन की व्यवस्था कर रखी थी।

माली ने भोजन का थाल लेकर विक्रम के सामने रखते हुए कहा – 'आप विलम्ब से पधारे ?'

'हां, कुछ विलम्ब हो गया। अरे, तुम यहां कौन-कौन रहते हो ?'

माली बोला – 'मैं, मेरी पत्नी, मेरे माता-पिता, दो बहनें और मेरे दो बच्चे!'

'क्या आठ प्राणियों की आजीविका इस उपवन की आय से चल जाती है?'

'हां, सेठजी! अतिथि तो कभी-कभी आते हैं किन्तु हम फूलों के गजरे, मालाएं, पंखे आदि बनाकर ज्यों-त्यों आजीविका चला लेते हैं।'

विक्रम ने स्थानीय सिक्कों की वह थैली निकाली और माली के हाथ में देते हुए कहा – 'लो मेरी स्मृति में.....'

माली प्रसन्न हो गया।

विक्रम भोजन करने बैठे।

४६. विक्रम का निर्णय

चन्द्रभूप एक समृद्ध और शक्तिशाली राजा था.....उसकी सेना भी पूर्ण रूप से प्रशिक्षित और अजोड़ गिनी जाती थी। आस-पास के राज्यों के कोई भी राजा उससे शत्रुता करना नहीं चाहते थे। वे सब उसकी मित्रता की आकांक्षा करते थे। अनेक राज्य उसके प्रभाव में थे।

किन्तु राजकुमार भीम का पिता चन्द्रभूप से शत्रुता रखता था। अपने हृदय में पलने वाले वैर-भाव को वह युद्ध-स्थल में शान्त करने के लिए कभी समर्थ नहीं था, इसलिए मन-ही-मन वह अकुलाहट का अनुभव करता था। जब उसको यह ज्ञात हुआ कि चन्द्रभूप की कन्या किसी राजकुमार के गले में वरमाला डालेगी, तब उसने अपने कुरूप पुत्र भीमकुमार का सुन्दर चित्रांकन एक कुशल चित्रकार से करवाया और उसे चन्द्रभूप के पास भेज दिया। उस चित्रांकन में कुरूपता के बदले सुरूपता प्रदर्शित की गई थी। उसने गुप्त रूप से चित्रांकन राजकुमारी के भवन में भी भेज दिया था।

राजकुमारी लक्ष्मीवती ने आगत सभी चित्रांकन देखे, पर उसके नयन भीमकुमार के चित्रांकन पर अटक गए। उसके हृदय में ऐसे सुदृढ़ और सुन्दर युवक का साहचर्य प्राप्त करने की उमंग उठी और उसने भीमकुमार की छवि पसन्द कर ली।

राजा चन्द्रभूप ने अपनी पुत्री की पसन्दगी को देखा और उस चित्रांकन के पीछे अंकित परिचय को पढ़ा। उसने पुत्री से कहा – 'पुत्री! यह अपने एक दुष्ट शत्रु का पुत्र है। यह छवि कैसे आयी?'

राजकुमारी ने कहा – 'पिताश्री! यह चित्रांकन अन्यान्य चित्रांकनों के साथ ही पड़ा था....मुझे तो केवल रूप-गुण की दृष्टि से ही पसन्द करना था और यह छवि मुझे जंच गई।'

'कोई बात नहीं, अब तुम किसी अन्य छवि को पसन्द कर लो। क्योंकि एक शत्रु के घर तुम जाओ और वहां पग-पग पर तुम्हारा अपमान और तिरस्कार होता रहे, यह मुझे सहन नहीं हो सकता।' राजा ने कहा।

किन्तु लक्ष्मीवती भीमकुमार के कृत्रिम चित्र पर मुग्ध हो चुकी थी और मन में अंकित होने वाले प्रथम चित्र को भुला पाना सहज नहीं था, इसलिए वह मौन रही। पिता के समक्ष कुछ नहीं बोली।

राजकुमारी लक्ष्मीवती ने गुप्त रूप से एक संदेश भीमकुमार को भेजा – 'आप एक निश्चित दिन यहां आएं और मेरा अपहरण कर मुझे ले जाएं। मैंने आपको अपने भावी पति के रूप में पसन्द कर लिया है। अपहरण करना क्षत्रिय के लिए

विहित है, इसलिए आप आनाकानी न करें। मेरे पिता मेरा विवाह आपके साथ कभी नहीं करेंगे।'

बेचारी लक्ष्मीवती!

उसे यह बात ज्ञात नहीं थी कि जिस छवि को देखकर वह मुग्ध हुई है, भीमकुमार वैसा नहीं है। यह तो केवल एक चालाकी है, जो राजाओं की राजनीति में विहित है। जैसा चित्रांकन में अंकित है, भीमकुमार वैसा नहीं है। भीमकुमार की वास्तविक छवि ऐसी है कि उसे कोई भी नारी पसन्द कर नहीं सकती।

भीमकुमार ने भी संदेश भेज दिया कि अमुक दिन वह वेश-परिवर्तन कर वहां आएगा और उसका अपहरण करेगा।

पूरी योजना व्यवस्थित हो चुकी थी।

यह योजना आज मध्यरात्रि के समय पूरी होने वाली थी। आज भीमकुमार गुप्त वेश में राजकुमारी के शयन-खंड में जाने वाला था। उसने राजकन्या के शयनकक्ष के गवाक्ष में एक दीपक जलाने का भी संकेत दे दिया था।

और रत्नपेटिका को लेने के लिए आए हुए वीर विक्रम को श्याम के द्वारा यह सारी जानकारी मिल चुकी थी। विक्रम को केवल रत्नपेटिका में ही रस था। लक्ष्मीवती को प्राप्त करने में तनिक भी रस नहीं था। इसलिए ब्यालू कर उन्होंने कुछ विश्राम किया, फिर अदृश्य गुटिका को मुंह में रखा और वे अदृश्य हो गए। अदृश्य होकर वे भीमकुमार की कुटीर में यह जानने के लिए चले गए कि वह कब और कैसे जाएगा।

वीर विक्रम अदृश्य थे। भीमकुमार को उनकी उपस्थिति का कुछ पता नहीं चला। विक्रम ने भीमकुमार की ओर देखा और उसके कुरूप रूप को देखकर कांप उठे। उन्होंने सोचा—'अरे! राजकन्या ने इसको कैसे पसन्द किया होगा? इससे तो वनवासी भील जवान भी अच्छे होते हैं। निश्चित ही इसके चित्रांकन में कुछ हेर-फेर हुआ है।'

भीमकुमार ने मदिरा का पात्र खाली कर श्याम के आगे रखते हुए कहा—'अभी तक तृप्ति नहीं हुई है।'

श्याम बोला—'महाराज! आपने बहुत अधिक मदिरापान कर लिया है.....अभी तक आपने कोई तैयारी नहीं की है....एकाध प्रहर के पश्चात् हमें यहां से प्रस्थान कर देना हैं'

'तू पात्र भर....मेरे में मदिरा पचाने की पूरी शक्ति है....और तैयारी क्या करनी है? तूने ऊंट तैयार किया या नहीं?

'ऊंट तो तैयार है....केवल आपका कुछ सामान और धनुष-बाण ऊपर रखने हैं। यह तो मैं क्षण-भर में कर लूंगा....किन्तु आप यदि अधिक नशा कर लेंगे तो....'

'ओह! तू बहुत कुशल है....कोई बात नहीं....पीछे देना। अरे श्याम! तुझे संकेत याद है या नहीं?'

'क्या आप भूल गए?'

'हां, मुझे बता दे....'

'राजभवन के पीछे राजकन्या के शयनकक्ष में एक दीपक टिमटिमाता मिलेगा....आपको नीचे खड़े रहकर तीन बार सियार की तरह बोलना है....'

'शाबाश, श्याम! उपवन की कुछ दूरी पर तुझे ऊंट को बिठाए रखना है।'

'मुझे याद है.....अब आप वेश बदलें.....'

'मुझे तैयार होने में समय नहीं लगेगा....अभी रात्रि का पहला प्रहर भी पूरा नहीं हुआ है। तू मुझे मदिरा का एक पात्र दे, जिससे कि चेतना और गर्मी आ जाए.....फिर तो अपने घर जाने पर ही मदिरा पीने को मिलेगी।'

श्याम ने मदिरा का एक पात्र भीमकुमार को दिया। उसने पात्र को आधा खाली कर श्याम के हाथ में देते हुए कहा– 'श्याम! अब तू पी ले। पात्र खाली हो जाने पर मांगना शेष नहीं रहेगा।'

इतनी चर्चा सुनकर विक्रम अदृश्य रूप से बाहर निकलकर अपनी कुटीर में आ गए। वे अपना जो थोड़ा-सा समान था, उेस लेकर राजभवन की ओर चल पड़े।

उद्यान से बाहर निकलकर उन्होंने अपने मुंह से अदृश्य गुटिका निकालकर कमर में बांध ली और राजभवन के परिसर में आ गए।

उस समय दूसरा प्रहर प्रारम्भ हो चुका था। राजभवन के पीछे एक उपवन था। उपवन के पिछले हिस्से में अनेक सघन वृक्ष थे। वीर विक्रम ने परीक्षण किया और एक वृक्ष के कोटर में सामान रख अदृश्यकरण गुटिका को मुंह में रख अदृश्य हो गए। वे वृक्ष पर चढ़े और उपवन में घुस गए। उन्होंने राजभवन को देखा। राजभवन की पांचवीं मंजिल के गवाक्ष में एक दीपक टिमटिमा रहा था। उस पर जालीदार ढक्कन था। वीर विक्रम ने राजकुमारी की चतुराई समझ ली। उन्होंने सोचा– राजकुमारी बहुत चतुर है....एक बार उसकी रत्नपेटिका को देख लेना चाहिए....यह सोचकर उन्होंने राजभवन में प्रवेश करने का निर्णय कर लिया।

वीर विक्रम ने एक द्वार से प्रवेश करना चाहा। उन्होंने पहले अन्दर झांककर देखा। उनके मन में एक संशय उभरा....दीपमालिकाओं के प्रकाश में स्वयं के

वस्त्र अदृश्य रह नहीं सकते और केवल वस्त्रों वाले धड़ को देखकर दास-दासी घबराकर चिल्ला उठें तो बहुत कठिनाई हो सकती है। यह सोचकर विक्रम ने अपने सारे वस्त्र उतारकर एक कुंज में छिपा दिए। फिर वे निर्भय होकर राजभवन में प्रविष्ट हुए।

राजभवन में हलचल थी, किन्तु कोई उन्हें देख नहीं सकता था....वे एक-एक कर मंजिल चढ़ने लगे। चौथी मंजिल पर उन्होंने देखा कि बत्तीस वर्ष की एक सुन्दरी झूले पर बैठी हुई झूल रही है। उन्हें प्रतीत हुआ कि यह राजपरिवार के रहने की मंजिल होनी चाहिए।

झूला मन्द गति से डोल रहा था। ऊपर की सोपान श्रेणी से एक नौजवान परिचारिका नीचे उतर रही थी। उस परिचारिका को देखते ही वह सुन्दरी बोली— 'सुभद्रा! लक्ष्मी क्या कर रही है?'

'महादेवी! राजकुमारी जी अपनी एक सखी के साथ मनोरंजन कर रही है....अभी वे आपके पास आएंगी।' नमन कर सुभद्रा ने कहा।

वीर विक्रम एक कोने में खड़े रह गए। राजकुमारी के नीचे आ जाने पर वे ऊपर जाना चाहते थे।

कुछ ही क्षणों के पश्चात् राजकुमारी नीचे आ गई....उसे देखकर सुन्दरी ने प्रसन्नता व्यक्त की।

राजकुमारी लक्ष्मीवती नमन कर उसके पास बैठ गई। उसने पूछा—'मां! क्या आज्ञा है?'

'लक्ष्मी! तुम्हारे पिताश्री ने आज भी मुझसे प्रश्न किया था....'

हंसती हुई लक्ष्मीवती बोली—'मां! मैं एक-दो दिन में ही निर्णय कर लूंगी।'

'त्रिविष्टप के युवराज का चित्र तुम्हें पसन्द नहीं आया?'

'मां! वे बहुत स्थूल हैं और उनकी आंख बहुत छोटी है। उनका मुंह तो मानो पिचक गया हो, ऐसा लगता है।'

'और भी अनेक चित्रांकन हैं.....मन को उपशान्त कर किसी राजकुमार को पसन्द कर लो....यदि तुम चाहो तो मैं तुम्हारा मार्गदर्शन कर सकती हूं।'

'तब तो बहुत अच्छा है....परसों मध्याह्न के समय आप मेरे कक्ष में पधारें।'

'अरे, तुम अपनी सखियों के मनोरंजन में भूल मत जाना।'

'नहीं, मां! पिताश्री का मुझ पर कितना स्नेह है, कितनी चिन्ता है।'

'तुम मेरी आदर्श और गुणवती कन्या हो'—कहकर माता ने लक्ष्मी का मस्तक चूमा।

उसी समय महाप्रतिहार की ध्वनि सुनाई दी। महाराज के पधारने की यह सूचना दी।

'तुम्हारे पिताश्री पधार रहे हैं....अब तुम जाओ।'

लक्ष्मी मां को प्रणाम कर अपने कक्ष में जाने के लिए सोपान श्रेणी चढ़ने लगी।

विक्रम लक्ष्मी के रूप-यौवन को बराबर निहार रहे थे। उन्होंने सोचा, 'ऐसी अपूर्व सुन्दरी क्या एक काग के गले बंधेगी? अरे, मैं तो राजकन्या को देखने में आसक्त होकर रत्नपेटिका को देखना ही भूल गया।'

यह विचार आते ही वे पांचवीं मंजिल पर गए।

राजकुमारी अपने कक्ष में सखियों से घिरी बैठी थी। विक्रम उस कक्ष में गए। उन्होंने सोचा, यह राजकुमारी का ही कक्ष होना चाहिए, क्योंकि गवाक्ष में एक नन्हा-सा दीपक टिमटिमा रहा था। कक्ष में पूरा प्रकाश था। वीर विक्रम ने चारों ओर देखा। पलंग के नीचे एक छोटी पेटिका पड़ी थी। विक्रम ने उसे उठाया....वह कुछ भारी लगी....किन्तु वह खुल नहीं सकती थी....विक्रम ने उसे वहीं रख दिया....फिर उनकी दृष्टि पलंग पर पड़े तकिए की ओर गई। उसके नीचे एक कौशेय रज्जु को छिपा रखा था। वीर विक्रम ने अनुमान किया—यह रज्जु नीचे तक जा सके, इतनी लम्बी अवश्य है। उन्होंने सोचा, क्या इस रज्जु के सहारे भीमकुमार ऊपर आएगा या राजकुमारी नीचे जाएगी?

वीर विक्रम तत्काल गवाक्ष की ओर गए....गवाक्ष मजबूत था...एक ही पत्थर का बना हुआ था....गवाक्ष में रज्जु बांधने का सहज अवकाश था।

इतना निरीक्षण कर वीर विक्रम खंड के बाहर निकले। उन्होंने देखा कि राजकन्या और उसकी सखियां कक्ष के बाहर चली गई हैं और राजकुमारी उन्हें विदाई दे रही है।

सहेलियां नीचे उतरें, उससे पूर्व ही विक्रम नीचे उतरने लगे....चौथी मंजिल का झूला खाली पड़ा था। विक्रम ने सोचा, महादेवी और चन्द्रभूप शयनकक्ष में चले गए प्रतीत होते हैं।

फिर वे शीघ्रता से नीचे उतरे और जिस मार्ग से आए थे, उसी मार्ग से बाहर निकल गए।

बाहर आने के पश्चात् वे उस स्थान पर गए, जहां उन्होंने अपने वस्त्रों को छिपाकर रखा था। वहां से वस्त्र निकालकर वे एक कुंज के पीछे गए, वस्त्र पहने और एक ओर बैठ गए।

कुछ समय पश्चात् उन्होंने सोचा, रत्नपेटिका और राजकुमारी दोनों को ही ले जाना उचित होगा, अन्यथा ऐसा निर्दोष और सुन्दर नारी-रत्न एक शत्रु

राजा के वैर का भोग बनेगा। यह हंसिनी एक काग के गले में बंधी रहकर जीवन भर दु:ख पाएगी। ऐसा अन्याय कैसे सहा जाए?

विक्रम ने पांचवीं मंजिल के गवाक्ष की ओर देखा। भीतर की दीपमालाओं से जो प्रकाश बाहर आ रहा था, वह बन्द हो गया....संभव है राजकुमारी ने सारी दीपमालिकाएं बुझा दी हों।

कुछ ही क्षणों के पश्चात् उन्होंने देखा कि गवाक्ष के पास एक नारी खड़ी है और वह कुछ कर रही है.....निश्चित ही राजकुमारी गवाक्ष में कौशेय वस्त्र बांध रही होगी।

किन्तु अब क्या किया जाए? भीमकुमार आए तब उसे मूर्च्छित करूं या और कुछ? यदि ऐसा करते समय भीमकुमार चिल्ला उठे तो सारी योजना धूल में मिल जाएगी....

ओह! तब...?

दो क्षणों के पश्चात् विक्रम ने अपने मित्र अग्निवैताल को याद किया.... वैताल वीर विक्रम के समक्ष उपस्थित होकर बोला – 'क्या आज्ञा है, महाराज? क्या रत्नपेटिका प्राप्त हो गई?'

'नहीं, मित्र! रत्नपेटिका और राजकुमारी – दोनों को ले जाने का निर्णय किया है।' यह कहकर विक्रम ने संक्षेप में भीमकुमार की बात कही।

वैताल ने हंसकर कहा – 'महाराज! दूसरों के दु:ख दूर करने की प्रक्रिया में आपका अन्त:पुर रानियों से भर जाएगा....आप आज्ञा करें तो राजकुमारी और रत्नपेटिका को उठा लाऊं।'

'ऐसा नहीं.....तुम्हें केवल एक काम करना है....कुछ ही क्षणों के पश्चात् भीमकुमार आएगा....उसका एक सेवक ऊंट को बिठाकर उसकी प्रतीक्षा में खड़ा रहेगा। तुम्हें भीमकुमार और उसके सेवक को उनके देश में पहुंचा देना है....पीछे मैं सब कुछ संभाल लूंगा।'

'इससे तो यही अच्छा है कि मैं आपको तथा रत्नपेटिका सहित राजकन्या को अवंती पहुंचा दूं।'

'नहीं, मित्र! मार्ग में मुझे राजकन्या के स्वभाव की परीक्षा करनी है और उसकी शक्ति का लेखा-जोखा भी लेना है।' विक्रम ने कहा।

दो क्षण सोचकर वैताल बोला – 'जैसी आपकी आज्ञा.....

'तो अब हमें कुछ क्षणों तक प्रतीक्षा करनी होगी....भीमकुमार आकर जब सियार की बोली बोलने लगे तब तुम्हें अपना काम कर लेना है।'

दोनों मित्र वहीं बैठ गए।

५०. जुआरी

राजा चन्द्र का सप्तभौम प्रासाद अत्यन्त शून्य-सा प्रतीत हो रहा था, मानो कि वह निद्रादेवी की गोद में चला गया हो। राजभवन के उत्तर में प्रवेश-द्वार था। वहां दस-पन्द्रह सशस्त्र प्रहरी पहरा दे रहे थे। उसी ओर दास-दासियों के लिए निवासगृह बने हुए थे। भवन के दास-दासी अपने-अपने निवासगृह में पहुंचे चुके थे। कुछेक सेवक राजभवन में निद्राधीन हो गए थे।

मध्यरात्रि का समय हो चुका था। विक्रम और वैताल भीमकुमार की प्रतीक्षा में बैठे थे। दो सशस्त्र प्रहरी उपवन की ओर दृष्टि कर आगे बढ़ गए थे।

और विक्रम की तेज दृष्टि उपवन की चारदीवारी पर स्थिर हुई। एक मनुष्य दीवार फांदकर अन्दर आ रहा था। विक्रम ने वैताल का ध्यान उस ओर खींचा।

भीमकुमार दीवार फांदकर उपवन में प्रविष्ट हो गया था। वह चारों ओर देखता हुआ मंद गति से आगे बढ़ रहा था। फिर उसने गवाक्ष कीओर देखा, जहं एक दीपक टिमटिमा रहा था। तत्काल उसने एक वृक्ष की ओट में खड़े होकर तीन बार सियार की-सी आवाज की। कुछ ही क्षणों में राजकन्या गवाक्ष में आयी और हाथ के संकेत से कुछ देर ठहरने को कहा।

उसी समय वैताल ने अपना कार्य प्रारम्भ किया। भीमकुमार उसी वृक्ष के पास मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। वैताल ने तत्काल उसे उठा लिया।

और विक्रम वहीं खड़े रह गए। उन्होंने अदृश्यकरण गुटिका अपने मुंह से निकालकर कमर में बांध ली।

वैताल उपवन के पिछले भाग की झाड़ी में गया। उसने देखा, एक ऊंट बैठा है और एक व्यक्ति वृक्ष की आड़ में खड़ा-खड़ा उपवन की चारदीवारी की ओर देख रहा है। वह श्याम था, राजकुमार का ऊंटचालक। वैताल ने उसे भी मूर्च्छित कर उठा लिया और दोनों को लेकर अदृश्य हो गया।

इस ओर राजकन्या पुन: गवाक्ष में आयी। उसने कौशेय रज्जु के सहारे रत्नपेटिका को नीचे ढकेला और भीमकुमार को निकट आने का संकेत किया।

भीमकुमार के स्थान पर खड़े विक्रम गवाक्ष के नीचे आए। रत्नपेटिका नीचे आ गई थी। विक्रम ने रत्नपेटिका को रज्जु से मुक्त किया। राजकन्या ने तत्काल रज्जु को ऊपर खींच लिया। फिर उसने हाथ के संकेत से विक्रम को वहीं खड़े रहने के लिए कहा।

विक्रम ने संकेत को समझ लिया। वे रत्नपेटिका लेकर एक वृक्ष की ओट में खड़े रह गए।

कुछ समय बीता। विक्रम के कानों में राजभवन के पिछले हिस्से के द्वार के खुलने की आवाज आयी। विक्रम ने उस ओर देखा....राजकन्या उस द्वार से बाहर निकली और चारों ओर दृष्टि डालती हुई धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगी...विक्रम ने कुछ आगे बढ़कर हाथ ऊंचा किया....तत्काल राजकन्या उस ओर आने लगी।

फिर दोनों उपवन की दीवार के पास आए। विक्रम ने सहारा देकर पहले राजकन्या को दीवार पर चढ़ाया....फिर रत्नपेटिका उसे सौंप स्वयं भी दीवार पर चढ़ गए। दोनों उपवन की दीवार के उस पार उतर गए। वीर विक्रम ने जहां अपना सामान छिपाया था, उस वृक्ष के कोटर से सारा सामान लिया और कंधे पर रख लिया।

राजकन्या ने पूछा– 'आपका वाहन ?'

'सामने खड़ा है....अब आप निर्भय रहें।' कहकर विक्रम ने राजकन्या का हाथ पकड़ा और दोनों ऊंट की दिशा में चलने लगे।

कुछ ही क्षणों के पश्चात् दोनों ऊंट पर सवार हो गए। पवनवेगी ऊंट चलने लगा।

विक्रम ने देखा, ऊंट अत्यन्त तेजस्वी है। उसकी गति अत्यन्त तीव्र है।

विक्रम को एक कठिनाई का अनुभव होने लगा। वे यहां के मार्गों से सर्वथा अनभिज्ञ थे और यह स्वाभाविक था कि ऊंट अपने परिचित मार्ग से ही चले।

चार योजन की दूरी तय करने के पश्चात् विक्रम ने ऊंट के मार्ग को बदला और ऊबड़-खाबड़ मार्ग से चलना प्रारम्भ किया। कुछ दूरी पर एक वन-प्रदेश आया। झाड़ियों के कारण ऊंट की गति मंद हो गई, परन्तु विक्रम ने उसी मार्ग से ऊंट को आगे बढ़ाया। अंधकार के कारण वृक्ष की शाखाएं राजकन्या को छूने लगीं। उसने मृदु स्वर में कहा– 'आपने यह दिशा क्यों ली ? यह तो कोई वन-प्रदेश है...मेरे वस्त्र भी शाखाओं में अटकते जा रहे हैं।'

'प्रिये ! चिन्ता मत करो....मैंने सुरक्षा के लिए ही यह मार्ग लिया है.... तुम कुछ नीचे झुक जाओ, शाखाएं स्पर्श नहीं करेंगी।' विक्रम बोले।

रात्रि का तीसरा प्रहर पूरा होने वाला था। विक्रम को उन्निद्र रहने में कोई बाधा नहीं थी, किन्तु उन्हें यह चिन्ता सता रही थी कि कोमलांगी राजकुमारी ऊंट पर बैठी-बैठी थक जाएगी। विक्रम ने कहा– 'देवी ! तुम्हारी इच्छा हो तो कुछ विश्राम करें।'

'क्या अब भय जैसा कुछ नहीं है ?'

'नहीं, राजभवन में प्रात:काल से पूर्व खबर नहीं पड़ेगी। तब तक हम बहुत दूर आ गये होंगे। इच्छा हो तो दो-चार घटिका तक ऊंट को खड़ा कर विश्राम कर लें।'

'जैसी आपकी इच्छा।' लक्ष्मीवती ने इतना ही कहा। उसके मन में भीमदेव के चेहरे को देखने की तमन्ना जाग गई थी। किन्तु वह आगे बैठी थी और लज्जावश पीछे नहीं देख पा रही थी।

वन-प्रदेश सघन था....हिंसक प्राणियों की आवाजें भी सुनाई दे रही थीं। कुछ दूर आगे बढ़ने पर एक सुरम्य स्थल आया, जहां विश्राम किया जा सकता था। विक्रम ने ऊंट को खड़ा किया, नीचे बिठाया।

विक्रम ऊंट से नीचे उतरे और अपने हाथ का सहारा देकर राजकन्या को नीचे उतारा।

भीमकुमार के सेवक श्याम ने ऊंट पर कुछ सामान लाद रखा था....धनुष-बाण....चादर आदि-आदि। विक्रम ने समतल स्थान देखकर चादर बिछाई और फिर राजकन्या की ओर मुड़कर कहा – 'कुछ विश्राम कर लो।'

'आप ?'

'मुझे जागते रहने की आदत है...तुम कुछ विश्राम कर लो....रात का अंतिम प्रहर चल रहा है....सूर्योदय से पूर्व हमें रवाना हो जाना है।'

राजकन्या बोली नहीं। वह उस बिछी हुई चादर पर संकोचपूर्वक सो गई।

विक्रम ऊंट के पास गए....अन्धकार तो था ही....वन भी भयंकर प्रतीत हो रहा था। स्वयं किस ओर जा रहे हैं, यह उन्हें ज्ञात नहीं था।

लक्ष्मीवती भी अपने साहसिक कदम के विषय में सोचने लगी....मैंने एक छवि मात्र को देखकर अपने प्रिय माता-पिता का त्याग कर दिया....भीमकुमार के पिता शत्रु हैं...वहां मेरा कैसा स्वागत होगा ? मेरे साथ क्या व्यवहार होगा ? भीमकुमार के हृदय में मेरा क्या स्थान बनेगा ?....ये सारे प्रश्न उस राजकन्या के मन में उभरने लगे। उसे लगा कि उसकी नौका आशा और निराशा के बीच झूल रही है। पता नहीं, मुझे आशा का किनारा प्राप्त होगा या निराशा का ?

उसे अभी तक यह ज्ञात नहीं हो पाया था कि कुरूप भीमकुमार के बदले वह भारत के श्रेष्ठ और महान् तेजस्वी राजा को प्राप्त कर चुकी है और उन्होंने कुरूप भीमकुमार के पंजों से उसे मुक्ति दिलाई है।

उसे ऐसी कल्पना भी कैसे हो सकती है ? उसने तो एक योजना बनाई थी और उसी योजना के अनुसार वह स्वयं अपने माता-पिता और घर का त्याग कर निकली है।

यौवन के आवेश से अथवा अपरिपक्व बुद्धि के कारण ऐसे साहसपूर्ण निर्णय ले लिये जाते हैं और वे मनुष्य के लिए घातक सिद्ध हो जाते हैं।

प्रात:काल हुआ। पक्षियों का कलरव सुनाई देने लगा....विक्रम ने आस-पास दृष्टि दौड़ाकर देखा कि कहीं जलाशय तो नहीं है। उसे कुछ भी दिखाई नहीं

दिया। उसने राजकन्या की ओर देखकर कहा– 'देवी! प्रातःकाल हो गया है....नींद तो आ गई थी न?'

राजकुमारी तत्काल उठ गई और विक्रम की ओर देखकर बोली–'कुछ विश्राम तो मिल ही गया....'

प्रभात का स्निग्ध प्रकाश बहुत आनन्ददायी लग रहा था....राजकन्या ने विक्रम की ओर देखकर आकाश पर दृष्टि डाली।

विक्रम ने चादर आदि समेटकर ऊंट पर रख दिए।

राजकन्या को आगे बिठाया। राजकन्या ने अपनी रत्नपेटिका संभाली। विक्रम भी ऊंट पर बैठ गए। अब ऊंट एक पगडंडी के मार्ग से रवाना हुआ।

ऊंट को भी विश्राम मिल चुका था, इसलिए उसकी गति में भी मस्ती आ गई थी।

वन-प्रदेश पूरा हुआ। सूर्योदय हो चुका था। अब ऊंट सपाट मैदान पर दौड़ा जा रहा था।

राजकन्या के मन में एक संशय जागा था कि भीमकुमार का राज्य तो उत्तर दिशा की ओर है और यह प्रवास दक्षिण दिशा की ओर हो रहा है....ऐसा क्यों? क्या पिताजी जो कहते उसी के अनुसार यह शत्रु-पुत्र मुझे कहीं विपरीत दिशा में तो नहीं ले जा रहा है? क्या यह बदले की भावना का प्रतिफल तो नहीं है? वह मन-ही-मन अकुलाहट का अनुभव कर रही थी....वह किसे कहे? अब वह सर्वथा मौनभाव से बैठी रही।

दिन का पहला प्रहर पूरा हुआ।

विक्रम ने सोचा– अब हम ताम्रलिप्ति नगरी से बहुत दूर आ गए हैं....अब कोई भय नहीं है। उन्होंने चारों ओर देखा, किन्तु कोई जलाशय या गांव दिखाई नहीं दिया....क्या यह प्रदेश इतना शुष्क है?

विक्रम दक्षिण दिशा में ही ऊंट को भगाए जा रहे थे। दो घटिका के बाद उनकी दृष्टि वनराजि से सुशोभित एक जलाशय पर पड़ी...उनका मन आनन्दित हो उठा और जलाशय के पास पहुंचकर उन्होंने ऊंट को रोककर राजकन्या से कहा– 'देवी! प्रातःकर्म से निवृत्त होने के लिए यह स्थान उपयुक्त है।'

लक्ष्मीवती अपने संशय में ही खोयी हुई थी। विक्रम ने एक वृक्ष के नीचे ऊंट को बिठाया, स्वयं नीचे उतरे और राजकन्या को हाथ का सहारा देकर नीचे उतारा। वृक्ष के नीचे चार बिछा दी।

दोनों प्रातःकर्म से निवृत्त होने के लिए गए।

राजकन्या प्रातःकर्म से निवृत्त होकर आ गई। विक्रम प्रातःकर्म से निवृत्त हो, स्नान आदि कर एक घटिका बाद आए। राजकन्या विक्रम को स्पष्ट रूप से

पहली बार देख रही थी। वह चौंकी। राजकन्या ने संशय के स्वरों में कहा – 'मैंने जो छवि देखी थी....?'

बीच में ही विक्रम ने हंसते हुए कहा – 'ओह ! तुमने जो छवि देखी थी वह तुम्हारे पिता के शत्रु की ठगाई थी....तुम्हारे पिता की नाक काटने की योजना थी....भीमकुमार छवि से भी बहुत अधिक कुरूप था, मद्यपायी भी था.....।'

'आप कौन हैं ?'

'मैं ?' कहकर विक्रम खिलकर हंस उठे और हंसते-हंसते बोले –'मैं जीवन के साथ जुआ खेलने वाला जुआरी हूं, किन्तु अभी हम कुछ खा लें।' कहकर विक्रम ने डिब्बे से मिठाई निकाली।

राजकन्या बोली – 'तो फिर आप मुझे दक्षिण की ओर क्यों ले जा रहे हैं ?'

'पहले क्षुधा शांत करो.....कुछ विश्राम करो....अब चिन्ता करने से कोई लाभ नहीं है।' कहकर विक्रम मिठाई खाने लगे।

संशयग्रस्त राजकन्या विचारमग्न होकर बैठी रही।

विक्रम बोले – 'देवी ! पेट में कुछ गिरेगा तो मन की व्यथा दूर हो जाएगी। तुमने यह तो जान ही लिया होगा कि मध्यरात्रि से लेकर अब तक मैं तुम्हारे साथ रहा हूं, परन्तु क्षण भर भी मैंने तुम्हारे साथ कोई अभद्र व्यवहार नहीं किया।'

'आपका नाम ?'

'विक्रम जुआरी..... ।'

'मुझे कहां ले जा रहे हैं ?'

'इसका जवाब तब मिलेगा जब तुम कुछ खा लोगी।'

राजकन्या को भूख सता रही थी....उसने मिठाई खानी शुरू की।

भोजनादि से निवृत्त होकर विक्रम जलाशय की ओर गए। पानी पिया और लौटते समय पानी से एक लोटा भर लाए। राजकन्या ने जलपान किया। विक्रम को लगा कि राजकन्या कुछ आश्वस्त हुई है। वे बोले – 'कुछ विश्राम करना है, या प्रवास करना है ?'

'आप कुछ विश्राम करें। पूरी रात का जागरण है और ऊंट का प्रवास...'

'नहीं देवी ! मैं ऐसे प्रवासों का अभ्यस्त हूं....जब मैं थक जाऊंगा तब अवश्य ही आराम कर लूंगा।' विक्रम ने कहा।

'तो....?'

'क्या ?'

'आपने कहा था कि मिठाई खाने के पश्चात्....अब आप बताएं कि मुझे कहां ले जा रहे हैं ?'

'पहले विश्राम कर लो, फिर प्रवास में सारी बात बताऊंगा।' इतना कहकर विक्रम ऊंट की नकेल पकड़कर जाने लगे।

राजकन्या ने भय के स्वरों में कहा – 'कहां जा रहे हैं ?'

'संशय मत करो – इस प्रकार जंगल में तुम्हें एकाकी छोड़कर नहीं जाऊंगा। मैं ऊंट को पानी पिलाने के लिए जलाशय पर ले जा रहा हूं।'

राजकन्या अवाक् होकर विक्रम की ओर देखती रही। उसने सोचा, यह पुरुष बहुत सुन्दर और निर्मल है। यह जुआरी क्यों बना ? अब मुझे कहां ले जायेगा ?

अब इस पुरुष से विलग होने का भी कोई अर्थ नहीं है, क्योंकि इसके हाथ का स्पर्श दो-तीन बार हो चुका है। अब तो नियति को जो मंजूर है, वही होगा। यह पुरुष जुआरी हो या अन्य कोई, इसको जीवनसाथी बनाए बिना कोई चारा नहीं है।

ऊंट को पानी पिलाकर विक्रम लौट आए। वे बोले – 'क्यों ? विश्राम नहीं करना है ? प्रवास करें ?'

लक्ष्मी बोली – 'जैसी आपकी इच्छा।'

दोनों ऊंट पर बैठ गए और ऊंट मार्ग पर चल पड़ा। पवन वेग से प्रवास चल रहा था। मध्याह्नकाल पूरा हो गया।

राजकन्या ने पूछा – 'आपने मुझे अभी तक नहीं बताया ?'

'ओह ! देखो मैं एक जुआरी हूं – दक्षिण दिशा में एक भीलपल्ली है। वहां के भील राजा के साथ जुआ खेलते समय मैं सारा धन हार गया। साथ-ही-साथ मैं एक नवयौवना को दांव में लगाकर बाजी हार गया। मैं अपनी पराजय को विजय में बदलने के लिए उस ओर जा रहा हूं।' विक्रम ने स्वाभाविक स्वर में कहा।

यह सुनकर राजकन्या सहम उठी। उसने मन-ही-मन सोचा, क्या यह जुआरी मुझे भी दांव में रखेगा ? ओ भगवान्! मैंने अपना घर क्यों छोड़ा ? जो संतान माता-पिता का कहना नहीं मानती, उसकी यही दशा होती है। वह कुछ बोली नहीं, मन-ही-मन व्यथा का अनुभव करने लगी।

मार्ग में दो-तीन छोटे गांव आए, परन्तु विक्रम ने ऊंट को कहीं नहीं रोका।

और फिर एक वन-प्रदेश प्रारम्भ हो गया। कोई पथिक मिला नहीं, जिससे विक्रम पूछकर अपना मार्ग तय करते। वे उसी वन-प्रदेश में ऊंट को पवन वेग से लिये जा रहे थे। लगभग दो योजन दूर जाने पर एक छोटी नदी मिली। विक्रम ने कहा – 'देवी ! सांझ होने ही वाली है। वन-प्रदेश कब पूरा होगा, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती, इसलिए इस नदी के तट पर हमें रात बितानी होगी।'

राजकन्या कुछ नहीं बोली। वह ऊंट से नीचे उतर गई।

एक स्वच्छ स्थान देखकर विक्रम ने चादर बिछाई। ओढ़ने के लिए दो वस्त्र निकाले और धनुष-बाण भी अपने पास रख लिये।

राजकन्या ने अपनी रत्नपेटिका पास में रखी।

विक्रम ने पूछा – 'इस पेटिका में अलंकार हैं ?'

लक्ष्मीवती ने केवल मस्तक नवाया।

दोनों ने नदी के स्वच्छ जल में हाथ-मुंह धोए और पास में जो खाद्य सामग्री थी, उसे खाकर भूख शांत की। विक्रम ने ऊंट के लिए चारे का प्रबन्ध कर दिया।

संध्या बीती। रात का प्रारम्भ हो गया।

विक्रम अपनी थैली को तकिए की भांति रखकर चादर पर बैठ गए। राजकन्या भी रत्नपेटिका को चादर के नीचे तकिए की तरह रखकर चादर के एक ओर बैठ गई।

विक्रम ने लेटकर कहा – 'देवी ! आज तुम कुछ समय तक मेरी पगचंपी करो, जिससे कि मेरी थकान दूर हो।'

राजकन्या घबरा गई। उसने सोचा, भाग्य में जुआरी ही पति के रूप में लिखा है तो फिर दूसरा संशय क्यों रखूं ?'

राजकन्या विक्रम की पगचंपी करने लगी।

इधर वैताल ने भीमकुमार और श्याम को उनकी राजधानी चक्रपुर के एक उद्यान में ला छोड़ा। वैताल चला गया। प्रात:काल होने पर दोनों अंग मरोड़कर उठे मानो कि वे घोर नींद से उठ रहे हैं। दोनों ने सोचा, 'अरे ! यह क्या ? हम कहां आ गए ? राजकुमारी कहां है ? कहां है वह राजभवन, जहां से लक्ष्मीवती ने मुझे संकेत से कुछ प्रतीक्षा करने के लिए कहा था ? अरे, यह उपवन तो परिचित-सा है। दोनों घटित घटना के बारे में आश्चर्यमुग्ध होकर सोचने लगे। अब सोचने के सिवाय उनके पास रहा ही क्या था ?

५१. वेश्या के जाल में

रात्रि के प्रथम प्रहर के पूरे होते-होते ही, उजागर और प्रवास की थकान से श्रान्त बने वीर विक्रम निद्राधीन हो गए। उनके पैरों पर राजकन्या के हाथों का कोमल स्पर्श हो रहा था....किन्तु इसकी चिन्ता किए बिना विक्रम गहरी नींद में सो गए।

पगचंपी करती हुई राजकन्या के मन में विचार आ रहे थे। भाग्य की लीला अपरंपार होती है। कहां ताम्रलिप्ति का सप्तभौम प्रासाद और कहां यह जनशून्य अरण्य ! कहां इच्छित पुरुष का वरण करने वाली राजकन्या मैं और कहां भाग्यवश

प्राप्त जुआरी पति !, पर अब क्या हो ? कर्म के अनुसार जो प्राप्त हुआ है, उसे ही वरदान मान लेना श्रेष्ठ है। मैंने जिस पुरुष का स्पर्श कर लिया है, वह चाहे जुआरी हो या मद्यपायी हो या राजा, वह मेरे लिए स्वामी है...मेरे शून्य हृदय में अब कोई दूसरा प्रतिष्ठित नहीं हो सकता....मैं भले ही राजकन्या रही, पर हूं मैं एक आर्य नारी और आर्य नारी का मंगल कर्त्तव्य है कि वह अपने पति को परमेश्वर माने। मुझे कर्त्तव्य-विमुख नहीं होना है।

इन विचारों के साथ-साथ उसके मन में एक प्रश्न भी उभर रहा था कि मेरे माता-पिता की क्या दशा हुई होगी ? मेरी प्यारी मां बिलख-बिलखकर आंसू बहा रही होगी और महान् पिताश्री ने मेरी खोज में चारों ओर दूतों को भेजा होगा और भीमकुमार का क्या हुआ होगा ? क्या वह अपने माता-पिता के वैर का बदला लेने को उत्सुक है ? इस जुआरी पति ने जो कहा कि भीमकुमार अत्यन्त कुरूप और बदसूरत है, क्या यह सच है ? हे भगवन् ! एक रात में क्या-क्या घटित हो गया ?

रात का दूसरा प्रहर कभी का प्रारंभ हो चुका था। राजकन्या की आंखों में नींद उतरने लगी.....उसने देखा, जुआरी पति गहरी नींद में खर्राटे ले रहा है, इसलिए वह भी एक ओर पड़ी चादर पर सो गई। ज्यों ही वह नींद की गोद में जा रही थी कि उसके कानों से सिंह की भयंकर दहाड़ टकरायी। वह हड़बड़ाकर उठी। भयभीत दृष्टि से उसने जुआरी की ओर देखा। वीर विक्रम गहरी नींद में था। राजकन्या ने उसे जगाते हुए कहा—'यहां कोई सिंह आया लगता है।'

तत्काल विक्रम उठा। अंधकार के कारण कुछ भी दिखाई नहीं दिया। इतने में ही सिंह पुन: दहाड़ा। विक्रम ने धनुष हाथ में ले एक बाण सिंह-गर्जना की दिशा में छोड़ा।

राजकन्या डर से कांप रही थी....पर विक्रम तत्काल सो गया।

राजकन्या भी विक्रम के पैरों पर सिर टिकाकर सो गई।

दो घटिका बीती होगी कि एक बाघ की आवाज आयी। राजकन्या जागी और जुआरी पति को जगाया।

विक्रम ने धनुष पर दूसरा बाण चढ़ाया।

बाघ ने गर्जना की और विक्रम ने उस ओर बाण छोड़ा।

फिर विक्रम तत्काल सो गया। जुआरी की इस नींद पर राजकन्या को आश्चर्य हुआ....यह कैसे हृदय का पुरुष है ? न इसमें कोई भय है और न कोई आसक्ति !

कुछ क्षण पूर्ण नीरवता में बीते....राजकन्या भी अपने स्थान पर सो गई।

पूर्वाकाश में उषा का सिंदूर चमकने लगा...पक्षी चहचहाहट करने लगे.... विक्रम जागा....उसने देखा, राजकन्या आराम से सो रही है.... उसने सोचा, अब

प्रवास में चल पड़ना चाहिए। उसने राजकन्या की ओर देखकर कहा – 'देवी! सूर्योदय होने वाला है....अभी हमें बहुत दूर जाना है।'

'ओह!' कहकर लक्ष्मीवती उठी और विक्रम की ओर दृष्टि कर कहा – 'आपकी नींद अजब है!'

'क्यों? मैं तो पहले ही जाग गया हूं....नींद तो तुम्हारी अजब लगती है....अब तुम प्रातः कार्य सम्पन्न करो....तुम्हारे पास अन्य वस्त्र नहीं हैं?'

'जल्दबाजी में...'

'कोई बात नहीं....मार्ग में कोई बड़ा गांव आएगा तो वहां से वस्त्र खरीद लेंगे – किन्तु एक बार भीमकुमार का थैला संभाल लूं। संभव है....'

'स्वामी!'

बीच में ही आश्चर्य व्यक्त करते हुए विक्रम ने कहा – 'एक भयंकर जुआरी को स्वामी कहती हो?'

'हां, स्वामी – आप कोई भी हों, मेरे लिए आप प्राणेश्वर ही हैं। भाग्य से मुझे जो प्राप्त हुआ है, वह मेरे लिए वरदान रूप है।'

'तुम बहुत उतावले में निर्णय लेती हो?'

'जीवन में कभी-कभी शीघ्र निर्णय करना होता है।'

'अच्छा, किन्तु मैं तुम्हें सोचने का अवसर दूंगा....तुम क्या कहना चाहती थी?'

'आपने भीमकुमार के थैले की बात कही थी, तो क्या भीमकुमार मुझे लेने आया था?'

'हां, देवी! यह ऊंट उसी का है। संयोगवश मैंने भीमकुमार का रूप देख लिया था....उसकी योजना भी जान गया था....इसलिए मैंने एक जुआ खेला....किन्तु अब तुम विलम्ब मत करो – अच्छा, ऐसा करो कि इस चादर को धारण कर स्नान कर लो, फिर ये वस्त्र ही पहन लेना।'

राजकन्या ओढ़ने की कौशेय चादर लेकर नदी की ओर गई।

विक्रम ने ऊंट को एक वृक्ष के साथ बांधा, जिससे कि वह वृक्ष के पात खा सके।

लगभग एकाध घटिका के पश्चात् राजकन्या प्रातःकर्म से निवृत्त होकर आ गई। विक्रम ने देखा – लक्ष्मीवती वास्तव में ही सौन्दर्य की रानी हैं, कमनीय है।

विक्रम को अपनी ओर निहारते देखकर राजकन्या बोली – 'क्या देख रहे हैं?'

'तुम्हें देखकर मुझे मेरे भाग्य की चिन्ता हो रही है।'

'मैं समझी नहीं।'

'तुमने तो एक जुआरी को स्वामी मान लिया – किन्तु मेरी योग्यता कितनी है, यह तो मुझे सोच लेना चाहिए।'

'स्वामी ! आपकी वाणी से मुझे नहीं लगता कि आप जुआरी हैं।'

'ठीक ही है....अनुभवहीन आंखें अंतःकरण की गहराई को नहीं देख सकतीं....अरे, मुझे याद आया – तुमने रात को मुझे दो बार जगाया था, मैंने दो बाण भी छोड़े थे।'

'एक बार सिंह और दूसरी बार बाघ आया था।' लक्ष्मीवती ने कहा।

'ओ ! किन्तु तुमको याद है कि बाण किस ओर छोड़ा था ?'

'हां, सामने की झाड़ी की ओर।'

'तो अब तुम एक काम करो – हमारा प्रवास लम्बा है और तूणीर में बाण कम हैं। उन दो बाणों को खोज लाओ तो अच्छा रहेगा। तब तक मैं प्रातःकार्य सम्पन्न कर लेता हूं।

'अच्छा' कहकर राजकुमारी झाड़ी की ओर गई।

विक्रम नदी की ओर गए।

राजकुमारी झाड़ी के पीछे गई। वहां का दृश्य देखकर वह स्तब्ध रह गई। एक ओर सिंह मरा पड़ा था और उसका मुंह बाण से बींधा हुआ था। उससे मात्र बीस हाथ की दूरी पर बाघ भी मरा पड़ा था। राजकन्या ने दोनों के मुंह से बाण खींच लिए। उसने सोचा, क्या यह जुआरी इतना सक्षम निशानेबाज है ? रात्रि के अंधकार में कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था, केवल शब्द के आधार पर बाण छोड़े थे – अरे, क्या ये वास्तव में जुआरी हैं ? इनका चेहरा कितना भव्य है ! इनकी भुजाएं कितनी विशाल हैं ! इनका वक्षस्थल ! ये कौन हैं ? मैंने दो रात्रियां इनके साथ बिताईं, पर इन्होंने अपना विवेक नहीं खोया, मेरे प्रति इन्होंने दोषपूर्ण दृष्टि से भी नहीं देखा....कौन हैं ये ?

इस प्रकार सोचती हुई लक्ष्मीवती लहू से सने दोनों बाण हाथ में लेकर अपने स्थान पर आयी। अभी तक विक्रम प्रातःकार्य सम्पन्न कर लौटे नहीं थे।

राजकन्या विचारमग्न होकर बैठ गई।

कुछ समय पश्चात् प्रसन्नचित्त वीर विक्रम वहां आ पहुंचे। राजकन्या को विचारमग्न देखकर पूछा – 'क्यों देवी ! बाण मिल गए न ?'

'हां, स्वामी ! आपकी निशानेबाजी ने मुझे विचारमग्न कर डाला है।'

बैठते हुए विक्रम ने कहा – 'इधर-उधर घूमने वाले जुआरी को यदि इतना भी नहीं आता तो उसे बेमौत मरना पड़ता है...अब हमें कुछ खा-पी लेना चाहिए....पास में कुछ खाद्य है ही। आगे की आगे सोचेंगे।'

दोनों ने कुछ खाया। खाद्य समाप्त हो गया।

ऊंट पर सारा सामान लादकर प्रवास प्रारम्भ कर दिया।

वास्तव में ऊंट जातिवान् था। उसकी गति में कहीं कोई त्रुटि नहीं आ रही थी—गति की तीव्रता भी वही थी।

मध्याह्न के समय वे एक गांव के परिसर में पहुंचे। गांव में एक छोटी पांथशाला थी। वहां विश्राम करने के लिए वे रुके।

पांथशाला के मुनीम ने उनका सत्कार किया। विक्रम ने मुनीमजी के द्वारा ऊंट के लिए चारा-पानी की व्यवस्था कराई और गरम रसोई की व्यवस्था कर उत्तम प्रकार की मिठाई मंगाकर अपने पास वाले डिब्बे भर लिये।

मुनीमजी से यह ज्ञात हुआ कि इस मध्यम गांव में वस्त्र के चार-पांच व्यापारी हैं और एक व्यापारी के पास उत्तम वस्त्र मिल सकते हैं। विक्रम ने उस व्यापारी को पांथशाला में बुला भेजा। वह व्यापारी वस्त्र लेकर आया। वस्त्र मध्यम कोटि के थे किन्तु विक्रम ने स्वयं के लिए एक जोड़ी वस्त्र और लक्ष्मीवती के लिए दो जोड़ी वस्त्र खरीद लिये।

अपराह्न में वीर विक्रम ने पुनः प्रवास प्रारम्भ किया। अब मार्ग भी साफ था—झाड़-झंखाड़ नहीं थे। विक्रम ने सोचा, यदि मार्ग ऐसा ही रहा तो रातभर प्रवास कर लेना चाहिए।

वैसा ही हुआ।

रात्रि का प्रथम प्रहर पूरा हुआ, तब विक्रम ने राजकन्या से कहा—'देवी! विश्राम करना हो तो स्वच्छ स्थान की गवेषणा करूं?'

'कोई पल्ली या गांव हो तो अच्छा रहे।'

'यह मार्ग मेरे लिए सर्वथा अपरिचित है, किन्तु मैंने पांथशाला के मुनीम से जाना था कि लगभग पचास योजन की दूरी पर लक्ष्मीपुर नाम की एक नगरी है, यदि हम रात-भर प्रवास करें तो उस नगरी में पहुंच सकते हैं।'

'मुझे कोई आपत्ति नहीं है।'

'फिर भी हमें अपररात्रि में कहीं-न-कहीं विश्राम करना ही पड़ेगा।' विक्रम ने कहा।

राजकन्या सहमत हो गई।

प्रवास अविरत चालू रहा। ऊंट भी एक-सी गति से दौड़ा जा रहा था।

रात्रि का तीसरा प्रहर पूरा हुआ। लक्ष्मीवती को नींद आ रही थी। विक्रम ने पूछा—'आराम करना है न?'

'नहीं....मेरी आंखें कुछ भारी हो रही हैं....किन्तु मैं सावेचत हूं।' लक्ष्मी ने कहा।

ऊंट उसी गति से भागा जा रहा था, मानो कि उसे थकान ही न आ रही हो।

उषा का प्रकाश पृथ्वी पर फैलने लगा। विक्रम ने देखा, एक नदी है और दूसरे किनारे पर कोई सुन्दर नगरी बसी हुई है। विक्रम ने कहा–'देवी लक्ष्मीपुर आ गया है।'

लक्ष्मी ने नगरी की ओर देखकर कहा– 'नगरी सुन्दर लगती है।'

'अरे! यह नगरी भी तो तुम्हारे ही नाम पर है। तुम सुन्दर हो तो नगरी सुन्दर क्यों न हो? अच्छा, हमें ऊंट को धन्यवाद देना चाहिए....इसने बहुत बड़ा मार्ग तय कर लिया।'

नदी आ गई....विक्रम ने ऊंट को नदी में उतारा, नदी स्वच्छ थी। वह गहरी नहीं थी। सामने एक आम्रवाटिका भी थी। ऊंट ने नदी को तैरकर किनारा पा लिया। दोनों ऊंट से नीचे उतरे और वृक्ष के एक झुरमुट में जा विश्राम करने के लिए बैठे।

प्रात:कार्य से निवृत्त होकर लक्ष्मीवती ने नये वस्त्र पहने। उन वस्त्रों में वह बहुत सुन्दर लग रही थी। विक्रम ने कहा– 'देवी! यह स्थान अभय है, निर्बाध है। मैं नगर में जाकर भोजन सामग्री ले आता हूं। यदि स्थान मिल जाएगा तो हम नगरी में चले जाएंगे।'

मुस्कराते हुए लक्ष्मी ने विक्रम की बात स्वीकार करते हुए कहा–'किन्तु आप अधिक विलम्ब न करें।'

'तुम निश्चिन्त रहना।' कहकर विक्रम अपनी थैली लेकर नगर की ओर चले। थैली में स्वर्ण मुद्राएं, अदृश्यकरण गुटिका और एक गुप्त शस्त्र भी था।

विक्रम को गए दो घटिका बीत गईं। लक्ष्मीवती के मन में चिन्ता होने लगी, वह बार-बार खड़ी होकर नगरी की ओर देखती, पर स्वामी को आते हुए न देखकर निराश होकर बैठ जाती।

किन्तु सुख का स्वप्न साकार हो, उससे पहले अनेक घटनाएं घटित हो जाती हैं।

आज प्रात:काल ही नदी के किनारे वाले आम्रवन में लक्ष्मीपुर नगर की प्रख्यात वेश्या रूपश्री आयी हुई थी। उसने इन दोनों–विक्रम और लक्ष्मी–को देखा और जान लिया कि ये अपरिचित व्यक्ति हैं। वह लुक-छिपकर इनकी पास वाली झाड़ी में आकर बैठ गई। उसने सारी बात जान ली और जब विक्रम भोजन लाने नगरी की ओर गए तब उसके मन में एक लोभ जागा कि यदि यह सुन्दरी मेरे भवन में आ जाए तो वहां धन की वर्षा होने लग जाएगी। सेठ, सुभट और राजपुरुष इस नारी के यौवन का भोग करने के लिए मेरे चरण चूमने लग जाएंगे।

लोभ मनुष्य के विवेक को लील जाता है।

रूपश्री तत्काल आम्रवन में गई और अपनी दो परिचारिकाएं और एक दास को साथ में ले लक्ष्मीवती के पास आयी।

अपरिचित व्यक्तियों को आते देखकर लक्ष्मीवती खड़ी हो गई। वह कुछ प्रश्न करे, उससे पहले ही रूपश्री ने मधुर स्वर में कहा– 'मेरा भतीजा बहुत भाग्यशाली है...ऐसी पत्नी भाग्य से ही प्राप्त होती है और मेरा भतीजा कितना पागल है कि सगी बुआ का घर छोड़कर बाजार से खाद्य-सामग्री लाने गया है। पगला कहीं का! अच्छा हुआ कि इसके फूफा इसको देख गए और उन्होंने घर आकर मुझे सारी बात कही। मैं अपना काम छोड़कर तुम्हारा स्वागत करने चली आई। चलो मेरे भवन पर और प्रवास की थकान दूर करो।'

लक्ष्मीवती इस कुलटा के भीतर बसने वाले विष को पहचान नहीं पायी। निर्दोष मनुष्य सबको अपने जैसा ही मानता है।

रूपश्री की वाक्-चातुरी के समक्ष लक्ष्मीवती लाचार बन गई। वह अपनी रत्नपेटिका लेकर बुआ के पीछे-पीछे नगरी की ओर चल पड़ी। उनके दास सारा सामान ऊंट पर लादकर रूपश्री के भवन की ओर चले।

इस समय वीर विक्रम नगरी के एक नामी हलवाई की दूकान पर खड़े गरम पूरी तैयार करवा रहे थे। उनको यह कल्पना भी नहीं थी कि लक्ष्मीवती एक वेश्या के जाल में फंस जाएगी।

५२. भाग्य का खेल

राजकन्या लक्ष्मीवती को साथ लेकर रूपश्री ने अपने भवन में प्रवेश किया। लक्ष्मीवती ने अपनी मूल्यवान् रत्नपेटिका हाथ में ही ले रखी थी। भवन में प्रवेश करने के पश्चात् रूपश्री ने कहा– 'बेटी! यह पेटी मुझे दे, मैं इसको सुरक्षित रख दूंगी।'

'आप इसकी चिन्ता न करें......मेरे स्वामी कहां हैं?'

'मेरा पागल.....। चल मेरे साथ, वह अपने फूफा से बातें करता होगा।' कहकर रूपश्री लक्ष्मीवती का हाथ पकड़कर सोपान पर चढ़ने लगी।

ऊपर की मंजिल में पांच-छह कक्ष थे....चार-पांच परिचारिकाएं भी थीं....लक्ष्मी ने सोचा, बुआ सुखी और समृद्ध प्रतीत होती है।

एक कक्ष में प्रवेश करने के पश्चात् रूपश्री ने पूछा– 'बेटी! तेरा नाम क्या है?'

'लक्ष्मी....किन्तु वे कहां हैं?'

'तू आराम से इस आसन पर बैठ....मैं देखकर उसे यहां भेजती हूं। तेरी पेटी में कोई जोखिम की वस्तु है—दे, मैं संभालकर उसे रख दूंगी।' कहकर रूपश्री ने उसके हाथ से पेटिका खींच ली।

लक्ष्मी अवाक् होकर उसकी ओर देखती रही। रूपश्री ने जोर से हंसते हुए कहा—'लक्ष्मी! तू वास्तव में ही रूपवती है। कोई देवरमणी भी तेरी तुलना में नहीं आ सकती। अब तुझे उस पागल के साथ भटकना नहीं पड़ेगा। यहां तुझे स्वर्ग से भी अधिक सुख मिलेगा। नये-नये पुरुषों का मनोरंजन करती हुई तू मेरे इस भवन की शोभा को बढ़ाएगी। तेरे चरणों में सोने और रत्नों के ढेर लगेंगे। तेरी आज्ञा मानने के लिए मेरी सभी दासियां एक पैर पर खड़ी मिलेंगी।'

'आप यह क्या कह रही हैं? मेरे स्वामी कहां गए हैं? ऐसा कहकर यदि आप मेरी परीक्षा करना चाहती हैं तो कृपा करके आर्य नारी की मर्यादा का परिहास न करें।'

बीच में ही रूपश्री खिलखिलाकर हंस पड़ी। उसने हंसते-हंसते कहा—'लक्ष्मी! तेरा पति कौन है, यह भी मैं नहीं जानती। तेरे लिए खाद्य-सामग्री लेकर वह बेचारा वहां गया होगा। तुझे वहां न पाकर वह अपने मार्ग चला गया होगा अथवा नगर में कहीं भटकता होगा।'

'तो यह घर किसका है?'

'लक्ष्मीपुर नगर की प्रसिद्ध वेश्या रूपश्रीका यह भवन है। मेरे पास सात-आठ नवयौवनाएं हैं। किन्तु उनमें तेरे-जैसा तेज, रूप या आकर्षण नहीं है, इसलिए मैं तुझे यहां लायी हूं।'

'चुप रह, कुलटा! मेरी पेटी मुझे सौंप दे। मैं अपने स्वामी को स्वयं ढूंढ लूंगी।'

रूपश्री अट्टहास करती हुई बोली—'ऐसा रोब मत जमा। एक बात तू निश्चित रूप से जान ले कि अब तू इस खंड से बाहर नहीं निकलेगी। आज रात को ही तेरे यौवन को रसमय बना दूंगी। यहां के नगरपालक का युवा पुत्र तेरा खूब मनोरंजन करेगा। तेरे चरणों में रत्नालंकारों का ढेर लगा देगा। अब तू अपने पति को भूल जा।'

'मैं कदापि इस निन्द्यकार्य में नहीं पडूंगी।'

'लक्ष्मी! सुख के लिए सब कुछ करना पड़ता है।'

लक्ष्मी बोली—'मैं पतिव्रत धर्म को प्राणों से भी अधिक मानती हूं। मैं मरना पसन्द करूंगी, किन्तु पतिव्रत धर्म को नहीं छोडूंगी।'

'बेटी! उतावली मत बन! मांगने से मौत नहीं मिलती और भोग भोगने योग्य जवानी में मौत शोभा नहीं देती।'

लक्ष्मी कुछ बोले, इससे पूर्व ही एक दासी ने आकर रूपश्री से कहा– 'मदनकुमार आपसे मिलने आए हैं।'

'वाह! याद करते ही आ गया। इसकी उम्र सौ वर्ष की लगती है। पहले तू अपनी नूतन स्वामिनी के लिए दूध और मिठाई ले आ। मैं मदन के पास जा रही हूं।' फिर रूपश्री ने लक्ष्मी की ओर देखकर कहा– 'बेटी! जिस लहरी युवक की मैं बात कह रही थी, वह अभी मिलने आ गया है। तू कुछ खा-पीकर स्वस्थ हो जा। फिर मैं उसका परिचय कराऊंगी।'

दासी बाहर चली गई। रूपश्री भी खंड से बाहर निकली और द्वार पर सांकल लगाकर सोपान-श्रेणी की ओर चली गई।

लक्ष्मी असमंजस में फंस गई। भाग्यवश स्वयं के पास कोई शस्त्र भी नहीं था। वह विचारमग्न होकर एक आसन पर बैठ गई। वह सोचने लगी, इस विपत्ति से कैसे मुक्ति पायी जाए? मेरे जुआरी पति मुझे वहां न पाकर निराश हो गए होंगे। मेरी खोज करने वे पुनः नगरी में गए होंगे...अब मैं उनसे कैसे मिल पाऊंगी? ओह! भाग्य जब विपरीत होता है तब कैसी विपत्ति आ जाती है? अब मैं क्या करूं? यह वेश्या किसी भी उपाय से समझ नहीं रही है। एक बार इसके समक्ष प्रार्थना करके देख तो लूं....

इस प्रकार लक्ष्मी विचार कर ही रही थी कि दासी दूध और मिष्ठान्न लेकर पहुंच गई।

लक्ष्मीवती ने कहा– 'बहन! मुझे कुछ भी नहीं खाना है। यदि तेरे में कुछ करुणा हो तो मुझे इस भवन से बाहर निकलने का उपाय बता। मैं तेरा उपकार कभी नहीं भूलूंगी।'

ये शब्द सुनकर दासी कांप उठी। वह लक्ष्मी के चेहरे पर उभरी दीनता को स्पष्ट देख रही थी। वह बोली– 'देवी! मैं एक दासी हूं। क्या कर सकती हूं? यदि आपको यहां से निकलने दूं, तो मेरी स्वामिनी मेरी हड्डी-पसली तोड़ देगी।'

'तो बहन! मुझे एक छुरी लाकर दे। मैं आत्महत्या कर इस पापगृह से छुटकारा पा लूंगी। भगवान् तेरे पर कृपा करेंगे।'

दासी सोच में पड़ गई। वह बोली– 'देवी! एक काम करें। मुझे उत्तरीय से बांधकर, आप यहां से निकल जाएं।'

लक्ष्मी ने दासी के उत्तरीय से उसके पैर बांध डाले।

दासी बोली– 'देखो, सामने के कोने में एक कपड़ा पड़ा है, उसे मेरे मुंह में ठूंसकर, मेरे हाथ बांध दो।'

लक्ष्मी ने वैसा ही किया। फिर वह शीघ्रता से सोपान श्रेणी उतरने लगी। उसी समय रूपश्री और मदनकुमार सामने से आते दिखाई दिए। मदन चार-पांच सोपान चढ़ा था। लक्ष्मी को देखते ही बोला – 'रूपश्री! पक्षी बहुत सुन्दर है।'।

उसी समय लक्ष्मीवती ने उसे जोर से लात मारी। वह संभल नहीं सका, नीचे गिर पड़ा।

रूपश्री का चेहरा रोष से तमतमा उठा। लक्ष्मी बोली – 'मां! मैं यहां किसी भी प्रकार से रह नहीं पाऊंगी। मेरी पेटी में अमूल्य रत्न हैं। उनका मूल्य करोड़ों स्वर्णमुद्राओं में है। यह पेटी आप रखें और मुझे 'काष्ठभक्षण' का अवसर दें। मैं अपने शील को प्राणों से भी अधिक मूल्य देती हूं।'

मदन खड़ा हो गया था। उसने रूपश्री के सामने देखकर कहा –'रूपश्री! इस बला को 'काष्ठभक्षण' करने दे। यह शिर-शूल तेरे लिए अनेक कठिनाइयां पैदा कर देगा।'

रूपश्री ने सोचा, इस युवती को संभालना सहज नहीं है और यदि मेरे भवन में आत्महत्या करेगी तो भारी विपत्ति आ जाएगी। वह बोली –'लक्ष्मी! क्या तू वास्तव में ही 'काष्ठभक्षण' करना चाहती है?'

'हां, मां!'

'अच्छा, मैं तुझे अच्छे वस्त्र देती हूं। तू पहनकर तैयार हो जा।' फिर मदन की ओर देखकर कहा – 'कुमार! तुम वाद्यमंडली को बुला लाओ – पालकी तो मेरे यहां है ही।'

मदन एक बार लक्ष्मी की ओर देखकर चला गया।

रूपश्री ने लक्ष्मी को नीचे के एक खंड में बिठाकर कहा – 'तूने कुछ खाया या नहीं?'

'नहीं, मैं कुछ नहीं खाऊंगी।'

'अच्छा, तू मेरे साथ वस्त्रगृह में चल। तुझे जो वस्त्र अच्छे लगें, उन्हें पहन लेना, किन्तु एक बार तेरी रत्नपेटिका को खोलकर तो देख लूं', कहकर उसने उसी खंड में रखी हुई रत्नपेटिका बाहर निकाली और उस पर बंधी हुई कौशेय की डोरी निकालकर पेटी खोली। पेटी में पड़े रत्न सूर्य-चन्द्र की तरह चमकने लगे। रूपश्री ने सोचा – लक्ष्मी 'काष्ठभक्षण' करे, यही हितकर है। ये रत्न तब मेरे हो जाएंगे। यह सोचकर उसने पेटी बन्द कर ऊपर से डोरी बांध दी। फिर वह पेटी और लक्ष्मी को लेकर वस्त्रगृह में गई और लक्ष्मी से कहा – 'बेटी! जो वस्त्र तुझे अच्छे लगें, वे धारण कर ले।'

'मां! मेरे ये पहने हुए वस्त्र अच्छे हैं। दूसरे के धारण किए हुए वस्त्र मैं नहीं पहनती।'

'नहीं, लक्ष्मी! मैं तुझे नये वस्त्र दूंगी।' कहकर उसने एक दासी को बुलाया। दासी के आने पर रूपश्री ने दासी से कहा– 'नये वस्त्र कहां रखे हैं?'

दासी बोली– 'इस पेटी में नये वस्त्र हैं।'

रूपश्री ने लक्ष्मी से कहा– 'अब तो कोई आपत्ति नहीं है?'

'नहीं....'

'तब मैं इस रत्नपेटिका को संभालकर रख दूं। तू वस्त्र पहन ले।' कहकर रूपश्री ने दासी को वहीं रुकने का संकेत किया।

दिवस का दूसरा प्रहर अभी चल रहा था– एक पालकी में लक्ष्मी बैठ गई। आगे-आगे वाद्यमंडली.....पीछे-पीछे मदन के द्वारा प्रेषित व्यक्ति और अन्त में पालकी में बैठी हुई राजकन्या, जिस पर चन्दन का लेप शोभित हो रहा था।

शोभायात्रा छोटी थी....पर आगे बढ़ते-बढ़ते लोग इसमें जुड़ते गए।

उस काल में यदि कोई मनुष्य स्वेच्छा से जलकर मरना चाहता तो लोग उसे श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे और फूलों से वर्धापित करते थे। यही 'काष्ठभक्षण' कहलाता था।

शोभायात्रा मुख्य बाजार से होती हुई राजभवन के राजमार्ग की ओर मुड़ी। शोभायात्रा में सैकड़ों नर-नारी जुड़ गए थे।

लक्ष्मीपुर का राजा राजसिंह रथ में बैठकर भोजन करने राजभवन की ओर जा रहा था। उसने यह बात सुनी कि कोई नवयौवना काष्ठभक्षण कर रही है– रूपश्री वेश्या की वह कन्या है।

राजसिंह को इस बात पर बहुत आश्चर्य हुआ। उसने यह कभी नहीं सुना था कि रूपश्री के कोई कन्या है। यदि हो तो उसे काष्ठभक्षण क्यों करना पड़ा? राजसिंह ने रथ को शोभायात्रा की ओर ले जाने के लिए कहा। उस समय शोभायात्रा राजभवन से आगे बढ़ गई थी। राजसिंह वहां पहुंच गया और रथ से उतरकर सीधा पालकी के पास पहुंचा। पालकी पर बैठी उस देवकन्या जैसी कन्या को देखकर वह अवाक् रह गया। उसने पूछा– 'बहन! इस छोटी अवस्था में तुझे 'काष्ठभक्षण' क्यों करना पड़ रहा है?'

'दुःख की पीड़ा के बिना कोई भी व्यक्ति अपना जीवन समाप्त नहीं करता।'

'तुझे ऐसा कौन-सा दुःख है?'

'अपने स्वामी से मैं छूट गई हूं।'

'कहां है तेरे स्वामी?'

'मैं क्या जानूं? आज ही वे इस नगरी में आए हैं।'

'बहन! मैंने तो सुना है कि तू रूपश्री वेश्या की कन्या है।'

'पहले आप मेरे एक प्रश्न का उत्तर दें।'

'बोल!'

'आप कौन हैं?'

'मैं इस नगरी का राजा हूं। क्या तूने अपने पति को खोजने का कुछ प्रयत्न किया है?'

लक्ष्मीवती ने सिर हिलाकर कहा – 'नहीं'।

राजा ने कहा – 'तो बहन! इतनी उतावल मत कर। पहले तू अपने स्वामी को खोजने का प्रयत्न कर। इस प्रकार उतावलपन में जीवन को होम देना उचित नहीं है।'

शोभायात्रा रुक गई।

हजारों नर-नारी एकत्रित हो गए।

लक्ष्मी ने पालकी में बैठे-बैठे चारों ओर देखा, पर विक्रम जुआरी दिखाई नहीं दिया।

वीर विक्रम तो नगरी से गरम भोजन, तांबूल आदि लेकर उस स्थान पर गया था जहां वह लक्ष्मीवती को बिठाकर आया था, किन्तु वहां कोई नहीं था – न लक्ष्मी थी, न ऊंट था और न सामान था। उसने आस-पास में देखा। एक किसान का बच्चा दूर खड़ा था। उसके पास जाकर विक्रम ने पूछा – 'यहां एक ऊंट और एक स्त्री बैठी थी – वे किधर गए हैं, क्या तू जानता है?'

'जी हां, वे तो कुछ ही समय पूर्व नगरी की ओर गए हैं।'

'नगरी की ओर?'

'हां, ऊंट को एक व्यक्ति ले जा रहा था। एक व्यक्ति और दो स्त्रियां और थीं।'

'ओह!' कहकर विक्रम ने पूरी खाद्य सामग्री उस बालक को दे दी और स्वयं नगरी की ओर भागा।

उसने सोचा, क्या राजा चन्द्रभूप का कोई परिचित मिल गया अथवा कोई दुष्ट व्यक्ति लक्ष्मी को उठाकर ले गया?

विक्रम नगरी में पहुंचा। चारों ओर खोज करने लगा। अनेक व्यक्तियों से पूछा। वह अपनी पत्नी को ढूंढता-ढूंढता राजभवन की ओर बढ़ा। वहां एक स्थान पर भीड़ एकत्रित थी। उसके मन में कुतूहल उठा। वह उस भीड़ में से रास्ता बनाकर आगे जाना चाहता था। तभी उसकी दृष्टि पालकी पर पड़ी। पालकी के पास ही राजसिंह खड़ा था। ओह! यह तो मेरा परिचित है। यह एक वर्ष पूर्व अवंती आया था और एक मास पर्यन्त वहां रह गया था। अरे, लक्ष्मीवती पालकी में क्यों?

विक्रम चिल्लाया – 'लक्ष्मी ! लक्ष्मी !'

लक्ष्मी अपने जुआरी पति को चारों ओर खोज रही थी—अपना नाम सुनकर वह चौंकी। आवाज की दिशा में उसने देखा और उसके नयन-कमल विकसित हो गए। विक्रम भीड़ को चीरता हुआ आगे बढ़ा, राजकन्या के पास आकर बोला – 'लक्ष्मी ! यह सब क्या है ?'

राजसिंह ने विक्रम को देखते ही पहचान लिया और उसके पैरों में झुकता हुआ बोला – 'कृपानाथ ! आप ?'

एक जुआरी के पैरों में नगरी के राजा को झुकते देखकर लक्ष्मी आश्चर्यचकित रह गई।

राजा ने लक्ष्मी की ओर देख कहा – 'बहन ! तेरे महान् पति तुझे मिल गए न ?'

लक्ष्मी पालकी से नीचे उतरकर विक्रम के पास आ गई थी। लोग हर्षनाद कर रहे थे, जय-जयकार कर रहे थे।

और विक्रम ने राजसिंह को गले लगा लिया। राजसिंह ने एक हाथ ऊंचा उठाकर कहा – 'बोलो, मालवपति महाराज विक्रमादित्य की जय !'

लोगों ने जयनाद से गगन-मंडल को गुंजा दिया।

राजसिंह दोनों को साथ ले राजभवन में गया। लक्ष्मीवती ने संक्षेप में अपनी रामकहानी सुनाई। यह सुनते ही राजसिंह ने अपने प्रतिहार को आज्ञा दी कि रूपश्री को तत्काल बन्दी बनाकर कारागृह में डाल दो और वह रत्नपेटिका लेकर आओ।

फिर राजसिंह ने दोनों अतिथियों को भोजन कराया।

विक्रम को तत्काल वहां से प्रस्थान करना था, पर राजसिंह के आग्रह के कारण वे आठ दिन तक वहां रुके।

लक्ष्मीवती को अपनी रत्नपेटिका प्राप्त हो गई और वीर विक्रम के कहने पर रूपश्री को बन्धनमुक्त कर दिया गया।

लक्ष्मी के हर्ष का पार नहीं रहा। उसके मन में आनन्द का सागर हिलोरें लेने लगा कि वह एक जुआरी को नहीं, किन्तु भारत के महान् तेजस्वी और यशस्वी मालवपति को स्वामी बना सकी है।

नौवें दिन उसी ऊंट पर प्रवास प्रारम्भ किया।

नगरी से एकाध कोस दूर जाने पर लक्ष्मीवती ने पूछा – 'महाराज ! आपने अपना मूल परिचय क्यों नहीं दिया ?'

'प्रिये ! मैं तुम्हारे स्वभाव और साहस की परीक्षा लेना चाहता था।'

'ओह ! इस परीक्षाकाल में यदि मैं काष्ठभक्षण कर लेती तो ?'

'हमारे दोनों के भाग्य इतने निर्बल कहां हैं ?'

'स्वामिन्! यहां से अवंती कितनी दूर है ?'

'बहुत दूर है। लगभग एक महीना और लग जाएगा....किन्तु तुम्हारी अधीरता का आज रात को ही अन्त आ जाएगा।'

'मैं समझी नहीं।'

'हम आज रात को ही अवंती पहुंच जाएंगे।'

'कैसे ?'

'कुछेक बातें जानने के बदले मानना अधिक श्रेष्ठ होता है।'

और एक मध्यम गांव के परिसर में पहुंचते-पहुंचते संध्या का समय हो गया।

दोनों ने रात्रिवास वहीं करने का निर्णय किया।

ठीक मध्यरात्रि के समय विक्रम ने अपने मित्र अग्निवैताल को याद किया। उस समय लक्ष्मीवती गहरी नींद में सो रही थी।

वैताल उपस्थित हुआ। विक्रम ने संक्षेप में उसे सारी बात बताई। प्रात:काल से पूर्व ही वीर विक्रम, लक्ष्मी, ऊंट और सारा सामान अवंती के परिसर में स्थित एक उद्यान में पहुंच गया।

वैताल महाराजा विक्रमादित्य को धन्यवाद देकर अदृश्य हो गया। प्रात:काल हुआ। चिड़ियां चहचहाने लगीं। राजकन्या लक्ष्मीवती बिस्तर से उठ बैठी। विक्रम जागते ही बैठे थे।

लक्ष्मीवती ने पूछा—'आप कब जाग गए ?'

'मैं पहले ही उठ गया था। अरे, देखो तो सही, हम अवंती की सीमा में पहुंच गए हैं।'

लक्ष्मीवती ने खड़े होकर नगरी की ओर देखा....अवंती के गगनचुम्बी महल दृष्टिगोचर हो रहे थे।

सूर्योदय से पूर्व ही दोनों ऊंट पर बैठकर राजभवन में पहुंच गए।

विशाल राजभवन....लक्ष्मी अपने भाग्य की सराहना करने लगी।

विक्रम ने पूर्ण उल्लासपूर्ण वातावरण में लक्ष्मी के साथ विधिवत् विवाह कर उसे अर्धांगिनी बनाया।

नगरी में आनन्द-मंगल बरसने लगा।

आठ दिन पश्चात् वीर विक्रम ने नागदमनी को राजभवन में बुलाया और उसे रत्नपेटिका सौंपते हुए कहा—'यह रही रत्नपेटिका। अब पंचदंड छत्र का निर्माण करो।'

नागदमनी रत्नपेटिका को खोलकर, रत्नों की पूरी जांच कर बोली – 'महाराज! ये तो छत्र की झालर के रत्न हैं....अभी पंचदंड प्राप्त करना शेष है।'

'तो वह कहां मिलेगा ?'

'महाराज! आप सोपारक नाम की नगरी में पधारें....वहां सोमशर्मा नाम का ब्राह्मण रहता है। उसकी प्रिया का नाम है उमादे। उसका चरित्र जानकर आप यहां आएं।'

'किन्तु पंचदंड.......?'

'मैं जैसा कहूं वैसा आप करें....आपको सब कुछ ज्ञात हो जाएगा।' नागदमनी ने कहा।

विक्रम ने मन-ही-मन सोपारक नगरी जाने का निर्णय कर लिया।

५३. नारी की लिप्सा

सोपारक नगरी अवंती के उत्तर में लगभग तीन सौ कोस की दूरी पर थी। चार दिन बाद वीर विक्रम अपने परिवारजनों तथा मंत्रियों से आज्ञा लेकर अपने मित्र अग्निवैताल के सहयोग से सोपारक नगरी की सीमा में रात्रि के चतुर्थ पहर में पहुंच गया।

अग्निवैताल बोला – 'महाराज! इस प्रवास का कारण क्या है ?'

'पंचदंड की प्राप्ति के लिए मैंने यह प्रवास करने का निश्चय किया है।' विक्रम ने कहा।

'ओह! नागदमनी के कथनानुसार आपका पुरुषार्थ चल रहा है। इस कार्य में मेरा कोई उपयोग हो सके तो...'

'मित्र! तुम्हारी सहायता के बिना मैं एक डग भी नहीं भर सकता। जब-जब आश्यकता होती है तब मैं तुम्हें याद करता ही हूं। इस कार्य में जब-जब आवश्यकता महसूस होगी तब-तब तुम्हें याद करूंगा ही। मैं तुम्हें साथ ही रखता, पर अभी तुम नवपरिणीत हो, मुझे भाभी के उलाहने का भय लगता है। मुझे उसके निःश्वास नहीं सुनने हैं।'

दोनों हंसने लगे। अग्निवैताल विक्रम की अनुमति ले अदृश्य हो गया।

रात्रि का चौथा प्रहर चल रहा था। मंद प्रकाश में भी सोपारक नगरी की रमणीयता स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो रही थी।

पास में एक स्वच्छ सरिता भी बहती थी। विक्रम ने वहां प्रातःकार्य सम्पन्न किया और प्रातःकाल होने पर वीर विक्रम अपना थैला लेकर नगरी की ओर चल पड़ा।

नगरी में प्रवेश करते ही उसने देखा कि नगरी बहुत सुन्दर है। वहां की प्रजा भी स्वस्थ है। वीर विक्रम एक पांथशाला में पहुंचा। उस समय उसका ब्राह्मण वेश था, इसलिए पांथशाला के संचालक ने उसका सम्मान-सत्कार किया।

पांथशाला में भोजन-व्यवस्था भी उत्तम थी। विक्रम ने भोजन की सूचना देकर थैला साथ लिया और नगरी को देखने प्रस्थान किया। नगरी के बाजार स्वच्छ और सुन्दर थे। वहां के मंदिर आकर्षक थे। वीर विक्रम ने पांच स्वर्ण-मुद्राओं को स्थानीय मुद्रा में परिवर्तित कराया और कुछ सामान लेकर पांथशाला में आ गया।

भोजन से निवृत्त होकर वीर विक्रम निश्चिन्तता से सो गया। थकान के कारण उसे गहरी नींद आ गई और जब वह उठा तब अपराह्न हो चुका था।

उसने पांथशाला के संचालक से जाकर पूछा – 'क्या इस नगरी में सोमशर्मा नाम का कोई ब्राह्मण रहता है?'

'हां, महाराज! इस नगरी में सोमशर्मा नाम के चार-पांच ब्राह्मण हैं....आप किस सोमशर्मा को पूछ रहे हैं?'

विक्रम ने तत्काल कहा – 'जिनके उमादे नाम की धर्मपत्नी है....'

'ओह! वे तो एक महापंडित हैं। उनके घर में बड़ी पाठशाला चलती है और अनेक विद्यार्थी उनके घर पर रहकर ही विद्याध्ययन करते हैं। क्या वे आपके कोई सगे-संबंधी हैं?'

'सगे-संबंधी तो नहीं....किन्तु मुझे वेदों की कुछ आवश्यक जानकारी करनी है, इसलिए मैं उनसे मिलना चाहता हूं।'

'अरे, उनका घर तो यहां से बहुत निकट है....आप इस मार्ग से चले जाएं, आगे तीन गलियां आएंगी। दायीं गली में जाकर आप पूछें कि पंडितजी की पाठशाला कहां है, कोई भी बता देगा।' संचालक ने कहा।

विक्रम अपना थैला पांथशाला में रखकर सोमशर्मा से मिलने चल पड़ा।

कुछ ही क्षणों में वह एक भव्य मकान के पास पहुंच गया। उस भवन के आंगन में चार-पांच विशाल वृक्ष थे। विक्रम अन्दर गया। पंडित सोमशर्मा अपने निवासगृह में बाहर के बरामदे में बैठे थे। उनके सामने पांच विद्यार्थी जमीन पर बैठे थे। वीर विक्रम ने पंडितजी को नमस्कार किया। पंडित ने इस नवीन युवक को देखा और आशीर्वाद देते हुए कहा – 'आओ भाई! कहां रहते हो?'

'मैं अवंती नगरी में रहता हूं' – कहकर विक्रम फर्श पर बैठ गया।

'इधर यात्रा के लिए निकले हो?'

'जी नहीं, केवल आपके पास ही आया हूं। मेरे गुरु पंडित भट्टमात्र ने मुझे यहां भेजा है।'

'पंडित भट्टमात्र ! क्या वे अवंती में पाठशाला चलाते हैं ?'

'जी हां ! उन्होंने मुझे सामवेद सीखने के लिए यहां भेजा है। मुझ पर कृपा कर आप मुझे सामवेद का ज्ञान दें।'

'उत्तम ! उत्तम.....सामवेद के गायक तो मालव और गुजरात में भी अनेक हैं....! परन्तु तुम बहुत दूर से आए हो। मैं तुम्हें निराश नहीं करूंगा। तुम यहां कहां ठहरे हो ?'

'मैं एक पांथशाला में ठहरा हूं।'

'तो तुम्हें यहां आना पड़ेगा और कम-से-कम छह मास यहीं रहना होगा। यहां तुम्हें भोजन भी मिल जाएगा। निवास के लिए अन्य विद्यार्थियों के साथ रहना होगा।'

'मैं धन्य हुआ, पंडितजी !' कहकर विक्रम ने सोमशर्मा की ओर देखा। सोमशर्मा का चेहरा तेजस्वी और कपाल भव्य था। वे लगभग चालीस वर्ष के लग रहे थे।

'तुम्हारा नाम ?'

'वल्लभ विक्रम।'

'नाम सरस है। तुम्हारे अवंती के राजा का नाम भी विक्रमादित्य है। क्यों ?'

'जी हां।'

'अच्छा तो तुम कल यहां सूर्योदय के बाद तीन घटिका बीत जाने पर आ जाना। वहां पांथशाला में यदि सुविधा न हो तो अभी तुम अपना सामान लेकर आ सकते हो।'

'जी ! मैं कल ही आपके चरणों में उपस्थित होऊंगा।'

उसी समय पंडितजी की तीस वर्षीया पत्नी उमादे खंड में आयी और स्वामी के चरणों में नमन कर बोली – 'स्वामी ! आपके लिए क्या भोजन बनाऊं ?'

'प्रिये ! मेरे लिए कोई विशेष वस्तु बनाने की आवश्यकता नहीं है। जो भी होगा ठीक है।'

'नहीं, प्रभु ! आपको बहुत श्रम करना पड़ता है। जो कुछ आपको खिलाने से मेरा मन कैसे माने ? आपकी आज्ञा हो तो आज क्षीरमोदक बनाऊं।'

सोमशर्मा ने प्रसन्न दृष्टि से पत्नी की ओर देखकर कहा, 'जैसी तुम्हारी इच्छा ! प्रिये ! देखो, यह एक नौजवान विद्यार्थी कल से अपनी पाठशाला में आएगा। यह ठेठ अवंती से सामवेद पढ़ने आया है।'

उमादे ने विक्रम की ओर देखा भी नहीं। उसने मात्र इतना ही कहा, 'आपने नये शिष्य के लिए निवास-स्थान कौन-सा रखा है ?'

'तुम्हें जहां योग्य लगे वहां।'

'अच्छा' कहकर उमादे पति की चरणरज मस्तक पर चढ़ाकर शांत भाव से चली गई।

विक्रम ने देखा कि उमादे देखने में अत्यन्त शांत है, किन्तु इसका रूप अजोड़ है। इसके शरीर को वय का अधिक स्पर्श नहीं हुआ है। देखने वाले को यही लगता है कि यह बीस वर्ष की युवती है।

फिर विक्रम सोमशर्मा को नमस्कार कर विदा हो गया। दूसरे दिन वह यथासमय अपना सामान लेकर वहां आ पहुंचा।

पंडितजी ने उसके निवास की विशेष व्यवस्था की। सभी विद्यार्थियों से विलग उसका निवास था।

वीर विक्रम ने गुरुदेव का हार्दिक आभार माना। सोमशर्मा ने उसके मस्तक पर हाथ रखकर कहा, 'वल्लभ! सामवेद का प्रारम्भ दस दिन के बाद होगा, क्योंकि महाज्ञान की प्राप्ति के लिए दिन अच्छा होना चाहिए।'

'ठीक है, गुरुदेव! आपके आशीर्वाद से मेरा कल्याण अवश्य होगा।'

वीर विक्रम को पंडितजी की पाठशाला में स्थान मिल गया। उसे बहुत संतोष हुआ। उसे सामवेद आदि कुछ भी सीखना नहीं था। उसे तो केवल उमादे के चरित्र को जानना था।

और दो दिन में विक्रम यह जान सका कि उमादे का आचार एक पतिव्रता नारी जैसा ही है। वह किसी के सामने ऊंची नजर करके भी नहीं देखती थी, स्वामी की भक्ति में परम आह्लाद का अनुभव करती और स्वामी की छाया बनकर रहती थी। उमादे का व्यवहार उत्तम था। उस-जैसी स्वामिभक्ति तो भाग्य से ही देखने को मिलती। किन्तु उसकी आंखों में कोई जादू था। उसके यौवन में अपूर्व चंचलता थी। ऐसा क्यों? विक्रम ने मन-ही-मन सोचा, रात को जागते रहने के सिवाय इस नारी के चरित्र को नहीं परखा जा सकता। इसलिए रात को सोने का बहाना कर जागते रहना चाहिए।

जहां विक्रम सोता था, वहां दूसरे ग्यारह विद्यार्थी और पंडितजी भी सोते थे। पास वाले कक्ष में उमादे सोती थी।

पंडितजी के आश्रम का यह एक नियम था कि रात्रि के प्रथम प्रहर के पूरा होते ही सब विद्यार्थी सो जाएं और रात्रि के चौथे प्रहर के प्रारम्भ में उठ जाएं और पाठ की आवृत्ति करें।

पंडितजी भी इसी नियम को पालते थे और इसलिए वे विद्यार्थियों के साथ सो जाते।

रात्रि के दूसरे प्रहर की तीन घटिकाएं बीती होंगी। पाठशाला में नीरव शांति। सभी गहरी नींद में सो रहे थे। केवल विक्रम नींद का बहाना कर जाग रहा था।

अचानक उसके कानों से पदचाप का शब्द टकराया। उसने द्वार की ओर देखा। उसी समय उमादे खण्ड में आयी। वहां एरंड तेल का एक छोटा दीया जल रहा था। उसके मृदु-मंद प्रकाश में भी विक्रम ने देखा कि उमादे के शरीर पर उत्तम वस्त्रालंकार शोभित हो रहे हैं। उसके हाथ में एक दंड भी है। उस समय वह कोई कामरंभा जैसी सुन्दर लग रही थी।

उमादे ने सबसे पहले विद्यार्थियों की ओर दृष्टि दौड़ाई। उसने अपना दंड ऊपर उठाकर पंडितजी पर तीन बार घुमाया। फिर वह बाहर निकल गई।

विक्रम भी धीरे से उठा। पदचाप न हो, इसका ध्यान रखता हुआ वह खंड से बाहर आया। विक्रम ने सोचा – यह सती-साध्वी दिखने वाली नारी इस समय कहां जाती होगी? इसने इतने सुन्दर वस्त्र और अलंकार क्यों धारण किए हैं? क्या यह अपने प्रियतम से मिलने जा रही है?

विक्रम के इन प्रश्नों का उत्तर कौन दे? देखते-देखते उमादे एक विशाल वटवृक्ष के पास आकर खड़ी हो गई। उसने अपने दंड को तीन बार भूमि पर पटका और फिर तत्काल वृक्ष पर चढ़ गई। उसी क्षण वह विशाल वृक्ष भूमि से उठा और आकाश-मार्ग में उड़ता हुआ अदृश्य हो गया।

इस दृश्य को देखकर विक्रम के मन में भारी उथल-पुथल होने लगी। अपनी शय्या पर न जाकर वह वहीं छिपकर बैठ गया।

मन में जब आश्चर्य जागता है, तब नींद काफूर हो जाती है। प्रतीक्षा करते-करते दूसरा प्रहर पूरा हो गया। रात्रि का तीसरा प्रहर भी आधा बीत गया। तभी विक्रम ने देखा कि आकाश-मार्ग से वटवृक्ष नीचे उतर रहा है। यह देखकर वह तत्काल अपनी शय्या पर चला गया। उमादे वृक्ष से नीचे उतरी। वह अपने पति के खंड में आयी। पहले उसने ग्यारह विद्यार्थियों की ओर दृष्टि डाली। फिर अपने स्वामी पर दंड को तीन बार घुमाया और वह अपने खंड में चली गई।

उमादे के इस स्वरूप को देखकर विक्रम के मन में अनेक प्रश्न जागे। उसने मन-ही-मन निश्चय किया कि वह कल उसके साथ जाकर उमादे के चरित्र की परीक्षा करेगा।

चौथा प्रहर प्रारम्भ हुआ। सभी विद्यार्थी जाग गये। विक्रम भी जाग गया। विद्यार्थियों का मधुर कलरव प्रारम्भ हुआ। सर्वत्र संस्कृत श्लोकों की आवृत्तियां होने लगीं।

उमादे भी जागृत होकर एक हाथ में जल का पात्र और दूसरे हाथ में परात लेकर अपने स्वामी पंडितजी के पास आयी। परात में स्वामी के चरण रख पानी से धोए और नमन कर चरणामृत पी गई।

पंडितजी ने अपनी सती पत्नी के मस्तक पर हाथ रखकर प्रसन्नता व्यक्त की। विक्रम ने सोचा, कामिनी कितनी दंभी और कुटिल होती है। मध्यरात्रि में शृंगार करके कहीं जाती है और प्रातःकाल स्वामी का चरणामृत पीती है! वाह रे दुनिया! वाह रे नारी!

दूसरी रात।

उमादे ने स्वामी की चरणरज मस्तक पर चढ़ाई। भोजन-कार्य से निवृत्त होने के पश्चात् उमादे ने स्वामी की पगचंपी प्रारम्भ की।

वीर विक्रम गुरु को नमस्कार कर अपनी शय्या पर आकर सोने की तैयारी करने लगा। और सभी विद्यार्थी सो गए थे। विक्रम ने अपने मुंह में अदृश्यकरण गुटिका डाली और बिछौने पर कोई सो रहा है, ऐसा दिखावा कर वह बाहर आ गया।

दो घटिका के बाद उमादे उत्तम वस्त्रालंकार धारण कर बारह आयी। विक्रम सावधानीपूर्वक उस वटवृक्ष के कोटर में जाकर बैठ गया।

उमादे वृक्ष के पास आयी। तीन बार अपना दंड पृथ्वी पर पटका और वह वृक्ष पर चढ़कर आकाश-मार्ग से उड़ने लगी।

और मात्र एक ही घटिका में अनेक विशाल सरिताएं और सागर को पार कर वृक्ष आगे बढ़ गया।

विक्रम अवाक् बनकर देखता रह गया। बिलकुल शांत और कायर जैसी दीखने वाली नारी का यह कैसा साहस है? इस रात्रि के उड़ान में भी इसे भय नहीं लगता?

और वह वटवृक्ष एक पहाड़ी पर उतरा। उमादे नीचे उतरी। विक्रम भी कोटर से बाहर निकला और उमादे के पीछे-पीछे चल पड़ा। अदृश्यकरण गुटिका के प्रभाव से कोई भी देव-दानव या मानव — उसे नहीं देख सकता था।

चलते-चलते विक्रम का विस्मय बढ़ता जा रहा था। यह प्रदेश अत्यन्त अपरिचित और भव्य था। यहां का पवन भी अतिप्रेरक और मस्त था।

कुछ ही क्षण चलने के पश्चात् एक विशाल मंदिर दिखाई दिया। मंदिर में सूर्य जैसा प्रकाश था। उमादे मंदिर के सोपान चढ़ने लगी।

विक्रम भी उसके पीछे ही चल रहा था।

मंदिर के द्वार खुले थे। उमादे अन्दर गई। विक्रम एक ओर गुप्त रूप से खड़ा रह गया।

सामने देवी माता की एक भव्य प्रतिमा थी। प्रतिमा मणिरत्न की होने के कारण उससे सूर्य जैसा प्रकाश बिखर रहा था। विक्रम ने ऐसी प्रतिमा पहले कभी नहीं देखी थी। यह देवी कौन होगी ? यह मंदिर कहां है ? यहां क्या होने वाला है ?

उमादे ने माता की मूर्ति के समक्ष हाथ जोड़कर कहा, 'हे निर्जरा देवी ! मैं आपके चरणकमलों में नमन करती हूं।' ऐसा कहकर उसने एक स्तुति का गान प्रारम्भ किया।

विक्रम आश्चर्यचकित रह गया। मंदिर के विशाल सभामंडप में चौंसठ योगिनियां और बावन वीर एक-एक कर आए और अपने-अपने आसन पर बैठ गये।

विक्रम का आश्चर्य बढ़ रहा था।

उमादे ने सबको नमस्कार किया। उसी समय लाल नेत्रों वाला क्षेत्रपाल रोष भरे स्वरों में बोला, 'उमादे ! तेरी साधना से प्रसन्न होकर जब मैंने तुझे सर्वरस दंड दिया था, उस दिन तूने जो शर्त की थी, वह याद है ? उस बात को बहुत समय बीत गया। सर्वरस दंड के प्रभाव से तू आधी रात में अपने प्रेमी के पास चली जाती है, किन्तु हमारे लिए बलि की व्यवस्था करना भूल जाती है। इस प्रकार विलम्ब करना तेरे लिए उचित नहीं है।'

क्षेत्रपाल की ओर दोनों हाथ जोड़कर, मस्तक नमाकर, विनम्र स्वरों में उमादे बोली– 'कृपालु ! मुझे वह शर्त याद है। मैं एक क्षण के लिए भी नहीं भूल पायी हूं, किन्तु उत्तम लक्षण साले चौंसठ पुरुषों को प्राप्त करना बहुत ही कठिन कार्य है। आपकी कृपा से अब चौंसठ पुरुष एकत्रित हो गए हैं। अब मैं उन चौंसठ पुरुषों को चौंसठ योगिनियों के लिए बलि रूप में दे सकूंगी और अपने पति को आपके लिए अर्पित करूंगी।'

'तो फिर विलम्ब किसलिए ?'

'इसीलिए तो आज अपने प्रियतम के पास न जाकर आप सबके दर्शन करने आयी हूं। आप कहें उस दिन और उस व्यवस्था से मैं बलि की तैयारी करूं।'

'तो सुन ! छह दिन बाद कृष्णा चतुर्दशी है। उस दिन रात्रि के प्रथम प्रहर के पश्चात् अपने भवन में चौंसठ मंगल करना और पैंसठवां मंगल अपने पति का करना। फिर इन मंगलों में चौंसठ विद्यार्थियों को और अपने पति को स्नान-शुद्ध कर, कणेर की फूल-मालाएं पहनाकर बिठाना। प्रत्येक के भाल पर तिलक करना। प्रत्येक के रक्षा-बंधन बांधना और सबके सामने भोजन का थाल रखना। उस समय हम सब अदृश्य रूप से वहां आ पहुंचेंगे और सबका भक्ष्य ले लेंगे।'

उमादे बोली—'देव! आगामी चतुर्दशी के दिन मैं ज्यों-त्यों मायाजाल बिछाकर आपके कथनानुसार करूंगी। आप उस रात मेरे यहां अवश्य पधारना और बलि स्वीकार कर मुझे मुक्त कर देना।'

यह बातचीत सुनकर विक्रम स्तब्ध रह गया। ओह! यह दुष्ट नारी केवल अपने शारीरिक सुखोपयोग के लिए चौंसठ व्यक्तियों का बलिदान करने को तैयार है और सोपारक नगरी के मनुष्य इस नारी को श्रेष्ठ सती मानकर इसकी पूजा करते हैं।

उमादे और क्षेत्रपाल की बात पूरी होते ही विक्रम तत्काल लौट गया और वटवृक्ष के कोटर में छिपकर बैठ गया।

कुछ समय पश्चात् उमादे भी आ गई। उसने तीन बार दंड भूमि पर पटका और वृक्ष पर चढ़ गई।

उसी क्षण वृक्ष आकाश-मार्ग से उड़ा और जब वह पंडितजी के आंगन में पहुंचा, तब रात्रि के तीसरे प्रहर की तीसरी घटिका चल रही थी।

उमादे वृक्ष से उतरकर सीधी अपने स्वामी की शय्या के पास गई। सर्वरस दंड को तीन बार घुमाया और फिर अपने खण्ड में चली गई।

विक्रम भी चौंसठ विद्यार्थियों के बलिदान की बात सोचता-सोचता शय्या पर करवटें बदलने लगा।

उसके मन में एक ही प्रश्न घूमता था—इस नारी के मायाजाल से पैंसठ आदमियों को कैसे निकाला जाए?

५४. चरित्रहीन उमादे

रात्रि के चौथे प्रहर की आवृत्ति पूरी होने पर पंडित सोमशर्मा अपने सभी शिष्यों के साथ स्नान करने नदी पर गए।

वीर विक्रम भी उनके साथ ही था। वह पंडितजी से एकान्त में बात करना चाहता था। सभी विद्यार्थी जब नदी में स्नान करने उतरे, तब वीर विक्रम ने पंडितजी का हाथ पकड़कर कहा, 'गुरुदेव! मुझे आपसे एकान्त में बात करनी है।'

'अवश्य।' कहकर सोमशर्मा नदी के किनारे पर खड़े एक वृक्ष की ओर गए।

दोनों वृक्ष के नीचे पहुंचे। पंडितजी बोले, 'आयुष्मान्! तुम्हें किस विषय की बात करनी है?'

'बात करने से पूर्व एक प्रश्न पूछूं?'

'अवश्य....।'

'आपने कितने शास्त्रों का अभ्यास किया है?'

'ऐसा प्रश्न क्यों करते हो ? क्या मेरे शास्त्र-ज्ञान के प्रति तुम्हें कोई सन्देह हुआ है ?'

'नहीं, ऐसा नहीं है....मैं मात्र जानना चाहता हूं।'

सोमशर्मा ने प्रसन्न स्वरों में कहा, 'वत्स चारों वेद मेरी जिह्वाग्र पर स्थित हैं। काव्य, नाट्य, राजनीति, ज्योतिष, अर्थशास्त्र, आरोग्य-शास्त्र, व्याकरण आदि सभी शास्त्रों का मैंने अभ्यास किया है।'

'तब तो बहुत उत्तम है.....आपकी आयुष्य-मर्यादा कितनी है, कृपा कर यह बताएं।'

'इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।'

'यदि आप आज्ञा करें तो मैं आपकी आयुष्य-मर्यादा पर प्रकाश डाल सकता हूं।' वीर विक्रम ने गम्भीर स्वरों में कहा।

'आश्चर्य! बोलो, देखूं तो....'

'गुरुदेव! आज कृष्णपक्ष की नवमी है। आज से छठे दिन चतुर्दशी है। उस चतुर्दशी की रात को आप और आपके सभी शिष्य मौत के मुंह में चले जाएंगे।'

'अशक्य....।'

'पंडितजी! मैं सत्य कह रहा हूं। यदि आप विश्वासपूर्वक मेरी बात सुनना चाहें, और मन में ही उसे रखें तो मैं विस्तार से आपको बताऊं।'

पंडितजी बैठ गए और बोले, 'बोलो, मैं निश्चिंतता से सुनूंगा।'

वीर विक्रम पंडितजी के सामने बैठकर बोला, 'महात्मन्! आपकी पत्नी सती-लक्ष्मी हैं....किन्तु वे केवल दंभ करती हैं।' कहकर विक्रम ने गत रात वाली बात संक्षेप में सुना दी।

पंडितजी अवाक् रह गए। स्वयं की पत्नी इतनी दुष्ट है, ऐसा वे स्वप्न में भी मानने को तैयार नहीं थे। वल्लभ विक्रम की बात भी बहुत वजनदार थी। उसे सुनकर वे विचारमग्न हो गए।

वीर विक्रम ने कहा, 'महात्मन्! आपकी पत्नी ने आपकी और आपके सभी शिष्यों की बलि देने का निश्चय किया है। यदि ऐसा नहीं होता तो मैं आपको यह बात कहता ही नहीं। मैं समझता हूं कि आप अपनी पत्नी के बाह्य आचरण से मुग्ध बने हुए हैं और आप उनके विषय में कोई संशय भी नहीं कर सकते। अभी चतुर्दशी के बीच अनेक दिन शेष हैं। मेरा अनुमान है कि आपकी पत्नी आज अपने यार से मिलने अवश्य जाएगी। इसलिए आप मेरी बात की परीक्षा कर लें, फिर हमें क्या करना है, इस विषय में सोचेंगे। मेरा प्रयोजन केवल आपको तथा आपके शिष्यों को बचाना है।'

'तुम्हारी बात की मैं परीक्षा करूंगा। मैं किसी को इस विषय में एक शब्द भी नहीं कहूंगा।'

वीर विक्रम ने कहा, 'तो आज रात्रि से पूर्व आप यह बात प्रचारित करें कि आप एक रात भर के लिए किसी गांव जा रहे हैं। आप मुझे साथ लेकर जाएं। रात्रि के दूसरे प्रहर में हम भवन में लौट आएंगे और कहीं छिप जाएंगे।'

'ऐसा क्यों ? यदि घर पर ही रहें.....'

बीच में ही विक्रम बोला, 'आपकी पत्नी आपको सर्वरस दंड से निद्राधीन कर देती है....फिर आप जाग नहीं पाते।'

'ठीक है।' कहकर पंडितजी खड़े हुए।

सभी शिष्य स्नान आदि से निवृत्त हो चुके थे। पंडितजी और विक्रम ने भी स्नान किया। सभी भवन की ओर प्रस्थित हुए।

घर पहुंचकर ज्यों ही पंडितजी अपने कक्ष की ओर गए, तत्काल उमादे सामने आकर विनय-भरे स्वर में बोली — 'प्राणप्रिय ! आज आपको इतना विलम्ब कैसे हुआ ? आपका चरणामृत लिये बिना मैं दन्तधावन भी नहीं कर सकती, क्या आप यह भूल गए ?'

पंडितजी ने मधुर स्वरों में कहा, 'प्रिये ! सती नारी का आदर्श मैं कैसे भूल सकता हूं ? किन्तु नये शिष्य वल्लभ के साथ शास्त्र-चर्चा करते हुए कुछ विलम्ब हो गया। वल्लभ बहुत तेजस्वी है। मुझे प्रतीत होता है कि भविष्य में यह सामवेद का महान् गायक बनेगा।'

उमादे ने प्रसन्न दृष्टि से स्वामी की ओर देखा और चरण धोकर चरणामृत का पान किया, फिर वह दंतधावन करने अन्यत्र चली गई।

पंडितजी ने सोचा, ऐसी सुन्दर और व्रतधारिणी पत्नी में कलंक हो ही नहीं सकता। जरूर ही वल्लभ ने कोई दु:स्वप्न देखा होगा। फिर भी पंडितजी ने योजना के अनुसार परीक्षा करने का निश्चय किया।

मध्याह्न के समय पंडित सोमशर्मा और पांच-सात छात्र वृक्ष के नीचे बैठे थे। उस समय पति को वंदना करने उमादे आयी। पंडितजी ने कहा, 'प्रिये ! एक रात भर के लिए मैं तुम्हारे पर सारी जिम्मेदारी देता हूं।'

'आज्ञा करें....।'

'कुछ समय पश्चात् मुझे यहां से तीन कोस की दूरी पर चंद्रपल्ली गांव में जाना है....मुझे वहां एक रात रुकना है। प्रात:काल स्नान आदि से निवृत्त होकर लौट आऊंगा।'

'स्वामी ! आपके कार्य को संभालना मेरे बलबूते की बात नहीं है। किन्तु आप जब तक नहीं पधारेंगे, तब तक मैं अन्न-जल भी ग्रहण नहीं कर सकूंगी, इस बात को आप याद रखें।' उमादे ने कहा।

वीर विक्रम भी वहां बैठा था। इस स्त्री का यह दंभ देखकर उसका हृदय आश्चर्य से भर गया।

पंडितजी बोले, 'देवी ! तुम स्वामी का वियोग क्षण-भर के लिए भी सहन नहीं कर सकती, यह मैं जानता हूं। ऐसे तो मैं तुम्हें साथ ही ले जाता, किन्तु इतने सारे छात्रों की निगरानी तुम्हारे बिना कौन कर सकेगा ?'

'स्वामी ! आप निश्चिन्त होकर पधारें। आपका स्मरण मुझे बल प्रदान करेगा। किन्तु आप अकेले न जाएं, साथ में एक शिष्य को अवश्य ले जाएं।'

'प्रिये ! वल्लभ बहुत विद्वान् और विनीत है। मैं उसे ही साथ ले जाऊंगा। उसके साथ शास्त्र-चर्चा भी होती रहेगी और मार्ग भी सुगमता से कट जायेगा।'

उमादे ने स्वामी के चरणों में मस्तक नमाया और तिरछी दृष्टि से नौजवान वल्लभ की ओर देख लिया। विक्रम तो एक बालक की भांति शांत बैठा था।

और कुछ ही समय पश्चात् पंडितजी वीर विक्रम को साथ लेकर गांव के लिए चल पड़े।

उमादे का मन निश्चिन्त हुआ। उसने सोचा, आज पूरी रात अपने प्रियतम के साथ बिता पाऊंगी।

रात्रि का पहला प्रहर पूरा हो उससे पूर्व ही पीछे के रास्ते से पंडितजी और विक्रम—दोनों अन्दर पहुंच गए और घास के एक ढेर के पीछे छिप गए।

जब सभी छात्र प्रार्थना कर शयन के लिए अपने-अपने स्थान पर चले गए, तब वीर विक्रम ने कहा, 'गुरुदेव ! उस सामने वाले वटवृक्ष के कोटर में आप छिपकर बैठ जाना और किसी को पता न चले, इस प्रकार अपनी पत्नी के पीछे चले जाना।'

उमादे अपने कक्ष में साज-शृंगार कर रही थी। पंडितजी लुकते-छिपते वट-वृक्ष के पास पहुंचे और वृक्ष के कोटर में शरीर को संकोच कर बैठ गए। अभी भी उनके मन में यह विश्वास नहीं हो रहा था कि उमादे वैसी है। उनको वल्लभ की बात स्वप्न के समान लगने लगी।

किन्तु जब उमादे सोलह शृंगार सजकर सर्वरस दंड को घुमाती-घुमाती वटवृक्ष के पास आयी, तब पंडितजी का विश्वास डोला। कुछ ही क्षणों के पश्चात् उमादे ने उस दंड को तीन बार पृथ्वी पर पटका और स्वयं वृक्ष पर चढ़ गई। वटवृक्ष तत्काल आकाश-मार्ग से उड़ने लगा।

पंडितजी का हृदय अत्यन्त व्यथित हो रहा था। वे साथ-साथ आश्चर्यचकित भी थे कि जिस नारी के वदन को देखकर यह कल्पना भी नहीं की जा सकती, ऐसी व्रतधारिणी पत्नी क्या ऐसी कुलटा भी हो सकती है?

अर्धघटिका में वटवृक्ष एक छोटे से उपवन के बीच स्थित एक मकान के पास उतरा।

उमादे तत्काल वृक्ष के नीचे उतर गई और आस-पास दृष्टिपात करती हुई मकान की ओर बढ़ी। पंडितजी इतने हताश हो चुके थे कि मानो उनमें वृक्ष-कोटर से निकलने की भी शक्ति चुक गई हो। इतना होने पर भी ज्यों-त्यों शक्ति को बटोर कर वे बाहर निकले और मकान की ओर देखा। उमादे मकान के द्वार पर दस्तक दे रही थी।

कुछ ही क्षणों के पश्चात् द्वार खुला। एक पुरुषाकृति दिखाई दी और उमादे उसके साथ अन्दर गई। मकान का द्वार बंद हो गया।

पंडितजी भी आश्चर्यविमूढ़ होकर मकान के पास गए। किन्तु अन्दर कैसे जाएं? कुछ सोचकर वे एक दीवार फांदकर अन्दर उतरे और पदचाप न हो, इस दृष्टि से धीरे-धीरे आगे बढ़े।

इस भवन में कोई दूसरा मानव रहता हो, ऐसा नहीं लगता था। पंडितजी धीरे-धीरे एक ऊंचे स्थान पर चढ़े। उन्होंने देखा, एक खंड में कुछ प्रकाश है। किन्तु उस खंड का द्वार बंद था। पंडितजी ने देखा कि कोई वातायन खुला है या नहीं? एक वातायन खुला था, किन्तु वह इतना ऊंचा था कि वहां पहुंचकर अन्दर देख पाना शक्य नहीं था।

पंडितजी असमंजस में पड़ गए। अन्दर पत्नी क्या कर रही है, यह जानने की उत्कट इच्छा को वे दबा नहीं सके, और कोई मार्ग भी नहीं दिख रहा था।

अचानक उनकी दृष्टि द्वार के एक छिद्र पर पड़ी। तत्काल वे द्वार के पास गए और उस छिद्र से भीतर का दृश्य देखने लगे।

उस खंड में प्रकाश फैल रहा था। सामने पलंग पड़ा था और पंडितजी वहां का दृश्य देखकर स्तब्ध रह गये। उनके हृदय की धड़कन बढ़ गई। उमादे निरावरण हो चुकी थी। काले रंग का वह पुरुष भी निरावरण था। दोनों एक पलंग पर बैठ गए। एक थाल में कुछ खाद्य सामग्री पड़ी थी। वे एक-दूसरे के मुंह में कवल दे रहे थे। एक त्रिपदी पर मैरेय का पात्र पड़ा था। मिट्टी के दो प्याले भी रखे थे। खाते-खाते वह पुरुष बोला, 'उमा! अब इस प्रकार कब तक चलेगा?'

'प्राणेश! अब अधिक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ेगी। इस चतुर्दशी की काल-रात्रि में मेरे पति और सभी विद्यार्थी सदा के लिए नष्ट हो जाएंगे। फिर मैं यहीं आ जाऊंगी।'

भोजन पूरा होने पर उस पुरुष ने दोनों प्याले मदिरा से भरे। एक प्याला उमादे के हाथ में देते हुए वह बोला, 'प्रिये! तू मुझे पिला और मैं तुझे पिलाऊंगा।'

दोनों ने एक-दूसरे को मद्यपान कराया। कुछ ही क्षणों में दोनों मस्त बन गए।

पंडितजी की धड़कन बढ़ रही थी—क्या मेरी पत्नी इतनी कुलटा है? ओह! इसका सती का अभिनय क्या मेरे विनाश के लिए ही था? जो नारी स्वामी का चरणामृत लिये बिना कुछ खाती-पीती नहीं, क्या वह मैरेय पान कर....।

ओह!

पंडितजी ने देखा—दोनों रतिक्रीड़ा की तैयारी कर रहे थे। पंडितजी ने सोचा, अब इस पापकृत्य को न देखना ही अच्छा है। वे तत्काल मुड़े और जिस रास्ते से आए थे, उसी रास्ते से चलकर वृक्ष के कोटर में जा बैठे।

पंडितजी को मानो हजार बिच्छुओं ने एक साथ काट खाया हो, ऐसी पीड़ा होने लगी। यदि वल्लभ ने यह नहीं देखा होता तो पांच दिन बाद मेरी और मेरे सभी विद्यार्थियों की मौत निश्चित थी। निश्चित ही वल्लभ ने मेरे पर परम उपकार किया है।

किन्तु ऐसे बदसूरत और काले-कुरूप व्यक्ति पर उमादे मुग्ध कैसे बनी होगी? ओह, नारी के मन को पहचान पाना भगवान् के लिए भी कठिन है। नारी कब, कहां और क्या करेगी, कोई नहीं जान सकता। मैं आज तक उमादे को सती मानकर अंधा बना रहा। इसका व्रतनियमों का पालन अभिनय-मात्र था, यह आज स्पष्ट हो गया।

इस प्रकार असंख्य विचारों की उथल-पुथल के बीच पंडितजी वृक्ष के कोटर में बैठे रहे....फिर जाकर देखूं कि उस खंड में क्या हो रहा है? फिर सोचा—नहीं-नहीं....पापियों के पापकर्म को क्यों देखना चाहिए? यदि पापकृत्य देखकर मैं आवेश में कुछ कर बैठा तो पांच दिन बाद आने वाली मृत्यु आज हो जाएगी।

रात्रि का तीसरा प्रहर प्रारंभ हुआ। पंडितजी ने आस-पास देखा, किन्तु वे यह निर्णय नहीं कर पाये कि यह स्थान क्या है? कहां है? तब तीसरे प्रहर की एकाध घटिका शेष रही तब मकान का द्वार खुला और पंडितजी ने देखा कि दोनों वृक्ष की ओर आ रहे हैं।

पंडितजी अकुलाहट अनुभव कर रहे थे—कहीं मुझे ये देख न लें? मेरे से कोई आवाज न निकल जाए। मनुष्य को मौत का भय सबसे दारुण लगता है।

कुछ ही क्षणों में उमादे अपने प्रेमी के साथ वृक्ष के पास आ गई। विदाई के समय उस प्रेमी ने उमादे को बाहुपाश में जकड़ लिया और पांच-छह चुंबन लेते हुए कहा—'उमा! कल मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करूंगा।'

'अवश्य, प्रियतम! तुम्हारे बिना मुझे एक क्षण भी चैन नहीं पड़ती। मैं अवश्य आऊंगी, किन्तु कल मृगमांस का भोजन तैयार कर रखना है।'

'तुझे मृगमांस प्रिय है, यह मैं जानता हूं, किन्तु आज मुझे मृग नहीं मिला, इसलिए कुक्कर का मांस पकाया था।'

उसके पश्चात् उस पुरुष ने पुनः उमादे को चूमा। उमादे ने तब उस दंड को तीन बार भूमि पर पटका और वह एक हुंकार के साथ वृक्ष पर चढ़ गई। वृक्ष वायुवेग से आकाश में उड़ने लगा और वह अपने मूल स्थान में आकर रुक गया।

वीर विक्रम एक स्थान पर छिपकर बैठा था। उमादे ने नीचे उतरकर देखा, अभी कोई जागृत नहीं हुआ था। वह मदमस्ती की चाल चलती हुई भवन में गई। अपने खंड में जाकर उसने द्वार बन्द कर लिये।

पंडितजी वृक्ष के कोटर से बाहर निकले। वीर विक्रम उनके पास आया। दोनों धीरे-धीरे पिछले द्वार से बाहर निकल गए। वे दोनों गांव के बाहर एक मंदिर के बरामदे में जा बैठे।

वीर विक्रम ने पूछा— 'क्यों गुरुदेव! मेरी बात पर कुछ विश्वास हुआ?'

'वल्लभ! तुमने मेरी आंखें खोल दीं....मैं तुम्हारा उपकार कभी नहीं भूल पाऊंगा। सती का अभिनय करने वाली यह दुष्टा मात्र प्रेमी के साथ रतिक्रीड़ा करती है। इतना ही नहीं, वह मांस-मदिरा का सेवन भी करती है।' पंडितजी ने जलते हृदय से कहा।

'आप यह क्या कहते हैं?

'हां, वल्लभ! मैंने यह सब अपनी आंखों से देखा है। मैं तुम्हारी बात को एक स्वप्न-भ्रम मानता था, किन्तु तुम्हारी बात पूर्ण सत्य निकली। अब बताओ मुझे क्या करना चाहिए?'

'करना क्या है? जो हो रहा है उसे देखना है और चतुर्दशी की रात को एक युक्ति काम में लेनी है।'

'वल्लभ! अभी उस कालरात्रि में पांच दिन शेष हैं....इस बीच यह दुष्ट नारी कुछ का कुछ कर डाले तो....।'

'यह कुछ नहीं कर सकती। यह नीची जाति की योगिनियों और क्षेत्रपाल को संतुष्ट करना चाहती है। आप पूर्ण निश्चिन्त रहें। ऐसा व्यवहार करें कि मानो कुछ भी न देखा हो, न सुना हो। चतुर्दशी की रात को क्या करना है, वह मैं बाद में बताऊंगा।'

'ओह! किन्तु अब मैं उमादे को किस दृष्टि से देख सकूंगा?'

'गुरुदेव! आप तो विद्वान् हैं, पांडित्य और धैर्य की प्रतिमूर्ति हैं। आप यदि घबरा जाएंगे तो आपकी पत्नी नीच और ओछी विधाओं के द्वारा अघटित घटित

कर देगी। आज तक जो प्रेम और स्नेह आप अपनी पत्नी के प्रति रखते रहे हैं, उसी प्रकार कुछेक दिन और रखें। स्त्रियां अभिनय में कुशल होती हैं, किन्तु पुरुष उनसे भी अधिक चतुर होते हैं।' वीर विक्रम ने कहा।

'तुम्हारी बात सही है। मैं पूर्ण सावधान रहूंगा। अब हमें नगरी में कब जाना है?'

'सूर्योदय के पश्चात् हम यहां से चलेंगे। आपकी पत्नी पूछे तो आप कहें– तुम अन्नजल बिना रहोगी, इस कल्पनामात्र से मैं कांप उठता हूं और इसीलिए हम रात्रि के चौथे प्रहर में ही वहां से विदा हो गए थे।'

वैसा ही हुआ।

सूर्योदय हुए अभी एकाध घटिका बीती होगी कि दोनों ने भवन में प्रवेश किया।

पंडितजी ने देखा, सभी विद्यार्थी जाग गए थे।

उमादे के खंड का द्वार अभी बन्द पड़ा था। विक्रम ने सोचा, आराम से सो रही होगी।

कुछ समय पश्चात् उमादे खंड से बाहर निकली। अपने स्वामी को देखकर वह बोली– 'स्वामीनाथ!'

'प्रिये तुम मेरे दर्शन किए बिना अन्न-जल ग्रहण नहीं करती, यह मेरे लिए असह्य होता है। हम इसीलिए जल्दी आए हैं। हमें अभी प्रातःकार्य करना है।'

'ओह! स्वामी! तब तो आप बहुत थक गए होंगे....अन्दर पधारें, मैं तेल-मर्दन कर दूं।'

'नहीं, प्रिये! अन्नजल के बिना तुम भी थक गई होगी–तुम्हारे स्मरण से मुझे श्रम नहीं होता।' पंडितजी ने कहा।

और सभी प्रातःकार्य में जुट गए।'

५५. कालरात्रि

कृष्णपक्ष की त्रयोदशी आ गई।

वीर विक्रम की सूचना के अनुसार पंडितजी सावधान और शांत थे, किन्तु उनके हृदय की अकुलाहट वैसी ही थी। वे बार-बार सोचते, उच्च ब्राह्मण जाति और ऊंचे कुल की कन्या होने पर भी इसमें ये दुष्ट संस्कार कैसे आ गए? मद्यपान, मांसभोजन और व्यभिचार– ये तीनों नरकगमन के हेतु हैं। ये मनुष्य का पतन करने वाले और आत्मबल को क्षीण करने वाले हैं, फिर भी उमादे को इनमें कितना रस है? इस रस की सुरक्षा के लिए शांत और कृपालु पति की भी हत्या करने को तैयार हो गई है। इतना ही नहीं, यह निर्दोष चौंसठ विद्यार्थियों की बलि देने पर भी उतारू

हो गई है। इस नारी की यह अधम मनोदशा कैसे हुई होगी ? मैंने तो इसे कभी कोई कष्ट नहीं पहुंचाया, फिर भी इसके प्राणों में ऐसी भयंकर अग्नि क्यों सुलग रही है ?

ऐसे विचार आते और पंडितजी वल्लभ के साथ विचार-विमर्श भी कर लेते। प्राय: चर्चा के लिए वे नदी-तट पर चले जाते। वीर विक्रम पंडितजी को धैर्य बंधाता और उनके चित्त को प्रसन्न रखने का प्रयत्न करता।

कृष्णा त्रयोदशी के दिन जब पंडितजी स्नान करने नदी-तट पर गए तब विक्रम ने चतुर्दशी को क्या करना है, यह भली-भांति समझा दिया। पंडितजी को कुछ आश्वासन मिला।

सभी शिष्यों के साथ पंडितजी घर आए, तब उमादे ने अपने स्वामी का चरणामृत लिया और कहा— 'स्वामी ! मेरे पर आपको कृपा करनी होगी।'

'प्रिये ! जहां प्रेम होता है वहां कृपा का कोई प्रश्न नहीं उठता। तुम्हारी इच्छा पूरी करना मेरा कर्त्तव्य है। तुम्हारी जैसी सती-साध्वी पत्नी के द्वारा ही मेरी इतनी शोभा है। बोलो, तुम्हारी क्या भावना है ?'

'स्वामिन् ! कल कृष्णा चतुर्दशी है। उस दिन मेरा व्रत पूरा होगा। यदि आप मेरे पर कृपा करें तो मैं व्रत की पूर्णाहुति विधिवत् करूं।'

'प्रिये ! तुम्हारे व्रत की पूर्णाहुति मेरे लिए परम आनन्द का विषय है। तुम कहो तो मैं दो सौ-चार सौ ब्राह्मणों को भोजन कराने का प्रबंध कर दूं।'

'नहीं, स्वामी ! ऐसा व्यर्थ व्यय अपेक्षित नहीं है और मैंने यह व्रत आपके आयुष्य-वर्धन के लिए ही किया था, इसलिए कल दूसरे प्रहर में मुझे आपके चौंसठ शिष्यों को भोजन कराना है और आप सबकी विशिष्ट प्रकार से पूजा भी करनी है।'

'बहुत अच्छा ! इसके लिए जो सामग्री चाहिए वह मैं मंगवाकर तुम्हें दे दूं। वल्लभ इस काम में बहुत निपुण है।'

'तो आप कल संध्या के समय कणेर के फूलों की छियासठ मालाएं तैयार करवाएं। शेष कार्य मैं कर लूंगी। भोजन भी मैं अपने हाथों से ही बनाऊंगी।' उमादे ने कहा।

वीर विक्रम और अन्य छह शिष्य वहां बैठे थे। उनमें विक्रम के सिवा कोई इस माया को नहीं जानता था। पंडितजी ने विक्रम की ओर देखकर कहा— 'वल्लभ ! क्या तुम कणेर की छियासठ मालाएं प्राप्त कर सकोगे ?'

'अवश्य, आपकी आज्ञा के अनुसार संध्या के समय मैं छियासठ मालाएं तैयार रखूंगा। नदी के किनारे की एक पुष्पवाटिका में कणेर के अनेक वृक्ष हैं।' फिर उमादे से विक्रम ने कहा— 'गुरुपत्नी श्री ! कणेर तीन प्रकार की होती है—लाल, पीत और श्वेत। कौन से रंग के फूलों की माला तैयार कराऊं ?'

उमादे ने विक्रम की ओर देखा। दो क्षण देखकर बोली – 'लाल रंग के फूलों की माला....।'

किन्तु इन दो क्षणों के दृष्टिपात में उमादे के हृदय में एक कंपन हुआ। यह तो अति सुंदर, स्वस्थ और प्रियदर्शन नौजवान है। ऐसा सुन्दर नौजवान घर के आंगन में आया है। इसे मैंने पूर्ण दृष्टि से आज तक नहीं देखा। अब क्या हो ?

उमादे स्वामी को नमन कर भीतर चली गई।

और नित्यक्रम के अनुसार रात के दूसरे प्रहर में उमादे वृक्ष पर बैठकर अपने प्रेमी से मिलने चली गई।

विक्रम और पंडितजी ने उसका आकाशगमन देखा। वृक्ष के अदृश्य होने पर पंडितजी बोले – 'वल्लभ! कल की योजना के पूर्व ही इस दुष्टा का अन्त कर दें तो ? मैं इस दुष्टा का कार्यकलाप देख नहीं सकता।'

'गुरुदेव! स्त्री-हत्या का पाप क्यों लिया जाए ? पापी को अपने पाप में ही तड़पना पड़ता है। हमारी योजना बहुत उत्तम है।'

'अरे वल्लभ! हम पलायन कर जाएंगे कहां ?यह अपनी नीच विद्या का प्रयोग कर हमें हैरान करेगी।'

'गुरुदेव! आप चिन्ता न करें। मैंने देखा है, इस गांव की नदी में छोटे-छोटे वाहन चलते हैं। मैं एक वाहन का इन्तजाम कर दूंगा और हम सब उसमें बैठकर दूर चले जाएंगे।'

फिर वृक्ष के आगमन की प्रतीक्षा न कर वे सीधे अपनी-अपनी शय्या पर जाकर सो गए।

चतुर्दशी की संध्या।

वीर विक्रम कणेर के फूलों की छियासठ मालाएं लेकर आ गया। उसने दो वाहन भी नक्की कर दिए और मध्यरात्रि के पश्चात् चलना है, यह भी वाहन-चालकों को बता दिया। मात्र दो-दो रौप्य-मुद्राओं का किराया होने पर भी विक्रम ने उनको एक-एक स्वर्णमुद्रा दी, इसलिए वे बहुत हर्षित हो गए।

उमादे आज प्रात:काल से ही कार्य में व्यस्त थी। मध्याह्नकाल तक उसने उत्तम प्रकार के द्रव्यों से उत्तम मोदक तैयार कर लिये थे।

उसने फिर भवन के आंगन को साफ कर चौंसठ वर्तुल तैयार किए और बीच में एक बड़ा वर्तुल बनाया – चौंसठ विद्यार्थियों के लिए तथा अपने पति के लिए। एक ओर उसने अपना आसन बिछाया और उसके सामने एक पट्ट पर उड़द, धूप, दीप आदि रखे।

आज उमादे के हर्ष का कोई पार नहीं था। एक साथ पैंसठ व्यक्तियों की बलि देकर वह अपनी साधना पूरी कर रही थी। वह अपने यौवन को रसमय बनाने

के लिए पति की पूरी संपत्ति लेकर अपने प्रेमी के पास जाना चाहती थी। उसके मन में वल्लभ के साथ भोग करने की भी लालसा जागी थी और यदि यह विचार पहले आया होता तो वह चौंसठवे पुरुष की दूसरी व्यवस्था कर लेती, किन्तु अब बहुत विलम्ब हो चुका था....मन की लालसा को मन में ही दबा देनी पड़े, ऐसी स्थिति थी।

रात्रि का प्रारंभ हुआ।

रसोई की सारी व्यवस्था पूरी हो गई।

रात्रि के प्रथम प्रहर की तीन घटिकाएं बीत जाने पर उमादे चौंसठ विद्यार्थियों और अपने पति को मंडप में बिठाकर स्वयं वस्त्र-परिवर्तन करने अपने खंड में चली गई।

पूर्व निश्चित योजना के अनुसार वीर विक्रम उमादे के आसन के पीछे खंड में बैठ गया था और जब उमादे वस्त्र-परिवर्तन करने गई तब पंडितजी ने सभी शिष्यों से कहा– 'मेरे प्रिय शिष्यों! तुम सबको मौनभाव से सब कुछ देखना है और जब मैं मंडप का त्याग करूं तब तुम सबको मेरे पीछे-पीछे चल पड़ना है।'

सभी विद्यार्थियों ने मस्तक झुकाकर स्वीकृति दी।

कुछ ही क्षणों के पश्चात् उमादे वस्त्र-परिवर्तन कर आ गई। उसने सभी विद्यार्थियों के भाल पर कुंकुम का तिलक किया और कणेर के फूलों की एक-एक माला पहनाई। सबके सामने एक-एक थाल रखा और उसमें मोदक, शाक, चावल, दाल आदि के कटोरे रखे।

रात्रि के दूसरे प्रहर की एक घटिका शेष रही, तब उमादे बोली–'स्वामिन्! छात्रगण! आज मेरे व्रत की पूर्णाहुति है। अब मैं अपने इस धर्म-संघ के साथ आसन पर बैठकर व्रत की पूर्णाहुति की आराधना प्रारंभ करती हूं। जब मैं आराधना पूरी कर इस दंड को ऊंचा उठाऊं, तब आप सब भोजन प्रारंभ करें, तब तक आप सब शांत बैठे रहें।'

यह सूचना देकर उमादे अपने आसन पर सर्वरस दंड को लेकर बैठ गई। उसने इस चामत्कारिक दंड को नीचे रखा और कणेर की माला पहनी। फिर उसने नेत्र बंद कर चौंसठ योगिनियों और बावन वीरों को आह्वान करने की आराधना प्रारंभ की।

एक ओर धूपदानी से धुआं निकल रहा था, दूसरी ओर दीपक का प्रकाश फैल रहा था।

वीर विक्रम को यह अवसर उचित लगा। वह तत्काल मंडप में आकर खड़ा हुआ और उमादे के पास पड़े हुए सर्वरस दंड को उठाकर पंडितजी को वहां से चले जाने का संकेत किया।

तत्काल पंडितजी और तिरसठ विद्यार्थी अपने-अपने आसन से उठे और पंडितजी के पीछे चले गए।

वीर विक्रम ने अपना थैला वहीं रखा था। उसे लेकर वह भी उनके साथ हो गया। सभी नदी की ओर चल पड़े।

उमादे ने आंखें खोलीं। स्थान को रिक्त देखकर वह स्तब्ध रह गई। उसने सोचा, अचानक यह क्या हो गया ? उसने अपना दंड लेने के लिए हाथ लंबाया, किन्तु वह चामत्कारिक दंड वहां नहीं था। उसका हृदय व्यथित हुआ। वह आसन से उठे, उससे पूर्व ही चौंसठ योगिनियां और बावन वीर वहां आ पहुंचे।

उमादे को अकेली देखकर क्षेत्रपाल अत्यन्त रुष्ट होकर, आंखें लाल कर उमादे से बोला – 'दुष्टा ! तूने हमारा घोर अपमान किया है। अब तू हमारी बलि के लिए तैयार हो जा।'

उमादे हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाए, उससे पूर्व ही क्षेत्रपाल ने अपनी दिव्य शक्ति से उसके शरीर का सारा रक्त चूस लिया और उसी क्षण उमादे प्राणहीन होकर भूमि पर गिर पड़ी।

बावन वीर और चौंसठ योगिनियां अदृश्य हो गईं।

इस ओर वीर विक्रम सभी को साथ लेकर नदी के घाट पर पहुंच गया। सभी भयभीत थे कि उमादे अपनी नीच विद्याओं का प्रयोग कर सबको मौत के घाट उतार देगी।

सभी वहां खड़ी दो नौकाओं में शीघ्रता से बैठे और कुछ ही क्षणों में दोनों नौकाएं तीव्र गति से चलने लगीं।

वीर विक्रम को चामत्कारिक दंड की शक्ति की स्मृति हुई और उसने मन में संकल्प कर तीन बार दंड को नदी के जल में पटका। विक्रम ने यह संकल्प किया था कि सौ कोस की दूरी पर किसी भी नगर के घाट पर पहुंचा जाए।

और यह संकल्प साकार हो गया। दोनों वाहनों की गति तूफानी बन गई। नौका-चालक आश्चर्यचकित रह गए....मात्र अर्ध घटिका में दोनों वाहन श्रीपुर नगर के पास वाली सरिता के एक घाट पर पहुंच गए।

वाहन का मुख्य चालक आकर पंडितजी से बोला – 'महाराज ! किसी के कोई चोट तो नहीं आयी ?'

पंडितजी बोले – 'नहीं। अरे ! हम कहां पहुंच गए ?'

'महाराज ! ये दोनों वाहन किसी तूफान में फंस गए थे। हम कहां आ पहुंचे हैं, यह तो हम भी नहीं जानते। इस घाट को देखकर लगता है कि यहां कोई अच्छी नगरी होनी चाहिए। आप जैसे धर्मात्मा वाहन में बैठे थे, इसलिए सब बच गए; अन्यथा आज सबकी मौत थी।'

पंडितजी ने पास में बैठे वल्लभ की ओर देखकर कहा – 'वल्लभ! हम मौत के पंजे से बच निकले हैं, अब हमें किस ओर जाना है ?'

विक्रम को सब कुछ ज्ञात था। सर्वरस दंड का ही यह सारा चमत्कार था। वह बोला – 'गुरुदेव! अब कोई भय नहीं रहा। अब हमें नगरी की ओर जाना चाहिए।'

वीर विक्रम ने अपना थैला संभाला। सर्वरस दंड उसी में रखा था। सभी नगरी की ओर आगे बढ़े। उषा का प्रकाश फैल चुका था। नगरी दूर नहीं थी....कुछ दूर चलने पर एक रम्य और सुन्दर उपवन आया। विक्रम ने कहा – 'गुरुदेव! यह रम्य उपवन है। यहां हम सब विश्राम करें। आप सब प्रातःकार्य से निवृत्त हों, तब तक मैं नगरी में जाकर भोजन की सामग्री और कुछ मिष्ठान्न ले आऊं।'

'वल्लभ! हम भय से निकल पड़े थे। साथ में कुछ भी नहीं ले पाए।'

'गुरुदेव! मेरे पास कुछ स्वर्णमुद्राए हैं....आप निश्चिन्त होकर प्रातःकार्य प्रारम्भ करें।' विक्रम ने कहा।

'गुरुदेव और सभी विद्यार्थी अपने प्राणदाता की ओर आभारभरी दृष्टि से देखने लगे।

विक्रम अपने थैले को साथ ले नगर की ओर चला। आस-पास में देखता हुआ वह आगे बढ़ रहा था, किन्तु उसे कोई मानव दृष्टिगत नहीं हुआ। उसने सोचा, सूर्योदय हो चुका है....क्या नगरी के लोग अभी तक जागृत नहीं हुए हैं ?

वह चलते-चलते नगरी के मुख्य द्वार में प्रविष्ट हुआ। वहां कोई रक्षक भी नहीं था। उसने सोचा, यहां मानव नाम का कोई प्राणी नहीं है क्या ?

ऐसी सुन्दर और विशाल नगरी को जनहीन देखकर विक्रम को बहुत आश्चर्य हुआ। उसके मन में प्रश्न उठा – ऐसे कैसे हुआ होगा ? किससे पूछा जाए ? भोजन की सामग्री कहां से प्राप्त करूं ? इस नगरी का नाम क्या है ? नगरी का राजा कौन है ? क्या किसी शत्रु राजा ने आक्रमण कर सारी नगरी के लोगों को मार डाला अथवा सभी लोग एक साथ रोगग्रस्त होकर मर गए ?

वीर विक्रम आगे चलता जा रहा था। चलते-चलते वह राजभवन तक पहुंच गया। राजभवन के द्वार भी रक्षकों से शून्य थे। वह अन्दर गया इस आशा के साथ कि कोई मनुष्य मिल जाए।

राजभवन का मुख्य द्वार खुला था। वीर विक्रम उस विराट् भवन में प्रविष्ट हुआ और उसने जोर से पुकारा – 'अरे! कोई है अन्दर ?'

कुछ भी उत्तर नहीं मिला....फिर वह ऊपरी मंजिल पर गया। वहां भी ऐसी ही शांति थी। सभी कक्षों के द्वार खुले थे।

विक्रम का कुतूहल बढ़ रहा था। वह पांचवीं मंजिल पर पहुंचा। वहां उसकी दृष्टि एक बंद कक्ष की ओर गई। उस पर बाहर से सांकल लगी हुई थी। विक्रम ने सांकल खोली....कपाटों पर धक्का मारा...कपाट खुल गए। अन्दर का दृश्य देकखर वह चौंका।

५६. वज्रदंड

कपाट खुलते ही वीर विक्रम ने देखा, उस कक्ष के एक कोने में बड़ा पलंग पड़ा है। एक षोडशी रूपवती नवयौवना भय से कांपती हुई उस पलंग से नीचे उतर रही है। वह कक्ष विशाल है। पलंग स्वर्णमय और रत्नजटित है। ऐसा क्यों ? इस विशाल भवन में यह नवयौवना अकेली कैसे ?

वीर विक्रम अंदर गया और भयभीत मृगनयनी की ओर देखकर बोला– 'यह नगरी जनशून्य क्यों है ? इस राजभवन में तुम अकेली क्यों हो ? तुमको इस कक्ष में किसने बंदी बना रखा है ?'

एक नौजवान प्रियदर्शन पुरुष को देखकर उस षोडशी के वदन पर खचित भय की रेखाएं कुछ फीकी पड़ीं। वह बोली– 'हे नरोत्तम ! आप शीघ्र ही यहां से चले जाएं, अन्यथा दुष्ट राक्षस आकर आपको मार डालेगा। हे परदेशी ! इस नगरी का नाम श्रीपुर नगर है। इस नगरी के राजा विजयसेन की मैं एकाकी पुत्री चन्द्रावती हूं। मेरे कर्मदोष के कारण एक राक्षस मेरे रूप के प्रति पागल हो गया और उसने मेरे साथ विवाह करने का प्रस्ताव रखा। उसी ने इस नगरी के सभी लोगों को भगा दिया। मेरे माता-पिता भी भाग गए। मौत का भय किसे नहीं सताता ? राक्षस के भय से समूची नगरी खाली हो गई। मनुष्य तो क्या, पशु भी नहीं रहे। उस राक्षस ने मुझे इस कक्ष में बंदी बना रखा है। उसने मुझे एक महीने की अवधि दी थी। आज अवधि का अंतिम दिन है। यदि कल उसके साथ मैं पाणिग्रहण नहीं करूंगी तो वह मेरे साथ बलात्कार करेगा या मार डालेगा। आप कृपा कर यहां से भाग जाएं, क्योंकि राक्षस के आने का समय हो गया है।'

'राजकन्या ! तुम निश्चिन्त रहो। डरो मत। कल के लिए तुमने क्या सोचा है ?'

'अत्याचारी या दुष्ट व्यक्ति के अधीन होने से मृत्यु श्रेष्ठ है। कल मैं आत्महत्या कर लूंगी।'

'ऐसी कोई आवश्यकता नहीं है। क्या तुम मुझे एक बात बता सकोगी ?'

'पूछें।'

'इस राक्षस की मृत्यु का उपाय तुम जानती हो ?'

'हां, राक्षस ने ही एक बार मुझसे कहा था कि उसके पास अनंतशक्ति वाला एक वज्रदंड है। वह राक्षस यहां आकर सामने पड़े उस आसन पर बैठता है और असुरदेव की प्रार्थना करता है। उस समय वह अपना दंड नीचे रखता है। यदि कोई मनुष्य उस दंड को उठा ले तो उस राक्षस को जीता जा सकता है अथवा उसे मारा जा सकता है।'

'तो तुम अब पूर्ण निश्चिन्त हो जाओ। मैं इस दुष्ट को उचित शिक्षा दूंगा।'

राजकन्या कुछ उत्तर दे इससे पूर्व ही दूर से एक अट्टहास आता हुआ सुनाई दिया। राजकन्या तत्काल बोल उठी– 'आप पलंग के नीचे छिप जाएं। वह दुष्ट आ रहा है।'

विक्रम पलंग के नीचे छिप गया। अपना थैला भी उसने संभालकर रख दिया था।

उसी समय राक्षस कक्ष में प्रविष्ट हुआ और बोला– 'द्वार किसने खोला है?'

'यहां आने की हिम्मत कौन कर सकता है? आज जब तुम प्रातः बाहर गए थे, तब तुमने ही द्वार खुला रख छोड़ा था।'

राक्षस ने एक बार सिर घुमाया, फिर पूछा– 'मुझे इस कक्ष में मनुष्य की गंध आ रही है। कहां है मेरा शिकार, जल्दी बोल?'

चन्द्रावती खिलखिलाकर हंस पड़ी और हंसती-हंसती बोली– 'तुम केवल शरीर से ही मोटे-ताजे हो, तुममें बुद्धि का पूरा अभाव है। इस कक्ष में मैं ही एकमात्र मनुष्य हूं। तुम्हें शिकार करना हो तो मेरा शिकार कर लो।'

'ओह! तुम्हारा शिकार तो कल करूंगा। काया का नहीं, रूप और यौवन का। याद रखना, निर्णय करने का आज अंतिम दिन है।'

यह कहकर राक्षस असुरदेव की आराधना करने के लिए अपने आसन पर बैठा। उसने अपना वज्रदंड पास में रखा और आंखें बंद कर कुछ गुनगुनाने लगा।

वीर विक्रम इस अवसर को चूकना नहीं चाहता था। वह तत्काल पलंग के नीचे से बाहर आया और शीघ्रता से वज्रदंड उठाकर बोला– 'ओ दुष्ट! उठ। एक निर्दोष कन्या पर अपनी शक्ति का प्रयोग करने वाले कायर! मेरे सामने देख।'

राक्षस की आराधना छिन्न-भिन्न हो गई। उसने वीर विक्रम की ओर देखा। विक्रम के हाथ में अपना वज्रदंड देखकर वह क्षणभर के लिए कांप उठा। वह तत्काल बोला– 'ओह! मौत का अतिथि बनकर आया है? मुझे लगता है कि तेरी मृत्यु पर घर में कोई आंसू बहाने वाला नहीं है।' यह कहकर राक्षस उठ खड़ा हुआ।

विक्रम बोला– 'ओ नराधम! मैं आया हूं तेरी मौत बनकर। मैं एक क्षत्रिय हूं। सामने वाले व्यक्ति को सावधान किए बिना प्रहार नहीं करता। आ मैदान में और युद्ध के लिए तैयार हो जा।'

ये शब्द सुनकर राक्षस भयंकर अट्टहास कर बोला – 'शाबाश ! खटमल के भी मूंछें आ गई लगती हैं। अरे, तू मेरा दंड मुझे सौंपकर घर चला जा, अन्यथा चुटकी बजे उतने समय में मैं तुझे पीसकर खा जाऊंगा।'

'युद्ध के लिए तैयार हो जा।' कहकर वीर विक्रम ने अपने हाथ में पकड़े हुए वज्रदंड को घुमाया।

राक्षस भय से कांप उठा। उसने विकराल रूप धारण किया।

वीर विक्रम खिलखिलाकर हंस पड़ा। उसको वज्रदंड की शक्ति का परिचय नहीं था, फिर भी उसने उस दंड को एक बार भूमि पर पटका और राक्षस की छाती धड़कने लगी। वीर विक्रम की कठिनाई यह थी कि उसके पास कोई शस्त्र नहीं था। राजकन्या ने विक्रम की कठिनाई भांप ली। उसने अपनी आत्महत्या के लिए छिपाई हुई तलवार गादी के नीचे से निकालकर विक्रम की ओर फेंकी। विक्रम ने तलवार थाम ली – एक हाथ में तलवार और दूसरे हाथ में वज्रदंड।

राक्षस ने भी अपनी माया से एक तलवार धारण की। वह जोर से हुंकार कर बोला – 'अरे अभिमानी लड़के ! तू कोई नया खिलाड़ी लगता है। क्या तेरे कोई घर-बार नहीं है, अन्यथा तू मेरे सामने तलवार उठाने की हिम्मत नहीं करता !'

'ओ दुष्ट कायर ! पापी ! अबला पर जुल्म करने वाले जुल्मी ! तुझे शर्म नहीं आती ? लगता है तू मुझे नहीं जानता। मैं अवंती का विक्रमादित्य हूं। खर्परक जैसे देवी-रक्षित चोर को मैंने मारा है। असुर-देवों में श्रेष्ठ अग्निवैताल मेरा परम मित्र है। आज मैं तेरा काल बनकर आया हूं। तू अब मेरे साथ लड़ने के लिए तैयार हो जा।' कहकर विक्रम ने तलवार ऊंची उठाई।

दोनों के बीच युद्ध होने लगा। राक्षस अपना वज्रदंड पुनः प्राप्त करने का भरसक प्रयत्न कर रहा था। वह जानता था कि वज्रदंड के प्रहार से उसकी मौत निश्चित है।

राजकन्या चन्द्रावती एक राक्षस और एक मनुष्य के मध्य होने वाले युद्ध को कुतूहल से देख रही थी। वह आश्चर्यचकित थी। विक्रम दांव-पेंच से राक्षस को छका रहा था। अन्त में विक्रम ने उस राक्षस के मस्तक पर वज्रदंड का प्रहार किया और उसी क्षण राक्षस निर्जीव होकर धड़ाम से भूमि पर गिर पड़ा।

वीर विक्रम ने अपने कपाल पर छलकने वाले स्वेद बिन्दुओं को उत्तरीय के पल्ले से पोंछा।

राक्षस को मरा जानकर राजकन्या बहुत हर्षित हो उठी। वह बोली – 'स्वामी !'

विक्रम इस शब्द से चौंक उठा और राजकन्या की ओर देखने लगा।

राजकन्या बोली – 'महाराज ! मैंने मन में यह संकल्प कर रखा था कि जो वीर पुरुष मुझे इस राक्षस से मुक्त कराएगा, उस वीर पुरुष के चरणों में मैं अपना सर्वस्व समर्पित करूंगी। आज आपने मुझे मुक्ति दिलाई है। आप मेरे स्वामी हैं।'

विक्रम बोला – 'चन्द्रावती ! यह तुमने क्या किया ? मेरे भवन में अनेक रानियां हैं और मैं अपने जीवन की सदा बाजी लगाता रहता हूं।'

चन्द्रावती प्रसन्न दृष्टि से विक्रम की ओर देखने लगी।

वीर विक्रम बोला – 'तुम्हारे माता-पिता कहां हैं ?'

'यहां से दस कोस की दूरी पर सारस्वतपुर नाम के एक नगर में हैं।'

वीर विक्रम ने तत्काल अपने मित्र अग्निवैताल को याद किया।

उसी क्षण वैताल उपस्थित होकर बोला – 'महाराज ! क्या आज्ञा है ?'

विक्रम बोला – 'मित्र ! इस ओर देखो।'

अग्निवैताल ने राक्षस के निर्जीव शरीर को देखकर कहा – 'महाराज ! आपने महान् उपकार किया है। मैं इस राक्षस को जानता हूं। कालदंड नाम का यह राक्षस अत्यन्त क्रूर और निर्दयी है। वज्रदंड को प्राप्त करने के पश्चात् यह देवताओं को भी परेशान करता था। यह नवयौवनाओं के शील को भंग करता था या उनको मार डालता था। महाराज, निश्चित ही आपने मानवजाति पर महान् उपकार किया है।'

'मित्र ! मैं अपना कर्त्तव्य पूरा करता हूं, किसी पर उपकार नहीं करता। अब तुम इस राजकन्या के माता-पिता, दास-दासी को यहां ले आओ और जनशून्य नगरी को पुन: आबाद करने के लिए राक्षस के मारे जाने की बात प्रसारित कर दो।'

'महाराज ! मैं अभी आपकी आज्ञा का पालन करता हूं, किन्तु महाराज ! आप जिस प्रयोजन के लिए निकले हैं, उसकी सिद्धि.....'

'हां, मित्र ! दो दंड मिल गए हैं। एक है सर्वरस दंड और दूसरा है वज्रदंड। तीन दंड और प्राप्त करने हैं। आशा है मैं अपने प्रयोजन में सफल होऊंगा।'

अग्निवैताल तत्काल अदृश्य हो गया।

वीर विक्रम ने राजकन्या की ओर देखकर कहा – 'चन्द्रावती ! कुछ ही समय के बाद तुम्हारे माता-पिता यहां पहुंच जाएंगे। मैं पहले अपने साथियों को यहां ले आता हूं – राजा का अतिथि-गृह किस ओर है ?'

'महाराज ! आप अपने साथियों के साथ राजभवन में पधारें, किन्तु मैं यहां अकेली कैसे रह सकूंगी ?'

विक्रम ने हंसकर कहा – 'चन्द्रावती ! अब राक्षस पुन: जीवित नहीं होगा। भय किसका ?'

'स्वामी !'

'चिन्ता का कोई कारण नहीं है। मैं आऊंगा उससे पहले तुम्हारे माता-पिता यहां पहुंच जाएंगे।' कहकर विक्रम दोनों दंड और अपना थैला लेकर चला। उपवन में पंडितजी और सभी विद्यार्थी विक्रम की प्रतीक्षा कर रहे थे।

वीर विक्रम को खाली हाथ आते देखकर पंडितजी उठ खड़े हुए और सामने जाकर बोले – 'क्यों, क्या हुआ ?'

विक्रम बोला – 'गुरुदेव ! नगरी जनशून्य है, फिर भी स्थान मिल गया है। आप सब मेरे साथ नगरी में चलें। मैं कुछ ही समय में स्नान आदि से निवृत्त होकर आ जाता हूं।'

ऐसा ही हुआ।

सभी राजभवन के विशाल अतिथिगृह में आए, तब तक अग्निवैताल राजकन्या के पारिवारिक जनों को अपनी दैवी शक्ति से वहां ला चुका था और वह विक्रम की प्रतीक्षा में बाहर अदृश्य रूप से खड़ा था।

जैसे ही विक्रम आया, अग्निवैताल आकर बोला – 'महाराज, राजकन्या का पूरा परिवार आ गया है। दास-दासी भी आ गए हैं। एक-दो सप्ताह में यह नगरी पूर्ववत् हो जाएगी। अब कोई दूसरी आज्ञा हो तो...'

'आज तुम्हें अपनी प्रिया का भय नहीं लगता, क्यों ?'

'हां, महाराज ! अभी तो मैं वियोग के अग्निकुंड के पास ही बैठा हूं। चार दिन पूर्व ही वह अपने पीहर गई है। वह अभी वहां एक महीना रहेगी।'

'मित्र ! तुम्हारे वियोग की पीड़ा में मेरी सहानुभूति है।'

'आपकी सहानुभूति से मुझे शांति मिलेगी – किन्तु आप जहां जाते हैं, वहां मिलन की कोई-न-कोई कविता निर्मित हो ही जाती है।'

'क्या करूं ? राजकन्या चन्द्रावती भी अभिग्रह कर बैठी है। अब मित्र ! तुम एक काम करो, पंडितजी की पत्नी उमादे क्या कर रही है, उसकी खबर ले आओ। हम सब क्षुधातुर हैं। इस नगरी में कुछ भी मिलने वाला नहीं है।'

'आप निश्चिन्त रहें, सोपारक नगरी से ही मिठाई ले आता हूं।' कहकर वैताल चला गया।

पंडितजी यह बात सुनकर अवाक् रह गए। उन्हें प्रतीत हुआ, यह वल्लभ कोई असाधारण पुरुष है। उन्होंने विक्रम की ओर देखकर पूछा – 'आपका असली परिचय.....?'

'आप जो जानते हैं, उससे भिन्न ही हूं। मैं अवंती का राजा विक्रमादित्य हूं और एक विशेष प्रयोजन से आपके यहां आया था।'

'आप स्वयं विक्रमादित्य ! महाराज ! आपकी यशोगाथा चारों ओर प्रसारित हो रही है। मुझे क्षमा करें, मैं तो आपको एक सामान्य... ।'

बीच में ही विक्रम ने कहा – 'पंडितजी ! क्षोभ करने का कोई कारण नहीं है। मैं तो आप-जैसे विद्वानों की चरणरज हूं। आप यहां आराम करें। मैं यहां के महाराज से मिल लूं।'

ज्यों ही विक्रम खंड के बाहर आए, उससे पूर्व ही नगरी का राजा और उसकी कन्या चन्द्रावती वहां आ पहुंची।

राजा विजयसेन ने अवंतीनाथ विक्रमादित्य का हार्दिक आभार माना और ऐसे दुष्ट राक्षस का अंत करने के लिए बधाई दी।

इसके पश्चात् नगरी के विषय की चर्चा करते-करते विजयसेन ने कहा – 'महाराज ! आपको मेरी एक प्रार्थना स्वीकार करनी होगी।'

वीर विक्रम समझ गए। उन्होंने हंसते हुए कहा – 'महाराज ! आपका मनोभाव मैं समझ गया हूं। आपका अनुरोध स्वीकार करने में मुझे और कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु मेरा अन्त:पुर रानियों से भरा पड़ा है और मेरा अधिक समय बाहर ही बीतता है। यदि आप अपनी कन्या का सुख चाहते हैं तो....'

बीच में ही विजयसेन ने कहा – 'महाराज ! मेरी कन्या के संकल्प को आपने जान ही लिया है। अब कोई संशय और भय है ही नहीं। आप जैसे महान् स्वामी को पाकर मेरी कन्या धन्य हो जाएगी। चन्द्रावती केवल रूपवती ही नहीं है, यह विनय आदि गुणों की भंडार भी है। यह आपके जीवन में कभी बाधक नहीं बनेगी।'

विक्रम के लिए अब कोई दूसरा विकल्प नहीं था।

उसी समय वैताल मिठाइयों के बर्तन लेकर आ पहुंचा। वीर विक्रम ने वैताल से कहा – 'मित्र ! आ गए ? बताओ, पंडितजी की पत्नी क्या कर रही है ?'

'वह तो मृत्यु की भेंट हो गई....उसका अभी तक दाह-संस्कार भी नहीं हुआ है। भवन में पंडितजी की पत्नी सूखी लकड़ी की भांति पड़ी है।'

'स्वयं के कर्म का फल स्वयं को ही भोगना पड़ता है। वह दुष्ट नारी अन्त में अपने ही जाल में फंसी।' पंडित ने कहा।

फिर सभी ने भोजन किया।

तीन-चार दिन में ही नगरी के लोग आने लगे। धीरे-धीरे नगरी आबाद होने लगी और छठे दिन पंडित सोमशर्मा ने वीर विक्रम और राजकन्या चन्द्रावती का विवाह करा दिया।

राजा विजयसेन ने अवंतीनाथ को बहुत स्वर्ण समर्पित किया।

वीर विक्रम ने अपने सभी साथियों और पंडितजी को स्वर्णदान किया। तदनंतर वैताल ने पंडितजी और उनके तिरसठ विद्यार्थियों को सोपारक नगरी में पहुंचा दिया।

वैताल की दैवी शक्ति से वीर विक्रम का पूरा रसाला रात्रि के प्रथम प्रहर में अवंती के राजभवन में पहुंच गया।

कमला रानी ने अपने प्रियतम और नयी रानी चन्द्रावती का बहुत भावपूर्ण सत्कार किया।

कुलदेवी की पूजन-विधि सम्पन्न कर वीर विक्रम ने सभी रानियों को एकत्रित किया और उन्होंने दो दंड कैसे प्राप्त किए इसकी संक्षिप्त जानकारी दी। फिर विक्रम ने अपनी रानी देवदमनी की मां नागदमनी को दो दंड – सर्वरसदंड और वज्रदंड – सुपुर्द करते हुए कहा – 'अब शेष तीन दंडों की बात बताओ।'

नागदमनी बोली – 'महाराज! आप आठ दिन तक विश्राम करें। फिर मैं सारी बात बताऊंगी।'

उसी रात वैताल अपने स्थान पर चला गया।

आठ दिन बाद नागदमनी ने विक्रम से कहा – 'कृपानाथ! आपके मंत्रियों में एक मंत्री का नाम मतिसार है?'

'हां।'

'आप उसकी सारी सम्पत्ति जब्त कर उसे देश-निकाला दे दें।'

'ऐसा अन्याय मेरे हाथ से?'

बीच में ही नागदमनी ने हंसते-हंसते कहा – 'आपको अन्याय करने के लिए नहीं कहती। शेष तीन दंडों को प्राप्त करने का ही उपाय बता रही हूं।'

'फिर?'

'फिर आप छह महीने यहीं रहें। मैं मतिसार के जाने के पश्चात् छठे महीने आपको बात बताऊंगी।' नागदमनी बोली।

विक्रम के लिए नागदमनी की आज्ञा मानने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं था।

दूसरे ही दिन उसने मतिसार मंत्री की सारी सम्पत्ति जब्त कर उसको सारे परिवार के साथ देशनिकाला दे दिया।

लोग इसके कारणों से अनजान थे, इसलिए विविध चर्चाएं होने लगीं। महामंत्री भी इस आकस्मिक घटना से स्तब्ध रह गए। वीर विक्रम ने कमलारानी को इस घटना की पृष्ठभूमि समझा दी थी।

कमलारानी को संतोष हुआ।

कश्मीर के जिस महान् शिल्पी ने बत्तीस पुतलियों वाला सिंहासन बनाया था, उसने एक मांत्रिक अश्व तैयार किया था, किन्तु वह अपने अश्व की करामात विक्रम को बताए, उससे पूर्व ही उसका देहावसान हो गया।

इतनी रानियां होने पर भी वीर विक्रम के केवल सात ही कन्याएं थीं, पुत्र एक भी नहीं था। किन्तु उन्हें इस विषय की चिन्ता नहीं थी। विक्रम शालिवाहन की पुत्री सुकुमारी को भूल ही गए थे। यदि वे उसकी खोज करते तो उन्हें ज्ञात हो जाता कि उनकी प्रियतमा सुकुमारी की गोद में छह वर्ष का पुत्र बड़ा हो रहा है।

५७. रत्नपुर में

मतिसार मंत्री अपने परिवार को साथ ले पड़ोस के रत्नपुर राज्य में चला गया; क्योंकि वहां उसके पूर्वज रहते थे और उसका वहां एक मकान भी था।

मतिसार के हृदय में एक प्रश्न उठता और वह सदा ही असमाहित रहता। वीर विक्रम के द्वारा ऐसा अन्याय कभी नहीं हुआ, फिर भी उन्होंने मेरी संपत्ति का हरण कर मुझे देश-निकाला क्यों दिया ? मैं अपने कार्य में कभी असावधान नहीं रहा। मैंने कभी अन्याय नहीं किया, फिर भी ऐसा क्यों हुआ ?

मंत्री की पत्नी बुद्धिमती, निपुण और शांत थी। उसने इस आपत्ति को किसी कर्म का फल मानकर संतोष कर लिया। किन्तु मतिसार की पुत्रवधू अति निपुण थी। वह रत्नपुर की थी और उसका विवाह छह मास पूर्व ही हुआ था। वह पशु-पक्षियों की भाषा भी जानती थी। वह भी विक्रम के इस कार्य की पृष्ठभूमि समझ नहीं पा रही थी। उसने यही मान रखा था कि राजा, बाजा और बन्दर का कभी विश्वास नहीं करना चाहिए। वह पुत्रवधू रत्नपुर आकर इसलिए प्रसन्न थी कि वहां अपने माता-पिता और परिवार के निकट रह सकेगी।

मतिसार मंत्री की उम्र लगभग चौवन वर्ष की थी। उनकी वहां बपौती थी। मकान और खेत थे, इसलिए आजीविका की विशेष चिन्ता नहीं थी। किन्तु अपनी प्रतिष्ठा को आंच न आए, इसलिए पारिवारिक-जनों को यही कहा था कि वे एक वर्ष के लिए निवृत्त हुए हैं।

एक दिन नागदमनी वीर विक्रम से मिलने राजभवन में आयी। वीर विक्रम अभी अन्तःपुर से आए नहीं थे। कमला रानी ने नागदमनी का भावभीना स्वागत किया और उसे एक खण्ड में बिठाया।

लगभग एक घटिका के पश्चात् वीर विक्रम आ पहुंचे। नागदमनी को देखकर उन्हें तीन दंडों की स्मृति हो आयी।

नागदमनी ने महाराजा को आशीर्वाद देकर कहा – 'कृपानाथ! अब आप रत्नपुर पधारें और मतिसार मंत्री को आदरपूर्वक बुला लाएं।'

'देवी! तुम्हारे कहने पर मैंने मतिसार मंत्री को कठोर दंड दिया और अब उसे आदरपूर्वक ले आऊं; इसमें शेष तीन दंडों का कौन-सा रहस्य छिपा है?'

'कृपानाथ! एक तो बात यह है कि आप अवंती के नाथ हैं, मेरे दामाद हैं, इसलिए पुत्रतुल्य हैं। आपसे कोई अन्याय हो, यह मैं स्वप्न में भी नहीं चाहती। अब आपकी जिज्ञासा को शांत करने के लिए रहस्य बताती हूं। मतिसार मन्त्री की पुत्रवधू चंपकलता रूपवती, बुद्धिमती और तेजस्विनी है। वह रत्नपुर की है और उसकी तीन सखियां भी वहीं रहती हैं। इन चारों में अपार स्नेह है। जीव एक है, देह भिन्न है। चंपकलता का विवाह मंत्री-पुत्र के साथ हो गया और वह यहां आ गई। फिर तीनों सखियों के माता-पिता ने अपनी-अपनी पुत्रियों के संबंध के लिए प्रयत्न प्रारम्भ किया। तीनों सखियों ने यह प्रतिज्ञा कर ली कि वे तीनों एक ही पुरुष के साथ विवाह करेंगी, जिससे कि वे पृथक् न हो सकें। यह बात गुप्त रखी गई और तीनों ने ऐसे पुरुष की खोज प्रारम्भ की। इसीलिए मैंने मतिसार को सपरिवार वहां भेजने के लिए आपसे कहा था, क्योंकि यदि चंपकलता वहां चली जाती है तो वे तीनों सखियां कोई प्रयत्न नहीं करेंगी और चारों साथ रहने का आनन्द भी ले सकेंगी। अब समय की मर्यादा पूर्ण हो चुकी है, इसलिए मैंने आपको वहां जाने के लिए कहा है। अब आप वहां जाएंगे तो सारी बातें ज्ञात हो जाएंगी। चंपकलता की तीन सहेलियों के पास तीन दंड हैं।'

वीर विक्रम ने नागदमनी की ओर प्रसन्नता की दृष्टि से देखा।

नागदमनी आशीर्वाद देकर घर चली गई और दूसरे दिन वीर विक्रम महाप्रतिहार को साथ ले रत्नपुर की ओर रवाना हो गए। चौथे दिन वे रत्नपुर की सीमा में पहुंच गए। एक वृक्ष के नीचे ठहरकर वीर विक्रम ने महाप्रतिहार अजयसेन से कहा, 'मैं इस वृक्ष के नीचे विश्राम करता हूं, तुम जाकर मंत्री मतिसार को मेरे आगमन की सूचना दो और उन्हें यहां आने के लिए कहो अथवा उनके भवन का मार्ग जानकर लौट आओ।'

'जी' कहकर अजयसेन ने अपने अश्व को नगरी की ओर बढ़ाया किन्तु वह कुछ ही दूर गया होगा कि उसने देखा, सामने से मतिसार, उसका पुत्र और अन्य पांच-सात व्यक्ति आ रहे हैं। इसलिए वह तत्काल मुड़ा और विक्रमादित्य के पास आकर बोला, 'कृपानाथ! मंत्री मतिसार और कुछेक व्यक्ति इधर ही आ रहे हैं। क्या आपने कोई संदेश भेजा था?'

'नहीं। संभव है वे किसी दूसरे प्रयोजन से जा रहे हों।'

किन्तु मतिसार और उसके साथी महाराज विक्रमादित्य का जयनाद करते हुए उसी वृक्ष के पास आ पहुंचे।

मतिसार ने अपने प्रिय महाराजा का कुशल-क्षेम पूछा। वीर विक्रम ने भी सबके स्वास्थ्य की जानकारी ली, फिर कहा– 'मंत्रीजी! मैंने तो अजय को आपके यहां संदेश देकर भेजा था। क्या आप किसी दूसरे प्रयोजन से इधर आए हैं?'

'नहीं, कृपानाथ! मैं आपका स्वागत करने के लिए ही आया हूं। मेरी पुत्रवधू पक्षियों की भाषा जानती है। उसने आज प्रात:काल शुकवाणी के आधार पर आपके आगमन की सूचना दी थी। उसने यह भी कहा था कि आज आप दूसरे प्रहर की तीन घटिका बीत जाने पर यहां आ जाएंगे। इसीलिए मैं....।'

'ओह! मैं तो बहुत आश्चर्यचकित हूं'–कहकर विक्रम ने अपने मंत्री के कंधों पर हाथ रखकर प्रसन्नता व्यक्त की।

मंत्री ने वीर विक्रम को घर पर पधारने की प्रार्थना की। महाराजा ने स्वीकृति दे दी।

फिर सभी नगरी की ओर प्रस्थित हुए। मतिसार ने अपने भवन में महाराजा के लिए दो खंड व्यवस्थित किए और स्नान आदि की व्यवस्था की।

रात्रि में वीर विक्रम ने मतिसार को पास में बिठाकर कहा– 'मंत्रीश्री! मैं आपको सम्मानपूर्वक ले जाने आया हूं। आप अपने मूल स्थान पर आ जाएं और वहां अपने भवन में रहें। आपकी सारी संपत्ति मेरे पास मूल रूप में सुरक्षित है।'

'कृपानाथ! आपकी आज्ञा मेरे लिए शिरोधार्य है, परन्तु....'

'आपकी मनोवेदना को मैं जानता हूं। मैंने आपको किसी दोष या अपराध के आधार पर नहीं हटाया था। कुछ अपकीर्ति लेकर भी मुझे वैसा करना पड़ा है। उसका भी एक मुख्य कारण है। मैं आपको अवंती में सारी बात बताऊंगा।'

मतिसार कुछ समझे नहीं, फिर भी एक आज्ञाकारी सेवक की तरह बोले– 'महाराज! मुझे अत्यधिक संतोष हुआ है, किन्तु आप यहां पधारे हैं तो इतनी उतावली उचित नहीं होगी। आपको यहां कुछ दिन रुकने की कृपा करनी होगी।'

'मैं आपकी भावना का आदर करता हूं। आप जानते ही हैं कि मुझे नगर-चर्चा के लिए घूमने का शौक है, इसलिए.....।'

'स्वामी! आप निश्चिन्त होकर नगरचर्चा के लिए निकलें, मुझे कोई आपत्ति नहीं है।'

आज की रात विक्रम ने वहीं विश्राम किया, क्योंकि तीन दिन तक उन्होंने अश्व पर प्रवास किया था।

दूसरे दिन रत्नपुर के राजा को विक्रम के आगमन की सूचना मिली। वे तत्काल मतिसार के भवन में आए और विक्रम तथा अजय को अपने अतिथिगृह में

ले गए। महाराजा विजयसिंह ने उनके निवास की समुचित व्यवस्था की, सेवा में दास-दासियों को रखा।

मतिसार भी अपने महान् राजा की सेवा में आ गए।

वीर विक्रम को नगरचर्चा के लिए यह स्थल बहुत ही अनुकूल लगा, क्योंकि वे मतिसार की पुत्रवधू और उसकी तीनों सखियों का परीक्षण करना चाहते थे।

रात्रि के प्रथम प्रहर के पश्चात् अदृश्यकरण गुटिका मुंह में रखकर वीर विक्रम मतिसार के भवन की ओर चल पड़े। वहां ज्ञात हुआ कि चंपकलता अपनी ननद, सास आदि स्त्री समुदाय के मध्य बैठी है और बातचीत कर रही है। उसकी तीनों सखियों के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका। वीर विक्रम इधर-उधर घूमकर अपने निवास-स्थान पर आकर सो गए।

प्रात:काल शीघ्र ही जागकर, प्रात:कर्म सम्पन्न कर वीर विक्रम ने मंत्री का वेश धारण किया। यह देखकर महाप्रतिहार अजय ने पूछा–'महाराज! अभी आप.....।'

'अजय! मैं एक प्रयोजनवश बाहर जा रहा हूं। भोजन के समय लौट आऊंगा। मतिसार अथवा राजा विजयसिंह आकर पूछें तो कह देना कि मैं बाहर गया हूं–देरी से लौटूंगा।' यह कहकर वीर विक्रम नगरी में जाने के लिए महल से बाहर निकले।

जब भाग्य का योग होता है तब पुरुषार्थ के पांखें आ जाती हैं। चंपकलता घर से बाहर गई हुई थी। जब वीर विक्रम उसके घर पहुंचे तब कुछ ही क्षणों में एक पालकी में चंपकलता आ पहुंची। पालकी से उतरते ही उसने एक दासी से कहा– 'तू हरिमती के घर जा और उसे यह बता कि रात में मैं यहीं रुकूंगी।'

दासी हरिमती के घर की ओर रवाना हुई। विक्रम भी उसके पीछे-पीछे चल पड़े। हरिमती का भवन निकट ही था। दासी ने भवन के चौक में खड़े रहकर पुकारा–'हरिमती है?'

'आयी।' यह शब्द सुनते ही दासी वहीं खड़ी रह गई। वीर विक्रम भी एक ओर अदृश्य रूप से खड़े रह गए थे।

हरिमती ने आकर कहा–'चंपकलता का संदेश लेकर आयी है न?'

'हां, बहन! वे अभी-अभी ससुराल से आयी हैं और कल पुन: लौट जाएंगी।'

'तो तू चंपकलता से कहना कि हम तीनों सखियां आज रात को उसके घर आएंगी।'

दासी विदा हुई।

वीर विक्रम भी लौटे और चंपकलता के घर की पूरी पहचान कर अपने निवासगृह की ओर चले गए।

निवास-स्थान पर पहुंचकर वीर विक्रम ने अपना वेश बदला और बैठक-कक्ष में आ गए। महाराजा विजयसिंह, मतिसार आदि वहां आ पहुंचे। राजा विजयसिंह ने औपचारिक वार्तालाप के पश्चात् कहा–'कृपानाथ! मैं आपकी छाया के नीचे राज कर रहा हूं। मेरी एक प्रार्थना आपको स्वीकारनी होगी। मेरी एक सोलह वर्षीया कन्या मलयावती है। वह अत्यन्त सुन्दर और गुणयुक्त है। इस कन्या का हाथ मैं आपके हाथ में देकर निश्चिंत होना चाहता हूं। आप महान् राजराजेश्वर हैं। मुझे चिन्तामुक्त करेंगे, यही आशा है।'

वीर विक्रम विचारमग्न हो गए। कहां पंचदंड प्राप्त करने की बात और कहां विवाह का प्रसंग! ओह! मैं जहां जाता हूं, वहां यही बात सामने आती है।

विक्रम ने कहा–'राजन्! इतना आग्रह है तो मैं आपकी बात स्वीकार करता हूं।'

राजा विजयसिंह ने सगाई की रस्म पूरी की।

जब मलयावती को यह ज्ञात हुआ कि उसका विवाह अवंतीपति से होने वाला है तो वह बहुत हर्षित हुई। उसने सोचा, जिन्हें देवकन्याएं भी वरमाला पहनाने के लिए लालायित रहती हैं, उनकी वह अर्धांगिनी बनेगी, इस विचार से ही वह रोमांचित हो उठी।

और रात्रि के प्रथम प्रहर में वीर विक्रम अदृश्यकरण गुटिका धारण कर चंपकलता के पिता के घर की ओर निकल पड़े।

वीर विक्रम जब चंपकलता के घर पहुंचे, तब चारों स्त्रियां भोजन आदि से निवृत्त होकर एक खंड में बैठी थीं।

विक्रम उस खंड में गए और एक कोने में खड़े रह गए।

चारों सखियों में चंपकलता एक वैश्य की पुत्री थी। हरिमती एक सार्थवाह की कन्या थी, विजया एक माली की पुत्री थी और गोपा क्षत्रिय कन्या थी। चंपकलता मतिसार के पुत्र से विवाह कर चुकी थी और शेष तीनों अविवाहित थीं।

विक्रम ने देखा कि चंपकलता की तीनों सखियां रूपवती और उत्तम स्वभाव वाली हैं। प्रत्येक के नयनों से पवित्रता झांक रही है।

आनन्दभरी वार्ताएं चल रही थीं। हरिमती बोली–'चंपकलता! कल तू हमारे साथ चलना।'

'कहां?'

'पाताललोक में मेरी एक सखी नागकन्या रहती है। उसके विवाहोत्सव में भाग लेने जाना है।' हरिमती ने कहा।

'सखी, मैं कैसे आ सकती हूं? हमारे यहां महाराज विक्रमादित्य आए हैं। मैं आज यहां बड़े प्रयत्न से आ सकी हूं। क्या तू वहां अकेली जाएगी?'

'हम तीनों सखियां जाएंगी, किन्तु यदि तू भी साथ चलेगी तो बहुत आनन्द आएगा।' हरिमती ने कहा।

'सखी! मैं लाचार हूं।'

'केवल एक रात की बात है। कल रात्रि के दूसरे प्रहर में नागकन्या का विवाह होगा, फिर हम सब वहां से निकल जाएंगी और प्रातःकाल होते-होते यहां पहुंच जाएंगी।'

'ओह! मैं अपनी सास से प्रार्थना करूंगी, पर मुझे आशा नहीं है।'

विजया तत्काल बोल उठी – 'सास का बहाना मत कर, सखी! तुझे तेरे स्वामी की आज्ञा नहीं मिलेगी, यही बात कह न?'

'इसका पति तो इतना प्रेमी है कि वह इसकी प्रत्येक आज्ञा को सिर चढ़ाता है, किन्तु पति का वियोग इससे सहा नहीं जाता।' गोपा ने कहा।

सभी सखियां हंस पड़ीं।

राजा वीर विक्रम ने महत्त्वपूर्ण बात सुन ली थी, इसलिए वे वहां से चल पड़े।

वीर विक्रम ने सोचा, ये सोलह-सोलह वर्ष की सखियां पाताललोक में कैसे जाएंगी और वहां जाकर क्या-क्या करती हैं, यह देखना तो चाहिए।

वीर विक्रम ने चलते-चलते मन-ही-मन यह निश्चय कर लिया था कि इन सखियों के पास तीन दंड हैं। उन्हीं के प्रभाव से ये पाताललोक में जाएंगी। नागदमनी ने भी दंड की बात कही थी।

विक्रम के मन में एक विचार और उठा कि यदि मुझे ये दंड हस्तगत करने हैं तो मुझे तीनों सखियों के पीछे जाना ही होगा। किन्तु यदि वे मेरे सशक्त शरीर को देख....

वीर विक्रम इन्हीं विचारों में इठलाते हुए अपने निवास-स्थान पर पहुंचे। उन्हें अपने महान् मित्र वैताल की स्मृति हो आयी और यह निश्चय किया कि कल वैताल को याद करूंगा और रूप-परिवर्तन भी।

रात्रि का दूसरा प्रहर अभी पूर्ण नहीं हुआ था।

अजय प्रतीक्षा में जागता बैठा था। वीर विक्रम ने अदृश्यकरण गुटिका मुंह से निकाली और अजय के समक्ष आकर बोला – 'क्यों अजय! अभी तक जागते बैठे हो?'

'हां, स्वामी ! आपकी प्रतीक्षा कर रहा हूं।'

'मुझे कल संध्या के समय ही यहां से बाहर निकल जाना है। यदि रातभर न आऊं तो चिन्ता मत करना। संभव है दो दिन अधिक भी लग जाएं।'

'किन्तु महाराज ! जो व्यक्ति आपसे मिलने आएंगे, उन्हें मैं....'

'कोई भी उत्तर दे देना। किन्तु कल तो मुझे जाना ही होगा। परसों सवेरे तक लौट आने का प्रयत्न करूंगा, फिर भी यदि रुक जाऊं तो....'

अजय विक्रमादित्य की ओर देखने लगा। वह महाराजा के प्रयोजन से सर्वथा अजान था।

५८. पुरुषार्थ का फल

वीर विक्रम के साथ मलयावती की सगाई हो जाने के कारण आज राजभवन में भोजन का भव्य समारोह आयोजित था। महाराजा विक्रमादित्य, मंत्री मतिसार, अजयसेन आदि वहां आए थे और भोजन से निवृत्त होकर पुन: अपने-अपने आवास की ओर चले गए थे।

वीर विक्रम ने दो दिन के अल्प प्रवास पर जाने की बात कही थी। मतिसार को आश्चर्य हुआ और उसने पूछा – 'कृपानाथ ! आप किस ओर जाना चाहते हैं ?'

'मंत्रीश्री ! मैं कहीं जाना नहीं चाहता। केवल मिलने के लिए आने वालों से बचने के लिए मैंने यह बहाना किया है।'

मतिसार बोला – 'ठीक है, जैसी आपकी इच्छा।'

वीर विक्रम अपने शयनकक्ष में गए। उन्हें तैयारी करनी थी। संध्या के पश्चात् तीनों सखियां पाताललोक के लिए प्रस्थान करने वाली थीं। और स्वयं को पाताललोक में जाने के लिए अपने परम मित्र वैताल की सहायता लेना अनिवार्य था।

शयनकक्ष का द्वार बन्द कर विक्रम ने अग्निवैताल का स्मरण किया। कुछ ही क्षणों के पश्चात् वैताल उपस्थित हुआ। विक्रम ने उसका हाथ पकड़ते हुए कहा – 'क्यों मित्र ! घरवाली तो कुशल है न ?'

'हां, महाराज ! किन्तु आज से ही वियाग का गान प्रारम्भ हो गया है।'

'क्यों ?'

'वह आज ही अपने माता-पिता के साथ यात्रा पर गई है। मानवलोक और देवलोक के सभी तीर्थों के दर्शन करने की इच्छा से उसके माता-पिता उसे साथ ले गए हैं।'

'यह तो अच्छा कार्य है। तुम साथ नहीं गए?'

'नहीं, महाराज! प्रिया साथ में हो और पल-पल उसके लिए तरसना पड़े, इससे तो वियोग का संगीत ही अच्छा है। एक बात और है, हमारी जाति में दामाद को साथ में नहीं रखते।'

'मित्र! मुझे तुम्हें बार-बार परेशान करना पड़ता है....।'

'मैं आपका आभार मानता हूं', बीच में ही वैताल प्रसन्न स्वर में बोल उठा—'महाराज! आपकी मित्रता ने मुझमें धर्म में रुचि पैदा की है और विशेष बात यह है कि आपके कार्य में सहयोगी बनने में मुझे बहुत आनन्द मिलता है। क्या आज्ञा है?'

'मुझे दो दंड प्राप्त हो चुके हैं, यह तुम जानते हो। यहां से तीन दंड मुझे और प्राप्त हो सकते हैं और आज संध्या के पश्चात् हमें उस दिशा में प्रयत्न करना है', कहकर वीर विक्रम ने चंपकलता और उसकी तीनों सखियों की बात संक्षेप में कह सुनाई।

'यह तो बहुत उत्तम कार्य है। मैं आपको पाताललोक में ले चलूंगा।'

'तुम मेरे साथ अदृश्य रूप में रहना। तुम्हें मेरा रूप बदल देना पड़ेगा।'

'यह तो सहज कार्य है।'

'तो तुम मुझे बारह वर्ष का बालक बना दो।'

'अभी?'

'हां, फिर हम यहां से विदा होंगे।'

वैताल ने तत्काल वीर विक्रम को बारह वर्ष का बालक बना दिया। फिर दोनों हरिमती के घर गए। खोज करने पर ज्ञात हुआ कि चंपकलता वहां उपस्थित नहीं है, शेष तीनों सखियां वहां एकत्रित हो गई हैं और पाताललोक में जाने की तैयारी कर रही हैं।'

हरिमती के पास भूमि-विस्फोट दंड था।

गोपा के पास विषापहर दंड था।

विजया के पास मणि दंड था।

तीनों सखियां घर से बाहर निकलीं। माली की कन्या विजया ने नागलोक के विवाहोत्सव पर भेंट देने के लिए उत्तम पुष्पों की अनेक मालाएं, गजरे आदि से एक करंडक भरकर साथ में ले लिया। वह कुछ भारी हो गया था। उसने अपने कंधों पर रखकर वहां से प्रस्थान किया और अपने मोहल्ले से बाहर निकलकर कहा—'हमें सबसे पहले सरोवर के पास जाना होगा। वहां से पाताललोक का मार्ग निकट पड़ेगा और हम तीनों को स्नान-शुद्ध होना होगा।'

हरिमती बोली – 'इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है।'

'किन्तु इस भारी करंडक को साथ कैसे ले चलेंगे? यदि कोई बाल-सेवक मिल जाए तो अच्छा हो।' उसे बटुक रूप में विक्रम पीछे-पीछे आता हुआ दिखाई दिया। उसका रूप एक दरिद्र लड़के जैसा था। विजया ने पूछा – 'ओ लड़के! हमारे साथ इस करंडक को उठाकर चलेगा?'

'हां, देवी।'

'कितनी मजदूरी लेगा?'

'जो भी आप देंगी।' बालक वेशधारी विक्रम ने कहा।

विजया ने तत्काल उसके सिर पर करंडक रख दिया और तीनों सखियां सरोवर की ओर चल पड़ीं।

वैताल भी अदृश्य रूप में साथ ही था।

एकाध घटिका के बाद वे सरोवर पर पहुंचीं। एक वृक्ष के पास जाकर हरिमती ने अपना भूमि-विस्फोट दंड धरती पर पटका और तब पाताललोक में जाने का मार्ग खुल गया।

विजया ने बटुक के सिर से करंडक नीचे उतारते हुए कहा – 'ओ लड़के! तू इस करंडक को संभालकर कुछ देर यहां ठहर। हम सब स्नान कर आ रही हैं।'

'अच्छा, देवी!' कहकर विक्रम वहां बैठ गया।

हरिमती, विजया और गोपा ने अपना-अपना दंड करंडक पर रख दिया और लड़के से कहा – 'देख, इनको भी संभालकर रखना।'

'जी!' विक्रम बोला।

तीनों सखियां बातें करती-करती सरोवर के पाल की ओर गईं।

अदृश्य वैताल ने कहा – 'महाराज! तीनों दंड लेकर हम भी पाताललोक में चलें।'

विक्रम ने तीनों दंड ले लिये। वैताल ने करंडक संभाला और दोनों पाताललोक में जाने के लिए बड़े मार्ग में प्रविष्ट हुए।

वैताल की शक्ति और भूमि-विस्फोट दंड के प्रभाव से दोनों कुछ ही समय में पाताललोक में पहुंच गए।

पाताललोक में एक नागकुमार का विवाह होने वाला था, इसलिए वर की शोभायात्रा के लिए बहुत तैयारियां हो रही थीं।

यह देखकर वैताल बोला – 'महाराज! तीनों सखियां यहां पहुंच जाएंगी। यदि आप नागकुमार बनकर उसका स्थान ले लें तो.....।'

'किन्तु कैसे?'

'यह व्यवस्था मैं करता हूं......मैं नागकुमार को छिपा दूंगा और आपको नागकुमार के रूप में बदल दूंगा।'

विक्रम ने स्वीकृति दी और तीनों दंड वैताल को सौंप दिए।

नागकुमार वर के वेश में तैयार हो रहा था....एक अश्व भी सज्जित हो रहा था।

वैताल ने अपनी माया से नागकुमार को दो क्षणों में ही छिपा दिया और विक्रम को नागकुमार के रूप में बदल दिया।

विक्रम घोड़े पर बैठा। शोभायात्रा चल पड़ी।

वैताल अदृश्य रूप में साथ ही चल रहा था।

स्नान-शुद्ध होकर तीनों सखियां उस स्थान पर पहुंची, जहां बटुक को बिठाया था, किन्तु वहां कुछ भी न देखकर वे घबरा गईं। उन्होंने चारों ओर देखा, इधर-उधर दौड़-धूप की, पर व्यर्थ। उन्हें करंडक के गुम हो जाने की चिन्ता नहीं थी, किन्तु तीनों चामत्कारिक दंडों की चोरी से वे अस्त-व्यस्त हो गईं। उन्होंने सोचा – संभव है, बालक कुतूहलवश इसी मार्ग से भीतर चला गया हो। और तब वे भी उसी मार्ग से पाताललोक की ओर चलीं।

जब शोभायात्रा एक बाजार से गुजर रही थी, तब तीनों सखियां वहां आ पहुंची और बटुक को खोजने लगीं। किन्तु बटुक कहीं दिखाई नहीं दिया। अब क्या किया जाए ? उनका मन दंडों के खो जाने के अनुताप से भर गया।

वैताल ने तीनों सखियों को देख लिया और उसके मन में विनोद करने का भाव जागा। उसने अश्व पर बैठे हुए वीर विक्रम के कान में कहा – 'महाराज ! सामने देखें, तीनों सखियां आ गई हैं।'

वीर विक्रम ने उस ओर देखा। तीनों सखियों ने स्वाभाविक रूप से अपने सखी के पति को देखने के लिए नागकुमार की ओर दृष्टि डाली....और तीनों चौंक पड़ी। नागकुमार के बदले उन्हें दरिद्र बटुक दिखाई दिया।

यह कैसा आश्चर्य ? यह इन्द्रजाल है अथवा नागकुमार की माया ? तीनों सखियां वहां से नागकन्या के भवन की ओर गईं। वहां भी नाग-जाति के अनेक स्त्री-पुरुष एकत्रित थे। वे सब वर के स्वागत के लिए लालायित हो रहे थे। कुछ ही समय पश्चात् शोभायात्रा पहुंची। कन्या-पक्ष ने वर-पक्ष वाले सभी व्यक्तियों का आदरपूर्वक स्वागत किया।

विवाह की तैयारी हो चुकी थी। वर को विवाह की वेदी पर ले जाया गया। अब विक्रम अकुलाए और वैताल को याद किया। वैताल ने अदृश्य रूप से विक्रम के कान में कहा – 'क्या आज्ञा है ?'

'मित्र! अब कठिनाई आ जाएगी। मूल नागकुमार को लाकर यहां बिठा दो।' विक्रम ने कहा।

वैताल बोला – 'महाराज! आपका अन्तःपुर विशाल है। नागकुमारी अत्यन्त रूपवती है। अब पीछे नहीं हटना चाहिए।'

वीर विक्रम सकुचाते हुए बैठे रहे। नागकन्या आयी। तीनों सखियां भी आ गईं। तीनों को राजकुमार के बदले बटुक दिखाई देता था और दूसरों को राजकुमार।

वीर विक्रम नागकन्या का अनिन्द्य रूप देखकर अवाक् रह गए। तीनों सखियां विक्रम के सामने आ गईं। विजया बोली – 'अरे ओ बटुक! हमारे तीनों दंड वापस दे दे। तू एक दरिद्र कंगाल यहां नागकुमारी से शादी करने आया है? नालायक! हमारे दंड दे दे, अन्यथा हम तुझे कठिनाई में डाल देंगी।'

नागकुमार बने हुए विक्रम मौन रहे।

वहां खड़े अन्य नागपुरुषों को आश्चर्य हुआ कि ये मानवलोक की स्त्रियां नागकुमार को 'बटुक' कहकर क्यों सम्बोधित करती हैं?

किन्तु तब वैताल ने एक और चमत्कार किया। वीर विक्रम अपने मूल रूप में आ गए। वीर विक्रम को देखकर तीनों सखियां चमत्कृत हुईं और बोलीं – 'महाराज विक्रमादित्य की जय हो। कृपानाथ! रत्नपुर में जब हमने आपको देखा, तब हमारे मन में आपके प्रति रसभाव उत्पन्न हुआ था। हम तीनों की यह प्रतिज्ञा है कि हम एक ही पुरुष से विवाह करेंगी। आप हमारी प्रतिज्ञा को संरक्षण दें और हमें चरणदासी बनाकर स्वीकार करें।'

वैताल मन-ही-मन हर्षित हो रहा था....वीर विक्रम के मन में एक पत्नी के बदले अब चार पत्नियों की चिन्ता खड़ी हो गई।

महाराज विक्रमादित्य का नाम सुनकर नागजाति के लोग बहुत आनन्दित हुए। नववधू के रूप में सज्जित होकर आयी नागकुमारी के मुख पर भी प्रसन्नता की रेखाएं नाचने लगीं।

मूल नागकुमार के पिता विक्रमादित्य के सामने उपस्थित होकर बोले – 'कृपानाथ! आपकी प्रशंसा हम यदा-कदा सुनते रहे हैं। आज हमारा नागलोक धन्य हो गया। अब आप मेरे पुत्र पर कृपा करें और वह कहां है, इसकी सूचना देकर हमारी चिन्ता मिटाएं।'

वैताल ने तत्काल नागकुमार को उपस्थित किया। विक्रम ने नागकुमार के पिता से कहा – 'आप अपने पुत्र की विवाह-विधि सम्पन्न करें। मैं विवाह करने नहीं आया था।'

नागकन्या के पिता बोले -- 'महाराज! हमारी जाति के नियमों के अनुसार जिसका विवाह-मंडप में स्वागत होता है, वही कन्या के साथ पाणिग्रहण कर सकता है। मैं अपनी दूसरी पुत्री का विवाह नागकुमार से कर दूंगा।'

विक्रम ने नागकुमारी सुरसुन्दरी तथा तीनों सखियों – हरिमती, गोपा और विजया – इन चारों के साथ एक ही विवाह-मंडप में पाणिग्रहण किया।

सुरसुन्दरी की छोटी बहन रत्नसुन्दरी का विवाह मूल नागकुमार के साथ सम्पन्न हुआ। नागकुमार के पिता ने अपनी कन्या कमलसुन्दरी का विवाह भी विक्रम के साथ कर दिया।

इस प्रकार एक ही रात में पांच रूपवती कन्याओं को विक्रम ने पत्नी-रूप में प्राप्त किया और शेष तीन दंडों को भी प्राप्त कर लिया।

नागजाति के लोगों ने वीर विक्रम को रोकने का प्रयत्न किया। उनके अनुरोध को मानकर विक्रम एक दिन वहां रुके। दूसरे दिन पांचों पत्नियों और तीनों दंडों को लेकर वे रत्नपुर आ गए।

यह बात नगरी में फैल गई। तीनों सखियों के मां-बाप बहुत प्रसन्न हुए। अपनी कन्याओं को मालवपति स्वामी के रूप में प्राप्त हों, यह कम सौभाग्य की बात नहीं थी।

कुलदेवी का पूजन किए बिना पत्नियों के साथ बातचीत नहीं हो सकती, इसलिए विक्रम ने उन्हें मतिसार के भवन में रखा।

और दो दिन बाद विजयसिंह की कन्या मलयावती के साथ वीर विक्रम का विवाह सम्पन्न हुआ।

अब वे छह पत्नियों, तीन दंडों को साथ लेकर अवंती की ओर प्रस्थित हुए।

वैताल भी मानवरूप धारण कर साथ ही रह रहा था। वीर विक्रम भी मन-ही-मन समझ गए थे कि इस मित्र ने मनोरंजन-मनोरंजन में छह पत्नियों से पाणिग्रहण करा दिया है।

अवंती पहुंचने के पश्चात् वैताल विदा हुआ।

कमलारानी ने छहों नववधुओं का स्वागत किया। जब महाराज विक्रमादित्य मिले, तब उसने कहा – 'महाराज! परिग्रह मनुष्य के लिए सोने की बेड़ी बन जाता है। अन्तःपुर तो विशाल है, परन्तु आपके सिर पर भार बढ़ता जाएगा।'

'प्रिये! मैं क्या करूं? ऐसी परिस्थिति आ जाती है कि मेरे सामने कोई दूसरा मार्ग ही नहीं बचता। रूप और यौवन के पीछे पागल बनकर मैं ऐसा कर रहा हूं, यह मत सोचना। इतनी रूपवती पत्नियों के होने पर भी मेरे नयनों में तुम और कला ही बसी हुई हो। किन्तु कभी-कभी कीर्ति और प्रतिष्ठा भी हित-शत्रु बन जाती है।'

कमलारानी बोली—'आपकी कठिनाई को मैं समझती हूं किन्तु अब आपको कुछ प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिए। अभी आप युवा हैं, प्रियदर्शन हैं। आपको देखकर कोई भी नारी आपके प्रति आकर्षित होती है तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। किन्तु अन्त में यह बंधन बहुत कठोर हो जाता है।'

'अब मैं सावधान रहूंगा। अब पंचदंड का कार्य भी सम्पन्न हो गया है....आज रात्रि में सभी पत्नियों को रंगभवन में बुला लेना। मैं सबको पंचदंड की बात बताऊंगा।' विक्रम ने कहा।

रात हुई। रंगभवन में पैंतालीस पत्नियों के मध्य बैठकर विक्रम ने पंचदंड की पूरी बात बताई। सभी रानियां हर्ष से उल्लसित हुईं।

दूसरे दिन वीर विक्रम ने नागदमनी को बुलाकर कहा—'देवी! अब मेरे पास पांचों दंड हो गए हैं—सर्वरस दंड, वज्र दंड, भूमि-विस्फोटक दंड, विषापहर दंड और मणि दंड। अब छत्र के निर्माण में क्या सामग्री शेष रह जाती है?'

'महाराज! देवताओं और असुरों के लिए भी जो कार्य अशक्य था, उसे आपने शक्य कर दिखाया। अब मैं एकाध महीने में पंचदंड का छत्र तैयार कर दूंगी। आपने जहां मेरी कन्या देवदमनी के साथ शतरंज का खेल खेला था, वह भूमि अत्युत्तम है। वहीं आप एक सभामंडप का निर्माण कराएं। वहीं बत्तीस पुतलियों वाला सिंहासन रखें। उस सिंहासन पर ही मैं पंचदंड छत्र का निर्माण करूंगी और उन अमूल्य वस्तुओं के संरक्षण की मांत्रिक व्यवस्था भी कर दूंगी।'

नागदमनी आशीर्वाद देकर चली गई।

महाराजा विक्रमादित्य ने सभामंडप तैयार करने का आदेश दे दिया और लगभग एक हजार कारीगर इस कार्य में जुट गए।

एक महीने में नागदमनी ने छत्र तैयार कर महाराज को अर्पित करते हुए कहा—'महाराज! छत्र तैयार है। अब प्रतिदिन आपको अपने इष्टदेव की पूजा अर्चना कर इस छत्र का उपभोग करना होगा।'

चौथे महीने में सभामंडप तैयार हो गया—भव्य, सुन्दर और कलात्मक।

इस सभामंडप में बत्तीस पुतलियों वाला सिंहासन रखा। नागदमनी ने दैवी शक्ति वाले पंचदंड के छत्र को उस सिंहासन के ऊपर व्यवस्थित किया और दोनों दुर्लभ वस्तुओं की रक्षा के लिए मांत्रिक व्यवस्था की।

महाराज विक्रमादित्य राजपुरोहित के द्वारा शुभ दिन में उस सिंहासन पर महादेवी कमला के साथ विराजमान हुए।

सभामंडप में दो हजार व्यक्तियों के बैठने की व्यवस्था थी। सभी ने महाराज विक्रमादित्य का जयनाद किया।

५६. स्त्री का चरित्र

एक बार वीर विक्रम नगरचर्चा के लिए गए। लौटकर उन्होंने कमलारानी से कहा – 'प्रिये ! आज मैं सोनीवाड़ा में गया था। एक मकान में दो नवयौवना सखियां बातचीत कर रही थीं। एक का नाम सौभाग्यसुन्दरी था और दूसरी का नाम कल्पना था। कुछ ही समय पश्चात् कल्पना का विवाह होने वाला था, इसलिए वह अपनी सखी से मिलने के लिए आयी थी। बात-ही-बात में सौभाग्यसुन्दरी ने कल्पना से कहा – 'विवाह के बाद तू शीघ्र ही ससुराल चली जाएगी, इसलिए फिर हम मिल नहीं सकेंगी। बता, विवाह के पश्चात् जीवन की क्या कल्पना है ?'

कल्पना बोली – 'इसमें क्या कल्पना करनी है ? मैं पति की आज्ञा का पालन करूंगी। उनके सुख में सुख और दुःख में दुःख मानूंगी। सास और ससुर को माता-पिता तुल्य मानकर उनकी सेवा करूंगी और उनकी प्रियता संपादित करूंगी।'

'पगली कहीं की !' सौभाग्यसुन्दरी ने हंसते हुए कहा – 'इस प्रकार का आचरण तो प्रत्येक स्त्री करती ही है। इसमें कोई नयी बात नहीं है। यह तो विवाह की गुलामी कही जा सकती है, इसमें क्या ?'

तत्काल कल्पना बोली – 'सौभाग्य ! क्या कर्तव्य का निर्वाह गुलामी है ? अच्छा बता, तू विवाह के पश्चात् क्या करेगी ?'

'मेरे विवाह की तो अभी कोई बात ही नहीं है। लेकिन एकाध वर्ष में मुझे विवाह के बंधन में बंधना ही पड़ेगा। उस समय मैं तेरे जैसे गुलामी के विचार नहीं रखूंगी।'

'तो बता, क्या करेगी ?'

'मेरे पास रूप और यौवन का थाल भरा पड़ा है। मैं अपने पति को दास बनाकर रखूंगी और उसकी आंखों में 'कामण' आंज कर दूसरे छैल-छबीले पुरुषों के साथ आनन्द मनाऊंगी।'

कल्पना ने गम्भीर स्वर में कहा – 'तू मेरा परिहास तो नहीं कर रही है ?'

'नहीं, मैं सत्य कह रही हूं। एक ही पुरुष की पांखों के नीचे फड़फड़ाना क्या जीवन का उल्लास है ? नहीं, नहीं, नहीं। इसमें कोई नवीनता नहीं है। यौवन अमुक काल के पश्चात् अस्त हो ही जाता है, फिर इसकी उपेक्षा क्यों की जाए ?'

'सौभाग्यसुन्दरी के शब्दों को सुनकर मैं तत्काल वहां से चला आया।' वीर विक्रम ने कहा।

कमला बोली – 'स्वामी ! इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? अधिकांश स्त्रियां सच्चरित्र ही होती हैं। वे सतीत्व की रक्षा करती हैं। किन्तु कोई एक स्त्री सौभाग्यसुन्दरी जैसे विचारों वाली भी हो सकती है।'

'कमला ! इन शब्दों को सुनकर सौभाग्यकुमारी की परीक्षा करने का विचार मेरे मन में उठा, इसलिए सीधा तुम्हारे पास आ गया।'

'आप परीक्षा कैसे करेंगे ? अभी तो वह कुंवारी है और विवाह के पश्चात् वह कहां जाएगी, कोई कह नहीं सकता।'

'सुनो तो सही, यदि तुम कहो तो मैं उसे अपनी पत्नी बनाकर यहां ले आऊं और उसे एकान्त महल में रखूं, फिर देखूं कि वह अपने पति को गुलाम कैसे बनाती है और अन्य पुरुषों के साथ कैसे यौवन की मस्ती का आनन्द लेती है ?'

कमला खिलखिलाकर हंस पड़ी। उसके मधुर हास्य से सारा शयन-कक्ष मुखरित हो गया। वीर विक्रम तत्काल गंभीर होकर बोले — 'तुम्हें हंसी क्यों आ रही है ?'

'प्राणनाथ ! आपकी बात ही हास्यास्पद है। एक स्त्री की परीक्षा के लिए रानियों की संख्या क्यों बढ़ानी चाहिए ? जो स्त्री सदाचार से दूर है और चतुर है तो वह अपना सोचा हुआ कार्य करके ही सांस लेती है। आप सौभाग्यसुन्दरी से विवाह कर, उसे एकान्त महल में रख दें, फिर भी यदि वह परपुरुषगामिनी बने तो आपकी कितनी निन्दा होगी ?'

'कमला ! बात ठीक है। किन्तु रूप और यौवन के अभिमान में मस्त बनी सौभाग्यसुन्दरी के गर्व का खंडन कैसे हो ?'

विक्रम के वक्षस्थल पर मस्तक रखते हुए कमला बोली — 'प्राणेश ! संसार में स्त्री-चरित्र का पार अभी तक किसी ने नहीं पाया है। नारी एक महान् शक्ति है। यदि यह शक्ति सही मार्ग पर लगे तो वह पृथ्वी पर स्वर्ग खड़ा कर सकती है और यदि गलत मार्ग पर लगे तो वह संसार को श्मशान बना सकती है। आपने मुझे उमादे की बात बताई थी। उसके चरित्र के पीछे कितना दंभ था ?'

रात काफी बीत चुकी थी। विक्रम ने कमला को बाहुपाश में जकड़ा और...

प्रातः शौच आदि से निवृत्त होकर वीर विक्रम राजसभा में गए। उस समय उनके मन में स्त्री-चरित्र का ऊहापोह चल रहा था। उन्होंने महामंत्री भट्टमात्र से पूछा — 'क्या स्त्री-चरित्र नहीं जाना जा सकता ?'

'हां, महाराज ! स्त्री-चरित्र अकल्पनीय होता है। उसका पार पाना सहज नहीं है। भगवान भी स्त्री-चरित्र के समक्ष अवाक् रह जाते हैं।' भट्टमात्र ने कहा।

'मित्र ! स्त्री-चरित्र को अनुभव करने का साधन क्या है ?'

'कृपानाथ ! यह अनुभव करने योग्य वस्तु नहीं है। यह तो तीव्र विष के समान है।'

'फिर भी।'

'कृपानाथ! मुझे इसका अनुभव नहीं है। किन्तु इस नगरी में कलिका नाम की एक वेश्या रहती है। वह अत्यन्त चतुर और तांत्रिक प्रयोगों को जानने वाली है। उससे ही स्त्री-चरित्र के विषय में जाना जा सकता है।'

विक्रम का मन कलिका से मिलने के लिए आतुर था। उनका चित्त और-और कार्यों में नहीं लग रहा था। सोते, उठते, बैठते वे स्त्री-चरित्र की जिज्ञासा में ही उलझे रहते थे। महारानी कमला और कला ने उनकी मन:स्थिति को जान लिया था। फिर भी वे उनके मन को बहलाने का प्रयत्न कर रही थीं। इसी प्रयत्न में जलविहार की योजना बनी और एक दिन वीर विक्रम इक्यावन रानियों तथा सैकड़ों दासियों के साथ जलक्रीड़ा के लिए निकल पड़े।

जलविहार!

नवयौवना इक्यावन रानियों के साथ मदभरी मस्ती।

वीर विक्रम उस समय कलिका को भूल-से गए। वे अपनी प्रत्येक प्रिया के साथ यौवन की मदमस्ती से क्रीड़ा कर रहे थे।

जलविहार सम्पन्न हुआ।

पुन: वीर विक्रम का मन कलिका से मिलने के लिए व्याकुल हो उठा। उन्होंने अजय को बुलाकर कहा— 'अभी कलिका वेश्या से मिलने जाना है।'

'स्वामी! कलिका वेश्या! रात में!'

'हां, अभी। मुझे उससे कुछ रहस्य जानना है। रथ तैयार कर।'

'जी।' कहकर महाप्रतिहार चला गया।

विक्रम तत्काल वेश-परिवर्तन करने लगे। उन्होंने राजमुद्रिका के अतिरिक्त सारे अलंकार उतार डाले। एक सामान्य क्षत्रिय की पोशाक पहन वे तैयार हो गए।

वेश-परिवर्तन कर उन्होंने दीपमालिका के प्रकाश में दर्पण में देखा। उन्हें निश्चय हो गया कि इस वेश में कोई भी उन्हें नहीं पहचान पाएगा।

सामान्य क्षत्रिय के वेश में विक्रम बाहर निकले।

नीचे प्रांगण में महाप्रतिहार अजय ने रथ तैयार रखा था।

कुछ ही क्षणों के पश्चात् वीर विक्रम और अजय रथ में बैठकर विदा हो गए।

एक स्थान पर रथ को छोड़ वीर विक्रम और अजय पैदल चल पड़े। कुछ दूर चलने के पश्चात् अजय ने कहा – 'कृपानाथ! देवी कलिका का यह भवन है।'

'अच्छा, अब तुम राजभवन में चले जाओ।'

'आप आज्ञा दें तो मैं यहां नीचे ही खड़ा रहूं।'

विक्रम ने हंसकर कहा – 'नहीं, अजय! भय की कोई बात नहीं है। मैं अपना कार्य पूरा कर राजभवन की ओर निकल पड़ूंगा।'

अजय मस्तक नमाकर विदा हो गया।

वीर विक्रम ने कलिका के भवन के बंद द्वार को खटखटाया।

कुछ ही क्षणों के पश्चात् एक वृद्ध महिला ने द्वार खोला और एक अपरिचित व्यक्ति को सामने देखकर पूछा – 'किससे मिलना चाहते हो ?'

'मैं देवी कलिका से मिलने आया हूं। क्या वे घर में हैं ?'

'हां, आप अन्दर पधारें। मैं अभी पूछकर आती हूं। आपका नाम-धाम क्या है ?'

'मैं एक परदेशी राजपूत हूं। देवी की प्रशंसा सुनकर उनसे मिलने आया हूं। मेरा नाम विक्रमसिंह है।' विक्रम ने कहा।

विक्रम को वहां बिठा वृद्धा भीतर गई और कुछ ही क्षणों में लौटकर बोली – 'भाई ! तुम मेरे पीछे-पीछे आ जाओ।'

'अच्छा।' कहकर विक्रम उस वृद्धा के पीछे-पीछे चल पड़ा।

तीसरी मंजिल पर पहुंचकर वृद्धा एक कक्ष के पास रुकी और बंद द्वार को खटखटाते हुए बोली – 'देवी !'

'अंदर आने दो।' खंड से एक आवाज आयी।

वृद्धा ने द्वार खोलकर कहा – 'अंदर जाओ, भाई !'

विक्रम अंदर गए।

वृद्धा पुन: द्वार बंद कर चली गई।

विक्रम को देखते ही कलिका पलंग पर से उठते हुए बोली – 'पधारें, अवंतीनाथ ! आपने वेश-परिवर्तन तो बहुत उचित ढंग से किया है, किन्तु आपके विशाल और तेजस्वी नयन कभी किसी से छिपे रह सकते हैं ?' यह कहकर कलिका ने हाथ से इशारा कर कहा – 'कृपानाथ ! आप इस आसन पर बैठें।'

'देवी ! मैं एक परदेशी....'

बीच में ही मधुर वाणी में कलिका बोली – 'कृपानाथ ! मैं जिस व्यक्ति को एक बार देख लेती हूं, उसे कभी भूल नहीं सकती। आप बिना किसी संकोच के यहां विराजें। मैं आज वास्तव में धन्य हो गई। मेरे आंगन में बानवे लाख प्रजा के स्वामी मालवनाथ पधारे।'

विक्रम ने आसन पर बैठते हुए कहा – 'देवी ! मैंने तो आपको कभी नहीं देखा है।'

'आप तो परदु:खभंजक हैं, महान् हैं। आपको कौन नहीं जानता ? मैंने आपको शोभायात्रा में, महाकाल के मंदिर में और राजसभा में देखा है। आज इस दासी को कैसे याद किया ?'

विक्रम ने कलिका की ओर देखकर कहा – 'देवी ! मैं एक विशेष प्रयोजन से यहां आया हूं। मेरे मन में एक ऐसी जिज्ञासा जागी है कि मुझे पलभर भी विश्राम नहीं मिल रहा है। मुझे स्त्री-चरित्र को जानने की जिज्ञासा है और मैं इसे अपने नयनों से देखना चाहता हूं। मैंने सुना है कि आप ही मेरी जिज्ञासा को शांत कर सकती हैं, दूसरा कोई नहीं।'

दो क्षण विचारमग्न होकर कलिका बोली – 'महाराज ! स्त्री-चरित्र से दूर रहना ही अच्छा है। आप अपनी जिज्ञासा को निकाल दें। स्त्री-चरित्र देखने के पश्चात् आपको अत्यधिक पीड़ा होगी, पश्चात्ताप होगा।'

'देवी ! मेरा हृदय जितना कोमल है, उतना कठोर भी है। आप मेरी जिज्ञासा को पूरी करने का प्रयत्न करें।'

'कृपानाथ ! आपकी आज्ञा मान्य करना मेरा परम धर्म है। स्त्री-चरित्र बहुत कुटिल होता है। उसका पार कोई नहीं पा सकता। फिर भी आपकी जिज्ञासा को शांत करने का मैं प्रयत्न करूंगी। एक प्रश्न है, क्या आप बाहर का स्त्री-चरित्र जानना चाहते हैं अथवा अपने ही अन्त:पुर का ?'

विक्रम अन्त:पुर का नाम सुनते ही चौंके और आसन से उठते हुए बोले – 'क्या मेरे अन्त:पुर में स्त्री-चरित्र है ?'

'महाराज ! आपका अन्त:पुर संसार से निराला नहीं है। जहां स्त्रियां रहती हैं, वहां स्त्री-चरित्र भी होता है।'

विक्रम पुन: आसन पर बैठते हुए बोले – 'देवी ! मेरी सभी पत्नियां पवित्र, निर्मल, धर्मपरायण और पातिव्रत धर्म को प्राणों से भी अधिक मूल्यवान मानने वाली हैं। मेरे अन्त:पुर में स्त्री-चरित्र का अवकाश भी नहीं है।'

'तो मैं आपकी इस श्रद्धा को खंडित करना नहीं चाहती। मैं आपको दूसरी स्त्रियों का स्त्री-चरित्र दिखा दूंगी।' कलिका ने कहा।

विक्रम बोले – 'नहीं, देवी ! मुझे तो अपने ही अन्त:पुर का स्त्री-चरित्र जानना है।'

'कृपानाथ ! यह मैं आपको आज ही बता दूंगी। किन्तु आपको मुझे एक वचन देना होगा।'

'बोलो !'

'जो कुछ भी आप देखेंगे, उसे मन में ही रखेंगे। क्रोध के आवेश में कुछ भी नहीं करेंगे।'

'देवी ! मैं एक राजा हूं....यदि क्रोध को न पचा सका तो ?'

'तो फिर स्त्री-चरित्र को देखने का आग्रह छोड़ दें, क्योंकि इस पक्ष में मैं भी कुछ सहयोगी बनूंगी।'

'अच्छा, मैं क्रोध को पचा लूंगा।'

'कृपानाथ! आप भाग्यशाली हैं। यह प्रसंग कब प्राप्त होता, कुछ भी नहीं कहा जा सकता था। किन्तु आज मध्याह्न में ही मुझे संदेश प्राप्त हुआ था। आज मध्यरात्रि के समय मैं आपकी जिज्ञासा तृप्त कर सकूंगी। आप मेरे साथ ऊपर पधारें।' कहकर कलिका ने कक्ष का द्वार खोला और हाथ में एक झोली लेकर ऊपर चढ़ने लगी।

विक्रम भी उसके पीछे-पीछे चले। मध्यरात्रि का समय हो रहा था। कलिका ने आकाश की ओर देखकर कहा– 'महाराज! समय हो चुका है। यहां जो एक पेटी है, उसमें आप मौन होकर बैठ जाएं। इस पेटी में छोटे-छोटे छिद्र हैं। इन छिद्रों से आप अन्दर बैठे-बैठे बाहर का सारा दृश्य देख सकेंगे। आप हिलें-डुलें भी नहीं। यह पेटी आकाशमार्ग से उड़ेगी। आप घबराएं नहीं।'

विक्रम ने पेटी की ओर देखकर कहा– 'देवी! मैं अत्यन्त सावचेत रहूंगा।'

कलिका ने पेटी का ढक्कन खोला। वीर विक्रम अन्दर बैठ गए। कलिका बोली– 'महाराज! चुपचाप बैठे रहें। यह पेटी आकाशमार्ग से आपको अन्तःपुर में ले जाएगी। वहां जो भी घटित हो उसे देखते रहें। अब मैं नीचे जा रही हूं....कुछ ही समय पश्चात् पुनः आऊंगी।' कहकर कलिका ने पेटी का ढक्कन बन्द कर दिया।

वीर विक्रम पेटी में सिकुड़कर बैठ गए। उनके मन में अनेक प्रकार के विचार आने लगे।

कलिका अपने कक्ष में चली गई।

दो-एक घटिका बीती होगी। विक्रम के मन में उथल-पुथल हो रही थी। उन्होंने सोचा, मेरे अन्तःपुर में स्त्री-चरित्र कैसे हो सकता है? वहां इतना जबरदस्त पहरा! प्रत्येक रानी के लिए अलग-अलग आवासगृह! प्रत्येक आवासगृह के सशस्त्र रक्षक! बाहर का कोई भी व्यक्ति भीतर प्रवेश नहीं कर सकता....फिर स्त्री-चरित्र कैसा? मेरी प्रत्येक रानी प्रसन्न और मेरे से संतुष्ट है, फिर क्यों वह....कलिका कैसे कहती है कि मेरे अन्तःपुर में भी स्त्री-चरित्र है?

इन विचारों में विक्रम उलझ रहे थे। इतने में ही उनके कानों से कलिका के शब्द टकराए– 'पधारो, मंत्रीश्वर! ऊपर पधारो!'

दोनों ऊपर आए, तब कलिका बोली– 'आप इस पेटी के ऊपर बैठ जाएं और यह मांत्रिक पिच्छी हाथ में रखें। इस पिच्छी को पेटी पर फेरने से आप जहां जाना चाहेंगे, वहां यह पेटी आपको आकाशमार्ग से पहुंचा देगी।'

'कलिका! तुम्हारी कृपा नहीं होती तो.....'

'आप ऐसा न कहें। आपने मुझे प्रचुर धन दिया है। इस बार आपने बहुत विलम्ब किया है। पन्द्रह दिन हो गए हैं।'

'हां, कलिका! महाराजा के अन्त:पुर में जाना सहज कार्य तो नहीं है। प्रिया के तीन-चार संदेश आए, इसलिए मुझे आज तुझे कहलाना पड़ा।' कहकर मंत्री पेटी पर बैठ गया।

पेटी के अन्दर बैठे हुए वीर विक्रम ने अपने मंत्री का स्वर पहचान लिया। उन्होंने सोचा, ओह! जिसे मैं अत्यन्त पवित्र और धर्मिष्ठ मानता था, क्या मंत्री ज्ञानचन्द्र ऐसा है?

कलिका बोली– 'मंत्रीश्वर! आपका संदेश प्राप्त होते ही मैंने सारी तैयारी कर रखी थी। यह मंत्रसिद्ध पेटी आपको अपनी प्रिया के पास पहुंचाएगी। किन्तु वहां जाने के पश्चात् इस पेटी को खोलने का प्रयत्न न करें, क्योंकि पेटी मंत्रसिद्ध है। इसको खोलते ही इसमें से आग निकलेगी और खोलने वाले को भस्म कर देगी।'

'मैं सावधानी बरतूंगा। आज आकाश में उड़ने के लिए काम आने वाली पवन पादुकाएं नहीं हैं?' ज्ञानचन्द्र ने पूछा।

'नहीं, उनको मंत्रसिद्ध करना होता है और उसके लिए कृष्णपक्ष की चतुर्दशी तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। इसलिए आज इस पेटी का प्रयोग करना पड़ रहा है।' कलिका ने कहा।

मंत्री ज्ञानचन्द्र ने कलिका से पिच्छी ली और पेटी पर बैठकर उसको पेटी के चारों ओर फेरा। क्षणभर में ही पेटी आकाशमार्ग से राजभवन के अन्त:पुर की दिशा में उड़ने लगी।

विक्रम छिद्रों से देख रहे थे, पर अंधकार के कारण कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था।

कुछ ही क्षणों में वह पेटी एक वातायन के रास्ते से एक शयनकक्ष में प्रविष्ट हुई।

विक्रम ने देखा कि वे एक शयनकक्ष में आ पहुंचे हैं और वहां दीपमालिका का मंद प्रकाश फैला हुआ है।

पेटी शयनकक्ष की एक दीवार के पास जा ठहर गई। विक्रम ने देखा– सामने ही स्वर्ण का एक विशाल पलंग बिछा पड़ा है। पलंग पर अपनी ही पत्नी मदनमंजरी जागती हुई बैठी है। ज्ञानचन्द्र पेटी पर पिच्छी रखकर खड़ा हुआ। तत्काल मदनमंजरी बोली– 'आओ प्रियतम! तुम्हारा वियोग मेरे से सहा नहीं जाता, यह तो तुम जानते ही हो। चार-चार संदेश भेजे, जब तुमने आने की स्वीकृति दी। प्रियतम! तुम्हारा चित्त तो प्रसन्न है न?'

'चित्त तो सदा तेरे में ही रमा रहता है, किन्तु क्या करूं? राजकाज ऐसा होता है कि समय मिल ही नहीं पाता। एक बात और है– यहां आने का अर्थ है मौत

को हथेली पर लेकर आना। यदि किसी को ज्ञात हो जाए तो उसी क्षण मस्तक धड़ से अलग हो जाए।'

'भयभीत रहना प्रेमियों को शोभा नहीं देता। अच्छा चलो, पहले मैं तुम्हें अपने हाथों से नहलाती हूं। फिर हम साथ बैठकर भोजन करेंगे।'

'अरे, क्या तुमने अभी तक भोजन नहीं किया?'

'कैसे करती? मैं अधीर होकर तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही थी।' कहकर मदनमंजरी ने मंत्री ज्ञानचन्द्र का हाथ पकड़ा और शयनकक्ष में स्थित स्नानगृह में ले गई।

वीर विक्रम अवाक् बनकर अत्यन्त आश्चर्यचकित नयनों से पेटी के छिद्रों से जितना दिख पा रहा था, उसे देखते रहे।

लगभग एकाध घटिका के पश्चात् ज्ञानचन्द्र और मदनमंजरी—दोनों स्नानगृह से बाहर निकले।

विक्रम ने देखा—दोनों ने स्नान कर लिया है।

मंजरी बोली—'तुम यहां बैठो, मैं वस्त्र बदलकर आती हूं।'

'प्रिये! इन भीगे वस्त्रों में तुम्हारी कंचनवर्णी काया अत्यन्त रमणीय लगती है।'

'फिर भी....' कहकर मंजरी शयनगृह से उसके भीतर वाले वस्त्रकक्ष में चली गई

शयनकक्ष का मुख्यद्वार भीतर से बन्द था। ज्ञानचन्द्र शय्या पर बैठे थे। विक्रम ने देखा, ज्ञानचन्द्र की उम्र लगभग चालीस वर्ष की है। इसका चेहरा भी आकर्षक नहीं है। मदनमंजरी और ज्ञानचन्द्र यदि पास-पास खड़े रहें तो भी शोभित नहीं हो सकते। ऐसे सामान्य मनुष्य पर मेरी नवयौवना पत्नी कैसे मुग्ध हो गई?

इतने में ही मदनमंजरी उत्तम वस्त्रों को धारण कर हाथ में भोजन का थाल लेकर आ गई।

दोनों फर्श पर बैठे और एक-दूसरे के मुंह में कवल देते हुए प्रेम और उल्लास से भोजन करने लगे।

दोनों की बातें सुनकर विक्रम का क्रोध बढ़ रहा था, किन्तु तत्काल उन्हें कलिका की बात का स्मरण हो आया और उन्होंने क्रोध को पी लिया।

भोजन करने के पश्चात् दोनों ने मुखवास लिया। मदनमंजरी बोली—'प्रिय! इस प्रकार तुम पन्द्रह-पन्द्रह दिनों में एक बार आते हो, यह उचित नहीं है। तुम प्रतिदिन रात को आया करो।'

'प्रिये ! मैं प्रतिदिन रात को कैसे आऊं ? महाराज यदि आ जाएं तो तुम्हारी और मेरी क्या दशा हो ? और कलिका भी महीने में दो बार ही सहायक बन सकती है।'

'तो फिर दूसरा कोई उपाय नहीं है ?'

'तुम बताओ, पहरा कितना जबरदस्त है ?'

'एक उपाय है।'

'बोलो।'

'तुम यदि स्त्री-वेश धारण करो तो मालिन के रूप में यहां आ सकते हो।'

'मैं यहां रहूं और कभी महाराज अचानक आ पहुंचें तो ?'

मदनमंजरी खिलखिलाकर हंस पड़ी और हंसते-हंसते बोली –'महाराज कैसे आएं ? पिछले दो महीनों से वे मेरे आवासगृह में आए ही नहीं। आज जलक्रीड़ा में उन्हें देखा था और इतनी-इतनी रानियों के मध्य रहने वाला राजा समय ही कैसे निकाल सकता है। जब-जब मेरे आवास में आने की बारी आती है तब-तब या तो वे प्रवास पर चले जाते हैं या फिर किसी के दु:ख को दूर करने के लिए रुक जाते हैं।'

विक्रम का हृदय जल-भुन रहा था और....

दोनों कामांध होकर मस्ती में आ गए....निर्भयतापूर्वक दोनों रतिक्रीड़ा में पागल हो गए।

वीर विक्रम के लिए यह सब असह्य हो रहा था, फिर भी वे धैर्य रखकर बैठे थे।

रात का तीसरा प्रहर पूरा हुआ। ज्ञानचन्द्र ने कहा – 'प्रिये ! अब मैं जाता हूं।'

'नहीं, अभी रात बाकी है।'

'प्रात: होते ही मैं फिर जा नहीं सकूंगा।'

'मैं दिन में तुमको यहीं छिपाकर रखूंगी।'

'नहीं, मंजरी ! यह खतरा नहीं लेना चाहिए।' कहकर ज्ञानचन्द्र शय्या से नीचे उतरा। रानी भी नीचे उतरी और ज्ञानचन्द्र का आश्लेष करती हुई बोली – 'अब तुम कब आओगे ?'

'कलिका समझने वाली नहीं है, इसलिए पन्द्रह दिन तक तुम्हें भी और मुझे भी वियोग की शय्या भोगनी पड़ेगी। यदि कोई दूसरा उपाय हाथ लगा तो मैं अवश्य आऊंगा।'

दोनों आलिंगनबद्ध हो गए। दोनों ने एक-दूसरे को चुम्बन से भिगो दिया और ज्ञानचन्द्र आलिंगन से छूटकर पेटी के पास गया। हाथ में पिच्छी लेकर वह

पेटी पर बैठते हुए बोला– 'प्रिये! आज का आनन्द! आज की मस्ती! आज की रात!'

बीच में ही मंजरी बोल उठी– 'पन्द्रह दिनों के वियोग से तो अच्छा है कि हम यहां से कहीं भाग चलें।'

ज्ञानचन्द्र ने मुस्कराते हुए कहा– 'प्रिये! महाराज विक्रमादित्य के हाथ बहुत लम्बे हैं। यदि हम अचानक पलायन कर जाएंगे तो उन्हें संदेह होगा और वे हमें पकड़ लेंगे। एक बात है कि अपना यह गुप्त प्रेम यहां आनन्द से क्रीड़ा कर सकता है। तुम्हारे और मेरे गौरव की भी रक्षा होती है। मुझे मेरे माता-पिता, पत्नी और बालकों को छोड़कर जाना भी उचित नहीं है।'

मंजरी पेटी के पास आयी और अन्तिम चुम्बनदान देकर उसने ज्ञानचन्द्र के हाथ में एक माला दी।

ज्ञानचन्द्र को लेकर पेटी आकाश में उड़ गई।

जब तक पेटी आंखों से ओझल नहीं हो गई, तब तक मंजरी उस ओर देखती रही।

कुछ ही क्षणों में पेटी कलिका की छत पर आ पहुंची। उसी क्षण कलिका ऊपर आयी और ज्ञानचन्द्र के हाथ में से पिच्छी लेती हुई बोली– 'मंत्रीश्वर! आज तो बहुत विलम्ब किया?'

'देवी! परकीया प्रेमिका का प्रेम अनोखा होता है। किन्तु तुम्हारी कृपा में कुछ न्यूनता रह जाती है। यदि तुम मुझे वहां सप्ताह में दो बार भेज सको, तो बहुत आनन्द आएगा। तुम जो चाहोगी, वह तुम्हें देता रहूंगा।'

फिर ज्ञानचन्द्र ने मदनमंजरी से प्राप्त मुक्तामाला को कलिका के हाथों में रखते हुए कहा– 'यह माला बहुत मूल्यवान् है।'

'मैं धन्य हुई।' कहती हुई कलिका ने वह माला ले ली।

ज्ञानचन्द्र कलिका से विदाई लेकर चला। कलिका उसे भवन के दरवाजे तक पहुंचाने गई। फिर वह छत पर पेटी में से विक्रम को बाहर निकालकर बोली– 'महाराज! स्त्री-चरित्र देख लिया?'

विक्रम ने कहा– 'देवी! मुझे कल्पना भी नहीं थी कि मेरी एक पत्नी ऐसी चरित्रहीन है। अब तुम मुझे इस बात का उत्तर दो।'

'महाराज! मैंने आपके मन की बात जान ली है, किन्तु आप अपनी अन्य पचास रानियों के प्रति किसी भी प्रकार का संशय न रखें। अन्य रानियां पवित्र हैं और पातिव्रत धर्म को पालने वाली हैं।'

'परन्तु देवी! मैं प्रत्येक रानी को प्रसन्न रखता हूं। फिर भी यह कैसे हुआ? मंत्री ज्ञानचन्द्र अवस्था में मेरे से बड़ा है और दिखने में भी सुन्दर नहीं है।'

'महाराज! इस विषय में आप चिन्तित न हों। स्त्री में कामवासना अधिक होती है और लज्जा भी विशेष होती है। जब वह लज्जा का त्याग कर देती है, तब उसे कुछ भी भान नहीं रहता और यह सच है कि कामान्ध व्यक्ति वय, रूप आदि का ध्यान नहीं रखता।'

'ओह देवी! मैंने अपनी जिज्ञासा शांत कर ली। अब तुम वह माला मुझे दिखाओ, जो तुमको ज्ञानचन्द्र से मिली है।'

कलिका ने वह मुक्तामाला विक्रम के हाथ में दी।

विक्रम ने माला को देखकर कहा— 'ओह! यह तो वही माला है, जो मैंने मंजरी को दी थी। दुष्टा मंजरी ने अपने प्रियतम से प्राप्त उपहार की भी इज्जत नहीं रखी?'

'कृपानाथ! क्रोध न करें। संसार में ऐसा होता रहा है।'

'देवी! नारी को नारायण भी नहीं पहचान सकते। यदि तुम्हें कोई आपत्ति न हो तो मैं इस मुक्तामाला को साथ ले जाऊं। दो-तीन दिन बाद महाप्रतिहार तुम्हें लौटा देगा।'

'कृपानाथ! यह मुक्तामाला आपकी ही है, प्रसन्नता से ले जाएं। परन्तु ऐसा कोई कदम न उठाएं जिससे आपकी कीर्ति में आंच आए। आपने जो वचन मुझे दिया है, उसको न भूलें।'

विक्रम ने कलिका की ओर देखकर कहा— 'देवी! मैं तुम्हारा आभार मानता हूं। मैंने जो वचन दिया है, वह अन्यथा नहीं होगा। किसी का वध तो नहीं करूंगा, किन्तु इन दुष्टों को अपनी नगरी में नहीं रखूंगा।'

'कृपानाथ! यह मेरा व्यवसाय है। फिर भी मैंने आपका अपराध किया है। यदि मैंने ज्ञानचन्द्र का सहयोग न किया होता तो ऐसा नहीं बनता।'

'देवी! तुम तो केवल निमित्त बनी हो। एक बात मैं अवश्य कहना चाहता हूं कि तुम इस व्यवसाय को तिलांजलि दे दो। धन के लिए ऐसा करना उचित नहीं है। धन नाशवान् है।'

कलिका बोली— 'कृपानाथ! आपके चरणों की साक्षी से प्रतिज्ञा करती हूं कि मैं आज से ऐसे जघन्य कर्म नहीं करूंगी। महाराज! मुझे उत्तम जैनधर्म मिला, फिर भी उसकी उपेक्षा कर मैंने इस मायाजाल में अपने आपको फंसा डाला।'

विक्रम ने कहा— 'देवी! तुम ज्ञानी हो। ज्ञानी को समझने में विलम्ब नहीं लगता। अब प्रातःकाल होने ही वाला है। मुझे यहां से विदा हो जाना चाहिए।'

कलिका ने भाव-भरे स्वरों में कहा— 'कृपानाथ! पारसमणि के स्पर्श से लोहा स्वर्ण बन जाता है। आपको स्त्री-चरित्र की जानकारी कराते हुए मेरा स्त्री-चरित्र भी सदा के लिए नष्ट हो गया। आज मैं आपके दर्शन से पवित्र हुई हूं।'

फिर विक्रम वहां से विदा हो गए।

जब वे राजभवन में पहुंचे तब पूर्वाकाश में उषारानी का मधुर प्रवेश अठखेलियां कर रहा था।

६०. अपराधी को सजा

रात्रि के दृश्य से वीर विक्रम के हृदय में एक चिनगारी जल चुकी थी। यदि वे कलिका से वचनबद्ध नहीं होते तो रात्रि में ही पेटी से बाहर निकलकर मदनमंजरी और ज्ञानचन्द्र को वहीं मौत के घाट उतार देते। किन्तु उन्होंने असाधारण धैर्य रखा। कोई भी पुरुष अपनी पत्नी के साथ खेले जाने वाले रंग-राग को देखकर स्थिर रह ही नहीं सकता। क्रोध को पी जाना सहज-सरल बात नहीं है। वीर विक्रम जैसे महान् व्यक्ति ही ऐसा कर सकते हैं।

विक्रम सीधे अपने खण्ड में गए और अपने निजी सेवक रामदास को स्नान आदि की व्यवस्था करने का आदेश दिया। स्नान आदि प्रातःकर्म से निवृत्त होकर वीर विक्रम महारानी कमलावती के खण्ड में गए। महारानी कमलावती भी वहीं प्रतीक्षा कर रही थी। एक आसन पर बैठने के पश्चात् विक्रम बोले – 'कमला! कल रात्रि में जो मैंने स्त्री-चरित्र देखा, उससे मुझे असह्य परिताप हो रहा है।'

'प्राणनाथ! कल रात्रि में क्या बना था?'

'प्रिये! जो घटित घटना मैंने अपनी आंखों से देखी, उसकी स्मृति मात्र से सिहरन पैदा हो जाती है।' यह कहकर विक्रम ने मदनमंजरी और ज्ञानचन्द्र के व्यभिचार की पूरी बात बताई।

यह सुनकर दोनों रानियां अवाक् रह गईं।

दूसरे दिन रानी कमला और कलावती के साथ मंत्रणा कर वीर विक्रम ने मंत्री ज्ञानचन्द्र को अपने निजी कक्ष में बुला भेजा।

मन्त्री ज्ञानचन्द्र नमन करता हुआ कक्ष में प्रविष्ट हुआ और वीर विक्रम के समक्ष हाथ जोड़कर खड़ा रहा।

महाप्रतिहार अजय वीर विक्रम के पीछे खड़ा था। खंड में और कोई नहीं था। ज्ञानचन्द्र ने विनम्र स्वरों में कहा – 'कृपानाथ! क्या आज्ञा है?'

विक्रम बोले – 'तुम्हारे हाथ में नगरी की व्यवस्था का कार्य है। कल मैं नगर-चर्चा के लिए गया था। वहां मैंने एक दर्दनाक घटना सुनी – उत्तम कुल की एक नारी परपुरुष के साथ व्यभिचार कर रही थी। यदि नगर में ऐसा होता है तो यह अधःपतन का सूचक है। व्यभिचार के लिए नगर में अनेक वेश्यागृह हैं, फिर भी यदि गृहस्थ के घर में ऐसा होता है तो यह निन्दनीय कार्य है। अब बताओ, न्याय की दृष्टि से हमें क्या करना चाहिए?'

'कृपानाथ! नीतिशास्त्र की दृष्टि से देखा जाए तो ऐसे पुरुष और स्त्री वध-योग्य होते हैं।' ज्ञानचन्द्र ने कहा।

दो क्षण सोचकर विक्रम बोले – 'तो फिर मैं तुम्हें कौन-सी सजा दूं?'

प्रश्न सुनते ही ज्ञानचन्द्र आकुल-व्याकुल हो गया। वीर विक्रम बोले – 'तुम रात्रि में एक पेटी पर बैठकर आकाश-मार्ग से एक भवन में गए थे। मैं उसी पेटी में बैठा था। इतना ही नहीं, तुमने कलिका को जो माला दी थी, वह माला भी अब मेरे पास है। ज्ञानचन्द्र! तुम्हारा अपराध अक्षम्य है। तुम्हारे शरीर के राई-राई जितने टुकड़े कर चीलों को खिला दूं, फिर भी मेरे मन को संतोष नहीं हो पाएगा। बोलो, इस विषय में तुम्हें कुछ कहना है?'

ज्ञानचन्द्र स्तब्ध रह गया। काटो तो खून नहीं। वह कांपने लगा। उसकी बुद्धि बधिर हो चुकी थी। उसके जुड़े हुए दोनों हाथ कांप रहे थे।

विक्रम ने महाप्रतिहार की ओर दृष्टिपात करते हुए कहा – 'अजय! ऐसे नराधम के रक्त से मैं अवंती की पवित्र भूमि को दूषित करना नहीं चाहता। तुम इस दुष्ट को पवित्र मालव देश की सीमा से बाहर छोड़ने की व्यवस्था कर दो।'

फिर ज्ञानचन्द्र की ओर देखकर कहा – 'ज्ञानचन्द्र! मैं तुम्हें क्षमा तो नहीं कर सकता, परन्तु तुम्हें जीवनदान देता हूं। अब तुम अपने भवन में भी नहीं जा सकोगे। अजय तुम्हें यहां से सीधा कारावास में ले जाएगा और आज मध्यरात्रि में तुम्हारे जैसे पापी को यहां से विदा कर दिया जाएगा। मैं एक चेतावनी देता हूं कि यदि तुम फिर कभी मालव की सीमा में पैर रखने की चेष्टा करोगे तो तुम्हारे टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाएंगे।'

ज्ञानचन्द्र नीचा मुंह किए मौनभाव से सुनता रहा। सजल नयनों से अपने प्रिय और दयार्द्र राजा के चरणों में लुढ़क गया। कुछ समय पश्चात् अजय ज्ञानचन्द्र को साथ लेकर कारावास की ओर विदा हो गया।

उसी रात को चार सशस्त्र सैनिक एक बन्द रथ में मन्त्री ज्ञानचन्द्र को लेकर विदा हो गए। और तीन दिन पश्चात् महाराजा विक्रमादित्य ने अपने निवास-स्थान के आगे एक बंद रथ तैयार रखा। रथ की रक्षा के लिए दस सैनिक और नायक की व्यवस्था कर रखी थी।

रात्रि के प्रथम प्रहर के पश्चात् विक्रम ने मदनमंजरी को अपने आवास-स्थल में बुला भेजा। महाराजा का आदेश सुनकर मंजरी को कुछ आश्चर्य हुआ, किन्तु वह तत्काल अपनी दासी को साथ लेकर महाराजा के आवास की ओर चल पड़ी। जब वह वहां पहुंची तब रानी कमला और कलावती भी वीर विक्रम के कक्ष में ही बैठी थीं।

महाराज विक्रम के तेजस्वी मुख को देखकर वह अवाक् रह गई। उसका मन भय से आक्रान्त हो गया, पर वह कुछ भी अनुमान नहीं लगा सकी।

विक्रम ने गम्भीर और तेज स्वरों में कहा– 'मंजरी! अभी पांच-चार दिन पहले मध्यरात्रि के समय तेरे वातायन से एक पेटी तेरे शयनकक्ष में आयी थी। वह पेटी आकाशमार्ग से आयी और उस पर नमकहराम मंत्री ज्ञानचन्द्र बैठा था।'

मदनमंजरी की आंखों के सामने अंधकार छाने लगा। यह देखकर वीर विक्रम बोले– 'मंजरी! धैर्य रखना। जिस पाप का सेवन तूने हर्षपूर्वक किया है, उसको सुनने में व्याकुलता क्यों होनी चाहिए। सुन, तूने उस ज्ञानचन्द्र के साथ खुलकर व्यभिचार का सेवन किया और तूने मेरे द्वारा उपहृत माला उस नीच प्रेमी को दे डाली। उस समय मैं स्वयं उस पेटी के भीतर बैठा था।' मदनमंजरी का गुलाबी चेहरा सफेद हो गया। उसकी आंखें लज्जावश नीचे झुक गईं। उसका हृदय कांप उठा।

वीर विक्रम शांतभाव से बोले– 'वह पेटी आकाशमार्ग से उठी और कलिका की छत पर पहुंची। ज्ञानचन्द्र ने वह माला कलिका को दी और कलिका से मैंने प्राप्त की। मुझे इतना गुस्सा आया था कि मैं तेरे शयनकक्ष में ही तेरा और तेरे प्रेमी का सिर धड़ से अलग कर देता, पर मैंने असाधारण धैर्य रखा। अब मैं तुझे जीवनदान अवश्य देता हूँ, पर तुझे यहां नहीं रहने दूंगा। तू चाहे तो मैं तुझे तेरे माता-पिता के पास भेज दूं अथवा मालव देश की सीमा के उस पार पहुंचा दूं। तेरी जैसी दुष्टा के रक्त से मैं अपनी तलवार को अथवा अपने देश की धरती को कलंकित करना नहीं चाहता।'

मदनमंजरी सुबक-सुबककर रोने लगी और जमीन पर मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। कमला रानी ने उसकी मूर्च्छा को दूर करने का प्रयत्न किया। जब वह कुछ सचेत हुई तब वह रोती-रोती बोली– 'कृपानाथ! मैं पापिनी हूं। मेरे द्वारा भयंकर अपराध हुआ है। मेरा सिरच्छेद कर मुझे इस पापी जीवन से मुक्त कर दें। आप जैसे महान् पति मिलने पर भी मैं....' वह आगे कुछ कह न सकी।

वीर विक्रम बोले– 'मंजरी! नीचे रथ तैयार है। यदि तू पश्चात्ताप के द्वारा शुद्ध होना चाहती है तो रथिक तुझे तेरे माता-पिता के पास छोड़ देगा और यदि तू चाहे तो तुझे ज्ञानचन्द्र के पास, मालव देश की सीमा से परे, छोड़ आएगा। फिर तू जहां चाहे वहां चली जाना।'

मंजरी पुन: मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। कमलारानी ने उसके मुंह पर शीतल जल छिड़का। कुछ क्षणों पश्चात् उसकी मूर्च्छा टूटी। कमला ने महाराजा की ओर देखकर कहा– 'स्वामी! आप इसको इसके माता-पिता के पास भेज दें। पश्चात्ताप से पवित्र बन सकेगी।'

विक्रम ने कहा – 'ठीक है।'

फिर उन्होंने अजय को बुलाकर कहा – 'मंजरी को इसके माता-पिता के पास पहुंचाना है। इसके रथ में दस हजार स्वर्ण मुद्राएं और विविध वस्त्रालंकार रख देना।'

'जी!' कहकर अजय तत्काल चला गया। मंजरी का पीहर सुवर्णगढ़ अवंती से सौ कोस की दूरी पर था। लगभग एक घटिका के पश्चात् मंजरी को लेकर दो रथ सुवर्णगढ़ की ओर चल पड़े।

सुवर्णगढ़ एक छोटा राज्य था। मंजरी वहां के राजा की कन्या थी। एक बार वीर विक्रम आखेट के निमित्त उस ओर गए थे। वहां उनका विवाह मदनमंजरी से हुआ था। वीर विक्रम मंजरी को विदा कर अपने शयनकक्ष की ओर चले गए। मंजरी को ले जाने वाले तेजस्वी अश्वों वाले रथ और अश्वारोही रक्षक तेज गति से सुवर्णगढ़ की ओर जा रहे थे। सौ कोस का लम्बा प्रवास था और उसमें कम-से-कम तीन दिन लगने की संभावना थी।

रथ में उदास बैठी मदनमंजरी के मन में विचारों की उथल-पुथल हो रही थी। उसके मन में जो पाप का आनन्द था, वही पाप आज उसको पींच-पींच कर पीड़ित कर रहा था। उसके यौवन की लालिमा पर कालिमा पुत चुकी थी। उसने सोचा, इस स्थिति में माता-पिता को कैसे मुंह दिखाऊंगी ? मां-बाप यदि पूछेंगे कि अभी कैसे आयी तो मैं क्या उत्तर दूंगी ? मुंह पर जो कालिका पुत गई है, उसे कैसे धो सकूंगी ? क्या मेरा पाप बिना बताए भी मुखरित नहीं हो जाएगा ? मैंने पति और माता-पिता के गौरव को धूल में मिला डाला। अरे, मैं यौवन को पचा नहीं सकी। उसकी उद्दाम तरंगों में बह गई। क्षणिक आनन्द के लिए मैंने अपार आनन्द को खो डाला।

अरे, अब मुझे क्या करना चाहिए ? मैं किसी भी स्थिति में अपने माता-पिता को मुंह नहीं दिखा सकती। तो फिर मैं कहां जाऊं ? मालव देश की सीमा से परे जाकर मुझे करना ही क्या है ? क्या इस रूप और यौवन पर विश्वास रखूं ? नहीं-नहीं, रूप और यौवन कभी विश्वसनीय नहीं होते। ये तो कांच की कूपिकाएं हैं! क्षणिक असावधानी से वे टूट जाती हैं। यदि लोग जान जाएं कि यही विक्रमादित्य की प्रिया मदनमंजरी है तो लोग मुझे कितना दुत्कारेंगे ?

मनुष्य को जब मार्ग नहीं मिलता तब वह अत्यधिक अकुलाहट का अनुभव करता है। मदनमंजरी की अकुलाहट रथ की गति से तेज बन गई थी।

तीन कोस की दूरी तय करने के पश्चात् मंजरी ने सोचा – मैंने कोई छोटा पाप नहीं किया है। मैंने अपने पातिव्रत धर्म के टुकड़े-टुकड़े कर डाले। नारी के

लिए जो शील प्राणों से भी अधिक प्यारा होता है, उसको मैंने अपने ही पैरों से रौंद डाला है। मैं पीहर कैसे जाऊं? कौन-सी शक्ति बची है मेरे में? मैंने अपनी सम्पत्ति को स्वयं अपने ही हाथों जलाकर भस्म कर डाला है। मैं भिखारी से भी अधिक हीन-दीन बन चुकी हूं। मैं किस आधार पर जीवित रहूं? क्या मेरे लिए मृत्यु श्रेयस्कर नहीं है? मृत्यु ही मेरे लिए सही प्रायश्चित्त होगा। किन्तु मृत्यु कैसे प्राप्त करूं? इतने-इतने रक्षक मेरे साथ चल रहे हैं। मैं मरूं भी तो कैसे? इन्हीं विचारों में वह अत्यधिक आकुल-व्याकुल हो गई और दोनों हाथों से मस्तक दबाती हुई मृत्यु को प्राप्त करने का मार्ग सोचने लगी।

प्रातःकाल हो रहा था। पक्षी चहचहा रहे थे। पर मंजरी को कुछ भी ज्ञात नहीं हो रहा था। केवल रथ की गति और मन की गति का ही उसे ज्ञान था।

वह उदास थी। विचारों के जंगल में भटक रही थी। अचानक उसके चेहरे पर आशा की उषा खिल उठी। उसका मन आनन्द-विभोर बन गया। वह मन-ही-मन बोल उठी—ओह! प्रायश्चित्त का अमृत तो मेरे पास ही है। मैं भूल ही गई उसे। एक ही क्षण में मृत्यु की मीठी गोद में सुला देने वाला अमृत मेरे पास में है और मैं व्यर्थ ही उसकी टोह में भटक रही हूं।

मदनमंजरी ने अपने दाएं हाथ की अंगुली में पहनी हुई मुद्रिका पर ध्यान दिया। इस मुद्रिका के छोटे-से ढक्कन के नीचे कालकूट विष से सिंचित एक वज्ररत्न था। मदनमंजरी ने उस सोने के ढक्कन को अलग किया। शुक्र के तारे की तरह चमकता हुआ एक हीरा दिखाई दिया। वह दो क्षण उस रत्न की ओर देखती हुई मन-ही-मन बोल उठी—'ओह! जिस दिन मैंने पाप किया था, उसी दिन मुझे विष पीकर जीवन समाप्त कर देना चाहिए था। किन्तु यौवन और कामवासना में अंधी बनी हुई मैं उस अमृत को विस्मृत कर गई। आज मैं अपने पाप का प्रायश्चित्त कर रही हूं। स्वामीनाथ! आपने मुझे प्रायश्चित्त करने का अवसर दिया, यह आपकी महान् उदारता है। आपने मुझे जीवनदान दिया, यह आपकी महानता थी। मेरे घोर पाप का प्रायश्चित्त मृत्यु ही हो सकती है। आपके चरण-कमलों में यदि मैं प्राण-त्याग करती तो अच्छा होता। महाराज! आप मेरे पाप की स्मृति न करें। मुझे क्षमा करें।'

इतना मन-ही-मन बोलकर मंजरी ने तीव्र विष वाले हीरे को चूसा और मात्र दो क्षणों में वह लुढ़क गई। उसके प्राण-पखेरू उड़ गए।

और उस काफिले के नायक ने एक सुन्दर जलाशय को देखकर प्रातःकार्य सम्पन्न करने के लिए वहीं रुकने का निश्चय किया। दोनों रथ और सभी व्यक्ति उस जलाशय के पास रुक गए।

दूसरे रथ में बैठी हुई दासी रथ से नीचे उतरी। नायक ने कहा—'देवी मंजरी को कहो कि जलाशय सुन्दर है। प्रात:कर्म की निवृत्ति के लिए यह स्थान उपयुक्त है।'

'जी' कहकर दासी मदनमंज़री के बन्द रथ के पास गई और द्वार खोलकर बोली—'देवी....किन्तु रानी के शरीर की ओर देखते ही वह चौंक पड़ी। वह चिल्लाई—'रानीजी! रानीजी!'

रानी मदनमंजरी तो कुछ ही क्षणों पूर्व अनन्त की यात्रा के लिए प्रस्थान कर चुकी थी।

दासी की घबराहट देखकर नायक निकट आकर बोला—'क्या हुआ, रंभा?'

दासी ने रथ पर चढ़कर रानी की काया को टटोला। रानी की देह निर्जीव और निश्चेष्ट पड़ी थी। वह बोली—'विजय भाई! रानीजी मर चुकी हैं।'

'मृत्यु!'

'हां, आकर देखें तो।'

नायक ने रानी का हाथ पकड़ा। उसे विश्वास हो गया कि रानी ने आत्महत्या कर ली है। नायक ने सोचा, अब क्या करना चाहिए? यहां से अवन्ती दस कोस दूर है और सुवर्णगढ़ नब्बे कोस। विजय ने तत्काल निर्णय कर लिया और अपने काफिले को अवन्ती की ओर मोड़ दिया।

६१. नगर में एक योगी

भोजन से निवृत्त होकर वीर विक्रम अपने आरामगृह में गए तब रात के उजागर के कारण उनकी आंखें नींद से भारी हो रही थीं। दोनों रानियों—कमला और कला भी वहां आ पहुंची। विक्रम ने कहा—'अभी तुम दोनों अपने-अपने कक्ष में जाओ। मुझे नींद लेनी ही पड़ेगी।' विक्रम एक पलंग पर सोये। सोते ही उन्हें नींद आ गई। दोनों रानियां भी अपने-अपने कक्ष में जाकर विश्राम करने लगीं। कुछ ही क्षणों के पश्चात् वे भी भरपूर नींद में चली गयीं। दो घटिका बीती होंगी कि एक परिचारिका दौड़ती हुई महादेवी कमला के खंड की ओर आयी और बन्द कपाट पर दस्तक दी।

कमला कुछ ही क्षण पहले गुलाबी नींद में चली गयी थी। दासी ने दो-तीन बार दस्तक दी। कमला जाग गयी। उसने कहा—'कौन?'

'महादेवी! मैं पूर्णिमा! एक समाचार...।'

'अन्दर आ जा!' कमला शय्या पर सोयी रही। अभी भी उसकी आंखों से नींद झांक रही थी।

पूर्णिमा खंड में गयी और कमला रानी के समक्ष खड़ी रहकर बोली– 'महादेवी! रानी मदनमंजरी का शव लेकर विजय लौट आया है।'

यह समाचार सुनते ही कमला बिछौने पर बैठ गई और बोली – 'तू क्या कह रही है ?'

'मैं सत्य कह रही हूं, महादेवी! सभी भवन के प्रांगण में खड़े हैं।'

'ओह, तू जल्दी जा और विजय को महाराजा के आरामगृह में भेज दे', कहकर कमला पलंग से नीचे उतरी, वस्त्रों को व्यवस्थित कर महाराज के आराम-गृह की ओर गयी।

कमला ने एक दासी को कला को बुलाने के लिए भेजा और स्वयं दरवाजा खोलकर अंदर गयी।

वीर विक्रम शान्तभाव से सो रहे थे। निद्रा गाढ़ थी। कमला पलंग के पास गयी और स्वामी के मस्तक पर हाथ रखते हुए बोली – 'कृपानाथ!'

प्रिया का मधुर स्वर!

विक्रम ने धीरे-से आंखें खोलीं। कमला रानी की ओर देखा। कमला बोली – 'स्वामिन्! देवी मदनमंजरी का निर्जीव देह.... ।'

'क्या ?' कहकर विक्रम शय्या पर बैठ गए।

उसी क्षण महाप्रतिहार अजय और नायक विजय भी आ पहुंचे। वीर विक्रम का जयकार करते हुए वे अन्दर आए। उसी समय कलावती भी आ पहुंची।

विक्रम शय्या से नीचे उतरकर एक आसन पर बैठ गए। विजय ने हाथ जोड़कर मदनमंजरी के आत्महत्या का वृत्तान्त कह सुनाया।

यह सुनकर विक्रम कुछ समय तक स्तब्ध रह गए। वीर विक्रम ने सोचा और यह निर्णय किया कि इसका दाह-संस्कार एक रानी के रूप में होना चाहिए।

उन्होंने अजय से कहा – 'महामंत्री को बुला भेजो और यह बात प्रसारित कर दो कि देवी मदनमंजरी का अवसान हो गया है।'

अपराह्न के समय तक सारा राजभवन शोकसागर में डूब गया और संध्या से पूर्व रानी मदनमंजरी की शव-यात्रा धूमधाम से श्मशान पर पहुंची और उचित ढंग से रानी का दाह-संस्कार सम्पन्न हुआ।

कमला जान गई थी कि मंजरी ने प्रायश्चित्त करने के लिए ही देह-त्याग किया है। परन्तु और किसी के मन में ऐसा संशय हुआ ही नहीं।

तीन दिन बीत गए। चौथे दिन विक्रम स्नान आदि से निवृत्त होकर अपने कक्ष में बैठे थे। उस समय अजय कक्ष में प्रविष्ट हुआ और प्रणाम कर बोला – 'कृपानाथ! महाकाल महादेवी के मंदिर से दो पुजारी आए हैं।'

'अभी?'

'हां, कृपानाथ! कोई संन्यासी महाकाल के मंदिर में आया है और वह अपने दोनों पैर महादेव के लिंग की ओर लम्बे कर सो रहा है। पुजारियों ने उसे बहुत समझाया, किन्तु वह वैसे ही सो रहा है।'

'भगवान् महाकाल का अपमान करने वाला क्या अभी तक जीवित है? अजय! पुजारियों के साथ दो-चार सैनिकों को भेजकर उस संन्यासी को मंदिर से बाहर निकाल दो और यदि वह न माने तो उस पर कोड़े बरसाए जाएं।'

अजय प्रणाम कर तत्काल चला गया।

इधर महाकाल के मंदिर में बहुत हलचल हो रही थी। संन्यासी महाकाल के लिंग की ओर पैर कर आराम से सो रहा था। उसकी दाढ़ी बहुत लम्बी थी। उसके मस्तक के बाल लम्बे और अव्यवस्थित थे। उसके वदन पर अपूर्व तेज था। उसके नयन बंद थे, फिर भी यह सहज अनुमान होता था कि वह तेजस्वी है। उसका शरीर सुदृढ़ और सुगठित था।

पुजारियों ने पहले संन्यासी से अनुनय-विनय किया। संन्यासी अपने आग्रह पर अड़ा रहा। पुजारी रोष में आ गए। वे कटु शब्दों में संन्यासी की भर्त्सना करते हुए बोले– 'अरे ओ पागल! भगवान् की ओर पैर करते तुझे लज्जा नहीं आती। लगता है, तू संन्यासी नहीं, कोई अयोग्य है।'

संन्यासी मौन! उत्तर कौन दे?

पुजारी अपना प्रयत्न कर रहे थे। गांव के हजारों नर-नारी एकत्रित हो गए। सब इस विचित्र संन्यासी को देख रहे थे। इतने में ही चार सैनिकों के साथ वे दोनों पुजारी वहां पहुंच गए। मुख्य पुजारी संन्यासी के पास पहुंचा और अनुनय करते हुए बोला– 'बाबाजी! अब आप उठ जाइए, अन्यथा हमें अनुचित प्रकार से भी आपकी इस हरकत को मिटाना होगा।'

संन्यासी ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह उसी प्रकार से सो रहा था। लोग सोच रहे थे–यह संन्यासी कौन होगा? भगवान् महाकाल के तेजस्वी और प्रभावक लिंग के समक्ष पैर कर क्यों सो रहा है?

चारों सैनिक मंदिर के गर्भगृह में गए। पुजारी ने उनको सारी स्थिति बताई।

नायक बोला– 'बाबाजी को उठाकर मंदिर के बाहर फेंक देना चाहिए।' उसने अपने साथियों के साथ बाबाजी को उठाने का प्रयत्न किया, किन्तु यह क्या....बाबाजी टस-से-मस नहीं हुए। एक सूत भी वह ऊपर नहीं उठे।

सभी पुजारी और नायक आश्चर्य में डूब गए। नायक के मन में विचार आया–अरे, मैं पांच मन जितना वजन हाथ से उठाकर फेंक देता हूं, पर आज

एक संन्यासी को उठा नहीं पाया। नायक ने अपने साथी की ओर देखकर कहा – 'माधव! मेरे हाथ में कोड़ा दे – यह पागल ऐसे नहीं समझेगा।'

माधव ने चमड़े का कोड़ा नायक के हाथ में सौंपा। नायक ने कोड़े को हवा में घुमाते हुए कहा – 'बाबाजी! सुनो, मैं पांच तक की गिनती बोलूंगा। यदि तुम उस अवधि तक उठकर बाहर नहीं चले गए तो मुझे राजाज्ञा का पालन करना ही होगा।'

संन्यासी मौन था।

नायक ने कहा – 'एक।'

बाबाजी के सिहरन तक नहीं हुई।

'दो, तीन, चार। बाबाजी! अब अंतिम अंक शेष है। फिर आप मुझे दोष न दें।' दो क्षण शान्त रहकर नायक ने कहा – 'पांच।' और उसी के साथ उसने बाबाबी के शरीर पर कोड़े का तीव्र प्रहार किया। बाबाजी तनिक भी विचलित नहीं हुए।

इधर राजभवन में महामंत्री आ गए थे और वीर विक्रम उनके साथ महाकाल के अपमान की चर्चा कर रहे थे।

उधर ऊपर की मंजिल पर रानी कमला के कक्ष से जोर की चीख सुनाई दी – कुछ ही क्षणों पश्चात् कलावती रानी भी चीख उठी।

दासियां आकुल-व्याकुल हो गईं। चीख सुनकर वीर विक्रम और महामंत्री दोनों ऊपर गए और देखा कि दोनों रानियां चिल्लाती हुई धरती पर तड़प रही हैं।

इतने में ही रानी कमलावती पुन: चीख उठी। उसकी काया सिमट रही थी। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो उस पर कोड़े मारे जा रहे हों।

कलावती भी पुन: चीखती हुई तड़पने लगी। वीर विक्रम ने पूछा – 'प्रिये, क्या हो रहा है?'

'महाराज! मेरे शरीर पर अदृश्य रूप से कोड़े बरस रहे हैं। आप तत्काल महाकाल के मंदिर में पधारें और बाबाजी पर कोड़े न मारने के लिए कहें।' कलावती ने कहा।

तत्काल वीर विक्रम और महामंत्री रथ में बैठकर तीव्र गति से मंदिर की ओर गए।

इधर नायक बाबाजी के शरीर पर दस कोड़े मार चुका था, पर बाबाजी के एक रोएं में भी विचलन नहीं था।

नायक ने अपने कपाल से पसीना पोंछते हुए कहा – 'अरे ओ ढोंगी बाबा! तू मुझे थका नहीं सकेगा – मैं इस कोड़े से तेरी चमड़ी उधेड़ दूंगा।'

वास्तव में नायक थककर चूर हो गया था। वह असमंजस में पड़ गया था। नायक ने कुछ विश्राम किया और पुन: कोड़े मारने का निश्चय कर उठा। उसने अपना कोड़ा उठाया, इतने में ही महाराज वीर विक्रम का जय-जयकार सुनाई दिया।

महामंत्री के साथ वीर विक्रम मंदिर के गर्भगृह में प्रविष्ट हुए और पवित्र शिवलिंग की ओर पैर कर सोये हुए संन्यासी की ओर देखा। महामंत्री ने भी उस ओर दृष्टि की। वीर विक्रम ने नायक से कहा– 'अब तुम रहने दो। मैं स्वयं बाबाजी को समझाऊंगा।'

वीर विक्रम बाबाजी के मस्तक की ओर उकडूं आसन में बैठकर बोले– 'महात्मन्! कृपा कर आप उठें और आपकी जो इच्छा हो, वह प्रकट करें– आप इस प्रकार महाकाल की आशातना क्यों कर रहे हैं? आप जैसे अवधूतों को तो महाकाल की अर्चना करनी चाहिए।'

ये अवधूत और कोई नहीं, महाज्ञानी आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ही थे। दाढ़ी और मस्तक के बाल बढ़ जाने और बारह वर्ष का वनवास भोगने के कारण उनको पहचान पाना कठिन हो गया था। गुरुदेव द्वारा प्रदत्त प्रायश्चित्त को वहन करते हुए वे बारह वर्षों से वन-प्रदेश में घूमते हुए अवधूत की वेशभूषा में आराधना कर रहे थे। अब बारह वर्ष पूर्ण हो रहे थे। वे किसी राजा को पुन: प्रतिबोधित कर गुरुदेव के समक्ष जाना चाहते थे। वे वीर विक्रमादित्य को बोधी प्राप्त कराने की इच्छा से अवंती में आए थे।

वीर विक्रम के वचन बाबाजी के कानों में पड़े। उन्होंने मृदुता से आंखें खोलीं और कहा– 'राजन्! मैं महादेव की आशातना करना नहीं चाहता, किन्तु स्तुति करना चाहता हूं, पर वे मेरी स्तुति को सहन नहीं करेंगे।'

वीर विक्रम बोले– 'महात्मन्! आप तो महान् योगी हैं। आपकी स्तुति भगवान् महाकाल क्यों नहीं सहन करेंगे?'

'राजन्! मेरी स्तुति अजब है। संभव है, उसके प्रभाव से यह लिंग अदृश्य हो जाए और इसके स्थान पर कोई दूसरी....।'

तत्काल मुख्य पुजारी बोला– 'न भूतो न भविष्यति। आप हमें यह भय न दिखाएं।' राजा ने सोचा–यह योगी झूठा भय तो नहीं दिखा रहा? अपना महत्त्व बढ़ाने के लिए ऐसी बातें तो नहीं कर रहा?

वीर विक्रम ने कहा– 'योगीश्वर! आप अपनी स्तुति प्रारंभ करें हम आपके चमत्कार का दर्शन करेंगे।'

दूसरे ही क्षण बाबाजी खड़े हो गए।

उसी समय महादेवी कमलारानी का जयनाद सुनाई दिया। कुछ ही क्षणों में विक्रम की दस-बारह रानियां और पांच-सात मंत्री रथों से उतरकर मंदिर के पास आए। लोगों ने उनका सत्कार किया। वे सब मंदिर में गए। इन रानियों में रानी कमला और कलावती भी थीं, जिनकी पीठ पर कोड़े के निशान स्पष्ट दीख रहे थे। पीठ प्रहार से सूज गई थी।

अवधूत दोनों हाथ जोड़कर खड़े थे। मन में तीन बार नमस्कार महामंत्र का स्मरण कर उन्होंने गीर्वाण वाणी में स्तुति करते हुए पहला श्लोक उच्चरित किया –

'कल्याणमंदिरमुदारमवद्यभेदि,
भीताभयप्रदमनिन्दितमङ्घ्रिपद्मम्।
संसारसागरनिमज्जदशेषजन्तु,
पोतायमानमभिनम्य जिनेश्वरस्य॥'

मंदिर के भूगृह में पूर्ण शान्ति व्याप्त थी। संन्यासी के वेश में महाज्ञानी आचार्य सिद्धसेन दिवाकर एक-एक श्लोक बोलते जा रहे थे।

सातवां श्लोक बोलते ही धरती के कांपने का अनुभव हुआ और आठवें श्लोक के प्रारंभ होते ही शिवलिंग कांपने लगा। आचार्य दिवाकर के नेत्र मुंदे हुए थे। वे स्तुति में संलग्न थे। सभी अवाक् होकर सुन रहे थे। ग्यारहवां श्लोक आचार्य के मुख से निकला –

'यस्मिन् हरप्रभृतयोऽपि हतप्रभावाः,
सोपि त्वया रतिपतिः क्षपितः क्षणेन।
विध्यापिता हुतभुजः पयसाऽथ येन,
पीतं न किं तदपि दुर्द्धरवाडवेन॥'

ग्यारहवां श्लोक पूरा हुआ और शिवलिंग से धुआं उठने लगा। महापुरुष स्तुति को आगे बढ़ाते ही जा रहे थे। और एक चमत्कार हुआ। शिवलिंग अचानक अदृश्य हो गया और नीचे की धरती थरथराने लगी।

स्तुति की अस्खलित शब्दधारा बह रही थी। तेईसवां श्लोक प्रारंभ हुआ –

'श्यामं गभीरगिरमुज्ज्वलहेमरत्न,
सिंहासनस्थमिह भव्यशिखण्डिनस्त्वाम्।
आलोकयन्ति रभसेन नदंन्तमुच्चै-
श्चामीकराद्रिशिरसीव नवाम्बुवाहम्॥'

और सबके आश्चर्य का कोई ठिकाना नहीं रहा। शिवलिंग के स्थान पर भगवान् पार्श्वनाथ की श्यामल, भव्य और तेजस्वी प्रतिमा बाहर निकलने लगी।

लोग विस्फारित नेत्रों से देखने लगे। पुजारी कांपने लगे। राजा विक्रम और मंत्री मुग्ध हो गए।

और कमलारानी तथा कलारानी की पीठ पर दीखने वाले कोड़े के चिह्न मिट गए और पीड़ा अदृश्य हो गई।

अवधूत की स्तुति चल रही थी और उन्होंने चमालीस श्लोक पूरे कर आंखें खोलीं। सामने महाकाल का शिवलिंग अदृश्य हो गया था और वहां भगवान् पार्श्वनाथ की भव्य मूर्ति शोभित हो रही थी। धरणेन्द्र और पद्मावती के प्रभाव से यह प्रतिमा निकली हो, ऐसा लग रहा था।

सिद्धसेन दिवाकर का जयनाद गूंजने लगा। वीर विक्रम और सभी रानियां आचार्य के चरणों में प्रणत हो गए।

उसी दिन दिवाकर के गुरु आचार्य वृद्धवादिसूरि भी अवंती में पधारे। गुरु-शिष्य का मिलन हुआ और गुरुदेव ने पुनः अपने शिष्य को पट्टशिष्य के रूप में स्वीकार किया।

वीर विक्रम ने उसी मंदिर में अवंती पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठापित कर मंदिर को और अधिक सुन्दर और रमणीय बना डाला।

और एक दूसरे पवित्र स्थान में महाकालदेव का भव्य ज्योतिर्लिंग पुनः स्थापित कर एक भव्य मंदिर का निर्माण कराया।

६२. देवकुमार

प्रतिष्ठानपुर में आज उत्सव था। राजभवन के विशाल प्रांगण में देवकुमार का सोलहवां जन्मदिवस मनाया जा रहा था। साथ ही साथ आज उसका विद्याध्ययन का काल भी सम्पन्न हो रहा था और आज उसके आचार्य उसकी परीक्षा भी लेने वाले थे।

पन्द्रह वर्ष पूरे कर आज देवकुमार सोलहवें वर्ष में पदार्पण कर रहा था। उसने राजनीति, व्याकरण, तर्क, दर्शन तथा ललित कलाओं में सवा सौ विद्यार्थियों में प्रथम स्थान प्राप्त किया था। अन्त में शस्त्र-संचालन, अश्व-चालन, मल्लयुद्ध आदि की परीक्षाएं शेष थीं। प्रांगण के एक ओर स्त्रीवर्ग बैठा था। उसमें राज-परिवार की, नगर-श्रेष्ठियों की, अधिकारी वर्ग की, राज-संबंधियों की तथा विविध वर्गों की स्त्रियां बैठी थीं। महादेवी विजया और उनकी पुत्री देवी सुकुमारी सबसे आगे बैठी थी। सुकुमारी अपने इकलौते पुत्र देवकुमार को देखकर हर्षित हो रही थी।

एक बार संगीतज्ञ के रूप में विक्रम यहां आए थे और सुकुमारी के हृदय से नर-द्वेष को समाप्त कर उससे विवाहसूत्र में बंधे थे। सुकुमारी गर्भवती हुई और विक्रम संगीत परिषद् के बहाने अपनी राजधानी में आ गए थे। राजकार्य और विविध जिज्ञासाओं की तृप्ति में वे इतने ओत-प्रोत हो गए कि उनके मन से सुकुमारी की स्मृति लगभग मिट चुकी थी।

सुकुमारी अपने प्रियतम को क्षणभर के लिए भी नहीं भूली थी। कामदेव के समान सुरूप पुत्र उसे प्राप्त हुआ। पुत्र बड़ा होने लगा। पति की प्रतीक्षा करते-करते उसके आंसू भी सूख गये। देवकुमार को तैयार करने के लिए उसने अपनी सारी शक्ति लगा दी।

वीर विक्रम ने सुकुमारी से विदा होते समय उसे एक पेटी दी थी। उसमें अपना सही परिचय लिख रखा था। सुकुमारी ने वह पेटी नगर से बाहर एक भवन में सुरक्षित रखवा दी थी। इस पेटी का स्मरण उसे रहा ही नहीं। वह उसे सर्वथा भूल गई, क्योंकि राजभवन में आने के पश्चात् वह नगर के बाहर वाले भवन में गई ही नहीं। आज अपने प्रिय पुत्र देवकुमार का जन्मोत्सव था और विद्याभ्यास का अंतिम दिन। देवकुमार प्रत्येक विषय में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण रहा था। माता का हृदय प्रसन्नता का अनुभव कर रहा था। उसे सबसे अधिक प्रसन्नता तो इस बात की थी कि देवकुमार की आकृति पिता की आकृति के समान ही थी। पुत्र को देखकर माता को स्वामी की स्मृति हो आती।

तलवारयुद्ध में जब देवकुमार ने राज्य के महाबलाधिकृत के पुत्र को पराजित किया, तब सारी सभा हर्षध्वनि से गूंज उठी। देवकुमार ने दोनों हाथ जोड़कर सबको नमन किया।

मल्लयुद्ध प्रारम्भ हुआ। देवकुमार का प्रतिद्वन्द्वी था एक ब्राह्मण युवक। एक घंटे तक दोनों के विविध दांवपेच चलते रहे। अन्त में कोई पराजित नहीं हुआ। अंत में दोनों समकक्ष घोषित हुए। फिर धनुर्विद्या की परीक्षा हुई और उसमें देवकुमार प्रथम आया। फिर विविध शस्त्र-संचालन में भी देवकुमार प्रथम आया। आचार्य ने सभी विद्यार्थियों में देवकुमार को श्रेष्ठ घोषित किया। समग्र सभा ने हर्षध्वनि की।

महाराजा शालिवाहन ने अपने दोहित्र को छाती से लगाया। सारे राज्य में घर-घर मिठाइयां बांटी गईं।

देवकुमार अपने नाना का चरणस्पर्श कर सीधा अपनी माता और नानी के पास आया। महादेवी ने देवकुमार के मस्तक पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया। सुकुमारी ने सजल नयनों से देवकुमार को छाती से लगाकर मस्तक चूमा।

रात्रि में माता और पुत्र एक ही शयनगृह में सोते थे। सोने का समय हुआ। देवकुमार अपनी शय्या पर जाकर सो गया। आज उसे श्रम अधिक हुआ था, फिर भी उसे नींद नहीं आ रही थी; क्योंकि आज वह सारी परीक्षाओं में प्रथम आया था। उसने सोचा, मेरे पिता सामान्य संगीतकार तो नहीं हैं। अवश्य ही वे कोई वीर पुरुष हैं। इसके बिना मेरे में इतनी श्रेष्ठता आ नहीं सकती। मेरी मां पिताजी के विषय में कुछ नहीं जानती। वे कहां रहते हैं, यह भी उसे ज्ञात नहीं है। आज इस बात की जानकारी करके ही सोना है।

इन विचारों में उछलकूद करता हुआ देवकुमार जागृतावस्था में शय्या पर करवटें बदलने लगा। जब आदमी कुछ अवस्था प्राप्त करता है, तब ऐसे विचार उसमें उभरते ही हैं।

लगभग दो घटिका के पश्चात् सुकुमारी अपने माता-पिता को प्रणाम कर शयनगृह में आयी। माता को देखते ही देवकुमार शय्या पर बैठ गया। यह देखकर सुकुमारी बोली– 'क्यों बेटा! अभी तक जाग रहे हो?'

'हां, मां! आज मुझे नींद नहीं आ रही है। आज मेरे धनुर्विद्या के आचार्य मुझे शाबाशी देते हुए बोले– 'देव! तुम किसी महान् पिता के पुत्र हो। इसके बिना इतनी श्रेष्ठता आ नहीं सकती।' मां! मेरा चित्त पिताजी से मिलने के लिए आकुल हो रहा है। जब-जब मैं तुमसे पिताश्री के बारे में पूछता हूं, तुम या तो गमगीन हो जाती हो या बात टाल देती हो। क्या वास्तव में ही तुम पिताश्री का अता-पता नहीं बता सकतीं?'

सुकुमारी के मुख पर विचारों की बदली छा गई। दो क्षण मौन रहकर वह बोली–

'देव! तेरे पिताश्री मेरे नयन-मन में सदा निवास करते हैं।'

'तो फिर वे यहां क्यों नहीं आते?'

'वे पूर्व भारत की किसी संगीत परिषद् में भाग लेने गए थे। वहां से लौट आने के लिए कहा था, पर वे आज तक नहीं आए। मेरे पिताजी ने उनकी बहुत खोज की, पर उनका कोई अता-पता नहीं मिला।'

'मां! क्या मेरे पिताश्री के साथ तुम्हारी अनबन थी?'

'नहीं, बेटा! वे तो मेरे प्राणों के स्वामी थे। प्राणनाथ से कैसी अनबन?'

दो क्षण सोचकर देवकुमार बोला– 'मां! उनका देश कौन-सा है, क्या तुम मुझे बता सकती हो?'

'नहीं, बेटा! यदि मुझे ज्ञात होता तो....' कहती-कहती सुकुमारी शय्या से अचानक उठ खड़ी हुई। आज पन्द्रह वर्ष पश्चात् उसे एक विस्मृत बात याद

आयी। वह बोली – 'ओह! विरह और वियोग की व्यथा के कारण मैं एक महत्त्वपूर्ण बात भूल ही गई।'

'कौन-सी बात, मां?'

'जाते समय तेरे पिताश्री ने मुझे एक पेटी संभलाई थी। मुझे पता नहीं उसमें क्या है? पेटी के विषय में उन्होंने कहा था कि इसको पूर्ण सुरक्षित रखना। मैं इस पेटी की बात ही भूल गई। देखें, उस पेटी में क्या है?'

'मां, वह पेटी कहां है?'

'नगरी के बाहर वाले उद्यान के भवन में। मेरे मन में पुरुष-जाति के प्रति भयंकर द्वेष था, इसलिए मेरे पिताजी ने मुझे उस भवन में रखा था। मैंने उस पेटी को सुरक्षित रूप से एक कोठरी में रखा था। कल हम दोनों साथ जाकर उस पेटी को देखेंगे। उसमें क्या है, मैं कह नहीं सकती।'

'मां, पन्द्रह वर्ष बीत गए हैं। क्या वह पेटी सुरक्षित रही होगी?'

'हां, बेटा! जब से मैं वहां से आयी हूं, तब से आज तक उस कोठरी को खोलने का प्रसंग ही नहीं आया। उस भवन की रक्षा के लिए वहां चार आदमी रहते हैं। मैं उस भवन में गई ही नहीं।'

'तो मां! अभी चलें।'

माता सुकुमारी ने हंसते-हंसते कहा – 'बेटा! यह बात याद आते ही हृदय की अधीरता बहुत बढ़ गई है। तुझे तो केवल अपने पिताश्री की जानकारी करनी है और मुझे तो सर्वस्व की जानकारी करनी है। किन्तु अभी रात बहुत बीत चुकी है। अभी वहां जाना उचित नहीं है। अब तू आराम से सो जा।'

देवकुमार मां को प्रणामकर अपनी शय्या पर जाकर सो गया। कुछ ही समय पश्चात् वह निद्राधीन हो गया। सुकुमारी को नींद नहीं आयी। उसे अतीत की स्मृति हो आयी। 'पटयोग' राग और 'रागमंजरी' की अव्यक्त ध्वनि कानों में गूंजने लगी। वह अतीत की स्मृति में खो गयी। एक-एक दृश्य उसकी आंखों के सामने नाचने लगा। विक्रम की स्मृति, विक्रमसिंह के साथ विवाह-सूत्र में बंधने की स्मृति आदि-आदि स्मृतियां एक-एक कर आने लगीं। इस प्रकार विचारों के सघन जंगल में भटकते-भटकते सारी रात बीत गयी। नित्य नियम के अनुसार वह उठी और प्रातः कार्य से निवृत्त होने के लिए कक्ष से बाहर निकली। देवकुमार अभी निद्राधीन था।

शौच आदि से निवृत्त होकर सुकुमारी माता-पिता को प्रणाम करने गई। महाराजा शालिवाहन और महादेवी विजया दंतधावन कर रहे थे। सुकुमारी ने देवकुमार के पिताश्री द्वारा दी गई पेटी की बात कही। दोनों को बहुत प्रसन्नता हुई और महाराजा ने एक रथ तैयार करने की बात कही।

देवकुमार भी स्नान आदि से निवृत्त होकर तैयार बैठा था। कुछ ही समय पश्चात् सुकुमारी, महादेवी विजया और देवकुमार–तीनों रथ में बैठकर नगरी के बाहर वाले भवन की ओर चल पड़े।

आज पूरे पन्द्रह वर्षों के पश्चात् सुकुमारी ने अपने चिर-परिचित भवन में प्रवेश किया। पन्द्रह वर्षों से वह कोठरी बन्द पड़ी थी। सुकुमारी ने कोठरी का ताला खोला, दरवाजे को कुछ क्षणों तक खुला रख वह अन्दर गयी।

वीर विक्रम द्वारा प्रदत्त पेटी ज्यों की त्यों पड़ी थी। उस पर धूल की परतें चढ़ चुकी थीं। सुकुमारी पेटी उठाकर बाहर आ गयी।

मां ने कहा– 'बेटी! ऐसी महत्त्व की बात मुझे इतने वर्षों तक याद नहीं आयी? चलो, अब इसे राजभवन में जाकर ही खोलेंगे।'

ऐसा ही हुआ।

राजभवन में पहुंचने के पश्चात् महाराजा शालिवाहन के समक्ष सुकुमारी ने पेटी खोली। उसमें एक ताड़पत्र, एक राजमुद्रिका और पांच अत्यन्त मूल्यवान् अलंकार थे। रत्नों की चमचमाहट देखकर सब विमूढ़ रह गए। सुकुमारी के लिए अलंकार मूल्यवान् नहीं थे, किन्तु उसके लिए दो ही मूल्यवान् थे–एक राजमुद्रिका और एक ताड़पत्र।

सुकुमारी ने सबसे पहले ताड़पत्र खोलकर पढ़ा। पढ़ते-पढ़ते वह हर्ष-विभोर हो उठी। उसके चेहरे पर अपार आनन्द की ऊर्मियां अठखेलियां करने लगीं। देवकुमार मां की ओर अपलक नयनों से देख रहा था। उसने मन ही मन सोचा, अवश्य ही इस ताड़पत्र में मेरे पिताश्री का परिचय है।

सुकुमारी मन ही मन उस ताड़पड़ को पढ़ गयी। वह हर्ष से आत्मविभोर हो उठी। उसके नयनों से हर्ष के आंसू निकल पड़े। वे कपोल से लुढ़ककर ताड़पत्र पर पड़ने लगे। सभी आश्चर्य से सुकुमारी को देखने लगे।

मां ने पूछा– 'सुकुमारी! क्या इस ताड़पात्र में उनका अता-पता है?'

सुकुमारी ने लज्जाभाव से पत्र पिता के हाथ में रख दिया। शालिवाहन ने भी मन ही मन सारा पत्र पढ़ डाला। उनका चेहरा भी खिल उठा। वे हर्ष भरे स्वरों में बोले– 'देवी! हृदय में आनन्द का सागर उमड़ रहा है। हमारे दामाद कोई छोटी-मोटी शक्ति नहीं हैं। वे मालवदेश के स्वामी महाराज-राजेश्वर परदु:खभंजक वीर विक्रमादित्य हैं।'

'आप क्या कह रहे हैं?'

'मैं सच कह रहा हूं।' महाराजा ने कहा। फिर देवकुमार की ओर दृष्टि पसारकर बोले– 'बेटा! तू वास्तव में ही एक महान् और प्रतापी पिता का पुत्र है।'

देवकुमार विनम्र स्वरों में बोला – 'नानाजी ! मेरे पिता महान् हैं। पर उन्होंने मेरी निर्दोष मां की सुध-बुध क्यों नहीं ली ? मेरी मां पन्द्रह वर्षों से उनके लिए तरसती रही और वे इसको सर्वथा भूल गए। यह कैसा न्याय ? विस्मृति स्त्री-सुलभ दुर्बलता है। मेरी मां पेटी को भूल गयी। उसे क्या पता कि इस पेटी में उसके सर्वस्व का परिचय है। किन्तु मेरे पिता मेरी मां को क्यों भूल गए ? इस दृष्टि से उन्होंने एक अबला को सताने का घोर अपराध किया है। मैं स्वयं अवंती जाऊंगा और पिताश्री को यथार्थबोध कराकर अपना परिचय दूंगा।'

'नहीं, बेटा ! वे भारत के श्रेष्ठ और महान् पुरुष हैं। उनके साथ संघर्ष करना उचित नहीं है। मैं भी तेरे साथ जाऊंगी।' सुकुमारी ने कहा।

'नहीं, मां ! पन्द्रह वर्षों बाद इस प्रकार जाना तुम्हारे लिए उचित नहीं है। जो महापुरुष अपनी विवाहित पत्नी और पुत्र को भूल गए हैं, उनकी परीक्षा तो करनी ही होगी। पहले मैं अकेला वहां जाता हूं, फिर तुम सबको आदरपूर्वक ले जाऊंगा।'

इस विषय में बहुत विचार-विमर्श चला। अन्त में सुकुमारी, देवकुमार, दो-तीन परिचारिकाएं, चार रक्षक और दो सेवक साथ में जाएं—ऐसा निश्चय हुआ। वहां जाकर किराए पर कोई मकान लेकर रहना और फिर देवकुमार की इच्छानुसार वीर विक्रम के समक्ष प्रकट होना, यह तय हुआ।

देवकुमार की भावना थी कि वह अकेला ही जाए, किन्तु नाना-नानी की भावना को वह टाल नहीं सका। पूरी तैयारी कर देवकुमार अपनी मां के साथ अवंती की ओर चल पड़ा।

६३. हरसिद्ध माता की आराधना

कहां प्रतिष्ठानपुर और कहां अवंती नगरी ! बहुत लम्बा प्रवास था। कम से कम दो मास लगने की संभावना थी।

सुकुमारी का हृदय बांसों उछल रहा था। सोलह वर्ष का स्वप्न साकार होने वाला था। हृदय में पिउमिलन की माधुरी नाच रही थी। विरह की वेदना अब समाप्त होने वाली थी। विरह-व्यथा कम होती जा रही थी और उसके स्थान पर हृदय में प्रियतम से मिलने की तीव्र आकांक्षा उभर रही थी।

यौवन के प्रथम चरण में प्रियतम का योग मिला था और कुछ ही समय पश्चात् सोलह वर्षों का विराट् वियोग उसे भोगना पड़ा, मानो कि जीवन की मधुर कल्पनाओं को चकनाचूर करने के लिए कोई विंध्याचल बीच में आ गया हो।

किन्तु आज वह एक तेजस्वी पुत्र के साथ अपने महान् स्वामी से मिलने की आशा के साथ प्रवास कर रही थी।

सोलह वर्षों बाद उसका यौवन उभार पा रहा था। सोलह वर्षों के बाद मानो रागमंजरी की स्वर-लहरी उसके रक्त में तूफान खड़ा कर रही थी।

चालीस दिन तक प्रवास करते-करते वे अवंती के निकट विक्रमगढ़ में आ पहुंचे। विक्रमगढ़ अवंती से मात्र तीन कोस दूर था। यह शिप्रा नदी के किनारे पर बसा हुआ एक सुन्दर नगर था। विक्रमगढ़ पहुंचते-पहुंचते संध्या का समय हो गया था, इसलिए वहीं रात्रिवास करने का निश्चय कर, वे नदी-तट पर निर्मित एक पांथशाला में ठहरे।

मां की आज्ञा लेकर देवकुमार गांव में गया। वहां की स्थिति का अवलोकन कर उसने वहीं रहने का निश्चय कर लिया। वह गांव में एक मकान रहने के लिए निश्चित कर मां के पास आकर बोला– 'मां! रहने के लिए उत्तम मकान की व्यवस्था हो गयी है। हम सब वहीं रहेंगे। यहां से अवंती भी दूर नहीं है।'

'मुझे यहां रहने में कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु तू अपने पिता को कैसे बोध-पाठ देगा, इस विषय की जानकारी क्यों नहीं देता?'

'मां! छोटे मुंह बड़ी बात करना मैं नहीं चाहता। चार-छह दिन तक मैं अवंती में घूमकर सारी परिस्थिति जान लूंगा। राजभवन, राजसभा, मेरे पिताश्री, मंत्री आदि अन्य अधिकारियों को एक बार देख लूंगा। फिर मुझे जो करना है, वह तुमसे बता दूंगा।'

सुकुमारी हंसने लगी। मां की गोद में मस्तक रखकर देवकुमार बोला–'मां! मैं ऐसा उपाय करूंगा कि मेरे पिताश्री तुम्हारा भावभीना स्वागत करेंगे। प्रेम और प्रायश्चित्त के फूलों से तुम्हारा स्वागत करेंगे।'

दूसरे दिन वे सभी विक्रमगढ़ के मकान में चले गए।

तीसरे दिन देवकुमार ब्राह्मणकुमार के छद्मवेश में शिप्रा नदी के मार्ग से अवंती के मुख्य घाट पर उतरा और पैदल ही वहां से नगरी की ओर चल पड़ा। अपराह्न काल तक देवकुमार अवंती में घूमता रहा। वहां की पूरी जानकारी कर वह विक्रमगढ़ की ओर प्रस्थित हुआ।

देवी सुकुमारी पुत्र की प्रतीक्षा में बैठी थी। संध्या के समय देवकुमार आ गया। देवी ने उससे सारी बात जानकर प्रसन्नता व्यक्त की।

पांच दिन तक अवंती नगरी में घूम-घूमकर देवकुमार ने वहां की रक्षा-व्यवस्था, कर्मचारियों का स्वभाव, व्यवहार आदि के विषय में बहुत कुछ ज्ञात कर लिया।

छठे दिन मां ने पूछा – 'बेटा ! तूने क्या करना चाहा है ?'

'मां ! मैंने वहां के महाराजा, मंत्रीगण, सेनानायक आदि विशिष्ट अधिकारियों के अहं को खंडित करने का निर्णय किया है।'

'अहं का खंडन !'

'हां, यहां के अधिकारी मानते हैं कि यहां चोरी नहीं होती। यह उन्हें गर्व है। वे कहते हैं, इस कार्य में राज्य की आराध्यदेवी हरसिद्ध माता बहुत सहायता करती है। मैं हरसिद्ध माता के दर्शन भी करके आया हूं। मुझे भी बहुत चामत्कारिक लगती हैं। मेरे कार्य का प्रारंभ हरसिद्ध माता के मंदिर से ही होगा।'

'मैं समझी नहीं।'

'मां ! मैं इस प्रकार से चोरियां करूंगा कि सारी नगरी में हाहाकर मच जाएगा। इस कार्य से पूर्व मैं तीन दिनों की तपस्या कर भगवती हरसिद्ध माता को प्रसन्न करूंगा।'

'चोरी !' सुकुमारी ने चौंककर कहा।

'हां, मां ! जिस बात का सबको गर्व है, उस बात को मैं निष्फल बना डालूंगा, तभी महाराजा की दृष्टि खींची जाएगी।'

मां अपने एकाकी पुत्र की बात सुनकर अवाक् रह गयी। उसे कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था।

देवकुमार बोला – 'मां ! मैं यदा-कदा तुमसे मिलने के लिए आ जाया करूंगा। तुम चिन्ता मत करना। मेरे कार्य में शौर्य तो होगा ही, साथ ही साथ बुद्धि का चमत्कार भी होगा।'

मां का आशीर्वाद लेकर देवकुमार अवंती में आ गया। सबसे पहले उसने अपने निवासस्थान की खोज की और उसे नगरी की पूर्व दिशा में गढ़ के पास एक सुन्दर स्थान मिल गया। स्थान बड़ा था। खुली जमीन और अनेक कमरे थे। वहां एक छोटा-सा उद्यान भी था। उसकी देखभाल के लिए एक माली रहता था।

देवकुमार उस माली से मिला और भोजन की व्यवस्था के विषय में पूछताछ की। माली अपनी पत्नी और बारह वर्ष की बेटी के साथ रहता था। देवकुमार ने उसे एक स्वर्णमुद्रा देते हुए कहा – 'मैं परदेशी हूं। तुम प्रतिदिन मेरे भोजन की व्यवस्था करते रहना। मैं तुमको सारा खर्च देता रहूंगा।'

माली गरीब था। स्वर्णमुद्रा को पाकर वह प्रसन्न हो गया। और परदेशी की सारी व्यवस्था अपने ऊपर ओढ़ ली।

देवकुमार ने कहा – 'माली दादा ! मैं परदेशी ब्राह्मण हूं। यहां कुछ दिन रहकर अपने देश में लौट जाऊंगा। मैं एक जोखिमभरा कार्य करना चाहता हूं। तुम

मेरा साथ दोगे तो मैं तुम्हें मालामाल कर दूंगा। तुम बस इतना-सा करना कि मेरे विषय में किसी को कुछ मत बताना।'

'अच्छा ब्राह्मण देवता! आप जैसा चाहेंगे, वैसा ही होगा।'

देवकुमार ने सर्वप्रथम सारे साधन जुटाए। विविध प्रकार के वेश तथा अन्यान्य छोटे-बड़े उपकरण जुटाकर तीसरे दिन देवकुमार एक ब्राह्मण के वेश में हरसिद्ध माता के मंदिर में पहुंचा।

उस समय हरसिद्ध माता की आरती हो रही थी। अनेक भक्तगण वहां एकत्रित थे। मुख्य पुजारी उपस्थित था। पांच सौ एक दीपक की आरती भव्य और मनमोहक लग रही थी। माता का स्वरूप भी अद्‌भुत था। देवकुमार अपलक नेत्रों से हरसिद्ध माता की ओर देखने लगा।

आरती पूरी हुई। दर्शनार्थ आए हुए सभी नर-नारी माता को नमन कर, जयनाद बोलते हुए विदा हो गए।

देवकुमार ने मुख्य पुजारी का चरण-स्पर्श कर कहा—'महात्मन्! मैं कान्यकुब्ज ब्राह्मण हूं। गरीब हूं। मेरे पिता की दृष्टि चली गई है। उन्हें पुन: आंखों का प्रकाश प्राप्त हो, इसलिए मैं माता की आराधना करने आया हूं। आपकी आज्ञा हो तो मैं तीन दिन तक इसी मंदिर में अन्न-जल-रहित रहकर आराधना करना चाहता हूं।'

मुख्य पुजारी ने बालक का सत्कार करते हुए उसे स्वीकृति दे दी।

देवकुमार पुजारी के चरणों में मस्तक नमाकर मंदिर के गर्भगृह में एक कोने में नेत्र बन्द कर, पद्मासन मुद्रा में बैठ गया। अपने हृदय में हरसिद्ध माता की प्रतिमा को अंकित कर उसकी स्मृति में वह तदाकार बन गया।

आज आराधना के तीन दिन बीत गए। तीसरी रात का प्रारम्भ हुआ। देवकुमार एक योगी की तरह पद्मासन में स्थिर बैठा था।

मध्यरात्रि का समय। अचानक मंदिर का गर्भगृह प्रकाश से जगमगा उठा। आत्मा को मंत्रमुग्ध करने वाली मधुर ध्वनि सुनाई देने लगी। देवकुमार के कानों से ये शब्द टकराए—'वत्स! उठ, खड़ा हो। तेरी आराधना से मैं प्रसन्न हूं। बोल, तू क्या चाहता है?'

देवकुमार ने आंखें खोलीं। प्रकाश से उसकी आंखें चुंधिया गई थीं। वह बोला—'मां! आप सर्वशक्तिदात्री हो। मैं केवल अवंती के महाराज विक्रमादित्य की आंखें खोलना चाहता हूं और इसलिए आप मुझे ऐसा वरदान दें कि मैं चोरी करूं और पकड़ा न जाऊं।'

'वत्स! चोरी करना चाहता है?'

'हां, मां! सही चोरी नहीं, किन्तु अवंती में हलचल मचाना चाहता हूं। मेरा प्रयोजन सिद्ध होने पर मैं चोरी का माल उनके स्वामियों के पास पहुंचा दूंगा।'

माता के वदन पर मधुर हास्य उभरा और उन्होंने पंचधातु का एक कड़ा देवकुमार को देते हुए कहा – 'वत्स! यह कड़ा तू अपनी बायीं भुजा पर धारण कर लेना। कोई भी तुझे नहीं पकड़ पाएगा। तेरा प्रयोजन सिद्ध होने पर तू इस कड़े को शिप्रा नदी में बहा देना।'

देवकुमार ने कड़े को वहीं धारण कर लिया। उसका हृदय नाचने लगा। कानों में पुन: शब्द टकराए– 'वत्स! बाहर मिठाई से भरे बर्तन पड़े हैं। उनमें से मिठाई खाकर तीन दिन की तपस्या का पारणा कर लेना। शेष मिठाई सबको बांट देना।'

प्रकाश अदृश्य हो गया।

हरसिद्ध माता की सौम्य मूर्ति शोभित हो रही थी।

प्रात: मुख्य पुजारी आया। देवकुमार ने पुजारी का चरण-स्पर्श किया और कहा – 'महात्मन्! आपकी कृपा से माताजी मेरे पर प्रसन्न हो गई हैं। बाहर मिठाई से भरे बर्तन पड़े हैं। उसको बांटने की आज्ञा माताजी ने दी है।'

पुजारी ने सारी मिठाई बांट दी।

मंदिर से चलकर वह अपने स्थान पर आया। माली ने कहा –'महाराज! आपकी चिन्ता हमें सता रही थी। हमने तीन दिनों से भरपेट अन्न भी नहीं खाया।'

देवकुमार बोला – 'माता की आराधना पूरी हो गई है। लो, यह प्रसाद सभी को बांट दो'– कहकर उसने माली के हाथ में मिठाई का एक पूड़ा दिया।

मध्याह्न के पश्चात् वेश बदलकर वह बाहर आया। उस समय माली की पत्नी बाहर खड़ी थी और माली भीतर विश्राम कर रहा था। पत्नी बोली– 'महाराज! कहां जा रहे हैं? क्या मैं रामली के पिता को जगाऊं!'

'नहीं, बहन! अभी मैं बाहर जाता हूं। कल प्रात: लौट आऊंगा।'

देवकुमार वहां से सीधा शिप्रा के घाट पर गया और एक नौका में बैठकर विक्रमगढ़ की ओर चल पड़ा।

पुत्र को गए आज पांच दिन हो गए थे, इसलिए सुकुमारी अधिक चिन्तातुर हो गई थी। उसके मन में अनेक विचार आने लगे। संध्या के समय देवकुमार आ पहुंचा। मां के नयन खुशी से भर गए। देवकुमार ने आराधना की बात बताई। सुकुमारी बहुत प्रसन्न हुई। दूसरे दिन देवकुमार अवंती चला गया। वह अपने निवास पर आया और एक ताड़पत्र पर विक्रमादित्य के नाम से संदेश लिखा–

'राजराजेश्वर महाराजाधिराज विक्रमादित्य के चरणों में बुद्धि चतुर और चालाक चोर सर्वहर के प्रणाम विदित हों। आज मैं आपकी नगरी में आ पहुंचा हूं। आप परदु:खभंजक हैं, ऐसा लोग कहते हैं। परन्तु यह सुनकर मुझे हंसी आती है। वास्तव में आपने एक अबला स्त्री को बहुत परेशान किया है। यह सुनकर मैंने आपकी नगरी के धनाढ्य व्यक्तियों के घरों में चोरी करने का निर्णय किया है। फिर मैं आपका राज्य हस्तगत करूंगा। मैं अपना यह कार्य कल से प्रारम्भ करूंगा। मैंने यह चेतावनी देने के लिए ही यह संदेश भेजा है। आपको अपनी प्रजा के धन-संरक्षण के लिए जो करना है, वह करें। जो मेरे इस कार्य में बाधक बनेगा, मैं उसे पल-भर में पीस डालूंगा।

आपका दासानुदास
'चोर सर्वहर'

इस प्रकार ताड़पत्र तैयार कर उसने बांस की एक नलिका में उसे रखा और संध्या के समय ग्रामीण का वेश बना राजभवन की ओर चल पड़ा।

उस समय महाराजा विक्रमादित्य अग्निवैताल के आकस्मिक आगमन पर विचार करते हुए उसके साथ एक कक्ष में बैठे थे। अग्निवैताल बोला — 'महाराज! एक प्रार्थना करने आया हूं।'

'मित्र! तुम्हें प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं है। बोलो, मैं तुम्हारे लिए क्या कर सकता हूं?'

'बहुत दिनों से आपने मुझे याद नहीं किया, इसलिए मैं सोच रहा था कि आप निश्चिंत और सुखी हैं।'

'हां मित्र! तुम्हारी कृपा से सब कुछ आनन्द-ही-आनन्द है। बोलो, तुम क्या कहना चाहते हो?'

'कृपानाथ! मैं और मेरी पत्नी दोनों वैताढ्य पर्वत से सुमेरु पर्वत पर तीर्थाटन के लिए जाने वाले हैं। वहां देवता एक उत्सव करेंगे। वह तीन महीनों तक चलेगा, इसलिए आप मुझे तीन महीने तक याद न करें; क्योंकि सुमेरु बहुत दूर है। आप याद करेंगे तो भी मुझे कुछ स्मृति नहीं आएगी।' अग्निवैताल ने विनयपूर्वक कहा।

वीर विक्रम मित्र के कंधे पर हाथ रखकर बोले — 'मित्र! मैं तुम्हारी भावना का सत्कार करता हूं और सदा-सदा के लिए तुम्हें वचनबद्धता से मुक्त करता हूं; क्योंकि अब मुझे ऐसा कोई कार्य नहीं करना है, जिसके लिए तुम्हें परेशान करूं।'

'कृपानाथ....'

'मैं सच कह रहा हूं, मित्र ! तुम आज से मुक्त हो। किन्तु मित्रता के कारण कभी-कभी यहां आना भूल मत जाना।'

'महाराज ! मित्रता के कारण मैं अवश्य आऊंगा। आपने मुझे मुक्त कर मेरे पर महान् उपकार किया है, क्योंकि व्यंतर देव वचनबद्ध होने के पश्चात् बहुत चिन्तित हो जाते हैं', कहकर वैताल ने विक्रम को छाती से लगा लिया।

वीर विक्रम ने प्रसन्न हृदय से वैताल को विदा किया और उसी क्षण वैताल अदृश्य हो गया।

महाराज अपने खण्ड से बाहर आकर उपासनागृह में जाने लगे, इतने में ही एक सेवक ने उनके हाथ में बांस की वह नलिका देते हुए कहा–'कृपानाथ ! एक ग्रामीण ने यह संदेश आपको दिया है और उसने यह आग्रह किया है कि यह आपके हाथ में ही पहुंचे।'

६४. चोर सर्वहर

वीर विक्रम ने नलिका से ताड़पत्र निकाला और भरपूर प्रकाश में उसे पढ़ा। उनके वदन की रेखाएं बदलने लगीं। पत्र की चेतावनी को पढ़कर विक्रम को बहुत रोष आया। पत्र की भाषा सुन्दर थी, इसलिए विक्रम ने सोचा कि लिखने वाला शिक्षित होना चाहिए।

वीर विक्रम अपनी बैठक में गए और नगररक्षक सिंहदत्त और महाप्रतिहार अजय को बुला भेजा।

कुछ ही समय में दोनों वहां उपस्थित हो गए।

विक्रम ने कहा – 'अपनी इस नगरी में कोई सर्वहर नाम का चोर आया है।'

'नहीं, कृपानाथ ! ऐसा कोई संदेहास्पद व्यक्ति दिखाई नहीं दिया, किन्तु....।'

'क्या ?'

'हरसिद्ध माता की आराधना करने के लिए एक किशोर आया है, उसका नाम सर्वहर या सर्वेश्वर जैसा है।'

'तुमने देखा है उसे ?'

'नहीं, कृपानाथ ! मैं पुजारी से मिला था और उससे ही सारी जानकारी प्राप्त की थी।'

वीर विक्रम दो क्षण तक मौन रहे, फिर बोले – 'इस ताड़पत्र को पढ़ लो।'

सिंहदत्त ने ताड़पत्र पढ़कर कहा – 'कृपानाथ ! ऐसा प्रतीत होता है कि किसी ने आपसे परिहास किया है, अथवा पागलपन किया है। इस पत्र में जो धमकी दी है, वह भी मिथ्या लगती है।'

विक्रम बोले – 'सिंहदत्त ! फिर भी हमें सावचेत रहना है। तुम नगरसेठ को भी यह बात बता देना। आठ-दस रक्षक नगरसेठ के भवन के आस-पास तैनात कर देना और उन्हें आठों प्रहर सावचेत रहने का निर्देश दे आना।'

'जी', कहकर सिंहदत्त चला गया।

वह सीधा नगरसेठ के भवन पर पहुंचा। वहां के रक्षकों तथा चौकीदारों को जागृत रहने की सूचना दी और राज्य की ओर से दस रक्षक भी वहां तैनात कर दिए।

मध्यरात्रि का समय हुआ। देवकुमार अपने निवासस्थान से बाहर निकला। उसके कंधे पर एक झोली थी। उसमें आवश्यक सामग्री थी। उसने सामान्य मजदूर का वेश धारण किया था और बनावटी मूंछें लगा ली थीं।

देवकुमार अनेक गलियों और सड़कों को पार करता हुआ नगरसेठ के भवन के पास आ पहुंचा। माताजी द्वारा प्रदत्त कड़ा उसने धारण कर रखा था। वह कड़ा बहुत प्रभावी था। देवकुमार के पास संमूर्च्छन चूर्ण भी था, जिससे वह क्षण-भर में किसी भी व्यक्ति को मूर्च्छित कर सकता था।

देवकुमार नगरसेठ के भवन के उपवन से भवन के मुख्यद्वार पर पहुंच गया। वहां दो-चार रक्षक नंगी तलवार लेकर पहरा दे रहे थे। देवकुमार एक ओर छिप गया। वे रक्षक जब द्वार से कुछ दूर जाकर बैठ गए तब उसने अवसर का लाभ उठाते हुए द्वार में प्रवेश कर डाला। सावधानीपूर्वक मंद-मंद चलता हुआ वह नगरसेठ के धन-भण्डार के द्वार तक पहुंचा। वहां एक हट्टा-कट्टा रक्षक चारपाई पर करवटें बदल रहा था। देवकुमार उसके निकट गया और तत्काल एक चुटकी संमूर्च्छन चूर्ण उस रक्षक के नथुने पर डाल दी। रक्षक ने अर्ध-निद्रावस्था में ही हाथ से नाक रगड़ी और उठने के प्रयत्न में मूर्च्छित होकर उसी चारपाई पर लुढ़क गया।

अब किसी का भय नहीं था। देवकुमार ने भंडार के द्वार को यंत्रों द्वारा खोला और बाहर पड़े एक दीपक को लेकर भीतर गया। उसने दिव्य रत्नालंकारों से अपना थैला भरा और भण्डार की एक पेटी पर अपना नाम 'सर्वहर' अंकित कर शीघ्रता से बाहर निकल गया।

बाहर पहरेदार चहलकदमी करते हुए इधर से उधर और उधर से इधर आ-जा रहे थे। भीतर के रक्षक की अभी तक मूर्च्छा नहीं टूटी थी।

देवकुमार पहरियों की आंखों से बचता हुआ, जिस मार्ग से आया था, उसी मार्ग से चला गया।

रात्रि के अंतिम प्रहर में नगररक्षक सिंहदत्त नगरसेठ के भवन पर आया। उसके रक्षक पहरे पर सजग थे। सिंहदत्त ने उस रक्षक-टुकड़ी के सरदार से पूछा– 'क्या रात में कुछ घटित हुआ था ?'

'नहीं, महाराज! कुछ भी नहीं हुआ। इतने पहरेदारों के रहते यहां आने का साहस कौन कर सकता है ?' भीतर भी रक्षक जागते बैठे थे।

'अच्छा', कहकर सिंहदत्त ने चारों ओर देखा और अपने गन्तव्य की ओर चला गया।

इधर देवकुमार अपने निवासस्थान पर पहुंचा और नगरसेठ के रत्नालंकार एक मटके में रखकर, उस पर कपड़ा बांध 'नगरसेठ का माल' अंकित कर एक ओर जमीन में गाड़ दिया।

प्रात:काल हुआ। वीर विक्रम प्रातः कर्म की तैयारी कर रहे थे। उस समय सिंहदत्त ने आकर कहा–'कृपानाथ! नगरसेठ के भवन में रात को कुछ भी नहीं हुआ।'

'तुमने पता किया था ?'

'हां, मैं रात्रि के अंतिम प्रहर में गया था। सबको पूछा था, और सभी ने यही कहा कि रात को कुछ भी घटित नहीं हुआ।'

'अच्छा, तो प्रतीत होता है किसी ने परिहास किया है', वीर विक्रम इस वाक्य को पूरा करें, उससे पूर्व ही एक परिचारिका ने आकर कहा–'कृपानाथ की जय हो'

'क्यों ?'

'महाराज नगरसेठ के ज्येष्ठ पुत्र आपसे मिलने आए हैं।'

'उनको आदर सहित यहां ले आओ।' विक्रम ने कहा।

नगरसेठ का ज्येष्ठ पुत्र दासी के साथ आ पहुंचा। वीर विक्रम ने उसे आदर सहित बिठाते हुए पूछा – 'अभी कैसे आना हुआ ?'

'कृपानाथ! चोर अपना काम कर गया। हमारे भण्डार से चोरी हो गई।'

'चोरी हो गई ?'

'हां, किन्तु कितना धन चुराया गया, इसका अभी तक पता नहीं लगा है।' नगरसेठ के पुत्र ने कहा। विक्रम अवाक् रह गया। उन्होंने सिंहदत्त को बुलाकर नगरसेठ के भवन पर जाने के लिए कहा।

देवकुमार भी प्रात:कर्म से निवृत्त होकर नगरचर्चा जानने के लिए नगरी में गया। स्थान-स्थान पर नगरसेठ के भवन में हुई चोरी की चर्चा चल रही थी। लोग

भिन्न-भिन्न प्रकार से बातें कर रहे थे। सुनी हुई बातें चलते-चलते समृद्ध होती जाती हैं और बात का बतंगड़ बन जाता है। कुछ लोग कह रहे थे—चोर ने एक ही रात में दो स्थानों पर सेंध लगाई—नगरसेठ के घर और राजभवन में। राजभवन से वह चोर नौलखा हार लेकर चंपत हो गया।

देवकुमार बातें सुन-सुनकर मन-ही-मन हंस रहा था। सभी प्रकार की बातें सुनकर वह नगरी से दो-चार वस्तुएं खरीदकर अपने निवासस्थान पर आया। भोजन आदि से निवृत्त होकर वह अपनी मां सुकुमारी से मिलने विक्रमगढ़ की ओर रवाना हो गया।

उसने मां से सारी बात कही। मां का आशीर्वाद प्राप्त कर वह पुन: अपने स्थान पर चला गया।

दूसरे दिन एक सेठ के भवन से पांच लाख स्वर्ण मुद्राओं की चोरी हो गई।

तीसरे दिन एक धनाढ्य सार्थवाह के कोषागार से सात बहुमूल्य रत्न गायब हो गए।

चौथे दिन अवंती के प्रसिद्ध जौहरी के घर से रत्नजटित आभूषणों की चोरी हो गई।

पांचवे दिन एक बनजारे के पांच मंजिल वाले मकान से नवलखा हार गायब हो गया।

पांच दिनों में पांच चोरियां।

जनता में हाहाकार व्याप्त हो गया।

नगररक्षक की बुद्धि चकरा गई।

वीर विक्रम भी असमंजस में पड़ गए।

पांच-पांच चोरियां होने के पश्चात् नगरी के मुख्य द्वार को रात्रि के प्रथम प्रहर में बंद कर देने की घोषणा हो गई।

देवकुमार दो-तीन दिन तक मां सुकुमारी के पास आराम से रहने का निर्णय कर विक्रमगढ़ की ओर रवाना हो गया।

६५. राजभवन में चोरी

तीन दिन तक मां के पास रहकर देवकुमार अवंती आ गया। उसको देखते ही माली प्रसन्न होकर बोला— 'महाराज! इतने दिन कहां थे?'

'अरे, मैं पास वाले एक गांव में चला गया था। यहां के क्या हाल-चाल हैं?'

'महाराज! कोई एक चोर आया है और वह धड़ल्ले से चोरियां कर रहा है। गरीबों के घरों में वह नहीं जाता। वह धनवानों, धनकुबेरों के यहां चोरी करता है।

सारे नगर में उसकी चर्चा है। अवंती की सारी जनता भयभीत है। राजा और राज्याधिकारी सभी चोर को पकड़ने के उपाय सोचने में लगे हैं। नगरी से बाहर जो दरवाजे हैं, वे सब रात्रि में बन्द हो जाते हैं। प्रत्येक अपरिचित व्यक्ति से पूछताछ की जा रही है। चोर ने तहलका मचा रखा है।'

'ओह! ऐसा कौन चोर है?'

'लगता है, कोई मांत्रिक होना चाहिए।' माली बोला।

देवकुमार बोला – 'अरे! मैंने सुना है कि वह चोर अब जल्दी ही राजभवन में चोरी करने वाला है।'

'नहीं-नहीं ऐसा हो ही नहीं सकता। वहां इतना सघन पहरा है कि एक चिड़िया भी राजभवन में नहीं जा सकती।' माली ने कहा।

देवकुमार मौन रहा। भोजन से निवृत्त होकर विश्राम करते समय उसने मन-ही-मन एक योजना बनाई। दूसरे दिन देवकुमार ने एक नलिका में ताड़पत्र रखा और एक किशोर बालक को उसे राजभवन के द्वारपाल को देने के लिए भेजा और उसे मजदूरी के रूप में पांच रौप्य मुद्राएं भी दे दीं। रौप्य मुद्राओं को लेकर किशोर अत्यन्त हर्षित हो उठा।

किशोर नलिका को द्वारपाल के हाथों में सौंपकर चला गया। द्वारपाल ने वह नलिका राजभवन के मुख्य परिचारक के हाथ में दे दी। जब महाराजा वीर विक्रम आरामगृह की ओर गए, तब महाप्रतिहार अजय ने वह नलिका विक्रम को देकर कहा – 'द्वारपाल ने यह नलिका भेजी है।'

बांस की नलिका को देखकर विक्रम चौंके। उन्होंने पूछा – 'कौन दे गया है इसे?'

अजय ने कहा – 'मुझे ज्ञात नहीं है। द्वारपाल को पूछकर निवेदन करूंगा।'

विक्रम ने नलिका से ताड़पत्र निकालकर पढ़ लिया। इतने में ही कमलारानी वहां आ पहुंची। उसके पूछने पर विक्रम ने कहा – 'देवी! चोर बहुत विचित्र लगता है। मुझे सम्मानपूर्वक संबोधन करने के पश्चात् चोर ने लिखा है – मैंने पांच दिन तक लगातार चोरियां की हैं। रात्रि-जागरण के कारण मैंने दो दिन तक विश्राम किया है। आप यह न मानें कि मैं आपकी रक्षापंक्ति से घबरा गया हूं। मैं आपसे बदला लूंगा। अब भी आप अपने किए अपराध की स्मृति करें, अन्यथा मुझे कुछ विशेष घटित करना होगा।

'प्रिये! यह चोर कौन हो सकता है? बार-बार मेरे अपराध की बात क्यों कहता है?'

दोनों परस्पर विचार-विमर्श कर ही रहे थे कि अजय कक्ष में आ पहुंचा।

विक्रम ने पूछा – 'वह नलिका कौन दे गया था ?'

'बारह वर्ष का एक बालक दे गया था।' अजय ने कहा।

'अब तुम द्वारपाल को सूचित कर देना कि यदि कोई संदेश देने आए तो उसे जाने मत देना, पकड़कर रखना।'

'जी', कहकर अजय चला गया।

विक्रम असमंजस में पड़ गए। वे अग्निवैताल को भी मुक्त कर चुके थे; अन्यथा उसके सहयोग से यह समस्या समाहित हो जाती।

इधर देवकुमार ने राजभवन में चोरी करने का निश्चय किया।

रात्रि के प्रथम प्रहर के पश्चात् वीर विक्रम अपने शयनकक्ष में गए। कमला और कलावती भी वहां आ पहुंची। तीनों चोर के विषय में चर्चा कर रहे थे, इतने में ही दूसरे प्रहर के पूरा होने की आवाज आयी। विक्रम उठ खड़े हुए और बोले – 'अब मैं जा रहा हूं। प्रातःकाल लौटूंगा। आज मैं अवश्य ही चोर को पकड़ लूंगा।' ऐसा कहकर उन्होंने अपने सारे अलंकार उतारकर त्रिपदी पर रखे हुए स्वर्णथाल में रख दिए। फिर विशेष वेशभूषा में वहां से रवाना हो गए।

दोनों रानियां भी अपने-अपने अलंकार एक थाल में रखकर एक ही शय्या पर सो गईं।

देवकुमार ने आज सैनिक का वेश बनाया था और वह सांझ होते-होते राजभवन में घुस गया। वह चामत्कारिक कड़ा उसकी भुजा पर था। उस कड़े के प्रभाव से वह अदृश्य रहता, कोई भी उसे देख नहीं पाता था, किन्तु देवकुमार इस प्रभाव से अजान था। वह तो इतना ही जानता था कि इस कड़े के प्रभाव से कोई उसे पकड़ नहीं सकता।

देवकुमार राजभवन में इधर-उधर जा रहा था। उसने देखा, एक द्वार अभी-अभी खुला है और कोई व्यक्ति विशेष वेशभूषा में बाहर निकला है। उस व्यक्ति ने द्वार पुनः बन्द कर दिया और स्वयं आगे चला गया। देवकुमार तत्काल उस द्वार के पास पहुंचा और धीरे से उसे खोलकर अंदर चला गया। वह सोपानश्रेणी पर चढ़ रहा था। ऊपर से दो सशस्त्र सैनिक नीचे आ रहे थे। देवकुमार एक ओर हो गया। वह अदृश्य तो था ही, सैनिक उसे देख नहीं सके।

वह तीसरी मंजिल पर पहुंचा। उसने देखा कि महाराज के शयनगृह के द्वार पर दो सशस्त्र स्त्री-रक्षिकाएं खड़ी हैं।

देवकुमार ने अपनी थैली से संमूर्च्छन चूर्ण की चुटकी भरी और रक्षिकाओं के नथुनों पर डाल दी। रक्षिकाएं कुछ भी नहीं देख पा रही थीं। उन रक्षिकाओं ने तत्काल अपने उत्तरीय से नाक पोंछी और एक ही क्षण में घूर्णित होकर नीचे बैठ गईं और तत्काल मूर्च्छित हो गईं।

कुछ समय तक शान्त रहकर देवकुमार ने शयनगृह के द्वार को देखा। वह भीतर से बन्द नहीं था, क्योंकि स्वामी रात्रि के चौथे प्रहर में लौटने वाले थे, उन्हें खोलने में परेशानी न हो, इसलिए कमला ने द्वार पर भीतर से आगल नहीं लगाई थी।

देवकुमार धीरे-धीरे शयनकक्ष में गया। पलंग पर दोनों रानियां गहरी नींद में सो रही थीं। उसने दोनों की नाक पर वह चूर्ण डाला। दोनों के हाथ अपने-अपने नथुनों पर गए और उसी क्षण दोनों मूर्च्छित हो गईं।

देवकुमार ने सबसे पहले दोनों माताओं को वंदन किया, फिर उसने चारों ओर देखा। स्वर्ण के आभूषण उसकी दृष्टि में पड़े। देवकुमार ने राजमुकुट को छोड़कर सारे आभूषण अपनी थैली में डाल दिए और माताओं को पुन: नमन कर वहां से निकल पड़ा।

रात्रि का चौथा प्रहर प्रारम्भ हो चुका था। देवकुमार ने सैनिक पोशाक धारण कर रखी थी, इसलिए निर्भयतापूर्वक वह राजभवन से बाहर आ गया।

वीर विक्रम जब नगरचर्या पूरी कर राजभवन में आए, तब देवकुमार अपने निवास-स्थान पर पहुंच गया था।

प्रात:काल होते-होते दोनों रानियों की मूर्च्छा टूटी। वे आंखें मलकर उठीं। उठते ही उनकी दृष्टि पलंग के नीचे रखे आभूषणों के थाल पर पड़ी। थाल पड़ा था, आभूषण नहीं थे। वे चौंकी। इधर-उधर देखा। आभूषण नहीं मिले। उन्हें निश्चय हो गया कि आभूषण चोरी हो गये हैं।

राजभवन में आते ही कमलारानी ने कहा– 'स्वामी! अपने शयनकक्ष में कल रात को चोरी हो गई है।'

'चोरी?'

'हां, महाराज! पलंग के नीचे रखे हुए सारे आभूषण आज गायब हैं। हम दोनों यहीं सो रही थीं। परन्तु प्रतीत होता है कि चोर ने हम दोनों को किसी औषधि से निद्रित कर अपना काम पूरा किया।'

कलावती बोली– 'दोनों द्वार-रक्षिकाएं भी वहीं निद्राधीन होकर पड़ी हैं।'

'तब तो यह काम सर्वहर चोर का ही लगता है। मैं नगर में घूमता रहा और वह यहां आ पहुंचा'–कहकर वीर विक्रम विचारमग्न हो गए।

राजसभा का समय हो चुका था। विक्रम ने अजय को बुलाकर नगररक्षक और महामंत्री को बुलाने की व्यवस्था करने की आज्ञा दी। लगभग दो घटिका के पश्चात् नगररक्षक और महामंत्री आ पहुंचे। वीर विक्रम ने राजभवन में हुई चोरी की बात बताई।

बात सुनकर दोनों आश्चर्य-विमूढ़ हो गए। महामंत्री बोले –'कृपानाथ! चोर बहुत चालाक है। आप अग्निवैताल को एक बार याद करें।'

'महामंत्री! क्या राज्य की शक्ति खत्म हो गई है कि हमें एक चोर को पकड़ने के लिए इस प्रकार परेशान होना पड़े? अग्निवैताल को मैंने मुक्त कर दिया है। वह अभी आ नहीं सकता। चोर कितना ही चालाक या मंत्रवादी क्यों न हो, आखिर है तो वह एक मनुष्य ही। फिर नगररक्षक की ओर देखकर कहा – राजभवन में चोरी हो जाए यह कोई छोटी बात नहीं है। यह बात जब नगर में फैलेगी, तब जनता कितनी भयभीत हो जाएगी। तुम खोज में लगो।'

राजा विक्रम ने अनेक उपाय सोचे और नानाविध प्रयत्न करने का निश्चय किया। सारी नगरी में यह बात प्रसारित हो गई कि राजभवन में भी चोर घुसकर अपनी करामात दिखा गया है।

दूसरे दिन वीर विक्रम ने राजसभा में घोषणा कराई कि जो कोई व्यक्ति चोर को पांच दिनों के भीतर जीवित या मृत मेरे सामने उपस्थित करेगा, उसे पांच गांव पारितोषिक रूप में दिए जाएंगे।

नगररक्षक सिंहदत्त ने खड़े होकर कहा – 'कृपानाथ! पांच दिनों के भीतर-भीतर मैं चोर को राजसभा में उपस्थित कर दूंगा।'

सभासदों ने हर्षध्वनि की।

किसान वेश में आया हुआ देवकुमार हंसने लगा।

सारी नगरी में नगररक्षक की बात फैल गई। देवकुमार ने नगररक्षक के परिवार की बात जाननी चाही। उसने अपने मित्र माली से पूछा – 'मित्र! नगररक्षक के परिवार में कौन-कौन हैं?'

'महाराज! उसकी जानकारी क्यों करना चाहते हैं? वह अब चोर को पकड़कर ही सांस लेगा। आप जानकारी करना चाहेंगे तो संभव है वह आप पर ही चोर होने की आशंका कर आपको कारागृह में न ढकेल दे। वह नगररक्षक केवल बलवान् ही नहीं है, वह चतुर और चपल भी है।'

'मित्र! मैं तो ऐसे ही जानकारी करना चाहता हूं। मुझे न चोर से कोई प्रयोजन है और न नगररक्षक से।' देवकुमार ने कहा।

अपराह्न के समय देवकुमार ने एक नौजवान माली का वेश बनाया। उसने एक टोकरी में कुछ फूल और मालाएं रख लीं।

वह रास्ते पर जा रहा था। सामने से दो सैनिक मिले। एक ने पूछा –'अरे ओ! कहां से आया?'

'मैं माली हूं और उस उपवन से आ रहा हूं।'

सैनिकों ने उसे एड़ी से चोटी तक देखा और आगे बढ़ गए।

चार दिन बीत गए।

देवकुमार शान्त रहा। चार दिनों तक चोरियां नहीं हुईं, तब पौरजनों ने जाना कि चोर घबराकर भाग गया है। नगररक्षक ने बीस संदेहास्पद व्यक्तियों को बन्दी बनाकर कारावास में डाल दिया था। उसने सोचा, इनमें से ही कोई-न-कोई चोर होना चाहिए। वह चिन्तित था। चार दिन खाली गए।

सांझ हुई। नगररक्षक घोड़े पर बैठकर चोर की तलाश में घर से निकल पड़ा। घर के आगे का फाटक बन्द कर दिया गया। रात्रि का प्रथम प्रहर पूरा हुआ। देवकुमार एक बाबे का वेश बनाकर तैयार हो गया। उसने कंधे पर एक थैला रखा। उसमें बहुविध सामान था। देवकुमार निर्भयतापूर्वक नगररक्षक के भवन की ओर चल पड़ा। सामने से चार सैनिक आते हुए दिखाई दिए। वे पास से बातचीत करते-करते निकल गए। देवकुमार अदृश्य था।

देवकुमार नगररक्षक के भवन की चारदीवार के निकट पहुंच गया। चारों ओर घूमकर, एक स्थान पर उसने दीवार फांद कर भीतर प्रवेश कर लिया।

उसने देखा बरामदे में तीन व्यक्ति गहरी नींद में सो रहे हैं। वह तत्काल वहां पहुंचा और संमूर्च्छन चूर्ण की चुटकी भर उनकी नाक पर डाल दी।

देवकुमार निश्चिंत हो गया। उसने एक कमरा खोला। वहां एक दीपक टिमटिमा रहा था। उसके मंद प्रकाश में उसे तीन-चार मजबूत मंजूषाएं दीख पड़ीं। देवकुमार ने एक पेटी खोली। उसमें वस्त्र थे। उसने सारे वस्त्र बाहर निकालकर रख दिए। सबसे नीचे स्वर्ण-अलंकारों से भरी एक छोटी पेटिका मिली। उसने वह पेटिका अपनी झोली में रख ली। दूसरी पेटी में स्वर्णमुद्राओं की पांच थैलियां मिलीं। उनको भी अपनी झोली में रख लिया।

देवकुमार कक्ष के कपाट पूर्ववत् बंदकर बाहर निकाल गया। वह अपने निवासस्थान पर सुरक्षित पहुंच गया और एक मटके में सारा सामान रख, उस पर नगर-रक्षक का नाम अंकित कर जमीन में गाड़ दिया।

नगर-रक्षक चोर की टोह में नगरी में चक्कर लगा रहा था। वीर विक्रम भी वेश-परिवर्तन कर एक प्रहर तक नगर में घूमते रहे। प्रातःकाल हुआ। नगररक्षक अपने भवन पर आया। मुख्यद्वार-रक्षक ने फाटक खोला। एक सेवक ने अश्व को पकड़ लिया और सिंह विश्राम करने के लिए भीतर गया। भीतर प्रवेश करते ही उसकी दृष्टि एक ओर पड़े चिमटे पर पड़ी। वह चौंका। उसका मन भय से भर गया। वह कमरे के पास आया। ताला खुला पड़ा था। अन्दर जाकर देखा तो दोनों मंजूषाएं खुली पड़ी थीं और कपड़े बाहर बिखरे हुए थे।

परिवार के सभी सदस्य एकत्रित हो गए।

नगररक्षक की निराशा का कोई पार नहीं था।

उस समय अपने निवास-स्थान पर देवकुमार शान्ति की नींद ले रहा था।

६६. चपल सेना

अनेक लोग जिसकी धाक से थरथराते थे, जिसकी शक्ति के आगे चोर, डाकू आदि मुंह में तृण लेकर गाय की तरह शरणागत हो जाते थे, जिसकी व्यवस्था ने सम्पूर्ण नगरी को निर्भय बना डाला था, वह नगररक्षक सिंह अपनी प्रतिज्ञा का पालन नहीं कर सका और स्वयं चोर की चोरी का शिकार हो गया। चोर चार रात तक शान्त रहा और पांचवे दिन नगररक्षक के घर चोरी करने में सफल हो गया। सबसे विचित्र बात तो यह थी कि चोर के विषय में कोई भी अनुमान सही साबित नहीं हो रहा था। घर में रक्षा की पूरी व्यवस्था होने पर भी सिंह ठगा गया, इसलिए उसका खून खौल रहा था। नगररक्षक का मन टूट गया, हृदय घायल हो गया। उसने सोचा, अब मैं राजसभा में कैसे मुंह दिखाऊंगा ? चोर को पकड़ने का जो बीड़ा मैंने उठाया था, उसी चोर ने मेरे मुंह पर कालिख पोत दी।

महाराजा वीर विक्रमादित्य आगन्तुकों से मेल-मिलाप कर रहे थे। उस समय नगररक्षक सिंह ने कक्ष में प्रवेश किया। वीर विक्रम नगररक्षक के चेहरे को देखकर समझ गए कि चोर अभी तक पकड़ में नहीं आया है।

नगररक्षक ने महाराजा को तीन बार नमन कर कहा— 'कृपानाथ! क्षमा करें, चोर ने मेरी नाक काट डाली।'

'क्यों ? क्या हुआ ?'

'कल रात्रि में उस दुष्ट चोर ने मेरे घर में घुसकर चोरी कर डाली। मेरी सारी संचित सम्पत्ति लेकर वह भाग गया।' सिंह ने कहा।

'चोर के कुछ चिह्न मिले ?'

'नहीं, महाराज! यही तो आश्चर्य की बात है। हां, एक चिमटा कमरे के कोने में पड़ा दिखाई दिया था और वह किसी संन्यासी का हो ऐसा लगता है।'

'तुम निराश मत हो। एक-न-एक दिन तो वह तुम्हारे जाल में फंसेगा ही। आज तुम्हें राजसभा में आने की आवश्यकता नहीं है। मैंने महामंत्री के साथ मंत्रणा कर दूसरी योजना यह बनाई है कि यदि कोई चोर को पकड़कर हमारे समक्ष उपस्थित करेगा, उसे चालीस गांव की एक तहसील भेंट में दी जाएगी। इस आकर्षण से नगरी का कोई-न-कोई चतुर और निपुण व्यक्ति चोर को पकड़ने में अवश्य सहायभूत होगा।' विक्रम ने कहा।

सिंह आश्वस्त होकर चला गया।

महाराजा से मिलने के लिए आने वालों में महामंत्री, अन्य पांच-सात मंत्री और महाबलाधिकृत भी थे। वीर विक्रम ने नगररक्षक के घर पर हुई चोरी की घटना उन्हें सुनाई। सब अवाक् रह गए। उसी समय महाप्रतिहार अजय दस वर्ष के एक बालक को साथ लेकर आया। वीर विक्रम ने अजय की ओर प्रश्नभरी दृष्टि से देखा।

अजय बोला—'कृपानाथ! यह बालक बांस की एक नलिका लेकर आया है।'

'ओह! चोर का संदेश?' फिर बालक की ओर देखकर कहा—'तुझे नलिका किसने दी?'

'महाराज! कोई एक अपरिचित मजदूर जैसे व्यक्ति ने मुझे पांच रौप्य मुद्राएं देकर इस नलिका को यहां पहुंचाने के लिए कहा था।' कहकर बालक ने वह नलिका महाराजा के हाथ में सौंप दी।

'तुझे देने वाला व्यक्ति कैसा था?'

'वैसे तो वह बहुत मोटा-ताजा था। उसकी मूंछें भरावदार थीं, किन्तु उसके कपड़े मैले थे।'

'उसका नाम बता सकते हो?'

'नहीं, महाराज! मैंने तो उसे आज पहली बार देखा था।'

'क्या तू उसे दूसरी बार देखकर पहचान लेगा?'

'हां, महाराज! उसकी मूंछें मुझे याद हैं।'

वीर विक्रम ने बालक को विदाई दी और स्वयं नलिका में से ताड़पत्र निकाल कर पढ़ने लगे। पत्र पढ़कर वीर विक्रम अवाक् रह गए। राजसभा का समय हो चुका था, इसलिए वीर विक्रम एक रथ पर चढ़कर विदा हो गए। आज राजसभा खचाखच भरी हुई थी।

देवकुमार राजसभा में नहीं आया। वह संदेश भेजकर अपनी मां से मिलने विक्रमगढ़ चला गया।

मध्याह्न तक राजसभा में चोर के विषय की चर्चा चली और महाराजा ने चालीस गांव भेंट करने की बात कही। नगररक्षक की असफलता के कारण कोई आगे नहीं आया।

राजा ने गांव में पटहवादन का आदेश दिया और स्थान-स्थान पर यह घोषणा करवाई कि कोई भी व्यक्ति आगे आये और चोर को पकड़ने का साहस दिखाकर, चालीस गांव का पट्टा हस्तगत करे।

संध्या का समय हो गया था। राजाज्ञा के अनुसार एक सेनानायक, एक दास और एक पटहवादक–तीनों गांवों की ओर गए और पटहवादन किया।

वे गणिकावाड़ा में गए। वहां चपलसेना नामक तीस वर्षीया गणिका रहती थी। वह समृद्ध, बुद्धिमती और उड़ते पंछी को गिराने में चालाक थी। उसने पहले कभी गुप्तचरी का कार्य भी किया था।

जब पटहवादक उसके भवन के पास पहुंचे, तब चपलसेना स्वर्ण के झूले में झूल रही थी। उसने पटह सुना और तत्काल परिचारिका को भेजकर सेनानायक को भवन में बुला भेजा। परिचारिका ने सेनानायक को देवी की बात कही और भवन में आने की प्रार्थना की।

सेनानायक ऊपर गया। चपलसेना ने उन्हें आदर सहित बिठाते हुए कहा– 'मैं आपका पटह झेलती हूं। किन्तु मेरी एक शर्त है।'

'कहिए....'

'कल मैं प्रातःकाल राजराजेश्वर से मिलने जाऊंगी' तब मेरी शर्त बताऊंगी।

'देवी की जय हो।' सेनानायक ने हर्षित होकर कहा। सेनानायक नीचे आया। सैकड़ों लोग वहां एकत्रित हो चुके थे। सेनानायक बोला–'देवी चपलसेना ने पटह झेल लिया है।'

लोगों ने हर्षध्वनि की और सेनानायक पटहवादक के साथ वहां से चला गया।

राजभवन पहुंचकर उसने महाराजा को सारी बात सुनाई। वीर विक्रम का मन प्रसन्न हो गया, क्योंकि उन्होंने सुना था कि चपलसेना चालाक, बुद्धिमती और चतुर है।

दूसरे दिन प्रातःकाल चपलसेना महाराजा से मिलने गई और नगर-व्यवस्था के विषय में अपनी शर्त रखती हुई बोली– 'कृपानाथ! नगरी के बारह द्वारों को बंद रखने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि चोर नगरी में ही कहीं रहता है, इसमें कोई शंका नहीं है। इसलिए आप ऐसी आज्ञा करें कि चार दरवाजे रात में भी खुले रहें।'

'इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है।' विक्रम बोले।

'आज गुरुवार है। अगले गुरुवार की रात्रि पूरी हो, उससे पहले मैं चोर को आपके सामने उपस्थित कर दूंगी।' चपलसेना ने कहा।

वीर विक्रम बोले– 'चोर अत्यन्त चालाक है....।'

'मैं समझ चुकी हूं, कृपानाथ! परन्तु स्त्री की चालाकी और मायाजाल के समक्ष बड़ों-बड़ों को पानी भरना पड़ता है।'

वीर विक्रम ने कहा – 'मैं तुम्हारी विजय चाहता हूं.....मैंने तुम्हारी चतुराई के विषय में सुना है.... ।'

चपलसेना महाराज को नमस्कार कर विदा हो गई।

चपलसेना ने पटह झेला है, यह बात समूचे नगर में प्रसारित हो गई।

माता से मिलकर देवकुमार अपने स्थान पर आ गया। उसने भी चपलसेना के विषय में सारी चर्चा सुन ली।

देवकुमार ने सोचा, अब मुझे चपलसेना को बोध-पाठ देना है। वह गणिका है, उसके घर कैसे जाया जाए? उसने सोचा और उपाय ढूंढ़ निकाला।

चपलसेना ने चोर को पकड़ने के लिए उपाय प्रारम्भ कर दिए।

एक दिन बीता।

दो दिन बीते।

तीन दिन बीते।

चोर पकड़ में नहीं आया।

चौथे दिन।

चपलसेना विचारों की उधेड़बुन में चिन्तित हो उठी।

उस समय परिचारिका ने खंड में प्रवेश कर कहा – 'देवी की जय हो।'

चपला चौंकी। उसने सोचा, गुप्तचरों के कुछ समाचार आए होंगे। उसने उत्साहपूर्ण दृष्टि से परिचारिका की ओर देखा।

परिचारिका बोली – 'देवी! कुंडलपुर के राजकुमार अतिथि-रूप में आए हैं।'

'कुंडलपुर?'

'हां, यह पूर्व भारत में स्थित है।'

'उनका वय?'

'पन्द्रह-सोलह वर्ष के प्रतीत होते हैं।'

चपला ने मन-ही-मन सोचा, यह चोर की ही तो कोई चतुराई नहीं है?

एक क्षण सोचा। सोचकर बोली – 'राजकुमार को यहां ले आ। उनके साथ और कोई है?'

'नहीं देवी!'

'अच्छा' कहकर चपला विचारमग्न हो गई।

परिचारिका कुंडलपुर के राजकुमार को साथ ले खंड में प्रविष्ट हुई। चपला सोलह वर्ष के तेजस्वी और सुकान्त नौजवान को देखते ही समझ गई कि ये वास्तव में ही राजकुमार हैं। इनके चेहरे पर निर्दोष भाव है। इनकी आंखों में सहजता है, पवित्रता है। अरे, इस छोटे वय में ये अकेले गणिकावाड़ा में कैसे आये होंगे?

राजकुमार ने मुस्कराते हुए दोनों हाथ जोड़कर वंदन करते हुए कहा – 'देवी! मेरे मन में एक आश्चर्य उभर रहा है।'

चपलसेना ने उन्हें सम्मानपूर्वक आसन पर बिठाते हुए कहा – 'कुमारश्री! मेरे मन का भी एक आश्चर्य शांत नहीं हो रहा है।'

'आपका आश्चर्य?'

'हां, आपका वय अभी यौवन की दहलीज पर चरण रख रहा है। आपको अकेले प्रवास क्यों करना पड़ रहा है?'

'ओह! इस एक प्रश्न से ही आपने मेरे घायल हृदय पर नमक छिड़क डाला। देवी! मेरी जन्मदात्री मां अचानक मर गई। मेरे पिता राजा ने दूसरा विवाह किया। सौतेली मां के प्रेम में वे इतने फंस गए कि सदा उसी की आंख से देखते हैं। मैं राज्य का अधिकारी हूं। यह बात मेरी सौतेली मां को शूल-सी चुभती है। उसने मुझे विष देकर मारने की योजना बनाई। राजभवन की विश्वस्त दासी से मुझे यह बात ज्ञात हुई और मैं बहाना बनाकर प्रवास करने के लिए घर से निकल पड़ा। मैंने नगर में प्रवेश करते ही प्रहरियों से उत्तम आश्रय-स्थान के लिए पूछा। उन्होंने आपका नाम बताया और मैं पूछता-पूछता यहां पहुंच गया।'

'आपकी बात अत्यन्त रसप्रद है.....आपका आश्चर्य?'

'देवी! मेरा आश्चर्य यह है कि आपके भवन में प्रवेश करने वाले अतिथि को इतना क्यों पूछा जाता है?'

चपलसेना ने हंसते हुए कहा – 'मैं आपके प्रश्न का उत्तर दूं, इससे पूर्व मैं जानना चाहती हूं कि आपका शुभ नाम क्या है?'

'मेरा सही-सही नाम 'जयसेन' है, किन्तु प्रवासकाल में अपरिचित रहने के लिए मैंने अपना नाम 'विजयप्रताप' रखा है। मैंने अपने माता-पिता आदि की पूरी जानकारी आपके संचालकों को दे दी है। फिर भी यदि आप जानना चाहेंगी तो....।'

'नहीं, कुमारश्री! मुझे कुछ नहीं जानना है।....इतनी पूछताछ के पीछे सबल कारण यह है कि इस नगरी में एक अनाम चोर आ घुसा है और वह बड़ी-बड़ी चोरियां कर रहा है। न चोर पकड़ में आ रहा है और न उसके ठोर-ठिकाने का ही परिचय मिलता है। मैंने उसे आठ दिनों के भीतर-भीतर पकड़कर महाराजा के समक्ष उपस्थित करने का बीड़ा उठाया है। चोर इतना चालाक है कि वह बीड़ा उठाने वाले को ही अपना शिकार बना देता है, इसलिए इतनी पूछताछ की जाती है।'

'आश्चर्य! ऐसी विराट् नगरी! इतना स्वच्छ राजतंत्र! महाराजा विक्रमादित्य जैसे तेजस्वी भूपाल! और एक तुच्छ चोर को पकड़ने के लिए इतना कुछ करना पड़े! आश्चर्य! आश्चर्य!'

'आपका अभी-अभी आना ही हुआ है। आप नहीं जानते कि उस चोर ने क्या-क्या गजब ढाया है। वह तुच्छ नहीं, किन्तु सबको तुच्छ समझने वाला महान् चालाक चोर है।'

'आप जो कह रही हैं, वह सच है। किन्तु अन्त में वह है तो एक चोर ही, दूसरों के घर में चोरी करने वाला। मनुष्य भूल किए बिना नहीं रहता।'

'आप यहां कितने दिन ठहरेंगे ?' चपला ने पूछा।

'एकाध-मास रहने का विचार है। और यदि कोई क्षत्रियोचित कार्य मिल गया तो सदा-सदा के लिए यहीं रह जाऊंगा।' कुमार ने कहा।

'आप क्षत्रियोचित कौन-सा कार्य कर सकेंगे ?'

'शस्त्रविद्या से मेरा रक्तगत सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त दूसरा कार्य नहीं हो सकता....परन्तु आप सहयोग करें तो...' कहते-कहते जयसेन रुक गए।

'क्यों ? कहते-कहते कैसे रुक गए ?'

'कुछ नहीं। इस नगरी में कुछेक दिन घूम-फिरकर फिर आपको बताऊंगा।' कुमार ने कहा।

'आप मेरे यहां अतिथि बने हैं, तो मैं आपसे एक प्रश्न पूछ लूं ?'

'हां, अवश्य पूछो।'

'मेरे यहां आने वाला अतिथि कामशास्त्र का अभ्यास करने के लिए आता है। आपको.....'

'देवी ! मैं इस प्रयोजन से यहां नहीं आया हूं और इस वय में मैं इस शास्त्र के योग्य भी नहीं हूं। सौतेली मां के कारण गृहत्याग करना पड़ा है। मुझे भाग्य पर विश्वास है। मैं प्रयत्न करूंगा। यदि आपके यहां रहने में आपत्ति हो तो आप मुझे दूसरा आश्रय-स्थान बता दें, मैं वहां रह जाऊंगा।' जयसेन ने कहा।

जयसेन के नयनों की पवित्रता और वाणी की मिठास से चपलसेना अत्यन्त आकृष्ट हो चुकी थी। वह बोली— 'कुमारश्री ! आप यहीं रहें और मेरे विशिष्ट अतिथि के रूप में रहें', कहकर चपलसेना ने अपनी परिचारिका को बुलाकर कहा— 'कुमारश्री ! मेरे विशिष्ट अतिथि हैं। इनकी सेवा में दो परिचारिकाओं की व्यवस्था करना और स्नान-भोजन आदि की पूरी देखरेख रखना।'

'जी' कहकर परिचारिका चली गई।

जयसेन आसन से उठते हुए बोला— 'देवी ! मैं धन्य हुआ। मैं इस नगरी से सर्वथा अपरिचित हूं, फिर भी धनुर्विद्या में निपुण हूं। मैं यदि आपके कार्य में कुछ सहयोगी बन सका तो अपने आपको सार्थक मानूंगा। आप निःसंकोच होकर मुझे आज्ञा दें।'

चपलसेना मुस्करा दी।

जयसेन दासी के साथ अपने निर्धारित कक्ष में चला गया।

चपलसेना इस सुंदर युवक को एकटक देखती रही। यह सुन्दर युवक और कोई नहीं, स्वयं देवकुमार ही था।

६७. मायाजाल

चपलसेना ने चोर को पकड़ने के लिए चारों ओर जाल बिछा दिया था। चतुर गुप्तचर विविध वेशों में नगरी में घूमने लगे। किन्तु जिस चोर को पकड़ने के लिए चपलसेना ने बीड़ा उठाया था, वह देवकुमार जयसेन के नाम से उसी के भवन में आ पहुंचा और पहली ही दृष्टि में मानवी के हृदय को परखने वाली चपला मात खा गई।

अनेक बार मान्यता का बंधन मनुष्य को भ्रम में डाल देता है। आज तक अवंती के चालाक चोर को किसी ने नहीं देखा था, किन्तु सभी लोगों का यह अनुमान था कि वह तीस-बत्तीस वर्ष का होना चाहिए। यह बात चपला ने भी मान ली थी। और इसी मान्यता के आधार पर सोलह वर्षीय जयसेन का दिल वह परख नहीं सकी।

जयसेन का सारा व्यवहार सहज और सरल था, इसलिए चपलसेना के मन में कभी संदेह हुआ ही नहीं। उसने जयसेन को अपने हृदय में बिठा लिया था।

देवकुमार ने मन-ही-मन निर्णय कर लिया कि चार दिनों तक शांत रहना है और इन चार दिनों में चपलसेना के धन-भंडार की सारी जानकारी कर लेनी है और अंतिम दिन इसे भी बोधपाठ पढ़ा देना है।

इन विचारों में खोया हुआ देवकुमार पलंग पर करवटें बदल रहा था। उस समय एक परिचारिका ने अंदर आकर कहा– 'युवराजश्री! देवी आपको याद कर रही हैं।'

'मैं तैयार हूं।' कहकर देवकुमार पलंग से नीचे उतरा और पैरों में मोजे पहन-कर परिचारिका के पीछे-पीछे चल पड़ा।

रात्रि का दूसरा प्रहर पूरा हो रहा था। चपलसेना पुरुष का वेश धारण कर एक आसन पर बैठी थी। अभी वह नगर-भ्रमण के लिए जाने वाली थी। उसका अश्व भी तैयार खड़ा था।

देवकुमार ने देवी के खंड में प्रवेश किया। उसने पुरुष-वेश-धारिणी चपलसेना को पहचान लिया था, फिर भी आश्चर्य का अभिनय करते हुए परिचारिका की ओर देखकर बोला– 'अरे! तू मुझे किसके खंड में ले आयी? देवीश्री किस खंड में हैं?'

परिचारिका तेजस्वी युवक के आश्चर्य को देखकर बोली– 'कुमारश्री ! यही देवी चपलसेना का कक्ष है। देवी सामने बैठी है।'

चपला का संकेत पाकर परिचारिका खंड से बाहर चली गई।

देवकुमार बोला– 'देवी ! मैं आपको पहचान ही नहीं सका। निश्चित ही मुझे आपसे यह कला सीखनी पड़ेगी।'

'युवराजश्री ! केवल यही कला नहीं, मैं आपको सभी कलाएं सिखाऊंगी, यह बताने के लिए ही मैंने अभी आपको बुलाया है। आप यहां बैठें।'

जयसेन रूपी देवकुमार आसन पर बैठ गया।

चपलसेना बोली– 'युवराजश्री ! चोर का अता-पता लग जाने के पश्चात् मैं आपको कामशास्त्र तथा अन्यान्य कलाओं में निपुण बना दूंगी। तब तक आप मेरे अतिथि बनकर यहीं रहें।'

'देवी ! अभी आप इस वेश में.....?'

'युवराजश्री ! मैं नगर-भ्रमण के लिए जा रही हूं। मुझे मेरा कार्य करना है।'

'यदि मैं भी आपके साथ नगर-भ्रमण करने चलूं तो आपकी रक्षा का कार्य भी होगा और मेरा समय भी बीतेगा।' जयसेन ने कहा।

'यह तो बहुत उत्तम कार्य होगा, किन्तु आपको प्रवास का श्रम....'

'यदि चढ़ते यौवन में ही कोई थक जाता है तो फिर यौवन के उल्लास का मूल्य ही क्या रह जाता है ? यदि आपको आपत्ति न हो तो....'

'आप जल्दी तैयार हो जाएं....मुझे बहुत आनन्द आएगा।' प्रसन्न स्वरों में चपलसेना बोली।

थोड़े ही क्षणों में दोनों अश्वों पर आरूढ़ होकर नगर-भ्रमण के लिए निकल पड़े। जयसेन ने अपना धनुष और बाणों का तूणीर साथ में ले लिया।

रात्रि का तीसरा प्रहर चल रहा था....नगर शांति की गोद में सो रहा था....सारे बाजार शून्यता का अनुभव कर रहे थे। यदा-कदा पहरेदार और गुप्तचर इधर-उधर आ-जा रहे थे।

चपला और जयसेन बातें करते-करते घूम रहे थे....बीच-बीच में कोई पहरेदार उन्हें ललकारता, तब पूर्व-निर्धारित संकेत के अनुसार चपला अपना बायां हाथ ऊपर उठाकर दो बार हिला देती।

रात्रि का तीसरा प्रहर पूरा हो रहा था....जौहरी बाजार से चपला और जयसेन गुजर रहे थे। उस समय नगररक्षक सिंह अपने तेजस्वी घोड़े पर बैठकर आ रहा था। चपलसेना ने पूछा– 'क्यों नगररक्षकजी ! आज कोई संदेहास्पद व्यक्ति मिला ?'

'हां, संदेहास्पद तीन व्यक्तियों को पकड़ा है।'

'अच्छा, कहां पकड़े गए?'

'एक व्यक्ति पानागार के पास से.....दूसरा महाजनवाड़ी में और तीसरा जौहरी बाजार में....'

'वे एकदम अपरिचित हैं?'

'हां देवी!'

'उनकी उम्र......?'

'सभी लगभग पचीस-तीस वर्ष के हैं।'

अभी तक मौन देवकुमार बोला– 'महाशय! तीनों व्यक्तियों के पास से कोई शस्त्र भी मिला है?'

'नहीं.....किन्तु मैंने आपको पहचाना नहीं।' सिंह ने देवकुमार की ओर घूरते हुए कहा।

चपलसेना हंसते-हंसते बोली– 'ये मेरे प्रिय अतिथि हैं और मेरी रक्षा के निमित्त साथ आए हैं।'

'आपका शुभ नाम?'

'जयसेन। कोई दु:खद घटना तो नहीं हुई न?'

'नहीं, अभी तक कुछ नहीं हुआ। किन्तु चोर इतना चालाक है कि कब आता है और कब छिटक जाता है, कुछ भी पता नहीं चलता।' नगररक्षक ने कहा।

फिर सामान्य बातचीत कर, परस्पर नमन कर तीनों अपने-अपने मार्ग पर आगे बढ़ गए।

चपलसेना को इस आकर्षक युवक का सहवास आनन्ददायी लग रहा था। वह इसके साथ खुलकर बातचीत कर रही थी। प्रात:काल से पूर्व वे दोनों भवन की ओर अग्रसर हुए। चलते-चलते जयसेन बोला– 'देवी! आपको एक प्रबंध कर देना चाहिए।'

'कैसा प्रबन्ध?'

'अपने धन-भंडार के लिए विशेष सुरक्षा-प्रबन्ध।'

'किन्तु मेरा धन-भंडार चोर की नजरों में नहीं चढ़ सकता। वह भवन के एक गुप्त भूगृह में है और वहां जाने का मार्ग मैं या मेरे कामदार के सिवाय कोई नहीं जानता।'

'फिर भी हमें सारे भय-स्थानों पर विचार कर लेना चाहिए....आपकी शक्ति बेजोड़ है। संभव है चोर आठ दिन तक छिपा रहे और फिर कभी हाथ साफ कर जाए।' जयसेन ने गंभीर होकर कहा।

नगररक्षक सिंह देवी चपलसेना के भवन पर आया। वह बोला—'देवी! आप सावधान रहें। चोर कब आ जाए और कब क्या कर बैठे, यह कहना अत्यन्त कठिन है। चोर बहुत ही चालाक और प्रतिशोध भावना से परिपूर्ण है। वह मेरे घर पर चोरी कर एक चिमटा छोड़ गया था। उसका तात्पर्य अब मुझे समझ में आया है। वह यह बता गया कि मैं तुमको एक भिखारी मात्र मानता हूं। तुम मेरा बाल भी बांका नहीं कर सकोगे। यह चिमटा लेकर बाबाजी बन जाओ और घर-घर भीख मांगते फिरो।'

आज रात को कैसी व्यवस्था करनी है—इस विषय की चर्चा कर नगररक्षक अपने भवन की ओर चला गया।

चपला युवराज के पास आयी और उनके कंधे पर हाथ रखकर बोली—'युवराजश्री! आज तक चोर के कोई समाचार नहीं मिले।'

'संभव है कि वह आपकी शक्ति से पराभूत होकर भाग गया हो अथवा शांत होकर बैठ गया हो।'

'उसे पकड़ने का कोई उपाय ही नहीं सूझ रहा है। मैंने जान-बूझकर अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारी है।'

'देवी! निराश न हों। अभी दो दिन-रात बाकी हैं। यदि अभी आप निराश हो जाएंगी तो चोर को पकड़ पाना कठिन होगा। वास्तव में आपके ममतापूर्ण स्वभाव को देखकर मेरा मन होता है कि मैं चोर को पकड़ने के लिए नगरी का कोना-कोना छान डालूं....किन्तु देवी! मैं क्या करूं? इस नगरी से मैं सर्वथा अपरिचित हूं।'

चपलसेना जयसेन के गाल पर हल्की-सी थपकी देती हुई बोली—'नहीं युवराज! यह काम आपका नहीं। आपकी काया अत्यन्त कोमल है। रात को नींद भी आपने पूरी नहीं ली है। आपका शरीर कुम्हला गया है।'

'मैं तो यहां निवृत्त-सा रहता हूं। कोई काम-धाम ही नहीं है। भोजन कर सो जाता हूं। किन्तु आपको एक बात माननी होगी।.....'

चपला ने प्रश्न-भरी नजरों से जयसेन की ओर देखा।

'पुरुष-वेश के बदले यदि आप स्त्री के वेश में नगर-भ्रमण करेंगी तो अधिक उपयुक्त होगा। चोर जब आपको स्त्री वेश में देखेगा तो वह निश्चित ही आपका पीछा करेगा अथवा कुछ करेगा। उस समय हम उसका डटकर मुकाबला कर सकेंगे। आपको पुरुष-वेश में देखकर वह यही मानेगा कि कोई सैनिक आ रहा है। वह आपसे छिटक जाएगा।'

'ठीक है, प्रियतम!.....तुम्हारी बुद्धि का लोहा मानती हूं।' चपला भावावेश में बोल उठी।

और देवकुमार ने चपला का मन पूरी तरह से पढ़ लिया।

छह दिन और छह रातें बीत गईं, किन्तु चोर के विषय में कोई समाचार प्राप्त नहीं हुआ। ऐसा लगने लगा कि चोर पाताल में चला गया है अथवा अवंती को छोड़कर भाग गया है।

इन छह दिनों में अनेक संदेहास्पद व्यक्ति पकड़े गए और वे सब कारावास में डाल दिये गए।

चोर को पकड़ने के लिए चपलसेना ने पूरी जोखिम उठाई थी। नगररक्षक ने नगरी में पूरा जाल बिछा रखा था। चपलसेना प्रतिदिन उत्तम वस्त्रालंकारों से सज्जित होकर जयसेन के साथ नगर-भ्रमण के लिए निकल पड़ती थी। जयसेन ने उसके मन में कामना का दीप प्रज्वलित कर दिया था। सतत साहचर्य के कारण चपलसेना के हृदय में इस तरुण युवक के साथ काम-क्रीड़ा करने की भावना तीव्र हो रही थी, किन्तु वह अपने इस मनोभाव को कहने में हिचकती थी। वह कभी जयसेन का हाथ पकड़ लेती, कभी उसके कंधे थपथपाती और कभी-कभी हल्का विनोद भी कर लेती। बातों-ही-बातों में जयसेन ने चपला के भंडार के अनेक रहस्य जान लिये।

सातवें दिन की संध्या आ गई।

जयसेन चपलसेना से पूछकर नगरी में चक्कर लगाने के लिए अकेला ही निकल पड़ा।

चपलसेना मद-भरी दृष्टि से उसे देखती रही।

ओह नारी! तू चतुर है, चपल है और विश्व का आकर्षण है। किन्तु तेरी एक ही दुर्बलता तुझे युगों से छलती रही है। चपलसेना गणिका होने पर भी थी एक स्त्री ही। रंगराग, विलास और अभिनव जीवन के मध्य वह जी रही थी। अनेक प्रकार के पुरुषों को उसने अपने रूपजाल से फंसा लिया था। किन्तु उसके हृदय की दुर्बलता ने आज उसे ही एक जाल में फंसा डाला।

एक तो जयसेन की स्वस्थ और सुन्दर काया, प्रभावशाली आंखें और नवयौवन की निर्दोष मादकता!

चपलसेना अपनी तीस वर्ष की उम्र को भी भूल-सी गई। उसे ऐसा लग रहा था, मानो वह पन्द्रह वर्ष की नवयौवना है और उसके हाथों में आया हुआ जयसेन प्रीति का प्याला है। ऐसा सुन्दर युवक किसी भाग्यवान् नारी को ही मिल पाता है।

सातवां दिन भी खाली गया। चोर का पता नहीं लगा।

चपलसेना ने दासी से पूछा—'अरे, युवराजश्री नगरी का चक्कर लगाने गए थे, अभी तक नहीं लौटे?'

मुख्य परिचारिका माधवी ने कहा – 'देवी ! युवराजश्री अभी तक नहीं लौटे हैं। विलम्ब का कारण ज्ञात नहीं है।'

'मधु ! तू जा और उनकी खोज कर।'

'जी' कहकर मधु तत्काल खंड के बाहर आ गई।

रात्रि का पहला प्रहर बीत गया। उसी समय जयसेन कक्ष में प्रवेश कर देवी चपलसेना से बोला – 'देवी ! कुछ विलम्ब अवश्य हुआ, पर एक महत्त्वपूर्ण बात हस्तगत हुई।'

'अच्छा !'

'देवी ! एक पानागार के पास चार मद्यपी बैठे थे। वे परस्पर बातचीत कर रहे थे। बात-ही-बात में एक व्यक्ति ने अपने साथी से पूछा – 'अरे ! तू कह रहा था कि एक योगी आया है ?'

'हां, किन्तु संध्या के पश्चात् वह किसी से नहीं मिलता। आज प्रातःकाल ही वह आया है। वह चामत्कारिक है। मैं गया था। उसको प्रणाम किया। उसने मेरे हाथ में भभूत डाली और मैंने आश्चर्य के साथ देखा कि वह भभूत पांच स्वर्ण मुद्राओं में बदल गई।'

तीसरा बोला – 'अरे ! वह कहां ठहरा हुआ है ?'

चौथे ने उसका स्थल बताया।

देवकुमार ने चपला से कहा – 'यह सारी बात मैंने छिपकर सुनी।'

'क्या आपने स्थल जान लिया ?' चपला ने पूछा।

'मैं तो सर्वथा अपरिचित हूं। उसने मुझे 'गंध्रपी श्मशान' की बात कही थी।' जयसेन ने कहा।

'हां, अवंती का यह प्रसिद्ध चामत्कारिक श्मशान है।' चपला बोली।

'वहां कोई भैरव का मन्दिर है ?' जयसेन ने पूछा।

'हां, वहां काल-भैरव का मंदिर है, किन्तु वह बहुत भयंकर है। वहां कोई आ-जा नहीं सकता।' चपला ने कहा।

जयसेन तत्काल बोला – 'तब तो देवी ! वह योगी और कोई नहीं, अवश्य ही चोर होना चाहिए....वह पांच स्वर्णमुद्राएं देता है....रात में किसी से मिलता-जुलता नहीं, ये सारी बातें मन में शंका उत्पन्न करती हैं।'

'संभव है, वह चोर न हो।' चपला ने जिज्ञासा की।

'तब कोई भय नहीं है। योगी यदि वास्तव में ही चमत्कारी होगा तो आप जैसी नारी की बात पर अवश्य ही ध्यान देगा और चोर पकड़ने का मार्ग सुझायेगा।' जयसेन ने कहा।

भोजन का समय हो चुका था। चपला की दो परिचारिकाएं दो थाल लेकर वहां आ पहुंची। जयसेन और चपला ने हाथ-मुंह धोकर भोजन प्रारम्भ किया।

भोजन से पूर्व चपलसेना को मैरेयपान की आदत थी....फिर वह दूसरे प्रहर के अंत में भी एक बार मैरेयपान करती थी।

देवकुमार मांसाहार, मैरेयपान आदि से परहेज रखता था। उसमें मां के संस्कार थे। उसने इन मादक वस्तुओं का सेवन न करने की प्रतिज्ञा ले रखी थी।

मैरेय का पात्र भरते-भरते चपला बोली – 'प्रियेश! आज तो पान करें...।'

'नहीं, देवी! आप तो जानती ही हैं कि मैं मैरेयपान नहीं करता।' जयसेन बोला।

'प्रिया और प्रियतम का जब मिलन होता है तब मैरेय की मस्ती से दूसरा ही रंग खिलता है।' चपला ने चंचल होते हुए कह डाला।

'देवी! आप क्षमा करें। मैंने माता को चरण-स्पर्श कर मदिरा और मांस का त्याग किया है। दूसरी बात यह है कि मुझे अभी तक प्रिया और प्रियतम के पागलपन का अनुभव भी नहीं है। आप तो मेरे जीवन की दर्द-कथा जानती ही हैं।'

'इसीलिए तो मैं आग्रह कर रही हूं। यह सामान्य मदिरा नहीं है, उच्च कोटि का मैरेय है। मैरेयपान से दिल का दर्द गायब हो जाता है और स्वास्थ्य भी सुधरता है।' चपलसेना आग्रह करती रही।

'देवी! कोई भी नारी, फिर चाहे वह माता हो, भगिनी हो या प्रियतमा हो, वह अपने प्रिय से ऐसा आग्रह कभी नहीं करती। आग कितनी ही कोमल हो, पर वह आग ही है।'

चपलसेना हंस पड़ी और हंसते-हंसते मैरेयपान करने लगी। उसने सोचा, अधिक खींचने से टूटने का भय रहता है। एक बार जब नौजवान को रूप और यौवन का स्वाद आएगा, तब वह स्वयं ही मैरेय का पिपासु बन जाएगा।

एक घटिका में भोजन-कार्य सम्पन्न हो गया। रात्रि के प्रथम प्रहर के पूरे होने की घंटी बज उठी।

जयसेन रूपी देवकुमार हाथ धोते-धोते बोला – 'देवी! अब हमें उस योगी से मिलने की तैयारी करनी चाहिए। आप आज्ञा दें तो मैं अकेला ही वहां हो आऊं।'

नहीं, मैं भी साथ चलूंगी।' चपला ने कहा।

'तो हमें अब चलना चाहिए।' जयसेन बोला।

'अभी तो दूसरा प्रहर प्रारम्भ ही हुआ है।'

'स्त्रियों को तैयार होने में विलम्ब हो ही जाता है।'

'ओह! मैं मात्र दो घटिका में तैयार हो जाऊंगी।'

'आपके पास काले रंग की चादर है?'

'हां, क्यों?'

'हमें दो चादरें साथ में रखनी होंगी। नगरी के बाहर कालभैरव मंदिर की ओर जाते समय हमें काली चादर ओढ़नी होगी।'

'तो मुझे भी पुरुष-वेश धारण करना होगा?'

'नहीं, देवी! आप स्त्री-वेश में ही चलें। योगी कितना ही महान् क्यों न हो, उसको विचलित करने की शक्ति नारी के अतिरिक्त और किसी में नहीं होती। और आप तो त्रिभुवनमोहिनी रूप हैं। सोलह शृंगार कर आप तैयार हो जाएं। यदि वह योगी वास्तव में ही चोर होगा तो आपके रूप से दग्ध होकर झुक जाएगा और वह आपकी प्रार्थना को कभी अस्वीकार नहीं करेगा।' देवकुमार ने सहज स्वरों में कहा।

दो क्षण तक मौनभाव से चपला युवराज को निहारती रही। मन-ही-मन सोचा—मुझे भुवनमोहिनी मानने वाला यह राजकुमार क्या मेरे रूप-लावण्य में मुग्ध हो चुका है? उम्र की असमानता के कारण तो नहीं हिचक रहा है? उसने मधुर स्वरों में कहा—'कुमारश्री! आपकी उम्र अल्प होने पर भी.....'

'अनुभव की अल्पता है। मैंने जो कुछ सुना है, वह आपसे कहा है। मेरी बात यदि उचित न हो तो....' बीच में ही जयसेन ने कहा।

जयसेन अपना वाक्य पूरा करे, उससे पहले ही चपलसेना बोल पड़ी, 'नहीं, प्रिय! आपकी बात सच है....स्त्री जो चाहे वह कर सकती है—इसी भावना के आधार पर मैंने चोर को पकड़ने का बीड़ा उठाया है।'

देवकुमार बोला—'बातों-ही-बातों में विलम्ब हो जाएगा।'

हंसती-हंसती चपलसेना वस्त्र-कक्ष की ओर चली गई।

देवकुमार वहीं बैठा रहा।

६८. निरर्थक खोज

रात्रि का दूसरा प्रहर पूरा हो, उससे पूर्व ही तेजस्वी अश्वों पर आरूढ़ होकर चपलसेना और देवकुमार नगरी के बाहर निकल गए।

चपलसेना आज वास्तव में ही भुवनमोहिनी लग रही थी। रात्रि का समय होने के कारण उसके पचरंगी वस्त्रों के विविध वर्ण अस्पष्ट लग रहे थे, फिर भी उसके मूल्यवान् और तेजस्वी अलंकार गगनमंडल की तारिकाओं की भांति चमक रहे थे।

गंध्रपी श्मशान की ओर जाने वाले मार्ग पर आते ही देवकुमार बोला–'देवी ! क्या यहां कोई सुरक्षित स्थान है ?'

'क्यों ?'

'हम अपने अश्वों को सुरक्षित स्थान पर बांधकर चलें।'

'नहीं, प्रिय ! श्मशान यहां से एक कोस की दूरी पर है। बीच में कालभैरव की ओर जाने वाली पगडंडी आएगी। वहीं हम अपने अश्वों को बांध देंगे।' चपला ने कहा।

'अच्छा, किन्तु अपने अश्वों की आवाज मंदिर तक नहीं पहुंचनी चाहिए....।'

'आप बहुत सावचेत हैं। यदि आपका सहयोग नहीं मिलता तो मैं निराश हो जाती।' चपला ने कहा।

मार्ग जनशून्य था। गंध्रपी श्मशान की ओर जाने में साहसी व्यक्ति भी कांप उठते थे और मध्यरात्रि में वहां जाने का साहस कौन करे ?

जयसेन ने पूछा– 'देवी ! मैंने सुना है कि यह श्मशान बहुत चामत्कारिक है। क्या यह सच है ?'

'हां, प्रिय ! अवंती का यह श्मशान बहुत चामत्कारिक है। यह भूत, प्रेत, शाकिनी, व्यंतर आदि का वास-स्थान है। पांच-दस व्यक्ति मिलकर ही यहां आने का साहस करते हैं।'

'आपने देखा है ?'

'हां, दो-चार बार मैं यहां आयी हूं। श्मशान से कुछ ही दूरी पर कामदेव का एक प्राचीन मंदिर है। हमारा गणिका समाज उसका आराधक है। इसलिए प्रत्येक गणिका यहां आती-जाती रहती है। किन्तु रात में यहां कोई नहीं आता।'

'देवी ! मन में किसी प्रकार का भय तो नहीं है ?'

'आप-जैसे धनुर्धर के साथ होते भय किस बात का ?'

जयसेन कुछ नहीं बोला। वे दोनों आगे बढ़ते गए। एक स्थान पर आकर चपलसेना बोली– 'यह स्थान अश्वों के लिए सुरक्षित है। हम यहां अश्वों को बांध कालभैरव मंदिर की ओर चलें।'

चलते-चलते चपलसेना का मन अधीर हो उठा। रात्रि का समय, नौजवान का सहवास। उसका मन हुआ कि वह जयसेन से लिपट जाए, पर.....

दोनों काली चादर ओढ़े आगे बढ़ रहे थे। चपलसेना ने जयसेन का हाथ पकड़ रखा था। कुछ दूर जाने पर जयसेन बोला– 'देवी ! हम मार्ग भूल गए हों, ऐसा लग रहा है। रात्रि का तीसरा प्रहर पूरा होने वाला है।'

चपलसेना ने चारों ओर देखकर कहा – 'नहीं, हम सही मार्ग पर चल रहे हैं।'

जयसेन ने यह मार्ग पहले ही देख लिया था। उसने एक नौजवान व्यक्ति को योगी बनाकर कालभैरव के मंदिर में बैठने के लिए प्रोत्साहित किया था। उसको जयसेन ने दस स्वर्णमुद्राएं दी थीं और क्या करना है, यह भी समझा दिया था।

ओह! धन का प्रलोभन....!

कुछ दूर चलनेपर उल्लास भरे स्वरों में चपला बोल उठी – 'ओह! सामने जो दिख रहा है, वह है कालभैरव का मंदिर।'

'तब तो हमें सावधानीपूर्वक चलना चाहिए। द्वार में कुछ प्रकाश-सा दिख रहा है। संभव है योगी की धूनी जल रही हो।'

चपलसेना मौन रही। दोनों स्थिरभाव से मंदिर की ओर बढ़ रहे थे। मंदिर के निकट जाते ही जयसेन ने संकेत से बताया कि अब मौन रहना है और पीछे-पीछे आना है।

चपलसेना बहुत चालाक थी, पर थी तो एक नारी ही। उसके हृदय की धड़कन बढ़ चुकी थी। उसने जयसेन का हाथ छोड़ा नहीं।

जयसेन ने मंदिर के सामने देखा। योगी आंखें बंद कर बैठा था। उसके सामने दो लक्कड़ जल रहे थे।

जयसेन ने भाव भरे स्वरों में बोला – 'योगीराज की जय हो।'

योगीराज ने गंभीर वाणी में कहा – 'बच्चा! औरत को साथ लेकर क्यों आया है?'

'योगीराज! हम दोनों आपके दर्शन करने आए हैं। हम पर कृपा करें।'

'बैठ जाओ।' योगी ने कहा।

जयसेन और चपलसेना – दोनों बैठ गए।

योगीराज ने नेत्र खोलकर दोनों की ओर देखते हुए कहा – 'बहन! मैंने तुम्हारे मन की बात जान ली है। तुम जिस चोर के पीछे पड़ी हो, वह चोर मांत्रिक है।'

'योगीराज! आप तो मन की बात जान सकते हैं। आप कृपा कर मुझे ऐसा उपाय बताएं कि मैं उस चोर को पकड़ सकूं।' चपला ने कहा।

योगी नेत्र बंद कर, कुछ क्षण मौन रहने के पश्चात् बोला – 'बहन! तुम्हारी मनोकामना भैरवनाथ पूरी करेंगे। साथ में यह लड़का कौन है?'

'मेरे प्रियतम हैं।'

'अच्छा-अच्छा' कहकर योगी ने भभूत की एक चुटकी चपलसेना के मुंह पर छिड़कते हुए कहा – 'कल रात के तीसरे प्रहर में वह चोर तुम्हारी पकड़ में आ जाएगा।'

पर यह क्या ?

चपलसेना को एक छींक आयी और वह बेहोश होकर जमीन पर लुढ़क गयी।

जयसेन ने उसको व्यवस्थित सुला दिया, फिर योगी की ओर देखकर कहा – 'वाह, तुम्हारा अभिनय कमाल का रहा। अब तुम शीघ्र ही तैयार हो जाओ।'

'इसका क्या करेंगे ?'

'मैं सब कुछ कर लूंगा।' जयसेन बोला।

फिर उसने सोचा, चपला का धन-भंडार न सही, इसके आभूषणों की चोरी तो कर ही लेनी चाहिए। यह सोचकर उसने चपलसेना के शरीर के सारे आभूषण उतारकर पास में एक गढ़े में छिपाकर, पहचान के लिए एक पत्थर रख दिया। फिर उसने उस योगी-रूपी व्यक्ति से कहा – 'देखो, पहले मेरे मुंह पर कालिमा लगा दो और फिर चपला का मुंह भी काला कर देना।'

उसने जयसेन और मूर्च्छित चपलसेना के गौरवदन को काला कर दिया। फिर कमंडलु के पानी से जलते लक्कड़ को बुझाया और बनावटी वेश उतारकर मूलवेश धारण कर लिया। जयसेन ने योगी बने हुए उस व्यक्ति को दस स्वर्णमुद्राएं और देकर भाग जाने के लिए कहा। वह हंसते-हंसते चला गया।

जयसेन वहीं सो गया। ठंडी हवा के झोंको से उसे गहरी नींद आ गई।

प्रातःकाल प्रारम्भ हो चुका था। चपलसेना ने नयन खोलने का प्रयत्न किया। पर वह सफल नहीं हुई।

सूर्योदय हुआ।

चपलसेना ने आंखें टिमटिमाईं। उसने चारों ओर देखा। युवराज को पास में सोये देखकर वह तत्काल उठ बैठी। युवराज का मुंह काला स्याह बन चुका था। वह बोली – 'अरे, यह क्या ? मेरे सारे अलंकार कहां गए ? ओह ! वह योगी नहीं, चालाक चोर ही था।'

उसने जयसेन को झकझोर कर उठाया। आंखें मलता हुआ जयसेन उठा और चपलसेना को देखते ही बोला – 'अरे ! यह क्या ?'

'कुमार ! वह योगी ही चोर था। मेरे सारे अलंकार लेकर भाग गया। तुम्हारा चेहरा तो....'

'अरे ! उस चालाक चोर ने आपका मुंह भी काला कर डाला। हम बुरे फंसे....' कहकर जयसेन बैठ गया।

दोनों के मुंह काले थे। चपला अत्यन्त निराशा का अनुभव कर रही थी। जयसेन मंदिर में चारों ओर देखकर बोला – 'देवी! आपको इस अपमान का सामना करना पड़ा, इसका जिम्मेवार मैं ही हूं। योगी को देखते ही मैं जागरूक नहीं रह सका।'

'प्रिय! आपका दोष नहीं है। दोष मेरा ही है। मैंने उसे सचमुच योगी मान लिया था। यदि हम पहले ही योगी को.....खैर! लुटने के पश्चात् बुद्धिमानी की डींग हांकना व्यर्थ है।'

कुछ समय पश्चात् दोनों वहां से चल पड़े। दोनों के कंधों पर काली चादर रखी हुई थी। उससे दोनों ने अपना-अपना मुंह पोंछने का प्रयत्न किया, किन्तु व्यर्थ। किसी वनस्पति के रस के साथ काली स्याही मिलाकर चुपड़ी गई थी, इसलिए वह चमड़ी के साथ एकमेक हो गई थी।

जयसेन बोला – 'देवी! रास्ते में कोई जलाशय आयेगा?'

'हां, मुख्य रास्ते पर एक बावड़ी है। क्यों पूछते हैं?'

'ऐसे काले मुंह लेकर हम नगर में कैसे जाएंगे?'

'कुमार! पहली नजर में ही मनुष्य को परखने वाली मैं पछाड़ खा गई, वहां काले मुंह की चिन्ता ही क्या है?'

दोनों मुख्य रास्ते पर आ गए। दोनों अश्व वहीं खड़े थे। चपलसेना और जयसेन दोनों अश्वों पर बैठकर नगरी की ओर चल पड़े।

रास्ते में बावड़ी आयी। दोनों वहां उतरे और मुंह की कालिमा को दूर करने का प्रयत्न करने लगे। बहुत श्रम करने के पश्चात् भी वे सारी कालिका नहीं धो सके। फिर दोनों घोड़ों पर आरूढ़ होकर भवन की ओर चल पड़े।

जब वे भवन पर आए तब नगररक्षक उनकी प्रतीक्षा में वहीं बैठा था। दोनों को देखकर वह आश्चर्यचकित रह गया।

जयसेन ने चोर की चालाकी की बात बताई।

पूरी बात सुनने के पश्चात् नगररक्षक बोला – 'इतना अच्छा अवसर मिला और आपने मुझे सूचना नहीं दी। लगता है, वह योगी ही चोर था। अच्छा देवी! उस चोर की उम्र का कुछ अनुमान है?'

'हां, वह लगभग तीस-पैंतीस वर्ष का होना चाहिए। मैं पूरा अनुमान करूं उससे पूर्व ही उसने मेरे मुंह पर भभूत डाली और फिर क्या हुआ, मैं नहीं जानती।'

इतने में ही जयसेन बोला – 'नगररक्षकजी! ज्यों ही देवी जमीन पर लुढ़कने लगीं, मैंने अपनी तलवार निकालने का प्रयत्न किया। पर उस दुष्ट योगी ने मेरे पर भी भभूत डाली। दो क्षण तक मन में आकुलता रही और फिर मैं भी बेहोश हो गया।

फिर सूर्योदय के समय देवी ने मुझे झकझोरकर उठाया और तब हमने देखा कि दोनों के मुंह पर कालिख पुती हुई है।'

नगररक्षक बोला– 'निराश होने की कोई बात नहीं है। आज आठवां दिन है। संभव है आज चोर यहां आ जाए।'

नगररक्षक वहां से विदा हुआ।

मध्याह्न तक समूची नगरी में यह बात फैल गई कि चालाक चोर ने किस प्रकार चपलसेना के मुंह पर तमाचा मारा है।

अब क्या करना है—यह प्रश्न उभरकर सामने आ गया।

चपला निराशा के सागर में समा गई। मनुष्य के चित्त में जब निराशा जन्म लेती है तब वह टूट जाता है। चपलसेना पूर्ण रूप से टूट चुकी थी।

आज अंतिम दिन था। भोजन से निवृत्त होकर चपला अपने शयनकक्ष में शय्या पर सो गई।

जयसेन उससे मिलने दो बार गया, पर वह मिली नहीं, वह सो रही थी। अन्त में जयसेन ने एक पत्र लिखकर परिचारिका को देते हुए कहा—'तुम यह पत्र देवी को दे देना। मैं नगरी में घूमकर शीघ्र आ जाऊंगा।'

परिचारिका ने पत्र ले लिया। देवी अभी तक सो रही थीं। संध्या हो चुकी थी। परिचारिका देवी के खंड में दीपमाला प्रज्वलित करने के लिए गई। उसने दीप जलाए। इतने में ही देवी ने आंखें खोलीं और कहा–'अरे, संध्या बीत गयी?'

'देवी! आज आपको गहरी नींद आ गयी। नगररक्षक आपसे मिलने आए पर आपको निद्राधीन जानकर चले गए। युवराजश्री दो बार आए थे और अभी-अभी एक पत्र देकर नगरी में घूमने गए हैं।'

'पत्र?'

'हां' कहती हुई परिचारिका ने अपने उत्तरीय से बंधे हुए पत्र को चपलसेना के समक्ष प्रस्तुत किया।

चपला ने अधीरता से पत्र खोला—उसमें लिखा था—

'देवी चपलसेना! मेरे कारण आपको बहुत अपमानित होना पड़ा है। मैं प्रत्यक्षत: आपसे क्षमा-याचना करता, पर आपको नींद में उठाना मैंने उचित नहीं समझा, इसलिए पत्र लिखना पड़ा है। मैं आज पूरी रात चोर की टोह में घूमता रहूंगा और उसे पकड़कर ही सांस लूंगा। मैं अपना दु:ख भुलाने के लिए आपके यहां आया, पर आपको दु:खी कर डाला। यदि मैं आज अपने प्रयत्न में सफल रहा तो आपसे साक्षात्कार करने शीघ्र आ पहुंचूंगा, अन्यथा मैं अपना मुंह आपको नहीं दिखाऊंगा।

आपका– 'जयसेन'

पत्र को पढ़ते ही चपलसेना पलंग से उठ खड़ी हुई और परिचारिका की ओर देखकर बोली– 'युवराजश्री मेरे से मिलने आए और तूने उनको यहां क्यों नहीं आने दिया ?'

'देवी! आपने ही तो आज्ञा दी थी..... ।'

'किन्तु मेरी आज्ञा तो बाहर वालों के लिए थी.....ओह! युवराजश्री को गए कितना समय हुआ है ?'

'लगभग तीन घटिका बीती हैं।'

'जा, उनको खोजने के लिए चार रक्षकों को भेज और उनसे कह दे कि जहां भी युवराजश्री मिलें, उन्हें अपने साथ यहां ले आए। आज मैं कहीं नहीं जाने वाली थी, किन्तु अब मुझे नगरभ्रमण के लिए जाना ही पड़ेगा।'

मुख्य परिचारिका प्रणाम कर खंड के बाहर चली गई।

आज चपला को दोहरी निराशा का सामना करना पड़ रहा था। एक ओर यह घोर निराशा उसे झकझोर रही थी कि चोर नहीं मिला और राजराजेश्वर के समक्ष उसे नीचा देखना पड़ेगा। दूसरी निराशा यह हुई कि एक रूपवान् नौजवान जो प्राप्त हुआ था, जिसमें समाकर मैं अपने दुःख को भूल जाना चाहती थी, जिसके आलिंगन में बद्ध होकर मैं अपूर्व आनन्द का अनुभव करना चाहती थी, वह सुन्दर कामदेव-सा युवक मेरे हाथ से निकल गया। काश! मैं....

रात्रि का दूसरा प्रहर पूरा हुआ।

चपलसेना वेश-परिवर्तन कर जयसेन को खोजने के लिए नगरी में निकल पड़ी। रात्रि के तीसरे प्रहर तक भी जयसेन नहीं मिला। वह उसकी खोज में घूमती रही। चौथा प्रहर पूरा होने वाला था। चपलसेना निराश होकर भवन लौट आयी।

सारे नगर में चपलसेना के ठगे जाने की बात हो रही थी। यत्र-तत्र-सर्वत्र चोर सर्वहर की चर्चा हो रही थी। सभी आश्चर्यचकित थे। सभी राज्याधिकारी तथा स्वयं वीर विक्रमादित्य भी चोर को पकड़ने के लिए नये-नये उपाय सोचने लगे। पर कोई भी उपाय कारगर नहीं हो रहा था। सभी चिन्तित थे।

उसी दिन राजसभा जुड़ी और उसमें महामंत्री भट्टमात्र ने कहा– 'मैं तीन दिन के भीतर-भीतर चोर को अपने जाल में फंसा लूंगा। चोर को अन्य उपायों से नहीं पकड़ा जा सकता। वह बुद्धिमान् है। उसको बुद्धिमत्ता से ही पकड़ा जा सकता है। मैं मानता हूं कि चोर सर्वहर अभी हमारे मध्य बैठा होगा। मैं उसे चुनौती देता हूं कि वह मेरे भवन में आए और मेरे कक्ष में एक त्रिपदी पर रखे स्वर्णथाल में रखी हुई नीलम की मुक्तामाला उठा ले जाए; अन्यथा वह अपनी पराजय स्वीकार कर अपना चोरी का धंधा छोड़ दे। बुद्धि के मैदान में आने का निमंत्रण मैं चोर को देता हूं। वह आए और मेरे पर विजय प्राप्त करे।'

देवकुमार उस समय अपनी माता से मिलकर अवंती आया ही था। सारी नगरी में महामंत्री की चुनौती की बात फैल गई। सर्वत्र उसकी चर्चा होने लगी।

६६. मूंछ कट गई

सभी लोगों को आश्चर्य हो रहा था कि चोर तीन दिनों के भीतर महामंत्री के भवन में कैसे प्रवेश कर पाएगा ? और यदि चोर स्वर्णथाल सहित उस नीलम की मुक्तामाला को उठाने नहीं आएगा, तो उसकी बुद्धि का दीवाला निकल जाएगा। महामंत्री ने बुद्धि का दांवपेच लड़ाया है। देखें, क्या परिणाम आता है ?

देवकुमार को यह चुनौती कुछ भारी लग रही थी। उसे पूर्ण रूप से यह ज्ञात नहीं था कि जब वह चोरी करने निकलता है और पुनः अपने निवास-स्थल पर पहुंचता है, तब तक माता के कड़े के प्रभाव से वह अदृश्य रहता है। चोरी का निमित्त न होने पर वह सबको दिखाई देता है। वह मात्र यही जानता था कि कड़े के प्रभाव से वह किसी की पकड़ में नहीं आता। उसने महामंत्री को चकमा देने का निर्णय कर लिया।

उसने पहले जनता का ध्यान अन्यत्र केन्द्रित करने के लिए एक कोट्याधिपति सेठ के वहां मूल्यवान् रत्नों की चोरी की। उसने सेठ के धन-भंडार में सर्वहर नाम अंकित कर एक पत्र भी रख दिया।

दूसरे दिन उसने राज्य के महाबलाधिकृत के भवन से अलंकारों की पेटी चुरा ली। उसके भंडार में भी सर्वहर नामांकित ताड़पत्र चमक रहा था। महाबलाधिकृत के भवन में चोरी हो, यह मालव राज्य के रक्षातंत्र के लिए लज्जास्पद बात थी।

तीसरे दिन रक्षा की व्यवस्था और कड़ी कर दी गई। महामंत्री की अकुलाहट भी बढ़ चुकी थी। उनके मुख्य खंड में एक त्रिपदी का स्वर्णथाल रखा हुआ था और उसमें नीलम की माला चमक रही थी। महामंत्री भवन छोड़कर कहीं आते-जाते नहीं थे। वे निरन्तर चोर की ताक में रहते, क्योंकि यदि चोर पकड़ में न आया, तो महाराजा की कीर्ति पर धब्बा लग जाने का भय उन्हें सता रहा था। वे राजसभा में कुछ समय के लिए अवश्य जाते थे।

तीसरे दिन वे भवन का कार्य निबटाकर एक रथ में बैठकर भवन से बाहर निकले, उसी समय एक नौजवान अश्वारोही उनके रथ के सामने आया और रथ को रोकने की प्रार्थना करते हुए बोला – 'महामंत्री की जय हो! राजराजेश्वर स्वयं आपके यहां पधार रहे हैं।'

'ओह! किन्तु मैं तो वहीं आ रहा था।'

अश्वारोही बोला – 'उनके साथ महाबलाधिकृत भी हैं। वे कुछ महत्त्वपूर्ण विचार-विमर्श करने के लिए यहां आ रहे हैं।'

महामंत्री ने नौजवान को पैनी दृष्टि से देखते हुए कहा – 'मैंने तुम्हें पहचाना नहीं।'

नौजवान अभी तक अश्व पर आरूढ़ था। उसने मुस्कराते हुए कहा – 'आप तो बड़े आदमी हैं। महाबलाधिकृत के बालक को कैसे पहचानेंगे?'

'ओह!' कहकर महामंत्री ने रथचालक को रथ मोड़ने के लिए कहा। रथ के पीछे-पीछे नौजवान ने भी अपने अश्व को महामंत्री के भवन में प्रवेश कराया।

रथ से महामंत्री नीचे उतरे। उनकी दृष्टि महाबलाधिकृत के पुत्र पर पड़ी। उन्होंने तत्काल पूछा – 'क्या कुछ कहना है?'

'हां कृपालु! मुझे एक महत्त्वपूर्ण संदेश देना है।'

'संदेश!'

'हां, मंत्रीश्वर! अतिगुप्त और महत्त्वपूर्ण संदेश! आप भीतर चलें, मैं बताऊंगा।'

महामंत्री का आश्चर्य वृद्धिंगत हुआ। वे आगे चले और अपने मुख्य खंड में आए। द्वार पर खड़े रक्षक एक ओर खिसक गए।

एक त्रिपदी पर स्वर्ण का थाल पड़ा था। उस थाल में नीलम की माला चमचमा रही थी।

महामंत्री ने पूछा – 'तुम्हारा नाम?'

'जयकुमार, महात्मन्! महाबलाधिकृत के यहां कल चोरी ही नहीं हुई, उनकी षोडशवर्षीया पुत्री – मेरी बहन – का भी अपहरण हो गया। यह बात किसी को ज्ञात न हो, इसलिए मुझे आपके पास भेजा है। राजराजेश्वर भी इस बात से बहुत चिन्तित हो गए हैं और आपको बुलाने के लिए भेजा हैं'

'अत्यन्त भयंकर समाचार! तब तुमने मुझे वहां से मोड़ा क्यों?'

'इसके लिए मैं आपसे क्षमा मांग लेता हूं। यह बात सारथी के सम्मुख कहने योग्य नहीं थी, इसीलिए....।'

'ओह! तुम बड़े चालाक हो। अच्छा, चलो', कहकर महामंत्री खड़े हुए।

उस समय कक्ष में महामंत्री के सिवाय और कोई नहीं था। नौजवान ने क्षण का भी विलम्ब न कर, उसी समय संमूर्च्छन चूर्ण की एक चुटकी महामंत्री के मुंह पर डाली...महामंत्री चौंके...वे मुंह से कुछ शब्द निकालें, उससे पूर्व ही वे जमीन पर लुढ़क गए।

वह जय नहीं, किन्तु देवकुमार ही था। उसने तत्काल उस कक्ष का द्वार बंद कर दिया और महामंत्री के एक ओर की मूंछ काट ली। फिर उसने स्वर्णथाल

सहित नीलम की मुक्तामाला को अपने कब्जे में कर चारों ओर देखा। चलते-चलते उसने महामंत्री के हाथ में बांस की एक नलिका भी पकड़ा दी।

वह मुख्य द्वार से होकर वायुवेग से बाहर निकल गया। नीचे चार रक्षक खड़े थे, पर वे कुछ बोले नहीं। नौजवान अपने अश्व पर बैठकर विक्रमगढ़ की ओर चला गया।

राजसभा का समय हो चुका था।

महाराजा वीर विक्रमादित्य राजसभा में पहुंच गए थे।

आज राजसभा खचाखच भरी हुई थी। महामंत्री को न आया देखकर उन्होंने एक व्यक्ति को महामंत्री के भवन की ओर भेजा।

राजसभा का संदेशवाहक महामंत्री के भवन पर गया और वहां के सेवक से कहा – 'राजराजेश्वर राजसभा में पधार गए हैं और महामंत्री को शीघ्र आने के लिए संदेश भेजा है।'

सेवक बोला – 'आप मेरे साथ चलें।'

दोनों महामंत्री के कक्ष के पास पहुंचे। सेवक ने धीरे से द्वार खोला और भूमि पर सोये हुए महामंत्री की ओर देखकर कहा – 'महात्मन्!'

किन्तु सुने कौन? राजसभा का संदेशवाहक भी कक्ष में गया और जहां महामंत्री पड़े थे, वहां जाकर महामंत्री को सम्बोधित किया। पर व्यर्थ। उसने देखा कि महामंत्री की बायीं मूंछ गायब है। अरे, यह क्या? सेवक भी चौंका।

संदेशवाहक बोला – 'शीघ्रता से जल का पात्र ले आओ। महामंत्री निद्राधीन नहीं, मूर्च्छित हैं। नीलम की माला वाला स्वर्णथाल यहां रखा रहता था, वह कहां है?'

सेवक बोला – 'उस त्रिपदी पर.....अरे, थाल कहां गया?'

संदेशवाहक ने उसे पानी लाने के लिए पुनः कहा। जलपात्र आया और साथ-ही-साथ दासियों का समूह भी वहां उपस्थित हो गया।

संदेशवाहक ने महामंत्री के मुंह पर शीतल जल के छींटे दिए और कुछ ही क्षणों के पश्चात् महामंत्री ने आंखें खोलीं। उन्होंने संदेशवाहक की ओर दृष्टि करते हुए कहा – 'क्यों समर! तुम यहां कहां से आ गए? महाबलाधिकृत का पुत्र कहां गया?'

'महाबलाधिकृत का पुत्र? महामंत्रीश्री, आप कुछ स्वस्थ हो जाएं। मैं आपको बुलाने आया हूं। राजराजेश्वर राजसभा में पधार गए हैं और उन्होंने आपको याद किया है। आपका स्वर्णथाल चोर उठा ले गया है...आपकी एक ओर की मूंछ भी कटी हुई है।' समर ने कहा।

महामंत्री ने मूंछ पर हाथ फेरा। मूंछ कटी हुई थी। फिर उन्होंने समर से कहा – 'तुम जाओ और यहां की सारी बात राजराजेश्वर को निवेदित कर दो। मैं अभी आ रहा हूं।'

संदेशवाहक समरसिंह महामंत्री को नमन कर चला गया।

महामंत्री के मन में अत्यन्त वेदना उभर रही थी। उन्होंने त्रिपदी की ओर देखा, फिर वहां खड़े रक्षक की ओर देखकर कहा – 'वह नौजवान अश्वारोही किस ओर गया है ?'

'जो आपके साथ-साथ आया था, वह ?'

'हां।'

'वह तो यहां से कभी का चला गया।'

'किस ओर गया है ?'

'संभव है राजसभा की ओर गया हो !'

महामंत्री खड़े हुए। उनकी दृष्टि गद्दी पर पड़ी बांस की नलिका पर पड़ी। उसमें एक ताड़पत्र था। महामंत्री ने उसे निकाला। उस पर लिखा था – 'यह संदेश आप महामंत्री विक्रमादित्य के पास पहुंचा दें। आपका सेवक – सर्वहर।'

महामंत्री कपाल पर हाथ रखकर गद्दी पर बैठ गए और एक सेवक से बोले – 'जा, नाई को बुला ला।'

'जी' कहकर सेवक खंड से बाहर निकल गया।

महामंत्री चिन्तामग्न हो गए। क्या वही नौजवान चोर होगा ? नहीं, नहीं। गुप्तचरों ने चोर की उम्र तीस-पैंतीस वर्ष की बताई थी और यह नौजवान सोलह-अठारह वर्ष का होना चाहिए। इतनी छोटी उम्र का नौजवान इतना बुद्धिमान् !

कुछ ही समय में नाई आ गया। महामंत्री ने दूसरे ओर की मूंछ का भी मुंडन करा लिया और तैयार होकर राजसभा की ओर निकल पड़े।

वीर विक्रमादित्य, महाबलाधिकृत, महाप्रतिहार आदि एक कक्ष में बैठे थे। कमला रानी भी साथ ही थी। महामंत्री भट्टमात्र वहां पहुंचे।

वीर विक्रम बोले – 'समर ने सारी बात बता दी थी। सभी को यह विश्वास था कि चोर अवश्य ही आपके जाल में फंस जाएगा।'

'महाराज ! चोर के बदले मैं ही अपने जाल में फंस गया।' कहकर महामंत्री ने आदि से अन्त तक सारा वृत्तान्त कह सुनाया।

फिर महामंत्री ने बांस की नलिका में रखे ताड़पत्र को वीर विक्रम के हाथ में सौंपते हुए कहा – 'महाराज ! चोर ने आपके नाम पर यह संदेश भी दिया है ?'

'इसमें क्या लिखा है ?' विक्रम ने पूछा।

'मैंने देखा नहीं। आपके नाम का संदेश है।' महामंत्री ने कहा।

विक्रम संदेश लेकर अपने राजभवन में आ गए। वे अपने आरामगृह में आए और द्वार बन्द कर उस संदेश को पढ़ने लगे। उसमें लिखा था—

'परम पूज्य राजराजेश्वर मालवपति परमवीर विक्रमादित्य महाराज के चरणकमलों में दासानुदास सर्वहर का भक्तिभावपूर्वक प्रणाम। कृपानाथ! आपने मेरी चेतावनी के प्रति ध्यान नहीं दिया, यह मेरे लिए अत्यन्त दु:ख की बात है। महामंत्री भट्टमात्र ने बुद्धि का खेल खेला था और मैंने उनको बोधपाठ पढ़ाया है, यह आपको ज्ञात हो गया होगा। मैं पुन: आपसे प्रार्थना करता हूं कि आप अपने द्वारा हुए अन्याय की स्मृति करें। आपने एक सती-साध्वी नारी के साथ जो क्रूर व्यवहार किया है, वह अक्षम्य अपराध है। आपको क्या दंड दिया जाए? आपका रक्षातंत्र कितना दुर्बल है, यह आपने मेरे कार्यों से जान ही लिया होगा। अब यदि आप मुझे पकड़ने का कोई दूसरा उपाय करेंगे, या स्वयं आप मुझे हस्तगत करने का बीड़ा उठायेंगे, तो मैं आपका सामना करने में भी क्षोभ का अनुभव नहीं करूंगा। अब मैं अन्तिम बार आपको आठ दिन का समय देता हूं। इस अवधि में आप अपने अन्याय का प्रायश्चित्त का निर्णय कर लें। नौवें दिन मैं जो घटित करूंगा, वह अत्यन्त भयंकर होगा। आप अन्तर्मन से आत्मालोचना कर अपने अन्याय को याद करें, प्रायश्चित्त करें।'

आपका चरणकिंकर— 'सर्वहर'

वीर विक्रम ने यह पत्र तीन बार पढ़ा। एक सती-साध्वी नारी के प्रति स्वयं ने कभी अन्याय किया हो, यह स्मृति-पथ पर आ ही नहीं रहा था...फिर सर्वहर बार-बार इस बात को क्यों दोहराता है...मैंने कभी किसी स्त्री को नहीं सताया, फिर अन्याय कैसा?

वीर विक्रम अत्यन्त चिन्तामग्न हो गए।

कमला, कला और लतामंजरी—तीनों रानियां खंड में आयीं। विक्रम ने तीनों को पत्र पढ़ाया।

कमला रानी बोली— 'स्वामीनाथ! पत्र की भाषा बहुत विनययुक्त है।'

'हां।'

'आपने क्या विचार किया है?'

'मुझे ही इस चोर का सामना करना पड़ेगा।'

'स्वामीनाथ! मुझे प्रतीत हो रहा है कि सर्वहर की बात में कुछ तथ्य अवश्य है।'

'तो क्या मेरे हाथों किसी अबला के प्रति अन्याय हुआ है?'

'हां, संभव है आपको उसकी विस्मृति हो गई हो ?'

'कमला ! मुझे कुछ भी याद नहीं है।'

'प्राणनाथ ! चोर की वाणी में विवेक ही नहीं झलकता, उसमें भक्ति और श्रद्धा की भी झलक है। सर्वहर के साथ संघर्ष करने में बदनामी होगी। सर्वहर सदा अपनी चुनौतियों को पूरा करता आ रहा है। इस पत्र के एक वाक्य ने मेरे हृदय को झकझोर डाला। सर्वहर लिखता है कि आज तक उसने मर्यादा और भक्ति का पालन किया है। अब उसे कुछ और ही कदम उठाना पड़ेगा।' कमला ने कहा।

वीर विक्रम विचारों में खो गए।

रात्रि में मंत्रणा के लिए सभी एकत्रित हुए। चोर को पकड़ने के लिए अनेक उपाय सोचे गए, किन्तु स्पष्ट निर्णय किये बिना मंत्रणा पूरी हो गई।

दूसरे दिन राजसभा प्रारम्भ हुई। आज राजसभा का माहौल कुछ विचित्र इसलिए था कि वीर विक्रम अपनी ओर से कुछ घोषणा करने वाले थे। राजसभा खचाखच भरी थी। बाहर तक हजारों की भीड़ लगी हुई थी। चोर का आतंक प्रत्येक नागरिक के हृदय को तोड़ चुका था। सभी आतंकित थे। चोर को पकड़ने में राजतंत्र सर्वथा असफल रहा, इसलिए जनता के मन में आक्रोश था। महामंत्री, महाबलाधिकृत, महाप्रतिहार आदि विशिष्ट अधिकारी राजसभा को सम्बोधित कर अपनी-अपनी वेदना को स्पष्ट कर चुके थे और जनता को आश्वस्त रहने की प्रेरणा दे रहे थे। अन्त में वीर विक्रम अपने आसन से उठे और बोले – 'सर्वहर ने मेरे पर एक आरोप लगाया है कि मैंने एक सती-साध्वी नारी के प्रति अन्याय किया है, किन्तु बहुत याद करने पर भी मुझे कुछ स्मृति में नहीं आ रहा है, इसलिए मैं इसके स्थायी समाधान के लिए एक निर्णय की घोषणा करना चाहता हूं। सर्वहर चोरियां करता है, पर वास्तव में चोर नहीं है, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। वह मात्र अन्याय के प्रायश्चित्त के लिए चोरी करता है। वह बार-बार मुझे चेतावनी भी दे रहा है। इसलिए आज मैं प्रसन्न हृदय से यह घोषणा करता हूं कि आज से सातवें दिन तक सर्वहर मेरी राजसभा में उपस्थित होकर मुझे मेरे अन्याय की स्पष्ट अनुभूति कराए। मैं उसके सारे अपराधों को माफ कर दूंगा। यदि वास्तव में मेरे से अन्याय हुआ होगा तो मैं सर्वहर के द्वारा निर्दिष्ट प्रायश्चित्त स्वीकार करूंगा।'

वीर विक्रम के निर्णय से सभी अवाक् रह गए। जय-जयकार के साथ राजसभा का कार्य सम्पन्न हुआ।

महामंत्री भट्टमात्र के बुद्धि-चातुर्य पर लात मारने वाला जयकुमार और कोई नहीं, देवकुमार ही था। वह महामंत्री के घर चोरी कर सीधा विक्रमगढ़ चला गया और अपनी माता को स्वर्णथाल और नीलम की माला देते हुए उसको सुरक्षित रखने के लिए कहा। फिर उसने महामंत्री को कैसे प्रताड़ित किया, यह बात मां को

विस्तार से बताई। मां ने सारी बात सुनकर कहा – 'देव! तुम्हारा यह खेल कब तक चलेगा?'

'मां! आप चिन्ता न करें। मैं स्वयं इसको लम्बा करना नहीं चाहता। मुझे विश्वास है कि महाराजा मेरे अन्तिम संदेश पर कुछ उत्तम निर्णय लेंगे।'

'मेरी भी यही इच्छा है, फिर भी हमें एक मर्यादा निश्चित करनी होगी। ऐसे तो यह भी एक संघर्ष ही है और संघर्ष में क्षत्रिय कठोर हो जाते हैं।' सुकुमारी ने कहा।

'तो मां! आप आज्ञा दें तो मैं स्वयं जाकर महाराजा को सारा वृत्तान्त सुना दूं। किन्तु मैं एक गौरवपूर्ण समाधान चाहता हूं। इस समाधान में मेरा गौरव गौण है, पर मेरी मां का गौरव प्रधान है। यह एक महारानी के स्वाभिमान का प्रश्न है।'

सुकुमारी विचारों में फंस गई। देवकुमार ने मां की गोद में सिर रखकर कहा – 'मां! यदि आपको मेरा कार्य उचित न लगता हो तो मैं आज ही उसे छोड़ दूं।'

'नहीं, बेटा! तुम्हारे ऐसे साहस का मैं अवमूल्यन करना नहीं चाहती। मुझे समझ में नहीं आ रहा है कि इस खेल की समाप्ति कब होगी। संसार में जैसे बालहठ और स्त्रीहठ प्रसिद्ध हैं, वैसे ही राजहठ भी है।'

'मां! आपकी बात सही है....अब मैं एक महीने की अवधि निर्धारित करता हूं। यदि इस कालावधि में राजराजेश्वर नहीं समझ पाएंगे तो मैं आपको पुन: प्रतिष्ठानपुर ले जाना पसन्द करूंगा और जाते समय मैं चोरी का सारा सामान राजभवन में पहुंचा दूंगा।'

मां प्रेम से पुत्र का सिर सहलाने लगी। मां के नयन सजल हो गए थे। वह बोली – 'देव! एक महीने की अवधि से मैं सहमत हूं, किन्तु स्त्री अर्धांगिनी होती है। उसके लिए पति ही सर्वस्व होता है। पति के समक्ष गौरव और स्वाभिमान का प्रश्न ही नहीं उठता। एक महीने के भीतर यदि तुम्हारा कार्य सफल न हो तो तुम प्रतिष्ठानपुर चले जाना। मैं अपने स्वामी के पास चली जाऊंगी। मुझे देखते ही वे पहचान लेंगे।'

देवकुमार सिर उठाकर बोला – 'मां...!'

'देव! तुम्हें आज तक मां के हृदय का ही परिचय मिला है, एक आर्य नारी के हृदय का परिचय नहीं हुआ है। तुम चिन्ता मत करना। मेरा मन बोलता है कि तुम्हारा श्रम निष्फल नहीं होगा।' मां ने भावभरे स्वरों में कहा।

देवकुमार मां के तेजोमय मुख की ओर देखता रहा। दोनों नहीं जानते थे कि वीर विक्रम ने संघर्ष को टालने के लिए राजसभा में ऐसी घोषणा की है जो वीर, धीर और परदु:खभंजन व्यक्ति के योग्य है।

मां के पास दो दिन ठहरकर देवकुमार सामान्य वेश में अवंती नगरी में आ पहुंचा। वहां जन-जन के मुंह से उसने सुना कि विक्रमादित्य महाराज ने यह घोषणा की है कि सात दिन के भीतर-भीतर सर्वहर मुझसे मिले और मेरी भूल बताए। फिर वह जैसा चाहेगा, वैसा प्रायश्चित्त करूंगा।'

देवकुमार मन-ही-मन प्रसन्न हुआ।

रात्रि का पहला प्रहर पूरा हो, उससे पूर्व ही देवकुमार विक्रमगढ़ आ पहुंचा और सीधा मां के कक्ष में गया। सुकुमारी नवकार महामंत्र का जाप कर रही थी। एक छोटा-सा दीपक टिमटिमा रहा था। उसके मधुर-मंद प्रकाश में माता की प्रशांत मूर्ति बहुत भव्य और सुन्दर लग रही थी। मां को जाप करते देख देवकुमार कुछ रुका। इतने में ही मां ने जाप पूरा कर देवकुमार की ओर देखा। देवकुमार तत्काल मां के पास आकर बोला – 'मां! आपकी साधना सफल हो गयी। कल मेरे महान् पिता ने राजसभा में नृपोचित एक उदार घोषणा की है। संघर्ष का अंत आ गया, मां!' कहकर देवकुमार छोटे बच्चे की भांति मां से चिपट गया।

मां बोली – 'अरे, बताओ तो सही, क्या घटित हुआ है?'

देवकुमार ने लोगों से सुनी सारी बात मां को बताई। मां का चेहरा खिल उठा।

मां ने कहा – 'बेटा! जब तुम राजसभा में सारा भेद खोलोगे, तो क्या तुम्हारे पिताश्री लज्जित नहीं होंगे?'

'नहीं, मां! मुझे तो उनकी आज्ञा का सम्मान करना है। यदि आपको उचित लगता हो तो मैं उनको एक संदेश भेजूं।'

'नहीं, इससे तो अच्छा है कि तुम एक बार अपने पिताश्री से स्वयं मिल आओ और जैसा वे कहें वैसा करो।'

'मां! इससे तो यह उचित है कि मैं उनसे राजसभा में ही मिलूं। इससे पिताश्री की महानता भी दीप्त होगी।'

इस प्रकार बातें करते-करते रात्रि का दूसरा प्रहर पूरा होने लगा।

देवकुमार अपनी शय्या पर जा सो गया।

सुकुमारी भी शय्या पर जा सो गई। किन्तु आज नींद आने का प्रश्न ही नहीं था। प्रियतम का मधुर स्मरण उसके हृदय को गुदगुदाने लगा। उसने सोचा, मेरे में पुरुषद्वेष कितना भयंकर था? मुझे सन्मार्ग पर लाने वाले मेरे प्रियतम का सहवास कितना मधुर था। यदि ये अपना परिचय उसी समय दे देते तो मुझे इतना दीर्घ वियोग सहना नहीं पड़ता। किन्तु इसमें इनका क्या दोष? मेरा प्रारब्ध ही ऐसा था। कर्मराजा ने मुझे वियोग की ज्वाला में जलने के लिए विवश किया और मैं सोलह वर्षों तक उसमें तिल-तिल कर जलती रही। अब उस कालरात्रि का अंत

आ रहा है। मेरा और देवकुमार का भाग्योदय होने वाला है। पुत्र को पिता मिलेंगे और मुझे मेरे प्रियतम। मैं धन्य हो जाऊंगी।

इन विचारों में उन्मज्जन-निमज्जन करती हुई सुकुमारी अंतिम प्रहर में निद्राधीन हो गई।

देवकुमार भी अनेक विचारों में विहरण करता हुआ रात्रि की अन्तिम घड़ियों में निद्रादेवी की गोद में जा बैठा।

वीर विक्रम की घोषणा के पांच दिन पूरे हो गए।

दो दिन पूर्व ही वीर विक्रम द्वारा सुकुमारी को सौंपी हुई पेटी तथा राजवंशी वस्त्रालंकार आदि लेकर सर्वहर अवंती की ओर विदा हुआ। अपने निवासस्थान पर पहुंचकर उसने ताड़पत्र पर एक संदेश लिखा और उसे बांस की नलिका में रख एक किशोर बालक के साथ राजभवन में भेज दिया।

वीर विक्रम सर्वहर के संदेश की प्रतीक्षा कर रहे थे। पांच दिन तक संदेश प्राप्त न होने पर वे चिन्तित हो गए। कमलावती बार-बार कहती रही कि सर्वहर का संदेश अवश्य आएगा। इतना ही नहीं, वह सातवें दिन राजसभा में भी उपस्थित रहेगा।

पांचवे दिन राजसभा का कार्य सम्पन्न कर महाराजा विकमादित्य अपनी पट्टमहिषी के साथ राजभवन में लौटे तब एक रक्षक ने प्रणाम कर कहा – 'कृपानाथ की जय हो। एक अपरिचित किशोर ने यह बांस की नलिका दी है।'

'कहां है वह किशोर?'

'उसको रोका था, पर वह रोने लगा। वह सर्वथा अपरिचित था। किसी ने उसे एक स्वर्णमुद्रा दी और वह यह नलिका लेकर यहां आ गया।'

विक्रम वह नलिका लेकर मध्य खण्ड में जाकर बैठ गए। उस समय कला, लक्ष्मी और कमला -- तीनों रानियां वहां पहुंच गई थीं।

वीर विक्रम ने उस नलिका से ताड़पत्र निकाला और उसको पढ़ना प्रारम्भ किया। उसमें लिखा था –

'परम पूज्य प्रातःस्मरणीय उदारचित्त राजराजेश्वर महाराजा वीर विक्रमादित्य के पादपंकज में दासानुदास सर्वहर का साष्टांग प्रणाम। आपने राजसभा में जो घोषणा की थी उसका उत्तर देने में विलम्ब हुआ, क्योंकि मैं अवंती में नहीं था। आपकी घोषणा को मैं आशीर्वाद के रूप में स्वीकार करता हूं। चोरी करना मेरा व्यवसाय नहीं है।

मैं इस चोरी के माध्यम से आपको कुछ स्मृत कराना चाहता था, पर आपको कुछ भी याद नहीं आया। एक बात मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि मैंने जो कुछ

चुराया है वह सारा माल मेरे पास सुरक्षित है। वह सारा माल राजभवन में भेज दूंगा, जिससे कि वह मूल स्वामी को प्राप्त हो सके। मैं निर्धारित सातवें दिन राजसभा में आऊंगा और आपने एक सती-साध्वी नारी के साथ जो अन्याय किया है, उसका प्रमाण भी साथ लाऊंगा। फिर क्या करना है और क्या नहीं करना है, यह आप पर निर्भर होगा। मुझे प्रायश्चित्त देने का अधिकार नहीं है। इसकी स्पष्टता राजसभा में हो जाएगी। उसी दिन एक सती नारी के आंसू सूखेंगे और मुख कमल की भांति खिल उठेगा। मुझे आपके दर्शनों का लाभ मिलेगा और साथ-ही-साथ मेरा कर्त्तव्य भी पूरा हो जाएगा – आपका सर्वहर!'

संदेश सुनकर तीनों रानियों का चेहरा खिल उठा। वीर विक्रम भी प्रसन्नता से झूम उठे।

कमला रानी ने कहा – 'स्वामी! सर्वहर कौन होगा, यह कल्पना करना भी दुष्कर है। किन्तु उसके हृदय में आपके प्रति अत्यन्त आदर है, यह इस संदेश से स्पष्ट है।'

'उसकी भाषा भी संस्कारित है। इससे पूर्व के पत्रों में वह चुनौतियां देता था, फिर भी भाषा में नम्रता थी। प्रिये! मेरी स्मृति को ठीक करने के लिए सर्वहर ने चोरियां की हैं। किन्तु सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि मेरे हाथ से कभी सती स्त्री का अपमान या अन्याय नहीं हुआ, फिर भी वह बार-बार उसी बात को दोहराता है।' विक्रम ने मुस्कराते हुए कहा।

'स्वामीनाथ! कभी-कभी छोटी-छोटी बातों की भी विस्मृति हो जाती है। अब वह निर्धारित दिन सामने आने ही वाला है। उस दिन सारी स्पष्टता हो जाएगी।'

सारी नगरी में सर्वहर के प्रकट होने की बात फैल गई। सभी के हृदय उत्कंठित हो रहे थे सर्वहर को देखने के लिए। सभी उस दिन की आतुरता से प्रतीक्षा कर रहे थे।

वीर विक्रम ने विशाल मंडप तैयार करवाया।

सर्वहर-रूपी देवकुमार निश्चिंत होकर अपने निवासस्थान पर आराम कर रहा था।

चपलसेना भी सर्वहर को देखने के लिए आतुर हो रही थी। जयसेन के चले जाने पर उसका जीवन ही नीरस हो गया था।

७०. उल्लास

आज स्वर्णिम सूर्य उदित हुआ।

अवंती नगरी के नागरिक अपने-अपने समवयस्कों की टोली बनाकर राजभवन में नवनिर्मित मंडप की ओर आने लगे।

सभी राज्याधिकारी भी अपने-अपने आवश्यक कार्यों से निवृत्त होकर अपने वाहनों से भवन से विदा हुए।

राजसभा के मंडप में सबके बैठने के लिए अलग-अलग स्थान निर्धारित थे। सब अपने-अपने स्थान पर बैठने लगे।

महाबलाधिकृत, महाप्रतिहार, महामंत्री, अन्य मंत्रियों तथा अन्यान्य राजाओं के साथ राजकुमार आदि भी आए और यथास्थान बैठने लगे।

चपलसेना भी आ गई। उसके साथ अन्य तीन गणिकाएं भी आयीं।

राजपरिवार के सदस्य आने लगे। वीर विक्रमादित्य की सभी रानियां आ गईं। एकमात्र पट्टमहिषी और महाराज आने शेष थे।

जिन-जिन गृहस्थों के घरों में सर्वहर ने चोरी की थी, वे सब वहां उपस्थित हो गए।

प्रत्येक नर-नारी का मन जिज्ञासा से भर गया था। सभी में सर्वहर को देखने की उतावली थी।

अधिकारी वर्ग में एक संशय उभर रहा था कि संभव है चोर सर्वहर ने महाराज के साथ मजाक किया हो। वह आए या न आए।

इस प्रकार एक ओर आतुरता और दूसरी ओर शंका-कुशंका का खुला नृत्य हो रहा था।

सभामंडप में बैठे हुए सभी लोग बार-बार सामने देख लेते थे—अरे! वह तो सर्वहर नहीं है? सर्वहर कैसा होगा? वह लम्बा होगा या ठिगना? काला होगा या गोरा? इस प्रकार के प्रश्न लोगों के हृदय में उभर रहे थे।

नियत समय पर महाराज और कमलारानी राजभवन से पैदल चलकर मंडप की ओर आए। उन्होंने देखा, हजारों नागरिक बाहर खड़े थे। सारा उपवन जन-संकुल हो रहा था।

महादेवी और महाराज को देखकर लोगों ने हर्षनाद किया। वीर विक्रम और कमलारानी—दोनों लोगों का अभिवादन स्वीकार करते हुए मंडप के द्वार तक पहुंचे। वे भीतर प्रवेश करें, उससे पूर्व ही एक पालकी द्वार के पास आकर रुकी और उसमें से एक तेजस्वी राजकुमार बाहर निकला।

देवकुमार महाराज के पीछे-पीछे सभामंडप में प्रविष्ट हुए। द्वाररक्षक भी राजकुमार को देखकर कुछ नहीं बोले। उन्हें ऐसा ही प्रतीत हुआ कि यह तरुण युवक राजराजेश्वर का ही कोई अतिथि है।

महाराज पट्टमहिषी के साथ सिंहासन की ओर बढ़े। देवकुमार अगली पंक्ति में नगरसेठ के पास बैठ गया।

महाराज विक्रमादित्य पंचदंड छत्र और बत्तीस पुतलियों वाले सिंहासन पर कमलारानी के साथ विराजमान हो गए।

सारा सभामंडप गूंज उठा। राजपुरोहित ने स्वस्तिवाचन किया। चारणों ने वीर विक्रम का यशोगान किया। महादंडक ने महासभा का कार्यक्रम प्रस्तुत किया। फिर महामंत्री ने खड़े हो, सिंहासन की ओर आगे आकर कहा—'महानुभावो! आज आप यहां विशेष समाधान पाने के लिए एकत्रित हुए हैं। हमें यह आशा नहीं थी कि इस आयोजन में जनता इतना रस लेगी। आज जनमेदिनी को देखकर यह सहज ही अनुमान हो जाता है कि जनता उस सर्वहर चोर को देखने के लिए उमड़ पड़ी है। मैं सर्वहर से कहना चाहता हूं कि वह जनता के सम्मुख प्रकट हो और जनता के मन को शान्त करे।'

इतना कहकर महामंत्री नीचे अपने आसन पर बैठ गए।

देवकुमार मौन बैठा था। उसका राजवेश अत्यन्त भव्य था। उसकी सुन्दर देह-लता विविध अलंकारों से देदीप्यमान हो रही थी। उसका सौम्य वदन और तेजस्वी आंखें अत्यन्त प्रभावशाली थीं। अभी उसके मुख पर बालक की-सी सहजता और सरलता थी।

महामंत्री की प्रार्थना के पश्चात् लोग चारों ओर देखने लगे। सर्वहर अभी आएगा, अभी प्रकट होगा, किन्तु सर्वहर शांति से बैठा रहा।

सभाजनों का धैर्य टूट रहा था। वे सर्वहर को देखना चाहते थे। उनके मन में बहुविध कल्पनाएं उभर रही थीं। वीर विक्रम सिंहासन से उठे और प्रचंड स्वर में बोले—'मेरे प्रिय प्रजाजना! आप सब शांत रहें। मैं सर्वहर से कहना चाहता हूं कि वह निर्भयतापूर्वक मेरे समक्ष आए। वह किसी भी प्रकार का भय न रखे। क्षत्रिय अपने वचनों का मूल्य प्राणों से अधिक समझता है।'

इतना कहकर विक्रम अपने सिंहासन पर बैठ गए।

उसी क्षण देवकुमार अपने स्थान से उठा और राजसिंहासन के मंच की ओर आगे बढ़ने लगा।

यह देखते ही जनता रोमांचित होते हुए सोचने लगी—क्या यह सर्वहर होगा? नहीं, यह तो कोई राजकुमार प्रतीत होता है। सर्वहर तो तीस-पैंतीस वर्ष का खिलाड़ी है और यह पन्द्रह-सत्रह वर्ष का किशोर है। यह कौन होगा? महामंत्री उस नौजवान को सूक्ष्म दृष्टि से देखने लगे। क्या यही महाबलाधिकृत का पुत्र है? नहीं, उसके कान के पास एक काला तिल था।

देवकुमार के हाथ में कौशेय वस्त्र में लिपटी हुई एक पेटिका थी। वह किसी की ओर दृष्टि-विक्षेप न करता हुआ सीधा सिंहासन वाले मंच की ओर आगे बढ़

गया। सभी पौरजन इस नवयुवक को आश्चर्यचकित दृष्टि से देखने लगे। जैसे आश्चर्य अनन्त था, वैसे ही शांति भी अजब थी। किसी भी प्रकार का कोलाहल नहीं था। सबका हृदय यह जानने के लिए आतुर था कि यह कौन होगा?

राज-परिवार की स्त्रियां एक ओर बैठी थीं। वे सब इस तरुण को स्थिर दृष्टि से देख रही थीं।

सर्वहर-रूपी देवकुमार मंच पर चढ़ा और एक तरफ विनम्र भाव से खड़ा हो गया। फिर महाराजा को तीन बार प्रणाम कर विनम्र स्वरों में बोला—'कृपानाथ! आपका दासानुदास सर्वहर आपके समक्ष उपस्थित है।'

'कहां है? वह स्वयं यहां आए।' महामंत्री ने कहा।

'मंत्रीश्वरजी! आप मुझे इतने कम समय में ही भूल गए। उस दिन मैं ही आपके भवन पर आया था। मैं ही सर्वहर हूं।'

सारी सभा अवाक् रह गई।

गणिका चपलसेना की आंखें सर्वहर पर टिक गईं।

उसने सोचा—अरे! यह तो जयसेन है, जो मेरे साथ आठ दिन तक रहा। ओह! जयसेन....सर्वहर....।

महाराज विक्रमादित्य बोले—'तुझे देखकर मेरा चित्त अत्यन्त प्रसन्न है। तेरे वदन पर उन्नत भाव उभर रहे हैं। तू इतनी भयंकर चोरियां करे, ऐसा मानने में मन साक्षी नहीं देता। इसलिए यह प्रश्न उठता है कि तू स्वयं सर्वहर है या तू सर्वहर का दूत है?'

सर्वहर पुन: मस्तक झुकाकर प्रसन्न स्वर में बोला—'महाराज! मैं स्वयं सर्वहर हूं। चोरी, जुआ, परस्त्रीगमन, मांसाहार, मद्यपान आदि को मैं भयंकर दूषण मानता हूं। फिर भी मैंने आपको विस्मृत की स्मृति कराने के लिए इतनी चोरियां कीं। किन्तु मैंने आपको विश्वास दिलाया था कि चोरी का सारा माल मेरे पास सुरक्षित है और वह उसके मूल स्वामी को मिल जाएगा।'

सारी सभा सर्वहर की बात सुनकर अवाक् रह गई। शांति और अधिक गहरी हो गई।

महाराज विक्रमादित्य ने सर्वहर की ओर देखकर कहा—'सर्वहर, तूने मुझे एक सती नारी के प्रति अन्याय होने की बात बार-बार कही थी। किन्तु मेरे हाथ से ऐसा कोई अन्याय हुआ हो, ऐसा मुझे याद नहीं है।'

'कृपानाथ! ऐसी विराट् राजसभा के समक्ष मैं यह रहस्य प्रकट करूं, यह मुझे उचित नहीं लगता। आप आज्ञा दें तो मैं राजभवन में एकान्त में सारी बात बताऊं।'

'नहीं, सर्वहर! तू सारी बात जनता के समक्ष प्रकट कर। मेरा जीवन खुली पोथी जैसा है। मैं यदि अपने अन्याय की बात एकान्त में सुनूं तो यह जनता का अपमान होगा। तू निःसंकोच भाव से सारी बात बता।'

दो क्षण मौन रहकर सर्वहर बोला – 'कृपावतार! यदि केवल प्रमाण प्रस्तुत करूं तो....?'

'नहीं, तुझे सारी बात बतानी होगी।'

'तो आप सुनें – दक्षिण भारत में एक समृद्ध और सुन्दर राज्य है। उसकी राजधानी का नाम है प्रतिष्ठानपुर। उस राज्य के राजा हैं शालिवाहन। वे अत्यन्त धर्मिष्ठ और प्रजावत्सल हैं। उनके एक पुत्री थी। उसका नाम था सुकुमारी। वह पुरुषों के प्रति द्वेष रखती थी.....'

सुकुमारी का नाम सुनते ही वीर विक्रम चौंके। कमलावती और भट्टमात्र भी आश्चर्यचकित हो गए।

देवकुमार बोला – 'एक बार विजयसिंह नाम का एक संगीतज्ञ वहां आया। उसने एक विचित्र प्रकार के स्वयंवर में भाग लेकर राजकन्या पर विजय प्राप्त की। सुकुमारी का विवाह उस संगीतज्ञ के साथ हो गया। राजकन्या का पुरुष-द्वेष समाप्त हो गया और उसके मन में पति के प्रति अनुराग उभर आया। कुछ समय तक दोनों साथ रहे। सुकुमारी गर्भवती हुई और संगीतज्ञ विजयसिंह किसी संगीत परिषद् में सम्मिलित होने के लिए चला गया। उस वृत्तान्त को आज सत्रह वर्ष हो गए हैं। विजयसिंह लौटकर नहीं आया। महाराजा शालिवाहन ने चारों ओर खोज कराई, पर उसका अता-पता नहीं मिला। देवी सुकुमारी के दुःख का पार नहीं रहा। वे स्वामी के चले जाने के पश्चात् तत्काल राजभवन में रहने चली गईं। भाग्यवश उन्हें पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई।'

'पुत्ररत्न.....?' विक्रम ने आश्चर्य के साथ कहा।

'हां, कृपावतार! देवी सुकुमारी अपने पुत्र का पालन-पोषण करने लगी। किन्तु उनके हृदय में पति की चिन्ता सदा एक चिता की भांति धधकती रहती थी। उनका पुत्र जब सोलह वर्ष का हुआ, तब नगरी के बाहर वाले भवन में एक पेटी को सुरक्षित रखे रहने की बात सुकुमारी को याद आयी....'

'ओह सर्वहर! मेरे हाथों एक सती-साध्वी नारी के प्रति भयानक अन्याय हो गया। वह देवी अब कहां है? उसका पुत्र कहां है? मुझे प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं है। विस्मृति की चट्टान कितनी कठोर होती है?'

'कृपानाथ! आपकी वह सती-साध्वी पत्नी यहीं आई हुई है और मैं हूं आपका मंदभाग्य पुत्र देवकुमार।' कहकर सर्वहर ने मस्तक नमाया।

राजा वीर विक्रम तत्काल सिंहासन से नीचे उतरे और देवकुमार को छाती से लगाते हुए गद्‌गद हो गए। उनके अन्त:करण में पुत्र-प्रेम का सागर हिलोरें लेने लगा।

सभी सभासद् जयनाद और हर्षनाद करने लगे।

वीर विक्रम ने पुत्र देवकुमार का मस्तक बार-बार चूमा। विक्रम के इतनी पत्नियां थीं, पर किसी के अब तक पुत्र प्राप्त नहीं हुआ था।

महामंत्री ने खड़े होकर देवकुमार को आशीर्वाद दिया। महाबलाधिकृत भी हर्षविश में आ गए। सारा वातावरण बदल गया।

थोड़े समय पश्चात् सर्वहररूपी देवकुमार ने कहा – 'मेरे पिताश्री प्रमाण देखना नहीं चाहते, पर मेरा कर्त्तव्य है कि मैं प्रमाण प्रस्तुत करूं; अन्यथा किसी के मन में यह शंका हो सकती हे कि एक चोर वीर विक्रम का पुत्र कैसे हो सकता है ?' यह कहकर देवकुमार ने कौशेय वस्त्र में लिपटी हुई पेटिका वीर विक्रम के हाथ में सौंप दी। फिर देवकुमार के पास में खड़ी पट्टरानी कमलावती के चरणों में नमस्कार किया। देवी कमलावती ने देवकुमार को उठाकर उसका मस्तक बार-बार चूमा।

महाराजा विक्रमादित्य ने पेटिका खोली और उसमें रखी हुई राजमुद्रिका, अपने हस्ताक्षर वाला परिचय-पत्र और कमलावती द्वारा प्रेषित रत्नहार बाहर निकाला।

सारी जनता उल्लासमयी हो गई। सारी शंकाएं निर्मूल हो गईं। वीर विक्रम ने देवकुमार को संबोधित कर कहा – 'देव! तुम्हारी मां कहां है ?'

'पिताश्री! माताजी विक्रमगढ़ में हैं।'

वीर विक्रम ने तत्काल महामंत्री की ओर देखकर कहा – 'महामंत्री! अवंती नगरी में आठ दिनों तक उत्सव मनाने की घोषणा करा दो और दान देने की भी सुचारू व्यवस्था कर दो। महादेवी सुकुमारी के स्वागत की तैयारी करो....मैं राजपरिवार के साथ विक्रमगढ़ जा रहा हूं। मध्याह्न के पश्चात् हम लौट आएंगे। उस समय आप सब अपनी राजलक्ष्मी के स्वागत के लिए तैयार रहें।'

राजसभा की कार्यवाही सम्पन्न हुई।

कुछ ही समय में यह सुखद समाचार सारी नगरी में फैल गया। आनन्द, उल्लास और उमंग की लहरें दौड़ पड़ीं।

एक घटिका पश्चात् वीर विक्रम राजभवन से विक्रमगढ़ की ओर विदा हुए। महाराज विक्रम, सर्वहर, कमलारानी और कलावती एक रथ में बैठे। दूसरे रथ में अन्य रानियां और वृद्ध महिलाएं थीं।

विक्रम के इक्यावन रानियां थीं, पर किसी से पुत्ररत्न की प्राप्ति नहीं हुई थी। एक भी पुत्र न होने के कारण जनता का मन भी उद्विग्न था। आज यह दुःख आनन्द में बदल गया था।

लोग भी अत्यन्त उत्साहित थे। वे भिन्न-भिन्न टोलियां बनाकर विक्रमगढ़ की ओर चल पड़े।

अभी दिन का दूसरा प्रहर चल रहा था।

७१. विक्रमचरित्र

कुछ मिलन स्मृति में अंकित हो जाते हैं। कुछ मिलन हर्ष के आंसुओं के पुष्पों से समृद्ध बनते हैं और कुछ मिलन जीवन के लिए अभिशाप सिद्ध होते हैं।

वीर विक्रम अपने दल-बल सहित विक्रमगढ़ पहुंच गए।

अपने नगर में स्वयं महाराज पधारे हैं, यह समाचार सुनकर विक्रमगढ़ की जनता अत्यन्त हर्षित हो गई।

देवकुमार के कहने पर सभी रथ एक स्थान पर खड़े कर दिए गए और लोग वीर विक्रम का जय-जयकार करने लगे।

भोजन से निवृत्त होकर सुकुमारी शय्या पर करवटें बदल रही थी.... आज की राजसभा में क्या हुआ होगा, यह प्रश्न उसके हृदय को कचोट रहा था। उसी समय जयनाद का कोलाहल उसके कानों से टकराया।

वह उठी। उस समय वीर विक्रम आदि सभी अपने-अपने रथ से नीचे उतर रहे थे।

देवकुमार सबके आगे चल रहा था। एक सेवक ने मकान का द्वार खोला। एक दासी दौड़ती हुई सुकुमारी के पास जाकर बोली—'देवी! भाई के साथ मालव के स्वामी पधारे हैं। उनके साथ अनेक स्त्रियां और पुरुष हैं।'

सुकुमारी का हृदय नाच उठा। उसकी वेशभूषा अत्यन्त सादगीपूर्ण थी। वह कुछ निर्णय करे उससे पूर्व ही देवकुमार दौड़कर मां के पास आकर बोला—'मां! आपका स्वागत करने के लिए स्वयं पिताश्री अपने परिवार के साथ आए हैं।'

विक्रम बरामदे में आ पहुंचे। देवकुमार कक्ष से बाहर निकलकर बोला—'पिताश्री! यहां पधारें। मेरी मां यहीं हैं।'

सोलह वर्ष के दीर्घ वियोग के पश्चात् आज पत्नी से मिलन हो रहा था। वीर विक्रम के हृदय में उमंग के साथ-साथ विस्मृति के बादल के पीछे छिपे हुए मधुर संस्मरण एक-एक कर उभरने लगे।

वीर विक्रम खंड में पैर रखें, उससे पूर्व ही सभी रानियां खंड में प्रवेश कर गईं। सादे वस्त्रों में सौम्यगंधा के फूलों की तरह सुशोभित सुकुमारी को देखकर सभी रानियां अवाक् रह गईं।

उसी समय वीर विक्रम ने अपने पुत्र के साथ कक्ष में प्रवेश किया।

सुकुमारी ने स्वामी की ओर देखा। वीर विक्रम सुकुमारी की ओर देखने लगे। वही रूप! वही तेज! वही लावण्य! वही मधुरिमा! पर स्वयं ने इस प्रियतमा पर कितना भयंकर अन्याय कर डाला।

सुकुमारी आगे आयी और प्रियतम के चरणों में झुक गई। वीर विक्रम ने दोनों हाथों से प्रियतमा को उठाते हुए कहा – 'प्रिये! सबसे पहले तुम मुझे क्षमादान दो। तुम्हारे प्रति मैंने इतना भयंकर अपराध किया है कि क्षमा मांगने का अधिकार भी मैं खो बैठा हूं।'

'स्वामी.....' सुकुमारी विशेष कुछ नहीं बोल पायी। उसके नयन हर्ष से सजल हो गए थे।

विक्रम ने संकोच को तिलांजलि देकर सबके समक्ष सुकुमारी को हृदय से लगा लिया और कहा – 'तुम्हारी सारी बहनें तुम्हारा स्वागत करने मेरे साथ आयी हैं। हमें शीघ्र ही अवंती नगरी में पहुंचना है।'

फिर कमलारानी की ओर मुड़कर विक्रम बोला – 'कमला! मैं देवकुमार को लेकर बाहर जा रहा हूं। जनता जयनाद कर रही है। उनके समक्ष मैं युवराज का परिचय दे दूं। तब तक तुम प्रस्थान की तैयारी करो।'

वीर विक्रम देवकुमार के साथ कक्ष से बाहर आ गए।

वीर विक्रम की पट्टरानी कमलावती थी। उसने सभी रानियों का परिचय कराया। सभी रानियों ने सुकुमारी का चरणस्पर्श किया।

विक्रमगढ़ से सभी ने प्रस्थान किया। उस समय मध्याह्न बीत चुका था। जब वे सब अवंती पहुंचे तब संध्या ढल चुकी थी। हजारों पौरजन प्रतीक्षा में बैठे थे।

वीर विक्रम ने देवकुमार को एक सुसज्जित और अलंकृत हाथी पर बिठाया और स्वयं एक खुले रथ में सुकुमारी के साथ बैठे।

रात्रि के दूसरे प्रहर के पश्चात् शोभायात्रा राजभवन में पहुंची। देवकुमार का शयनगृह वीर विक्रम के कक्ष के निकट ही रखा गया था। देवी सुकुमारी की शयन-व्यवस्था मुख्य भवन में की गई थी। उस भवन में वीर विक्रम अधिकांश समय बिताते थे और वहीं अन्य तीन रानियां भी रहती थीं।

रात्रि के तीसरे प्रहर में वीर विक्रम रानी सुकुमारी के शयनकक्ष में गए। सोलह वर्षों के पश्चात् यह प्रथम मिलन-यामिनी थी। वीर विक्रम और सुकुमारी के हृदय में अनेक बातें उभर रही थीं।

दोनों एक आसन पर बैठे और सोलह वर्षों में घटित घटनाओं को सुनाने लगे। जैसे नवपरिणित युगल की बातों का अन्त नहीं आता, उसी प्रकार वे दोनों बातें करते हुए अनन्त में खो गए और तब वाद्यमंडली के प्रातःसंगीत के स्वर उनके कानों से टकराए।

सूर्योदय हुआ।

देवकुमार ने नगररक्षक को भेजकर चोरी का सारा माल मंगाकर मूल स्वामियों को सौंप दिया। विक्रमगढ़ से अन्यान्य सामान के साथ महामंत्री भट्टमात्र का स्वर्णथाल और रत्नाहार भी आ गए। देवकुमार ने पिताजी की उपस्थिति में महामंत्री के चरणस्पर्श कर दोनों वस्तुएं उन्हें सौंपते हुए कहा – 'मंत्रीश्वर, आपको व्यथित करने के लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूं।'

महामंत्री ने उल्लासपूर्वक युवराज को आशीर्वाद दिया।

दिन आनन्द में बीतने लगे।

माघ शुक्ला पंचमी का दिन।

देवकुमार को युवराज पद देने के लिए राजसभा जुड़ी। इस शुभ प्रसंग पर राजपरिवार के सभी सदस्य, मांडलिक राजा और अन्य राजा भी अपने-अपने दल-बल सहित अवंती में आ गए।

राजसभा का मंडप खचाखच भर गया।

राजपुरोहित ने मंत्रोच्चारपूर्वक वीर विक्रम के एकाकी पुत्र देवकुमार को युवराज-पद पर अभिषिक्त किया।

महामंत्री ने सुकुमारी के मिलन से लेकर विक्रमगढ़ में आने तथा बुद्धिबल से सभी को चौंका देने वाले देवकुमार के वृत्तान्त से सभी सदस्यों को अवगत कराया।

महामंत्री की बात सुनकर सभा में उपस्थित एक चारण कवि का हृदय झनझना उठा। वह बोला – 'मालवपति की जय हो! युवराज की जय हो! युवराज के साहसिक कार्यों की विगत सुनकर मेरा हृदय नाच रहा है। आज तक स्त्री-चरित्र अजोड़ और अद्भुत माना जाता रहा है। किन्तु चपलसेना जैसी बुद्धिमती गणिका को मात कर देवकुमार ने स्त्री-चरित्र को मिट्टी में मिला डाला है। मेरा मन कहता है कि आज ये युवराजश्री विक्रमचरित्र के नाम से जाने जाएं तो अच्छा है। स्त्री-चरित्र को पाताल में पहुंचा देने वाले विक्रमचरित्र की जय हो!'

महाराजा विक्रम ने इस घोषणा पर सहमति दी।

समग्र सभा ने विक्रमचरित्र का जयनाद किया।

और जनता के मुंह पर देवकुमार का नाम विक्रमचरित्र क्रीड़ा करने लगा।

दिन बीते। महीने बीते और देखते-देखते चार वर्ष बीत गए।

देवकुमार विक्रमचरित्र के नाम से प्रसिद्ध हो गए और जब वे बीस वर्ष के हुए तब राजकार्य में अत्यन्त निपुण हो गए।

एक दिन अपने नियम के अनुसार वीर विक्रम रात्रि में नगरचर्चा के लिए निकल पड़े।

अवंती नगरी में सुदंत नाम का करोड़पति सेठ रहता था। वीर विक्रम नगरचर्चा सुनते-सुनते सेठ के भवन के पास आए। उस समय सुदंत सेठ के उपवन में उसकी एकाकी पुत्री मनमोहिनी अपनी सखियों के साथ विनोदभरी चर्चा कर रही थी। सुन्दर षोडशी कन्या बातों में मशगूल हो रही थी।

बातों ही बातों में एक सखी बोली – 'मनमोहिनी! अपने महाराज ने नगरी में जो घोषणा कराई है, क्या तुमने उसे सुना है?'

'कैसी घोषणा?'

'स्त्रीचरित्र से भी विक्रमचरित्र श्रेष्ठ है, इस विषय की घोषणा।'

'हमारे महाराजा अधिक संवेदनशील हैं। देवकुमार ने केवल एक चपलसेना को ही तो पराजित किया है, उसमें विक्रमचरित्र की क्या महत्ता है? संसार में स्त्रीचरित्र का पार भगवान भी नहीं पा सकते। महाराजा तो संवेदनशील और उदार हैं, इसलिए उन्होंने मन की बात इस प्रकार प्रचारित की है। ऐसे तो स्त्रीचरित्र बेजोड़ और अजेय था, है और रहेगा।'

'अरे, यह तुम क्या कह रही हो, मनमोहिनी?'

'मैं सच कहती हूं। स्त्री केवल रूपवती ही नहीं होती, वह अपने बुद्धिबल और कटाक्ष से बड़ों-बड़ों के छक्के छुड़ा देती है। मैं तो विक्रम की घोषणा को केवल मूर्खता ही मानती हूं।'

एक ओर छिपकर खड़े विक्रम ने यह सारी बात सुनी। उनका कलेजा कांप उठा – अरे, एक षोडशी वणिक्‌कन्या मेरी बात को मूर्खतापूर्ण बताती है?

वीर विक्रम मन पर लगे इस आकस्मिक प्रहार को सहलाते हुए आगे बढ़ गए।

मनमोहिनी अपनी सखियों के साथ स्वाभाविक रूप से बातें कर रही थीं। परन्तु विक्रमादित्य को यह बात चुभ गई। उनके मन में यह जिज्ञासा जाग उठी कि उनका मानना मूर्खतापूर्ण क्यों है?

वे वहां से आगे चले और यह भवन सेठ सुदंत का है, यह निश्चय कर सीधे राजभवन में आ गए।

शय्या पर सोने के पश्चात् भी वे विचारों से मुक्त नहीं हो सके। अन्त में उन्होंने मन-ही-मन यह निर्णय कर लिया कि सुदंत सेठ और उसकी कन्या को राजभवन में बुलाना और.....

दूसरे दिन की संध्या पूरी हुई। वीर विक्रम अपनी कुछेक रानियों को साथ लेकर राजभवन के उद्यान में गए। वहां महाप्रतिहार अजय को बुलाकर वीर विक्रम ने कहा– 'सुदंत सेठ के भवन पर जाओ और सेठ तथा उनकी कन्या को यहां बुला लाओ।'

महाप्रतिहार तत्काल रथ लेकर सुदंत सेठ के भवन की ओर गया। उस समय सुदंत, उनकी पत्नी और पुत्री–तीनों प्रतिक्रमण की उपासना करने बैठ गए थे।

भवन की परिचारिका ने महाप्रतिहार को आदर सहित बिठाते हुए कहा– 'सेठजी तो अभी प्रतिक्रमण करने बैठे हैं। उन्हें कुछ समय और लगेगा।'

अजय उनकी प्रतीक्षा में वहीं बैठा रहा।

कुछ समय पश्चात् वस्त्र बदलकर सेठ सुदंत बैठक-कक्ष में आया।

महाप्रतिहार ने कुशलक्षेम पूछकर कहा– 'राजराजेश्वर की आज्ञा है कि आप और आपकी सुपुत्री मेरे साथ रथ में राजभवन चलें। महाराजा आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।'

'मेरी पुत्री के साथ?'

'हां, सेठजी!'

'परन्तु ऐसा क्या काम है कि....'

बीच में ही प्रतिहार बोल पड़ा– 'मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं है। मुझे तो आपको आदरसहित साथ लाने को कहा है।'

सुदंत सेठ विचार में पड़ गया। वह तत्काल उठकर अपनी पत्नी के कक्ष में गया और राजाज्ञा की बात बताई। पुत्री भी वहीं थी। उसने कहा–'पिताजी! इसमें चिन्ता की क्या बात है? आप जाएं और महाप्रतिहार को कहें कि मेरी पुत्री रात्रि में भवन के बाहर नहीं निकलती।'

सेठ वस्त्र बदलकर महाप्रतिहार के पास आया और बोला– 'चलो, मैं आ रहा हूं। मेरी पुत्री रात्रि में भवन के बाहर नहीं निकलती।'

महाप्रतिहार सेठ को रथ में बिठाकर राजभवन की ओर चल पड़ा।

वीर विक्रम उपवन से बैठक-खंड में आकर सेठजी की प्रतीक्षा कर रहे थे।

महाप्रतिहार अजय ने कक्ष में प्रवेश कर कहा– 'महाराज की जय हो! सेठजी आएं हैं। उनकी पुत्री रात्रि में कहीं आती-जाती नहीं।'

सेठजी को लेकर अजय कक्ष में गया। सेठजी ने महाराजा को देखते ही कहा– 'राजेश्वर की जय हो!'

दोनों एक आसन पर बैठे। वीर विक्रम ने कहा– 'सेठजी, मुझे आपकी कन्या से ही मुख्य कार्य था।'

'यदि आप मुझे कहेंगे तो मैं अपनी पुत्री को.... ।'

'सेठजी! कल रात मैं नगरचर्चा के लिए गया था। उस समय आपकी पुत्री ने मेरे एक कार्य को मूर्खतापूर्ण कहा था। मैं यह जानना चाहता हूं कि मेरा कौन-सा कार्य मूर्खतापूर्ण है?'

'कृपानाथ! मेरी कन्या नादान है। एकाकी पुत्री होने के कारण वह बहुत लाड-प्यार में पली-पुसी है। उसने कुछ कहा, इसके लिए मैं क्षमायाचना करता हूं।'

'सेठजी! आपकी कन्या को मैं कुछ कहना नहीं चाहता। मैं अपना दोष जानना चाहता हूं। कल प्रातःकाल सूर्योदय के पश्चात् अपनी पुत्री को तैयार रखें। मैं रथ भेजूंगा।'

'अच्छा, कृपानाथ!' सेठ अत्यन्त शोकाकुल हो गए थे। महाराजा ने सेठजी को आदर-सहित विदा किया। दूसरे दिन सूर्योदय के पश्चात् सेठ सुदंत और उनकी कन्या मनमोहिनी रथ में बैठकर राजभवन की ओर विदा हुई।

वीर विक्रम प्रातःकार्य से निवृत्त होकर, पूजा-उपासना सम्पन्न कर मंत्रणागृह में आ गए। उसी समय सेठ और उनकी कन्या वहां आ पहुंची।

मनमोहिनी ने पूछा– 'महाराज! क्या आज्ञा है?'

पुत्री! परसों रात तू अपनी सखियों के साथ बातचीत कर रही थी। उस समय तूने मेरी घोषणा को मूर्खतापूर्ण कहा था। मैं इसे समझना चाहता हूं।'

'कृपानाथ! माता-पिता का अपनी संतान के प्रति विशेष प्रेम होना अस्वाभाविक नहीं है। इसी प्रेम के वशीभूत होकर आपने यह घोषणा की, ऐसा प्रतीत होता है। किन्तु स्त्री की तीव्र बुद्धि की ओर आपने ध्यान नहीं दिया। आपने पुरुष जाति की श्रेष्ठता स्थापित कर स्त्री जाति की अवमानना की है। नारी निर्बल नहीं होती। कृपावतार! स्त्री की शक्ति बेजोड़ होती है। वह यदि चाहे तो इन्द्र, चन्द्र, सूर्य आदि महान् देवताओं को भी बांध सकती है। स्त्री का नाम भले ही अबला हो, पर वह महान् कार्य संपादित करने में समर्थ है। आप स्त्री की शक्ति की ओर दृष्टि करें। स्त्री ने बड़े-बड़े सम्राटों को धूल चटाई है। उसने बड़े-बड़े ऋषियों

को विचलित किया है। आपके पुत्र ने ऐसा कौन-सा बड़ा कार्य किया है, जिसके चरित्र के समक्ष स्त्री-चरित्र न्यून लगता है ?'

वीर विक्रम मनमोहिनी के तेजस्वी मुख को स्थिरदृष्टि से देखते रहे। सुदंत सेठ का हृदय धड़क रहा था। इस प्रकार स्पष्ट उत्तर देने वाली कन्या पर विक्रम क्या नहीं कर देंगे ? अरे ! यह अचिन्तित विपत्ति कहां से आ पड़ी ? विक्रम बोले—'पुत्री ! तुझे जो कहना हो वह नि:संकोच होकर कह। किन्तु मेरी मूर्खता का अभी तक मुझे ज्ञान नहीं हुआ। तू स्पष्टता से कह।'

'राजराजेश्वर ! आपको अभी तक किसी स्त्री के चरित्र का पूरा अनुभव नहीं है।' मनमोहिनी ने कहा।

'पुत्री ! तेरा कथन सही है। मुझे स्त्री-चरित्र का अनुभव तो हुआ है, पर वे स्त्रियां कुलटाएं थीं। विक्रमचरित्र किसी स्त्री के साथ चंचल नहीं हुआ। मैं ऐसी स्त्री को देखना चाहता हूं जो विक्रमचरित्र की बुद्धि से अधिक तेजस्वी हो और अपने बुद्धिबल से विक्रमचरित्र को पराजित करे। यदि ऐसा होता है तो मेरी घोषणा मूर्खतापूर्ण कही जा सकती है, अन्यथा नहीं।'

'महाराज ! अभी तो मेरा उपासना का समय हो गया है, कल फिर मिलूंगी।' मनमोहिनी ने गंभीरता से कहा।

महाराज ने रथ मंगाया और उसे घर भेज दिया।

७२. संघर्ष का प्रारंभ

दूसरे दिन मनमोहिनी अपने पिता के साथ महाराजा के पास पहुंची। उसने कहा—'कृपावतार ! आपने कल जो शर्त रखी थी, वह तो भविष्य की बात हो सकती है। युवराजश्री जब कभी स्त्री के साथी बनें और वह स्त्री भी बुद्धिमती मिले, तब जय-पराजय का निर्णय हो सकता है।'

'यह ठीक है। मेरे मन में एक विचार आ रहा है।' विक्रम ने कहा।

'कृपानाथ ! कहें, क्या विचार है ?'

'तू ने युवराजश्री को देखा है ?'

'हां, जब महादेवी की शोभायात्रा निकली थी, तब।'

'विक्रमचरित्र तुझे कैसा लगा ?'

'दिखने में सुंदर हैं, सशक्त हैं और सौम्य भी हैं, किन्तु उनकी बुद्धि का परिचय मुझे नहीं है।' मोहिनी ने कहा।

'यदि इस परिचय का एक अवसर दूं तो ?'

'मैं उसको हर्षपूर्वक स्वीकार करूंगी और युवराजश्री की बुद्धि को कसौटी पर कसकर उसे पराजित करूंगी।' मनमोहिनी ने गर्व के साथ कहा।

राजा वीर विक्रम हंस पड़े। फिर सुदंत सेठ की ओर मुड़कर बोले—'सेठजी, मैं आपकी सुकन्या को अपनी पुत्रवधू बनाना चाहता हूं।'

'कृपानाथ....'

'मैं सच कहता हूं। अभी युवराज यहां नहीं हैं, किन्तु क्षत्रियों के रीति-रिवाज के अनुसार कल मैं गोधूलि-वेला में आपकी पुत्री के साथ लग्न करने के लिए युवराजश्री का खड्ग भेजूंगा।'

'कल ही!'

'हां, सेठजी! कल ही। आपकी कन्या रूप, गुण और बुद्धि में अपूर्व हैं। मुझे विश्वास है कि आपकी पुत्री मनमोहिनी अपनी बात प्रमाणित करेगी तो वह मालवदेश की युवराज्ञी बन सकेगी।'

सुदंत विचारमग्न हो गया। मनमोहिनी ने विक्रम के मन को समझ लिया था। वह बोली—'महाराज! मैं तैयार हूं। नर-नारी के सनातन संघर्ष में नारी की ही विजय होती है, यह मैं प्रमाणित कर दूंगी।'

'बेटी! आवेश में कोई कदम मत बढ़ाना। युवराज्ञी पद सहज नहीं है।'

'युवराज्ञी पद के लिए मैं संघर्ष करना नहीं चाहती।'

'तो....?'

'आपका विचार अयथार्थ है, यह प्रमाणित करने के लिए।'

'अच्छा', विक्रम ने कहा। फिर सुदंत सेठ की ओर देखकर बोले—'सेठजी! आपने क्या सोचा है?'

'आपकी भावना का मैं सत्कार करता हूं।' सेठ ने कहा।

'तो कल संध्या की वेला में लग्न की विधि पूरी हो जानी चाहिए। आपके और मेरे सिवाय किसी को इसका पता न लगे। मेरा एक विश्वासपात्र व्यक्ति युवराज का खड्ग लेकर आएगा। आपके भवन में गुप्त रूप से लग्नविधि सम्पन्न होगी। राजपुरोहित स्वयं लग्नविधि को सम्पन्न करने आएंगे। विवाह होने पर आपकी कन्या खड्ग के साथ रथ में बैठकर यहां आएगी। मैं अपनी पुत्रवधू को आशीर्वाद दूंगा और उसको एक ऐसा कार्य सौंपूंगा कि जिससे जय-पराजय का निर्णय हो सके।'

सुदंत ने पुत्री की ओर देखा। कन्या बोली—'यह मुझे स्वीकार है। मुझे कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु मैं युवराजश्री की परिणीता हूं, इसका प्रमाण....।'

'पुत्री! प्रमाण मैं स्वयं ही हूं।'

'नहीं, महाराज! आर्य नारी जीवन में एक ही बार विवाह-सूत्र में बंधती है। आप हजार वर्ष तक जीवित रहें, पर क्रूर काल पर विश्वास नहीं किया जा सकता।'

'युवराज की मुद्रा मैं तुझे दूंगा।'

'अच्छा' कहकर मनमोहिनी खड़ी हुई और महाराजा को भावपूर्वक नमन किया।

वीर विक्रम ने मनमोहिनी के मस्तक पर हाथ रखा।

पिता-पुत्री विदा हुए।

घर पहुंचकर सुदंत ने सारा वृत्तान्त सेठानी से कहा। सेठानी असमंजस में पड़ गई।

मां को चिन्तित देखकर मनमोहिनी बोली – 'मां! आप चिन्ता न करें। वीर विक्रम मेरी परीक्षा करना चाहते हैं, किन्तु वे नहीं जानते कि कंचन भयंकर अग्नि में जलकर भी अपनी तेजस्विता को नहीं छोड़ता। कदाचित् अग्नि में जलकर कंचन राख बन जाता है पर उस राख में भी उसकी तेजस्विता विराजमान रहती है। आप किसी भी प्रकार की शंका न करें।'

दूसरे दिन संध्याकाल में राजपुरोहित और महाप्रतिहार अजय युवराज के खड्ग के साथ सुदंत के घर आ पहुंचे। उस समय दास-दासियों को अन्यत्र भेज देने के कारण भवन सूना था। सेठ, सेठानी और मनमोहिनी के अतिरिक्त वहां कोई नहीं था।

सेठ-सेठानी ने खड्ग का स्वागत किया। उसे असली मोतियों से वर्धापित किया और गोधूलि-वेला में लग्नविधि सम्पन्न हुई।

लग्नविधि सम्पन्न होते ही महाप्रतिहार अजय ने युवराज की मुद्रिका देवी मनमोहिनी के हाथ में देते हुए कहा – 'महाराज ने यह भेंट-स्वरूप भेजा है। अब आप तैयार हो जाएं, राजभवन चलने के लिए।'

मनमोहिनी ने वह मुद्रिका मां को सौंपते हुए कहा – 'मां! इस मुद्रिका को आप अत्यन्त सुरक्षित रखना। आवश्यकता पड़ेगी तो मैं मंगा लूंगी।'

माता-पिता ने रोते हृदय से पुत्री को विदाई दी।

मनमोहिनी का रथ राजभवन में आ पहुंचा। राजपुरोहित और मनमोहिनी अपने खड्ग के साथ रथ से नीचे उतरे। महाप्रतिहार खड्ग सहित युवराज्ञी को लेकर महाराजा विक्रमादित्य के मुख्य खंड में गया। वीर विक्रम वहीं बैठे थे। अपनी पुत्रवधू को आती देखकर वे खड़े हो गए।

मनमोहिनी ने महाराजा के चरणों में मस्तक झुकाया। वीर विक्रम बोले – 'पुत्री! तेरी विजय हो, यह मेरा आशीर्वाद है। ले, यह रत्नमाला धारण कर ले।'

वीर विक्रम ने एक अत्यन्त मूल्यवान् रत्नमाला पुत्रवधू को दी। विक्रम बोले – 'पुत्री, अब मेरे साथ-साथ चल। मैं तुझे जो कार्य सौंपना चाहता हूं, उसको अच्छी तरह से समझ ले।'

मनमोहिनी विक्रम के पीछे-पीछे चल पड़ी।

विक्रम और मनमोहिनी एक रथ में बैठ गए। रथ गतिमान हुआ और शिप्रा नदी के किनारे एक उपवन में प्रविष्ट हुआ।

रात्रि का समय था, इसलिए मनमोहिनी को कुछ भी स्पष्टता से नहीं दिख पा रहा था।

वह एक छोटा उपवन था। उस उपवन में एक भूगृह था। उसमें दो कक्ष थे – एक शयनकक्ष और दूसरा शौच-स्थान आदि के लिए उपयुक्त कक्ष। शयनकक्ष में सारी सामग्री व्यवस्थित ढंग से पड़ी थी। पलंग, बिस्तर, जल-कुंभ आदि-आदि आवश्यक चीजें वहां रखी हुई थीं। उस भूगृह में एक ही जाली थी। उसमें से मंद प्रकाश आता था। वह जाली इतनी ऊंची थी कि सामान्य मनुष्य का हाथ उस तक नहीं पहुंच पाता था।

वहां आकर रथ रुका। वीर विक्रम बोले – 'पुत्री, अब हम उपयुक्त स्थान पर आ गए हैं। तू नीचे उतर।'

मनमोहिनी ननुनच किए बिना नीचे उतरी। उसी समय एक दासी दीपक लेकर आ पहुंची।

वीर विक्रम ने दासी के सामने देखकर कहा – 'सुमित्रा! सब ठीक है न?'

'हां, कृपानाथ!'

'द्वार खोल!'

सुमित्रा ने तत्काल भूगृह का द्वार खोला। वीर विक्रम पुत्रवधू के साथ गर्भगृह के द्वार के पास आए। उन्होंने दासी के हाथ से दीपक लेकर मनमोहिनी से कहा – 'मेरे पीछे-पीछे चली आ।'

सुमित्रा द्वार के पास खड़ी रही। वीर विक्रम और मनमोहिनी दस-बारह सोपान नीचे उतरे और एक खंड में पहुंचे। उसमें एक छोटा-सा दीपक जल रहा था। विक्रम ने अपने हाथ वाला दीपक द्वार के पास रखकर कहा – 'बेटी! इस स्थान की कोई कल्पना है?'

'हां...।'

'क्या?'

'यह कोई कारागार प्रतीत होता है।'

'तेरा अनुमान सही है, किन्तु तेरे लिए यह कारागार नहीं, कर्त्तव्यागार है। तेरी सुविधा के लिए यहां सारी सामग्री पड़ी है। मेरी एक विश्वस्त दासी सुमित्रा दिन-रात यहीं बाहर के निवासगृह में रहेगी। एक महीने के पश्चात् इसके स्थान पर दूसरी दासी आ जाएगी। यह क्रम चलता रहेगा। दासी तेरे भोजन की पूरी व्यवस्था करेगी। बाहर से ही भोजन-पानी आदि तेरे पास पहुंचाया जाएगा। मैंने पूरी व्यवस्था कर दी है।'

'मैं धन्य हुई, किन्तु इस कारावास में मुझे करना क्या है?'

'पुत्री! वही मैं अब बता रहा हूं। तूने अपने पति को देखा नहीं और युवराज को भी ज्ञात नहीं है कि तेरे साथ उसका विवाह हुआ है। अब तुझे एक कार्य करना है, जिससे यह सिद्ध हो सके कि विक्रमचरित्र से भी स्त्रीचरित्र महान् है।'

'आज्ञा करें।'

'तू इस कारागार से तभी मुक्त हो सकेगी जब तेरी गोद में मेरा पौत्र किलकारियां भरेगा।' विक्रम ने कहा।

'महाराज....'

'पुत्री! इस संघर्ष से भय लगता हो तो मैं तुझे अभी भी राजभवन में ले जाने के लिए तैयार हूं।'

'नहीं, पिताजी! .....आपकी चुनौती को एक आर्य नारी ने स्वीकारा है। नारी संघर्ष में निर्भय होती है।' मनमोहिनी ने तेजस्वी स्वरों में कहा और महाराजा को नमन किया।

वीर विक्रम मनमोहिनी के मस्तक पर हाथ रखकर वहां से विदा हो गए। उन्होंने स्वयं खंड का द्वार बाहर से बंद कर ताला लगा दिया और चाबियां साथ लेकर, सुमित्रा को सूचित कर, राजभवन की ओर चल पड़े।

जिसके हृदय में अनेक आशाएं अठखेलियां कर रही थीं, चित्त में यौवन के परिप्रेक्ष्य में अनेक कल्पनाएं नाच रही थीं और भावी जीवन की अनन्त कविताएं जिसने अपने मन में रच रखी थीं, वह मनमोहिनी एक ऐसे कारागार में पड़ी थी, जहां से छुटकारा मिलना अशक्य था।

करोड़पति मां-बाप की वह लाडली वीर विक्रम से टक्कर लेने का निर्णय कर उस भूगृह के एक कोने में पड़ी थी।

एक ओर राजहठ!

दूसरी ओर स्त्रीहठ!

दिन बीतते-बीतते महीने बीत गए।

नियमित उत्तम भोजन मिलता। मुखवास के लिए उत्तम सामग्री आती। जो मांगती वह उसे मिल जाता। प्रतिदिन वस्त्र धुलकर आ जाते। यदा-कदा नये वस्त्र भी मिल जाते।

प्रति मास विक्रम की विश्वस्त दासियां अपने क्रम से वहां रहतीं। उनमें सुमित्रा और नन्दा ने मनमोहिनी की हिम्मत देखकर दांतों तले अंगुली दबा ली थी। सुमित्रा मनमोहिनी के प्रति अत्यधिक आकर्षित बनी थी। उसके मन में मोहिनी के प्रति सहज समभाव था। वह कभी-कभी मनमोहिनी के प्रति संवेदना व्यक्त करने के लिए भी उससे बातचीत कर लेती थी।

एक दिन मनमोहिनी ने अपने अलंकारों में से स्वर्ण की एक माला निकालकर सुमित्रा को देते हुए कहा—'मां! मैं यह तुम्हें भेंट दे रही हूं। इसे स्वीकार कर लेना। मेरा मन मत तोड़ना।'

सुमित्रा ने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया।

धीरे-धीरे दोनों में मां-बेटी का-सा संबंध हो गया। सुमित्रा के मन में मनमोहिनी के प्रति अपार उदार भाव प्रकट होने लगे। वह उसके दु:ख को अपना दु:ख मानने लगी।

मनमोहिनी ने एक योजना तैयार की और उसे अंजन, कुंकुम और शलाका के योग से ताड़पत्र पर लिखा। दो दिन बाद जब सुमित्रा भोजन देने आयी तब मनमोहिनी ने कहा—'सुमित्रा! दो दिन बाद मेरे पिताश्री का जन्मदिन है। प्रतिवर्ष मैं इसे मनाती रही हूं। मैं उनकी इकलौती बेटी हूं। कल वे मुझे भवन में न देखकर अत्यन्त दु:खी होंगे। मैं प्रतिवर्ष उनको पान का बीड़ा देती रही हूं। आज मैं विवश हूं....'

'देवी! आप चिन्ता न करें, मैं पान दे आऊंगी। आप पूरा नाम-ठिकाना बताएं।'

'मां! मैं धन्य हुई, किन्तु नहीं....यह काम मैं नहीं सौंप सकती।' मनमोहिनी ने भावभरे स्वरों में कहा।

'क्यों देवी?'

'तुम एक शर्त स्वीकार करो तो मैं कह सकती हूं।'

'बोलो।'

'मेरे माता-पिता यदि मेरे विषय में कुछ पूछें तो यही कहना है कि तुम्हारी पुत्री राजभवन में आनन्द से है। उसे तनिक भी कष्ट नहीं है। यदि तुम इस कारागार के जीवन का आभास भी करा दोगी तो संभव है वे प्राणत्याग कर दें।'

'देवी! मैं इसकी भनक भी नहीं होने दूंगी।'

'तो मुझे एक बड़ा पान ला देना। मैं उसे बीड़ा बनाकर तुम्हें सौंपूंगी।'

दूसरे दिन सुमित्रा मनमोहिनी से पान लेकर तत्काल चल पड़ी और सेठ सुदंत के भवन पर पहुंच गई। सेठ उस समय दूकान जाने की तैयारी में थे। उसने सेठजी को प्रणाम किया और कहा – 'प्रतिवर्ष के नियमानुसार आपकी पुत्री ने पान का यह बीड़ा भेजा है।'

चतुर वणिक् समझ गया। उसने पान का बीड़ा ले लिया और मनमोहिनी का कुशलक्षेम पूछकर सुमित्रा को विदा किया।

सेठ अपने खंड में गया, सेठानी भी वहां आ गई। सुदंत सेठ ने पान का बीड़ा खोला। सेठानी बोली – 'कैसा पान? कैसा जन्मदिन? मुझे तो कुछ भी समझ में नहीं आ रहा है।'

सेठ बोला – 'यदि तुझे सब कुछ समझ में आने लगे तो तुझे दूकान पर न बिठा दूं? आज पांच महीनों बाद पुत्री ने पहली बार कुछ संदेश भेजा है। यह गुप्त होना चाहिए।' सेठ ने पान का बीड़ा खोला। उसमें से एक ताड़पत्र निकाला। सेठ ने उसको पढ़ना प्रारंभ किया....

'पिताश्री! जिस रात मैं आपसे विदा लेकर राजभवन में गई, उसी रात से महाराजा ने मुझे शिप्रा नदी के किनारे बने हुए एक भूगृह में रखा है। यहां मुझे कोई कष्ट नहीं है, पर जो कार्य मुझे करना है वह बाहर निकले बिना नहीं कर सकती। इसलिए मैं चाहती हूं कि आप किसी भी शिल्पी से मिलकर इस भूगृह से अपने भवन तक एक सुरंग बनवा दें तो मैं आ-जा सकती हूं। फिर मुझे जो करना है, वह करूंगी। आप थोड़े में अधिक समझ लें।'

पत्र पढ़कर सेठ गंभीर विचार में पड़ गए। उन्होंने ताड़पत्र के टुकड़े-टुकड़े कर डाले।

सेठ सुरंग के निर्माण के विषय में सोचने लगे। अचानक उन्हें अपने बाल-मित्र महान् शिल्पी देवचन्द्र की स्मृति हो आयी और वे तत्काल रथ में बैठकर उसके घर पहुंच गये। एकान्त में दोनों ने विचार-विमर्श किया। देवचन्द्र बोला – 'सेठजी! इस कारागार को मेरे पिताश्री ने बनाया है। क्या उसका बेटा उससे निकलने का मार्ग नहीं बना सकता?'

'देखो, यह बात किसी से मत कहना। तेरी भाभी से भी नहीं।' सेठ ने कहा।

कुछ दिन बीते। देवचन्द्र ने दोनों स्थानों का सूक्ष्म निरीक्षण किया। सारी जानकारी प्राप्त कर उसने सुरंग का कार्य प्रारम्भ कर दिया।

दस दिन बीते। बीस-तीस दिन बीत गए।

उनचालीसवां दिन उगा और जहां मनमोहिनी का पलंग बिछा पड़ा था, वहां जमीन के नीचे ठक्-ठक् की आवाज होने लगी।

रात का दूसरा प्रहर चल रहा था। मनमोहिनी सब समझ गई थी। उसने पलंग को एक ओर खिसकाया और दो घटिका के पश्चात् वहां एक छेद दीख पड़ा।

थोड़े समय पश्चात् स्वयं देवचन्द्र उस छेद में से पहले बाहर निकला और मनमोहिनी की ओर देखकर बोला – 'बेटी! तेरे लिए यह विवर करना पड़ा है।'

मनमोहिनी देवचन्द्र के चरणों में नत होकर बोली – 'मुझे आप पर विश्वास था।'

देवचन्द्र ने उस विवर पर ढक्कन आदि का सारा कार्य सम्पन्न कर दिया। उस समय रात्रि का तीसरा प्रहर पूरा हो रहा था। देवचन्द्र बोला –'मनु! अब दो दिन शेष रहे हैं। दो दिनों में सोपान तैयार हो जाएंगे। और मार्ग भी अच्छा हो जाएगा। सारा कार्य पूरा हो जाएगां अब केवल दो दिनों में तेरी मुक्ति.....'

७३. एक कुतूहल

दो दिन पश्चात्.... ।

आधी रात बीत रही थी। उस समय उस सुरंग के ढक्कन के खुलने की आवाज आयी। देवचन्द्र ने कहा – 'बेटी! पलंग को थोड़ा खिसका ला।'

मनमोहिनी जागती ही शय्या पर पड़ी थी। उसने आवाज सुनते ही पलंग खींच लिया। देवचन्द्र बोला – 'बेटी! अब मेरे साथ चल।'

'ऐसे नहीं! कल रात आप मेरे घर की प्रिय दासी सुभद्रा को भेज दें। वह मेरे स्थान पर यहां रहेगी और फिर मैं...।'

'ओह! समझ गया। किन्तु उस खिड़की से यदि दासी ने सुभद्रा को पहचान लिया तो.....?'

'नहीं पहचान सकेगी। मैं कल सारी व्यवस्था कर लूंगी।' मनमोहिनी ने कहा।

देवचन्द्र के हाथ में दीपक था। वह नीचे चला गया।

दूसरे दिन प्रातःकाल स्वर्ण का एक कंगन दासी सुमित्रा को देती हुई मनमोहिनी बोली – 'सुमित्रा! मैं कल से धर्म की आराधना प्रारम्भ करने वाली हूं। मैं मौन रहूंगी। किसी से बोलूंगी नहीं। भोजन, जल आदि मौन-भाव से ले लूंगी। किन्तु मेरा यह व्रत किसी को ज्ञात न होने पाए, अन्यथा मेरी आराधना में विघ्न उपस्थित हो जाएगा।'

'आपका मौनव्रत कब तक चलेगा?' सुमित्रा दासी ने पूछा।

'चालीस से नब्बे दिन तक।'

'बाप रे! .....इतना कठोर व्रत किसलिए?'

'आत्म-कल्याण के लिए....'

सुमित्रा के मन में मनमोहिनी के प्रति श्रद्धा गाढ़ हो गई।

उसी दिन मध्यरात्रि में सुभद्रा को साथ लेकर देवचन्द्र वहां आ पहुंचा। मनमोहिनी ने सुभद्रा को सारी बात समझा दी कि उसे पूर्ण मौन रहना है और जो कुछ जरूरत हो उसे एक ताड़पत्र पर लिखकर दासी को दे देना है। फिर उसे भोजन, पानी, शौच आदि की व्यवस्था के विषय में सारी जानकारी देकर बोली– 'सखी, तुझे भय तो नहीं लगेगा?'

'आप यह क्या कह रही हैं? राजा को तो बोधपाठ देना ही चाहिए।' सुभद्रा ने कहा।

'मैं कभी-कभी तुझसे मिलने के लिए आऊंगी'–कहकर मनमोहिनी समवयस्क सखी समान दासी सुभद्रा के गले मिली और चाचा देवचन्द्र के साथ भूगर्भ-मार्ग से चल पड़ी।

सुभद्रा ने सुरंग का ढक्कन बन्द किया और मनमोहिनी के निर्देशानुसार अपने वस्त्रालंकार खोलकर मनमोहिनी के वस्त्रालंकार धारण कर लिये।

मनमोहिनी की एक योजना सफल हुई और वह मुक्ति के प्रकाश में आ गई।

घर आकर वह माता-पिता से मिली। माता ने उसे हृदय से लगा लिया और पिता भी उसे देखकर गद्‌गद हो गए।

कुछ बातचीत कर मनमोहिनी बोली– 'पिताश्री! मैं इस भवन में रहूंगी तो दास-दासी मुझे पहचान लेंगे। पास में अपना एक खाली भवन पड़ा है न!'

'हां!'

'उसको कल ही ठीक-ठाक करवा दें। मेरी विश्वस्त दो दासियों को वहां भेज दें। मैं एक योगिनी का वेश धारण कर वहां रहूंगी।'

'योगिनी का वेश?'

'हां! मुझे विजय प्राप्त करनी है। महाराजा को सही दृष्टि देनी है।'

'पिताजी! युवराजश्री यहीं हैं या प्रवास में हैं?'

'यहां आ गए हैं, ऐसा मैंने सुना है।' सेठ सुदंत बोला।

'अच्छा.....मेरा काम हो जाएगा।' मनमोहिनी ने कहा।

दूसरे दिन मनमोहिनी योगिनी का वेश बनाकर पास वाले मकान में चली गई।

और सायं वह रजस्वला हुई, इसलिए तीन दिन तक एक ही कमरे में रहना आवश्यक हो गया।

योगिनी के वेश में मनमोहिनी का रूप शतगुणित खिल उठा। उसने भगवा वस्त्र, रुद्राक्ष की माला पहन रखी थी। ललाट पर चंदन का भव्य त्रिपुंड्र तिलक कर लिया था....

वास्तव में नवयौवना योगिनी इन्द्र को भी विचलित करने में समर्थ रूपवती और आकर्षक लग रही थी।

तीसरे दिन रात में जब माता-पिता उससे मिलने आए तब मनमोहिनी ने पिताश्री से कहा – 'पिताश्री ! आप कल प्रात: महाराजा से मिलने जाएं और परसों वे अपने युवराज पुत्र के साथ यहां भोजन करने पधारें, ऐसी प्रार्थना करें। वे यदि आनाकानी करें तो किसी बात का बहाना बनाकर युवराजश्री को वे अवश्य ही यहां भेजें, ऐसा निश्चय कराकर आएं।'

'फिर ?'

'फिर क्या करना है, यह बाद में निश्चय करेंगे....आपके भवन पर आने का एक ही मार्ग है और वह मार्ग इस मकान के पास से ही गुजरता है....मैं झरोखे में खड़ी रहकर उन्हें देख लूंगी। यदि उस समय नहीं देख पाऊंगी तो माधुकरी के निमित्त घर पर आ जाऊंगी।'

माता-पिता को कुछ भी समझ में नहीं आया।

चौथे दिन ऋतुस्नान कर मनमोहिनी पिता के भवन में भिक्षा लेने आयी।

मध्याह्न से पूर्व सेठ सुदंत पुत्री के पास जाकर बोला – 'महाराजा ने आना स्वीकार नहीं किया, केवल युवराजश्री अपने एक मित्र के साथ यहां आएंगे।'

'कब आएंगे ?'

'राजसभा सम्पन्न होने पर वे यहां आएंगे और सांझ तक यहीं रुकेंगे।'

यह सुनकर मनमोहिनी के नयन तेजोमय हो गए।

दूसरे दिन राजसभा में जाने से पूर्व विक्रमचरित्र पिता को प्रणाम करने गया, तब विक्रम बोले – 'आज तुझे अपनी ससुराल भोजन के लिए जाना है।'

'मेरे ससुराल ? पिताश्री ! आप यह क्या कह रहे हैं ? विवाह के बिना ही ससुराल ?' देवकुमार ने आश्चर्यचकित होकर कहा।

वीर विक्रम बोले – 'पुत्र ! बैठो, मैं सारी बात बताता हूं। मैंने एक दिन एक सुन्दर और बुद्धिमती कन्या देखी थी। किन्तु उस कन्या ने मेरे साथ एक विवाद किया। मैंने उस सुन्दर कन्या के पास गुप्त रूप से तेरा खड्ग भेजकर विवाह की रीति सम्पन्न की। उसकी बुद्धि की परीक्षा करने के लिए मैंने उसे एक ऐसे स्थान पर रखा है, जहां उससे कोई मिल नहीं सकता। यह बात अत्यन्त गुप्त है। तुम भी किसी से मत कहना।'

'किन्तु, पिताश्री!'

'पुत्र! मैंने जो कदम उठाया है, वह सोच-विचार कर उठाया है। तुम निश्चिन्त रहो। तुम कल ससुराल चले जाना।'

दिन के दूसरे प्रहर से पूर्व ही राजसभा की कार्यवाही सम्पन्न हो गई। युवराज अपने मित्र मंत्री-पुत्र को साथ लेकर घोड़े पर आरूढ़ होकर वणिक्बाड़ी में सेठ सुदंत के घर की ओर चल पड़े। चलते-चलते उनकी दृष्टि एक मकान के वातायन में खड़ी नवयौवना पर पड़ी। उसको देखते ही युवराज के आश्चर्य का पार नहीं रहा। विधाता ने अपने विश्राम के क्षणों में इस नवयौवना को निर्मित किया हो, ऐसा लग रहा था। उसके तेजस्वी नयन स्पष्ट दीख रहे थे। उसका रूप-लावण्य देवताओं को भी स्वर्ग से भूमि पर ले आने वाला था।

मात्र दो-चार क्षण.....। योगिनी के नयनों से देवकुमार के नयन टकरा गए। योगिनी उसी क्षण लौट गई। उसे जो देखना था, वह दृष्टिगत हो चुका था।

मंत्री-पुत्र का अश्व आगे बढ़ गया था और युवराजश्री का अश्व वहीं रुक गया था। युवराजश्री के मन में प्रश्न उभरा—यह भवन किसका...?

सुदंत सेठ का मकान आ गया। सेठ द्वार पर ही खड़े थे। उन्होंने आदर सहित युवराजश्री का स्वागत किया। सेठानी ने दामाद का वर्धापन किया और एक रत्नमाला उनके कंठ में आरोपित की।

मंत्री-पुत्र को आश्चर्य हुआ कि सुदंत सेठ के यहां यह स्वागत कैसा?

सुदंत सेठ दोनों को एक सुसज्जित कक्ष में ले गया। वहां भोजन की व्यवस्था थी। सभी भोजन करने बैठे।

किन्तु मदभरे नयन जब टकराते हैं तब भूख, नींद और विवेक—ये सब पलायन कर जाते हैं।

युवराज की भूख विदा हो गई थी। फिर भी लोकलाज से कुछ खाया। मंत्री-पुत्र भी युवराज की अल्प भूख को देखकर हैरान रह गया। युवराज और मंत्री-पुत्र—दोनों भोजन करने के बाद विश्राम करने लगे।

दोनों शय्या पर पड़े-पड़े बातचीत करते रहे। कुछ ही समय पश्चात् मन्त्री-पुत्र निद्राधीन हो गए, किन्तु युवराज करवटें बदलने लगे। उनके नयनों में योगिनी का चित्र उभर-उभरकर आ रहा था।

मंत्री-पुत्र को निद्राधीन देखकर युवराज शय्या से नीचे उतरे और खंड से बाहर आए। उनका मन यह जानने के लिए अत्यधिक आतुर हो रहा था कि योगिनी कौन है? उन्होंने एक बार योगिनी के मकान के पास जाने की सोची। वे सोपान श्रेणी से नीचे आए। सेठानी ने उन्हें देख लिया। उसने पूछा—'युवराजश्री! क्या कुछ चाहिए?'

'नहीं-नहीं, मुझे दिन में सोने की आदत नहीं है। मैंने सोचा, मित्र से मिल आऊं।'

'आप कहें तो आपके मित्र को यहीं बुला भेजूं?'

'नहीं, फिर कभी मिल लूंगा'—कहकर युवराज चले गए।

ज्ञान, संस्कार और बुद्धि अपूर्व होती है, किन्तु जवानी अपना काम करती रहती है। पहले कुतूहल उत्पन्न होता है, फिर अधीरता उभरती है। युवराज देवकुमार सभी की दृष्टि में सवाईविक्रम अथवा विक्रमचरित्र के नाम से पहचाना जाता, पर अन्ततः वह था तो एक नौजवान ही। जिसको देखते ही मन में खलबली मच जाए, ऐसी सुन्दरी को देखकर कुतूहल होना स्वाभाविक है और उसके प्रति एक लिप्सा की जागृति भी अस्वाभाविक नहीं मानी जा सकती।

युवराज पुनः मुख्य द्वार से बाहर निकला। उस मकान के निकट गया.... अरे, यही भवन! यही वातायन! किन्तु योगिनी कहां होगी? क्या भोजन कर रही है या विश्राम कर रही है? युवराज दो क्षणों तक वातायन की ओर देखता रहा। वहां एक ओर परिचारिका खड़ी थी। युवराज ने पूछा—'योगिनी देवी यहीं रहती हैं?'

'हां, श्रीमान्!'

'ये कहां से आयी हैं?'

'रमताराम हैं। पांच-दस दिन के लिए यहां आयी हैं। इनके भक्तों ने इन्हें खाली भवन में रखा है।' दासी ने कहा।

'यदि उनसे मिलना हो तो?'

'प्रसन्नता से। आपका शुभनाम?'

'मैं राजा वीर विक्रम का युवराज हूं।'

'क्षमा करें, युवराजश्री! आप भीतर पधारें', कहकर दासी भीतर चली गई।

भवन स्वच्छ था....कहीं कोई गंदगी या ऊबड़-खाबड़पन नहीं था। युवराज को एक कक्ष में बिठाती हुई दासी बोली—'आप कुछ देर यहां विराजें, मैं योगिनी देवी की आज्ञा....'

बीच में ही युवराज बोले—'खुशी से.......'

योगिनी के वेश में मनमोहिनी यह संवाद द्वार के पीछे खड़ी-खड़ी सुन रही थी।

संवाद पूरा होते ही तत्काल अपने कक्ष में जाकर मृगचर्म पर बैठ गई। दासी के पूछने पर वह बोली—'जा, युवराज को यहां भेज दे।'

दासी तत्काल मुड़ी।

युवराज योगिनी के खंड में आए। योगिनी का रूप-लावण्य देखकर वे अवाक् रह गए। उन्होंने दोनों हाथ जोड़कर कहा – 'क्षमा करें, योगिनीजी ! मैंने जब से आपको देखा है, मेरे मन में एक कुतूहल जागा है।'

'कुतूहल ?' मुस्कराती हुई योगिनी ने प्रश्न किया।

'हां।'

'किस प्रकार का कुतूहल ?'

'आपने अभी यौवन के प्रथम चरण में पादन्यास किया है। आपका प्रत्येक अवयव तेजस्वी और आकर्षक है। इस छोटी उम्र में आपको संसार-त्याग क्यों करना पड़ा ?'

योगिनी हंस पड़ी। यह हंसी इतनी वेधक थी कि युवराज के हृदय की धड़कन बढ़ गई। वह बोली – 'युवराजश्री ! मैंने अभी तक संसार-त्याग नहीं किया है, किन्तु संसार-त्याग की पृष्ठभूमि तैयार कर रही हूं।'

'मैं समझा नहीं.....।'

'मेरे माता-पिता बहुत दूर देश में रहते हैं। वे सुखी और समृद्ध हैं। मेरे पर उनका अतुल प्रेम है। मेरा एक छोटा भाई भी है। मेरे प्रति उसकी ममता भी अपार है। इसलिए किसी दुःख से घबराकर मैंने संसार-त्याग करने का विचार नहीं किया है।'

'तो फिर ?'

'इस संसार-त्याग के पीछे मेरे जीवन का एक अध्याय गुप्त पड़ा है। नीतिशास्त्र का अभिमत है कि अपरिचित व्यक्ति के समक्ष जीवन के गुप्त पृष्ठ की अभिव्यक्ति नहीं करनी चाहिए। फिर भी जिस कार्य की सम्पूर्ति के लिए मैंने यह व्रत ग्रहण किया है, वह यहां पूरा हो तो....'

अधीर युवराज ने बीच में ही प्रश्न कर डाला – 'देवीश्री ! मेरे हृदय की जिज्ञासा तीव्र है। यदि आप अपनी गुप्त बात मुझे कहेंगी तो मैं विश्वास दिलाता हूं कि उसका दुरुपयोग नहीं होगा।'

'तब तो आपके समक्ष मुझे अपने जीवन का अध्याय खुलकर रखना होगा', कहकर योगिनी दो क्षण तक विचारमग्न होकर फिर बोली – 'कुमारश्री ! मैं ग्यारह महीने से निरंतर घूम रही हूं। विविध प्रदेशों की मैंने यात्रा की है। मेरे माता-पिता मेरा विवाह करना चाहते थे, किन्तु मैं यह चाहती थी कि यदि सुयोग्य पति मिले तो ही विवाह के सूत्र में बंधना है अन्यथा जीवनभर कौमार्यव्रत का ही पालन करना है, योगिनी बनकर विचरण करना है। मेरे माता-पिता मेरी बात से सहमत होकर बोले – एक वर्ष के भीतर तुम जिसको पसन्द करोगी, उसके साथ तुम्हारा पाणिग्रहण

करेंगे। यदि इस अवधि में तुमने किसी को पसन्द नहीं किया तो फिर हम अपनी इच्छानुसार तुम्हारा विवाह कर देंगे। मैंने यह बात मान ली। यहां आए मुझे आठ-दस दिन हुए हैं। अब मेरे लिए केवल कुछ ही दिन शेष रहे हैं। मेरे माता-पिता भी एकाध सप्ताह में आ जाएंगे।'

'ओह! क्या आपको अभी तक सुयोग्य साथी नहीं मिला?'

'नहीं, यदि मिला होता तो मैं यहां क्यों आती?' कहकर योगिनी मुस्कराने लगी।

'आपको कष्ट न हो तो एक प्रश्न करूं?'

'हां, प्रसन्नता से.....'

'आपने किस प्रकार के जीवन-साथी की कल्पना की है?

'मेरी कल्पना का जीवन-साथी अस्वाभाविक या अकल्पनीय नहीं है। जिसके प्राणों में प्रेम, ममता और मस्ती हो, जिसके संस्कार श्रेष्ठ हों, जो ईमानदारीपूर्वक सहवास निभा सके ऐसा दृढ़ हो। अंतिम बात है कि वह मेरे मन को भा जाए तो....।'

'ओह! क्या इस अवंती नगरी में आपको ऐसा व्यक्ति नहीं मिला?'

'मिला है....'

युवराज चौंका। सोचा, सारा खेल ही न बिगड़ जाए। उसने पूछ लिया—'कौन?'

'यह नहीं कहूंगी', लज्जा की लालिमा मानो योगिनी के नयनों में और मुख पर छलकने लगी।

'देवी! आपने इतना बता डाला, फिर थोड़े के लिए इसे क्यों अपूर्ण रखती हैं? मैंने आपको जब से देखा है, तब से.....'

'कुतूहल जागृत हुआ था?'

'नहीं, देवी! मात्र कुतूहल ही नहीं।'

'तो?'

'मैं शब्दों से अपना मनोभाव व्यक्त नहीं कर सकता।'

'मैं समझ गई....'।

'क्या?'

'रूप और यौवन के प्रति पुरुषमात्र को आकर्षण होता ही है। आकर्षण को कोई कुतूहल मानता है, कोई प्रेम मानता है और कोई मोह मानता है।'

'नहीं, देवी! ऐसी बात नहीं है। मैं नौजवान हूं, यह सच है, किन्तु आज तक किसी नारी के सम्पर्क में नहीं आया हूं। आज ही मैंने आपको देखा और मेरे

मन में एक अपूर्व भावधारा प्रकट हुई। पास में सुदंत सेठ के यहां भोजन करने बैठा, पर भोजन कर नहीं सका, क्योंकि आपसे मिलने के लिए मेरा मन छटपटा रहा था। अब निःसंकोच होकर आप मुझे बताएं कि वह भाग्यशाली पुरुष कौन हैं?'

'मैंने उसको आज ही देखा है।'

'आज ही?'

'हां।' कहती हुई योगिनी की दृष्टि नीचे झुक गई।

मनमोहिनी समझ गई कि उसने युवराज को पूर्णरूपेण प्रभावित कर लिया है।

'वह व्यक्ति कौन है?' युवराज ने पूछा।

'मानेंगे...?'

'अवश्य।'

'आप...।'

'हूं?' कहता हुआ युवराज आसन से उठ खड़ा हुआ और भावावेश में योगिनी के निकट चला गया। उसने योगिनी के दोनों हाथ पकड़ लिये। योगिनी ने तत्काल हाथ छुड़ाते हुए कहा – 'कुमारश्री! मुझे अपने वेश की मर्यादा रखनी चाहिए तथा हमें एक-दूसरे को समझने का प्रयास भी कर लेना चाहिए।'

'मैं तैयार हूं।' युवराज ने कहा।

'मैं तो इस प्रदेश से अपरिचित हूं। हम ऐसे किसी नीरव, शान्त और एकांत स्थल में चलें, जहां बैठकर निश्चिन्तता से बातें कर एक-दूसरे को समझने का प्रयत्न करें। आप आएंगे?'

'हां। आज सांझ को?'

'नहीं, कल प्रातःकाल।' योगिनी ने कहा।

दो क्षण सोचकर युवराज बोला – 'देवी! आपने शिप्रा नदी तो देखी है?'

'हां.....'

'तो कल सूर्योदय के बाद उस नदी के अंतिम घाट पर आप आ जाना। मैं वहां अपनी नौका लेकर आऊंगा। वहां से हम बीस कोस दूर चंदनपुर के वनप्रदेश में चलेंगे।'

'किन्तु आप मुझे बहुमान से.....'

बीच में ही युवराज ने कहा – 'जब तक आवेश है, तब तक.....।'

दोनों हंस पड़े।

७४. मालिनी

युवराज विक्रमचरित्र अपना हृदय योगिनी के चरण-कमलों में अर्पित कर सुदंत सेठ के भवन में आ पहुंचे। सेठ-सेठानी दोनों युवराजश्री की प्रतीक्षा में खड़े थे। युवराज को देखते हुए सेठ ने कहा – 'मुझे चिन्ता हो रही थी कि....'

'किस बात की ?'

'मेरे घर में आपका मन....'

बीच में ही युवराज बोले – 'नहीं, सेठजी ! मेरा मन तो प्रसन्न ही हुआ है। दिन में नींद लेने की आदत न होने के कारण मैं अपने एक मित्र से मिलने चला गया। आप अन्यथा न सोचें।'

जलपान कर युवराज ऊपर के कक्ष में गए। मंत्रीपुत्र अभी सो रहा था।

युवराज अपनी शय्या पर करवटें बदल रहे थे। उनका मन योगिनीमय हो गया था, योगिनी योग्य साथी की टोह में निकली है और उसने मुझे ही पसन्द किया है। यह मेरे लिए परम सौभाग्य की बात है। ऐसा नारीरत्न देवताओं को भी दुर्लभ है। कल यह मेरे साथ आएगी ही। चंदनपुर के रमणीय वनप्रदेश में संध्या से पूर्व पहुंच जाएंगे। वहां राज्य का उपवन है। वहां एक तीन मंजिला भवन है। वहां निवास योग्य सारी साधन-सामग्री है। वहां से आधा कोस की दूरी पर चंदनपुर नाम का एक छोटा नगर है। वहां से खाद्य सामग्री प्राप्त हो सकेगी। यदि योगिनी प्रसन्न हो जाएगी तो वहां चार-पांच दिन जीवन के वसंत की बहार लूटी जा सकेगी।

ऐसी मधुर कल्पनाओं में खोये हुए युवराज मंत्रीपुत्र की आवाज से तत्काल उठ बैठे।

दोनों मित्र बातचीत करने लगे।

सायंकालीन भोजन से निवृत्त होकर दोनों मित्र अपने-अपने अश्वों पर आरूढ़ होकर वहां से विदा हुए।

जाते समय युवराज ने उस झरोखे की ओर तिरछी दृष्टि से देखा। वहां योगिनी नहीं थी। झरोखा सूना-सूना था। सूने झरोखे को देखकर विक्रमचरित्र के हृदय से एक निःश्वास निकला।

राजभवन में जाने के पश्चात् देवकुमार ने अपने मित्र मंत्रीपुत्र से कहा – 'मुझे तुम्हारे साथ एक महत्त्वपूर्ण बात करनी है। मैं पहले पिताजी से मिल आता हूं, तब तक यहीं बैठे रहना।'

देवकुमार महाराज विक्रम के पास गया और नमन कर खड़ा रह गया। वीर विक्रम ने सेठ सुदंत के घर की सारी बात पूछी। युवराज ने कहा – 'सेठ बहुत

शालीन हैं। हमारा आतिथ्य बहुत किया और उन्होंने आते समय मुझे बहुमूल्य नीलममणि की माला भेंटस्वरूप दी।'

कुछ अन्यान्य औपचारिक बातचीत के पश्चात् देवकुमार बोला—'पिताश्री! आप आज्ञा दें तो मैं पांच-सात दिनों का एक लघु प्रवास करना चाहता हूं।'

'तुम्हें किस ओर जाना है?'

'शिप्रा नदी में, नौका-विहार के लिए जाना चाहता हूं।'

'अच्छा। कब जाना है?'

'कल प्रातःकाल।'

दो क्षण सोचकर विक्रम बोले—'तुम्हारे साथ कौन जाएगा?'

'मेरे दो मित्र साथ चलेंगे।'

'अच्छा। इस ऋतु में जल-विहार बहुत सुखप्रद होता है। मैं अजय को कह दूंगा। हंस-नौका में ही जाना। साथ में रक्षकों को ले लेना।'

'जी।' कहकर देवकुमार ने मस्तक नमाया।

वह अपने मित्र के पास आकर बोला—'कल हमें प्रवास पर चलना है।'

'क्यों?'

'मित्र! संसार में कोई भी कार्य बिना कारण के नहीं होता। मैंने अभी तक तुम्हें एक मधुर बात नहीं बताई। इस कक्ष का द्वार बंद तो कर दो।'

आश्चर्यभरी दृष्टि से युवराज की ओर देखते-देखते मंत्रीपुत्र खड़ा हुआ और 'मधुर बात कैसी? प्रवास क्यों?' इन प्रश्नों को मन-ही-मन घोलता हुआ द्वार के पास पहुंचा। उसे बंद कर आसन पर बैठते हुए बोला—'मुझे लगता है कि यह सारा सुदंत सेठ के अन्न का प्रभाव है।'

'तुम्हारा अनुमान सही है।' कहकर युवराज ने संक्षेप में योगिनी को देखने, योगिनी से मिलने, योगिनी के साथ हुई चर्चा और कल योगिनी को साथ लेकर चंदनपुर के वनप्रदेश में जाने की सारी बात बताई।

पूरी बात सुनने के पश्चात् मंत्रीपुत्र बोला—'युवराजश्री! सारी बात सुनकर मेरा आश्चर्य शतगुणित हो गया है। नारी की परछाईं से भी दूर रहने वाले आप इस प्रकार तैयार कैसे हो गए?'

'मित्र! जब कल तुम योगिनी को साक्षात् देख लोगे तब इस प्रश्न का उत्तर सहज रूप से मिल जाएगा। पुरुष कभी भी प्रकृति की परछाईं से दूर रह नहीं सकता। इस योगिनी के रूप, स्वभाव और यौवन का वर्णन करने की शक्ति मुझमें नहीं है, इसलिए लाचार बन गया हूं।'

'आपने एक बात पर विचार किया है?'

'कौन-सी बात पर ?'

'संभव है योगिनी गुप्त वेश में कोई गुप्तचर हो।'

'कल उसके निर्मल और सौम्य नयन देखकर तुम ही निर्णय कर लेना।'

'किन्तु उपवन में जाकर हम करेंगे क्या ?'

'मित्र ! योगिनी के साथ बातें करनी हैं। एक वर्ष से वह पति की खोज में, योगिनी का वेश बना, दर-दर घूम रही है। आठ-दस दिनों से वह यहां आयी हुई है। कुछ ही दिनों पश्चात् उसके संकल्प की अवधि पूरी होने वाली है। इससे पूर्व वह अपने जीवनसाथी को पाने के लिए प्रयत्नशील है। उसने मुझे पसंद किया है।'

'वाह ! यह तो अजब बात है। कोई स्त्री अपने गुमशुदा पति को ढूंढने के लिए इस प्रकार निकले, ऐसी घटनाएं भूतकाल में बहुत हुई हैं। किन्तु जीवनसाथी की टोह में इस प्रकार कोई नवयुवती निकली हो ऐसा मैंने नहीं सुना।'

'मित्र ! इस स्त्री का एक तप है और वह अपने तप में अडिग है।' कहकर युवराज योगिनी के रूप-लावण्य के विचारों में खो गया।

दूसरे दिन प्रातःकाल राजघाट पर तीन मंजिलों वाली हंसनौका खड़ी थी। युवराज के लिए सबसे ऊपर की मंजिल निश्चित थी। उसमें सुख-सुविधा की सारी सामग्री थी। दूसरी मंजिल में युवराज के साथी और तीसरी में दास-दासियों के लिए व्यवस्था थी।

यथासमय युवराज और उसके मित्र नौका में बैठ गए। युवराज ने नौका के मुख्य चालक को एकान्त में बुलाकर कहा-- 'रूपनाथ ! हमें चंदनपुर की ओर जाना है, किन्तु अन्तिम घाट पर नौका को कुछ समय के लिए रोकना है।'

'जी' कहकर रूपनाथ ने मस्तक झुकाया।

नौका गतिमान हुई।

अंतिम घाट पर युवराज ने देखा कि योगिनी अपनी एक परिचारिका के साथ खड़ी है। योगिनी की भगवा कंथा सूर्य की किरणों में चमक रही है, क्योंकि वह कंथा कौशेय की थी। युवराज ने अपने मित्र मंत्रीपुत्र से कहा--'देखो, योगिनी सामने ही खड़ी है। पास में उसकी परिचारिका है।'

मंत्रीपुत्र ने उस ओर देखा। देखते ही उसने सोचा--अरे ! यह तो कोई शापभ्रष्ट देवकन्या ही है ! मानवी में इतना रूप, लावण्य और तेज मिल ही नहीं सकता। धन्य है विधाता के निर्माण को !

नौका घाट पर रुकी।

युवराज ऊपरी मंजिल से नीचे उतरे और मुस्कराते हुए बोले--'पधारो, देवी !'

साथ में आयी हुई परिचारिका के हाथ से एक छोटी थैली लेते हुए योगिनी ने उसे कुछ संकेत दिया। फिर वह मंद गति से सावधानीपूर्वक नौका में चढ़ गई। उसकी परिचारिका मस्तक झुकाकर एक रथ की ओर चली गई।

मंत्रीपुत्र भी अपने खंड से नीचे आ गया था। दोनों मित्रों ने योगिनी का स्वागत किया। योगिनी ने आंख के इशारे से युवराज से पूछा – 'ये कौन हैं ?'

युवराज ने अपने मित्र का परिचय देते हुए कहा – 'हमारे राज्य के महामंत्री भट्टमात्र के सुपुत्र सुरभद्र हैं। ये मेरे प्रिय मित्र हैं।'

युवराज ने नौका-चालक को चंदनपुर के वनप्रदेश की ओर जाने की आज्ञा दी।

दोनों मित्र और योगिनी ऊपरी खंड में गए।

नौका चल पड़ी।

योगिनी एक ओर खड़ी रह गई। युवराज बोले – 'आप विराजें....

'युवराजश्री ! अब इस विवेक का त्याग करें।'

'आपके वेश की मर्यादा....'

'ओह ! अब इस मर्यादा का अन्त आ गया है।' कहती हुई योगिनी हंस पड़ी और एक आसन पर बैठ गई। उसके सामने के दो आसनों पर देवकुमार और सुरभद्र दोनों बैठ गए।

थोड़े क्षण मौन छाया रहा। मंत्रीपुत्र अनिमेष नयनों से योगिनी को देख रहा था। योगिनी ने मधुर स्वरों में कहा – 'आप क्या देख रहे हैं ?'

'अपने मित्र की पसंदगी।'

'पुरुष की पसंदगी से भी स्त्री की पसंदगी ज्यादा महत्त्वपूर्ण होती है।' कहते हुई योगिनी ने तिरछी दृष्टि से युवराज की ओर देखा।

युवराज बोले – 'देवी ! आप...'

बीच में ही योगिनी ने कहा – 'क्या विवेक का बंधन अत्यन्त गाढ़ होता है ?'

'नहीं, ऐसा कुछ नहीं है।' युवराज ने कहा।

'तो फिर इसे छोड़ें। जहां मन का मिलाप होता है, मन प्रफुल्ल बनता है, वहां विवेक अधिक गंभीर माना जाता है।'

'तो फिर तुम्हें किस नाम से....?' युवराज ने प्रश्न किया।

'मेरा नाम मालिनी है।'

'अत्यन्त मधुर नाम....वास्तव में आप मालती पुष्पों से भी अधिक सुंदर और कोमल हैं।' मंत्रीपुत्र बोल उठा।

'मुझे लगता है, आपने काव्यशास्त्र का अभ्यास किया है।' योगिनी बोली।

'सामान्य।' सुरभद्र ने कहा।

'पुरुष का सामान्य अभ्यास ही प्रसंग को प्राप्त कर असामान्य बन जाता है।' कहकर योगिनी ने युवराज की ओर प्रश्नभरी दृष्टि से देखा।

युवराज के मन में परिचय प्राप्त करने की बात नाच रही थी। उन्होंने कहा– 'मालिनी! पहले हम अपने परिचय का प्रश्न समाहित कर लें।'

'परिचय जितना मन से होता है, उतना वाणी से नहीं होता।' मालिनी ने प्रसन्नता से कहा।

मंत्रीपुत्र बोल पड़ा– 'आपने बहुत अच्छी बात कही, फिर भी वाणी मन का एक वाहन तो है ही!'

'वाणी मन का वाहन है तो दंभ का भी वाहन है। जो वाणी स्वर्ग के सुख तक पहुंचाती है, वही नरक के द्वार तक भी ले जाती है। अब हम चार-पांच दिन साथ ही रहने वाले हैं। मेरे मन का परिचय आपको मिल चुका है, किन्तु आपके मित्र युवराजश्री के मन में कोई संशय न रह जाए, इसीलिए अपना यह प्रवास हो रहा है।' योगिनी ने कहा।

'देवी! मेरे मन में कोई शंका नहीं है। पहली ही दृष्टि में मैं तुम्हारे मनोभाव को जान गया है।' युवराज ने कहा।

'मैं धन्य हुई। आप तो जानते ही हैं कि स्त्री अपने प्रियतम के चरणों में अपना शरीर ही अर्पित नहीं करती, वह अपना मन, यौवन, रूप, भावना और सुख– सभी का समर्पण करती है। समर्पण की यह धारा आर्य नारी के प्राणों में ही प्रकट होती है और नारी इस समर्पण का विनिमय नहीं करती।'

योगिनी की बातों में युवराज अपने-आपको विस्मृत कर चुके थे। परंतु सुरभद्र ने सोचा, मालवदेश की भावी महारानी होने की योग्यता इस रमणी में है। इतनी छोटी उम्र में कोई नवयौवना इतनी गंभीर, सौम्य और समझदार हो ही नहीं सकती।

नौका समान गति से आगे चल रही थी।

अपराह्न के समय नौका चन्द्र उपवन के पास एक घाट पर पहुंची।

योगिनी, मंत्रीपुत्र और युवराज– तीनों नौका से उतरकर चन्द्र उपवन की ओर जाने के लिए आगे बढ़े। चलते-चलते युवराज ने योगिनी की ओर देखकर कहा– 'आपको कुछ दूर पैदल चलने में कष्ट तो नहीं होगा?'

योगिनी ने हंसते हुए कहा– 'आपने मुझे कोमलांगी मान लिया है?'

सुरभद्र बोला– 'देवी कोमलांगी नहीं हैं, ऐसा कौन मान सकता है?'

योगिनी के एक हाथ में कमंडलु था और दूसरे हाथ में थैली थी। वह बोली– 'शरीर से, मन से नहीं।'

युवराज खिलखिलाकर हंस पड़े और हंसते-हंसते बोले– 'तुम निर्भय हो, अन्यथा इस प्रकार अकेली कैसे आती?'

'ऐसे नहीं। आपके पास यदि नारी निर्भय नहीं होगी तो फिर कहां होगी?' योगिनी ने कहा।

बातों-ही-बातों में उपवन आ गया। तीनों उस उपवन में बने एक लघु भवन में गए। उसके दो खंड थे। एक खंड में योगिनी की व्यवस्था की गई और दूसरे खंड में दोनों मित्र ठहरे।

दास-दासी वहां आ गए थे। भोजन बना और तीनों यथासमय भोजन कर निवृत्त हो गए।

योगिनी के खंड में दीपमालाएं जल उठीं और तीनों अलग-अलग आसन पर वहीं बैठकर बातें करने लगे।

कुछ औपचारिक बातों के पश्चात् मंत्रीपुत्र अपने आसन से उठते हुए बोला– 'मुझे प्रतीत होता है कि मेरी यहां उपस्थिति आप दोनों के मन में संकोच पैदा कर रही है। मैं बाहर जा रहा हूं।' कहकर मंत्रीपुत्र कक्ष से बाहर निकल गया।

सुरभद्र के बाहर जाते ही युवराज ने योगिनी को स्नेहभरी दृष्टि से देखते हुए पुकारा– 'प्रिये!.....'

'क्या आज्ञा है?'

'क्या वास्तव में ही तुमने अपना मन मुझे समर्पित कर डाला है?'

'क्या आपके मन में कोई संशय है?'

'तो फिर इस वेश का परित्याग कर दो।'

'मैं आपके मन की भावना समझ गई....किन्तु लग्नविधि से पूर्व...?'

'ओह!' कहकर युवराज मौन हो गए।

दोनों ने गंधर्व विवाह करने का तय किया। उपवन से फूल मंगाए और मालिनी ने स्वयं दो मालाएं गूंथीं।

रात्रि का पहला प्रहर पूरा हो, उससे पूर्व ही मालिनी अपना वेश परिवर्तन कर बैठ गई।

मंत्रीपुत्र को गंधर्व विवाह के समाचार मिले। वह अत्यन्त हर्षित हो उठा। वह वहां आया। मनमोहिनी को देखते ही उसका सिर चकराने लगा। ऐसा रूप! ऐसा तेज! ऐसी यौवन-माधुरी! ओह! भाग्य का नजारा!

मालिनी के रूप में मनमोहिनी ने सुरभद्र की उपस्थिति में युवराज के कंठों में माला पहनाई और युवराज ने मालिनी के गले में माला डाली.... विवाह सम्पन्न हो गया।

और मनमोहिनी ने यह स्पष्ट रूप से प्रस्थापित कर दिया कि विक्रमचरित्र से स्त्रीचरित्र महान् होता है।

चार दिन के लिए आए हुए तीनों छह दिन तक रुके।

किन्तु मनमोहिनी को अभी बहुत कुछ करना था। सबसे पहला कार्य तो यह था कि वह यहां से बिना किसी को ज्ञात हुए पलायन कर जाना चाहती थी, क्योंकि जो योजना उसने बनाई थी वह पूरी हो चुकी थी। छह दिनों के स्वामी के साथ सहवास से वह चतुर नारी समझ गई थी कि वह सगर्भा हो गई है।

छठी रात में मनमोहिनी अपनी झोली से एक तेल जैसा तरल पदार्थ निकाल युवराज के मस्तक पर मलने लगी....

विक्रमचरित्र का मस्तक मनमोहिनी की गोद में ही था...उसको यह पता ही नहीं था कि मालिनी तेल नहीं मल रही है, किन्तु निद्रा दिलाने वाली कोई औषधि मल रही है।

कुछ ही क्षणों में युवराज गहरी नींद में चले गए।

सुरभद्र तो पहले ही अपने खंड में जा सो गया था।

रात्रि के तीसरे प्रहर में मनमोहिनी ने अपनी झोली से पुरुष का वेश निकालकर धारण कर लिया। उसने अपने दूसरे वस्त्र झोली में रख दिए। युवराज ने पहली रात में उसे एक रत्नहार दिया था। उस हार को उसने सावधानी से झोली में रख लिया।

फिर वह झोली को लेकर खंड के बाहर निकल गई और चंदनपुर के मार्ग पर आगे बढ़ने लगी। प्रात:काल से पूर्व वह चंदनपुर के घाट पर आ पहुंची। वहां एक नौका में बैठकर वह अवंती नगरी की ओर विदा हुई।

प्रात:काल हुआ। मंत्रीपुत्र कुछ पहले जाग गया था। युवराज अभी भी गहरी नींद में थे। वे विलम्ब से उठे। मालिनी वहां नहीं थी। कुछ प्रतीक्षा के पश्चात् भी वह नहीं आयी, तब चारों ओर उसकी खोज होने लगी। मालिनी को न पाकर युवराज व्यथित हो गए।

खोज हो रही थी। युवराज ने देखा कि योगिनी का वेश और कमंडलु एक कोने में पड़े हैं। युवराज बोले– 'वह अपने मूल वेश में ही गई है।'

दो अश्वारोही रक्षक तत्काल चंदनपुर की ओर गए। वहां दोनों ने पूरी छानबीन की। मालिनी का कोई अता-पता नहीं लगा। युवराज को यह ज्ञात नहीं था कि मोहिनी गुप्त-रूप से अपने पितृगृह में सकुशल पहुंच गई है।

मनमोहिनी को पुरुष-वेश में देखकर माता चौंक पड़ी, पर तत्काल उसने मोहिनी को पहचान लिया।

मोहिनी ने कहा – 'मां! मेरा कार्य पूरा हो गया है। आज रात को भूगर्भ मार्ग से चली जाऊंगी। मेरे श्वसुर विक्रम ने जो निशानी मुझे पहले दी थी, वह आपके पास है ही। यह रत्नहार भी आप संभालकर रखें।' कहती हुई मोहिनी ने रत्नहार मां को सौंप दिया।

पिताजी भी दूकान से घर आ गए थे।

मोहिनी ने संक्षेप में अपनी कहानी उन्हें सुनाई। माता-पिता दोनों हर्ष-प्रफुल्ल बन गए और मन-ही-मन अपनी पुत्री की बुद्धि को सराहने लगे।

और रात्रि के प्रथम प्रहर के पश्चात् मनमोहिनी गुप्त मार्ग से भूगर्भ-कारागार में चली गई।

७५. विजयिनी

युवराज और सुरभद्र पूर्ण निराश हो चुके थे। चार दिन और वे उस चन्द्र उपवन में ठहरे। प्रियतमा की खोज की, पर उन्हें निराशा ही हाथ लगी।

अन्त में थककर दोनों मित्र निराशा के भार से भारी होकर नौका में आरूढ़ हुए और नौका अवंती की ओर गतिमान हुई।

युवराज का मन विकल हो चुका था। सिर्फ छह दिनों का यह परिचय और छह दिनों की रसभरी मस्ती....किन्तु युवराज के हृदय में यह छोटी स्मृति अंकित हो चुकी थी।

नौका उन दोनों को लेकर अवंती के राजघाट पर पहुंची।

सुरभद्र अपने घर गया और युवराज राजभवन में आए।

दिन बीतने लगे।

मनमोहिनी के गर्भ का चौथा महीना चल रहा था। वह अत्यन्त प्रसन्न और स्वस्थ थी। बीच में एक बार महाराजा वीर विक्रम भी वहां आए थे और वातायन की जाली से उन्होंने कहा था – 'पुत्री! तुम यदि अपनी पराजय स्वीकार कर लो तो मैं तुम्हें मुक्त कर सकता हूं। मुझे तुम्हारे प्रति करुणा आती है।'

'महाराज! मैं अपने निश्चय पर अटल हूं। विजय के प्रकाश में अठखेलियां करने वाला मेरा हृदय किसी से करुणा की भीख नहीं चाहता।'

वीर विक्रम हंसे और चले गए।

मनमोहिनी भी मुस्करा दी।

युवराज देवकुमार राजकार्य में व्यस्त हो गए और मालिनी के सहवास के क्षणों को अपने मन के एक कोने में दबाकर स्वस्थ हुए।

मनमोहिनी शांतिपूर्वक समय बिता रही थी। यदा-कदा माता-पिता भी मिलने आ जाते थे और उन्होंने यह निश्चय कर लिया था कि जब मोहिनी नौवें मास में प्रवेश करेगी तब उसे भवन में ले जाना है।

ऐसा ही हुआ।

जब मोहिनी ने नौवें मास में प्रवेश किया तब उसकी सखी सदृश प्रियदासी सुभद्रा भूगर्भगृह में आ गई। मनमोहिनी ने उसे सारी बात बताते हुए समझाया कि उसे किस प्रकार से अभिनय करना है। सखी समझ गई। मनमोहिनी पितृगृह में चली गई।

नौ मास और दस दिन बीते। मनमोहिनी ने एक सुन्दर, स्वस्थ और तेजस्वी पुत्ररत्न का प्रसव किया।

सवा मास पूरा हुआ। मनमोहिनी स्वस्थ, सुन्दर बालक के साथ प्रसूतिगृह से बाहर निकली और पूर्वयोजना के अनुसार रात्रि में अपने प्रिय बालक को लेकर भूगर्भगृह में चली गई। उसकी दासी वहां से भवन में आ गई।

रात्रिकाल तो आनन्दपूर्वक बीत गया, किन्तु प्रात:काल जब कारागार की रक्षिका नन्दा उस खिड़की के पास आयी तब मनमोहिनी की गोद में बालक रो रहा था। बच्चे के रोने की आवाज सुनकर नंदा चौंकी।

'अरे, देवी! बालक का रुदन कहां से आ रहा है?'

'यहीं से आ रहा है।'

'किन्तु यहां बालक कैसे आ गया?'

मनमोहिनी जोर से हंस पड़ी। वह बोली— 'पगली! भाग्यदेवता जब प्रसन्न होते हैं तब अनहोनी भी होनी हो जाती है। यह मेरा पुत्र है। चिन्ता मत करना।'

नंदा अवाक् रह गई। वह सारे काम छोड़कर सीधी राजभवन पहुंची।

महाराज ने नंदा को देखकर पूछा – 'नंदा! क्या हुआ?'

'कृपानाथ! अघटित घटित हुआ है।'

'क्या मनमोहिनी ने आत्महत्या कर ली?'

'नहीं, कृपानाथ! जहां एक चिड़िया भी प्रवेश नहीं पा सकती वहां....।'

'क्या है वहां? कहते क्यों हिचक रही है?'

'किन्तु कृपानाथ! मुझे क्षमा करें। मैं क्षणभर के लिए भी असावचेत नहीं रही।'

'किन्तु हुआ क्या है?'

'मनमोहिनी देवी की गोद में एक शिशु है।'

'शिशु ?'

'हां, पुत्र है। वह कहती है कि मेरे पर भाग्यदेवता प्रसन्न हुए हैं।'

'भाग्यदेवता ? कभी नहीं हो सकता.... ।'

'कृपानाथ! मैंने अपनी आंखों से देखा है।'

'तुझे भ्रम हुआ होगा ?'

'नहीं, भ्रम नहीं। मैं सच कहती हूं।'

वीर विक्रम दो क्षण मौन रहे, फिर बोले – 'तू वहां पहुंच जा। मैं अभी आ रहा हूं।'

दासी मस्तक झुकाकर विदा हो गई।

वीर विक्रम ने अजय को रथ तैयार करने की आज्ञा दी।

अर्ध घटिका के पश्चात् वीर विक्रम अजय को लेकर शिप्रातट के उपवन की ओर चले। उनके मन में भारी उथल-पुथल हो रही थी। भूगर्भगृह में से कोई न बाहर आ सकता है और न भीतर जा सकता है, तो फिर मनमोहिनी की गोद में बालक आया कहां से ? और यह बालक युवराज का कैसे हो सकता है ?

ऐसे अनेक प्रश्नों के बीच वीर विक्रम का मन उलझ गया।

रथ भूगर्भगृह के पास आकर रुका।

रथ की आवाज सुनकर मनमोहिनी प्रसन्न हुई।

नंदा भी आ गई। वीर विक्रम ने कहा – 'नंदा! बालक के रोने की आवाज तो सुनाई नहीं देती।'

'संभव है, बालक सो गया होगा।'

'हूं!' कहकर महाराज ने ताला खोला। सोपान श्रेणी पार कर नीचे उतरे। भूगर्भगृह में उतरते ही वे स्तंभित रह गए। मनमोहिनी दोनों हाथ जोड़े सामने खड़ी थी। वीर विक्रम को आश्चर्यमग्न देखकर बोली –'पिताजी! अपने पौत्र को निहारें – सुन्दर, तेजस्वी और चंचल भी है।'

इन शब्दों ने मानो विक्रम के गाल पर तमाचा मारा हो, ऐसा लगा। उन्होंने अपनी पुत्रवधू की ओर देखकर कहा – 'मेरा पौत्र ?'

'मैंने आपकी शर्त का पालन किया है!'

'किन्तु यह कैसे हो सकता है ?'

'यह प्रश्न मेरे सामने न करें। आप अपने पुत्र से पूछें। मैं अपने कार्य में सफल हुई हूं। अब आप मेरा और अपने पौत्र का हर्षपूर्वक स्वागत करें।'

'मनमोहिनी! इस भूगर्भगृह में एक चिड़िया भी आ-जा नहीं सकती और तुम यहां हो, यह बात विक्रमचरित्र भी नहीं जानता।'

'जहां एक चिड़िया भी प्रवेश नहीं पा सकती, वहां आपका यह पौत्र आ सका है, यह आपके प्रत्यक्ष है। आपके पुत्र जानते हैं या नहीं, यह आप उनसे पूछें। मैंने आपकी कठोर शर्त पूरी की है। संसार में नारी की बुद्धि को कोई नहीं पहुंच सका, यह एक नग्न सत्य है, यह आपके समक्ष है।' मनमोहिनी ने स्वस्थ स्वरों में कहा।

वीर विक्रम मौन रहे। उन्होंने सूक्ष्मता से पूरे कक्ष का निरीक्षण किया। कहीं कुछ गड़बड़ी नहीं दिखी। फिर प्रश्न उठा – मनमोहिनी को बालक मिला कैसे ?

मनमोहिनी ने मधुर स्वरों में कहा – 'कृपानाथ! आपकी युवराज्ञी का गौरव आपका गौरव है। आप मुझे साथ में ले जाएं और फिर पुत्र को बुलाकर सही स्थिति जान लें।'

वीर विक्रम लाचार हो चुके थे। वे बोले – 'मनमोहिनी! यदि तुम्हारा यह पुत्र अन्यायपूर्ण होगा तो मैं उसी समय तुम्हारा वध कर दूंगा।'

'ऐसे शब्द कहने का आपको अभी कोई अधिकार नहीं है। अभी तो एक पिता जैसे अपनी पुत्री को आशीर्वाद देता है, वैसे ही आपको आशीर्वाद देना चाहिए। यह पुत्र अन्यायपूर्ण है, ऐसी कल्पना भी आपको नहीं आनी चाहिए। लगभग पन्द्रह महीने बीते हैं। मैंने इस कारागार में कठोर तपस्या की है।'

वीर विक्रम मनमोहिनी के तेजस्वी मुख की ओर दो क्षण देखते रहे और अन्त में एक पराजित योद्धा की तरह बोले – 'बेटी! यदि तुम्हारी बात सत्य होगी तो मैं अत्यन्त आनन्दित होऊंगा। चलो मेरे साथ....।'

मनमोहिनी ने निद्राधीन पुत्र को झूले से उठा लिया।

वीर विक्रम ने बाहर आकर अजय को पुकारा....मनमोहिनी रथ में बैठ गई। वीर विक्रम ने नंदा से कहा – 'कारागार का द्वार बन्द कर देना और तू यहीं रहना।'

'जी।' कहकर नंदा ने सिर झुकाया।

वीर विक्रम रथ पर चढ़े। रथ राजभवन की ओर चला।

वीर विक्रम के मन में अनेक प्रश्न उभर रहे थे – यह एक अशक्य बात है। देवकुमार मनमोहिनी से किसी भी प्रकार से मिल नहीं सकता, पर मनमोहिनी की गोद में बालक है, किन्तु यह बालक तो एक महीने से अधिक का है। क्या दासियों ने इससे पूर्व बालक का रुदन कभी नहीं सुना ? क्या नंदा ने आज ही रुदन सुना है ? यह भी तो एक आश्चर्य ही है। उस कारागृह में यह कैसे घटित हुआ ? मनमोहिनी के कथन के अनुसार यह बालक युवराज का है। मनमोहिनी के चेहरे पर कोई दुष्टता नहीं। यदि मनमोहिनी की बात सच है तो निश्चित ही यह विजयिनी हुई है। यह अजोड़ है – बुद्धि में, चरित्र में और गौरव में।

रथ राजभवन पर पहुंच गया।

वीर विक्रम ने मनमोहिनी की ओर देखकर कहा – 'बेटी! क्या चादर साथ लायी हो?'

'जी, मैंने अपनी चादर साथ में ही रखी है।' मनमोहिनी ने मृदु स्वरों में उत्तर दिया।

रथ राजभवन के पिछले हिस्से में जा रुका।

वीर विक्रम मनमोहिनी को लेकर अपने निजी कक्ष में गए और एक आसन की ओर संकेत करते हुए बोले – 'बेटी! तुम यहां बैठ जाओ, फिर निश्चिन्तता से बात कहो।'

'मेरी बात अत्यन्त स्पष्ट है। यह बालक आपका पौत्र है। आपकी शर्त पूरी कर मैंने यह सिद्ध कर दिया है कि संसार में स्त्री चरित्र अपूर्व होता है। इस विषय में आपको कुछ पूछना हो तो पूछें।'

दो क्षण सोचकर विक्रम बोले – 'मनमोहिनी! तुम्हारी बात सच हो सकती है, पर मैं कैसे मानूं?'

'आप एक कार्य करें। युवराजश्री, युवराजश्री की मातुश्री, उनके मित्र मंत्री पुत्र और मेरे माता-पिता को यहां बुला लें।'

'इन सबकी क्या जरूरत है? अकेले युवराज को बुलाने से काम नहीं चल सकता?'

'आप यदि मेरे कथन को मान सकते हैं तो किसी को बुलाने की आवश्यकता नहीं, किन्तु मेरी सचाई के जो-जो साक्षी हैं, उनको ही बुलाने के लिए मैंने कहा है।'

विक्रम ने अजय को भेजकर सबको बुला लिया।

लगभग तीन घटिका के बाद कमलारानी, देवी सुकुमारी, कलावती और देवी लक्ष्मीवती आ पहुंचीं। सुदंत सेठ भी सेठानी के साथ राजभवन में आ गये। युवराज अपने मित्र सुरभद्र के साथ आ गये।

मनमोहिनी के कहने से एक पालना आ गया। उसमें उसने अपने पुत्र को सुला दिया और स्वयं चादर का घूंघट निकालकर पालने के पास बैठ गई।

सभी के मन में विविध प्रश्न उभर रहे थे।

वीर विक्रम अपने आसन पर बैठे-बैठे सबकी ओर देखकर बोले – 'आप सबको आश्चर्य होगा कि यह युवती कौन है? आपके समक्ष मैं माता-पुत्र को क्यों प्रस्तुत करना चाहता हूं? सवा-डेढ़ वर्ष पूर्व की घटना है, मैंने उसको गुप्त रखा था। विक्रमचरित्र के समक्ष स्त्री-चरित्र नगण्य है, यह बात देवकुमार ने अपने

बुद्धिबल से प्रस्थापित की थी, किन्तु मनमोहिनी ने इस बात को नकारा और अपनी बात प्रमाणित करने का बीड़ा उठाया। मैंने उसकी शर्त स्वीकार कर ली और इसने मेरी। माता-पिता की सहमति से मैंने युवराज के खड्‌ग के साथ इसका विवाह गुप्त-रूप में सम्पन्न किया। इस बात की खबर युवराज को भी नहीं लगी। एकाध वर्ष पूर्व मैंने यह रहस्य युवराज को बताया, किन्तु विवाह के तत्काल बाद ही मैंने मनमोहिनी को एक ऐसे भूगृह में रखा जहां एक चिड़िया भी नहीं आ-जा सकती। मेरी शर्त थी कि यदि उसकी गोद में मेरा पौत्र क्रीड़ा करता होगा, तो मैं उसको मुक्त कर दूंगा और उसे युवराज्ञी के पद-गौरव से विभूषित करूंगा। आज प्रात: मुझे यह संवाद मिला कि मनमोहिनी की गोद में पुत्र पोषित हो रहा है। मैं कारागार में गया। मनमोहिनी ने अपने पुत्र को मेरे पौत्र के रूप में प्रस्तुत किया। उसकी यह बात कितनी यथार्थ है, इसकी जानकारी तो युवराज के शब्दों से ही हो सकती है।'

युवराज ने घूंघट निकाले बैठी हुई मनमोहिनी की ओर लाल-लाल नेत्रों से देखकर कहा – 'पिताजी! यह नारी असत्य बात कहते क्यों नहीं सकुचाती? मेरे खड्‌ग के साथ परिणीता इस नारी को मैंने कभी नहीं देखा। यह कहां थी, इसकी भी मुझे जानकारी नहीं थी। मैंने इसे स्वप्न में भी कभी नहीं देखा।'

घूंघट में मुंह छिपाए बैठी मनमोहिनी मन-ही-मन हंसने लगी।

सुकुमारी, कमलारानी, कलावती आदि सभी अवाक् थे। सुरभद्र भी किसी दूसरी दुनिया में विचरण करने लगा था।

वीर विक्रम ने मनमोहिनी की ओर दृष्टि कर कहा – 'मनमोहिनी! युवराज की बात सुनी?'

'हां, आपके पुत्र असत्य क्यों कहते हैं, मैं समझ नहीं सकी। वे स्वप्न में भी मुझसे न मिलने की बात कह रहे हैं, किन्तु मेरे स्वामी मुझसे मिले थे, उसका जीवन्त साक्षी है यह पुत्र!'

बीच में ही युवराज आसन से उठकर बोले – 'महाराज! यह स्त्री भयंकर झूठ बोल रही है। मनमोहिनी का यह भी एक स्त्रीचरित्र है, पर मेरे आगे स्त्रीचरित्र की कोई कीमत नहीं।'

'महाराज! आप अपने पुत्र को शांत बैठे रहने की आज्ञा करें। आवेश में कुछ नहीं होता। मैं स्त्रीचरित्र से कहां इनकार करती हूं? विक्रमचरित्र से भी स्त्रीचरित्र लाख गुना विशेष होता है, यह बात सिद्ध करने के लिए ही तो मुझे यह सब करना पड़ा है। मैंने अपना पातिव्रत धर्म सुरक्षित रखा है। यह बच्चा मेरे स्वामी का ही है। मैं अपने स्वामी से प्रार्थना करती हूं कि वे मुझे स्वीकार करें अन्यथा मुझे सबके समक्ष उन्हें याद दिलानी होगी।'

युवराज शान्त बैठ गए। उनका मुंह क्रोध से तमतमा उठा। वीर विक्रम बोले – 'पुत्र! आवेश को शांत करो। कुछ याद करो...'

'किन्तु मैं कैसे स्मृति करूं? इस स्त्री का मुंह भी मैंने आज तक नहीं देखा।' अकुलाहटभरे स्वरों में युवराज बोले।

और सबकी दृष्टि मनमोहिनी की ओर स्थिर हो गई।

मनमोहिनी ने अपनी माता की ओर हाथ लंबा कर कहा – 'मां! मेरी वस्तुएं लायी हो?'

'हां।' कहकर मां ने छोटी पेटी बेटी के पास रख दी।

मनमोहिनी ने उस पेटी से एक मुद्रिका निकाल महाराज के समक्ष रखते हुए कहा – 'मैं आपके पुत्र की पत्नी हूं, इस बात की साक्षी तो आप स्वयं हैं और यह मुद्रिका है।'

'यह सच है।' विक्रम ने कहा।

मनमोहिनी ने फिर पेटी से रत्नहार बाहर निकालकर विक्रम को देते हुए कहा – 'पिताजी! युवराज जब पहली बार मुझसे मिले थे तब यह हार मुझे दिया था। आप इनसे पूछें।'

विक्रम ने युवराज से कहा – 'क्या तुम इस हार को पहचानते हो?'

देवकुमार ने हार अपने हाथ में लिया और उसे दो क्षण निहारकर कहा – 'पिताजी! रत्नहार तो मेरा ही है, किन्तु मैंने यह हार मनमोहिनी को कभी नहीं दिया।'

तत्काल मनमोहिनी बोली – 'क्या आपने यह हार अपनी पत्नी को नहीं दिया था?'

युवराज विचारमग्न हो गए।

मनमोहिनी बोली – 'स्वामी! याद करें। एक दिन आप भोजन करने के लिए श्वसुरगृह में पधारे थे। श्वसुरगृह के निकट एक मकान में एक नवयौवना योगिनी आयी थी.....'

युवराज तत्काल बोल उठे – 'इस बात को याद करने से तुम्हें क्या प्रयोजन है? यह हार तुम्हारे पास कैसे आया?'

'मैं वही योगिनी हूं। आप योगिनी के रूपजाल में फंस गए। दूसरे ही दिन आप योगिनी के साथ चन्द्र उपवन में परिभ्रमण करने गए। वहां योगिनी ने अपना भगवा वेश उतार डाला। उसका नाम मालिनी था। कुछ स्मृति हुई?'

'ओह! किन्तु मैंने तुम्हें यह हार कदापि नहीं दिया। मैं अपनी तलवार की शपथ...'

बीच में ही मनमोहिनी बोल पड़ी—'अरे! शपथ न ले, अन्यथा आपको प्रायश्चित्त करना होगा। देखें, आपने मुझे यह रत्नहार दिया या नहीं?' कहती हुई मनमोहिनी ने अपने घूंघट को ऊंचा कर दिया।

युवराज तत्काल बोल उठे—'मालिनी....'

'यह मेरा गुप्त नाम था। मेरा यथार्थ नाम है मनमोहिनी। स्त्रीचरित्र की बेजोड़ता सिद्ध करने के लिए ही मुझे यह सब करना पड़ा।'

युवराज लज्जा का अनुभव करने लगे। सुरभद्र को भी यथार्थता के दर्शन हो गए।

सारा वातावरण बदल गया। मनमोहिनी ने वीर विक्रम को सारी घटना बताई। वीर विक्रम मनमोहिनी की बुद्धि पर आश्चर्यचकित रह गए।

सारे देश में पौत्र-प्राप्ति का उत्सव मनाया गया।

जब युवराज शयनागार में गए तब रात्रि का दूसरा प्रहर पूरा हो रहा था। शयनागार में चरण रखते ही वह चौंका। मनमोहिनी सज-धजकर पति की प्रतीक्षा में बैठी थी।

शिशु पालने में सो रहा था।

दोनों एक आसन पर बैठे और पूर्व घटित घटनाओं को सुनते-सुनाते रहे। कुछ समय पश्चात् युवराज ने पत्नी को अपनी ओर खींचना चाहा। उस समय पालने में सोया हुआ शिशु रो पड़ा।

मनमोहिनी अचानक खड़ी हुई और युवराज बोला—'उस दिन आपने योगिनी के वेश की मर्यादा का पालन किया था। अब आपको एक माता की मर्यादा की सुरक्षा करनी है।'

वह पालने के पास चली गई। युवराज प्रसन्न दृष्टि से प्रियतमा की ओर देखने लगे।

उसी क्षण मां ने शिशु को पिता की गोद में लाकर रख दिया।

७६. चार रत्न

अवंती नगरी में श्रीधर नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उसके छह कन्याएं और एक लड़का था। वह अत्यन्त दरिद्र था।

मालवनाथ की राजधानी में ऐसा दरिद्र! किन्तु श्रीधर के कर्म का दोष अति प्रबल था।

वीर विक्रम ने इस गरीब ब्राह्मण को अनेक बार दान में स्वर्ण आदि दिया था, किन्तु श्रीधर के पास वह टिकता नहीं था। कभी वह दूसरों को दे देता और कभी वह खो जाता। कर्म का प्रभाव विचित्र होता है।

ऐसा चार-पांच बार होने के पश्चात् श्रीधर ने यह निश्चय कर लिया था कि मेरे भाग्य में धन है ही नहीं, इसलिए भिक्षावृत्ति से ही काम चलाना श्रेयस्कर है।

संसार में कोई भी प्राणी दरिद्रता नहीं चाहता। सभी व्यक्ति सुख का स्वप्न लेते हैं। किन्तु श्रीधर इसमें अपवाद था। क्योंकि जो धन उसे मिलता, वह मात्र एक रात उसके पास टिकता था।

एक दिन ब्राह्मणी बोली – 'अब तो रात को नींद भी नहीं आती। तीन-तीन लड़कियां ब्याहने योग्य हो गई हैं। उनके लिए योग्य वर की खोज करनी चाहिए।'

'मैं सब समझता हूं, किन्तु करूं क्या? हमारी गरीबी ऐसी है कि कोई भी हमारी कन्या लेने के लिए तैयार नहीं होता।'

'फिर भी कोई-न-कोई मार्ग तो ढूंढना ही होगा। आप तो बड़े पंडित हैं। अनेक विद्याएं जानते हैं। एक बार आपने कहा था कि मेरे पास 'सागरदेव' को प्रसन्न करने का मंत्र है। आप उसका प्रयोग क्यों नहीं करते?'

'इसके लिए मुझे आठ-दस महीने घर से दूर रहना होगा। मेरे बिना परिवार का पोषण कौन करेगा?'

'आप साहस करें। मैं यह भार अपने ऊपर लेती हूं। मैं पांच-दस घरों में भिक्षा के लिए जाऊंगी और काम चला लूंगी।'

'क्या तुम भीख मांगोगी?'

'हां, इसमें लज्जा की क्या बात है?'

योजना तय हो गई और पांच-सात दिन पश्चात् श्रीधर सागरतट पर जाने के लिए निकल पड़ा।

दो मास का प्रवास था। वह सागरतट पर पहुंच गया। वह एकान्त में अपना आसन बिछा बैठ गया। उसने सागरदेव की आराधना प्रारंभ कर दी। एक दिन, दो दिन, चार दिन, छह दिन बीत गए। क्षुधा-प्यास के परिताप की परवाह किए बिना वह आराधना में अडोल बैठा रहा।

सातवें दिन रात्रि के दूसरे प्रहर में सागरदेव साक्षात् उपस्थित होकर बोले – 'श्रीधर! मैं सागरदेव हूं। तेरी आराधना से प्रसन्न हूं। जो तुझे चाहिए, वह मांग ले।'

'कृपानाथ! आज मैं धन्य हुआ। मैं और कुछ नहीं चाहता, मेरी दरिद्रता दूर हो, ऐसा उपाय करें।'

'वत्स! तेरे कर्म बहुत प्रबल हैं। तेरे भाग्य में धन है ही नहीं, फिर भी मैं तुझे चार रत्न देता हूं। तू इन रत्नों को मेरे मित्रतुल्य वीर विक्रम को दे देना। तेरे भाग्य में जो होगा, वह वीर विक्रम से मिल जाएगा।'

'कृपानाथ ! इन रत्नों का प्रभाव क्या है ?'

'सुन ! इस लाल रत्न से इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति होती है। इस नीले रत्न के प्रभाव से वांछित भोजन प्राप्त होता है। इस पीले रत्न के प्रभाव से वस्त्र-आभूषण प्राप्त होते हैं और श्वेत रत्न के प्रभाव से रोग नष्ट होते हैं। ये चारों रत्न तू वीर विक्रम को दे देना।'

श्रीधर अपनी साधना की सफलता पर अत्यन्त आनन्दित हुआ और वह अपने गांव की ओर चल पड़ा। दो महीने के लंबे प्रवास के पश्चात् वह अवंती पहुंचा।

पत्नी को रत्नों की बात बताई। पत्नी ने कहा – 'राजा को देने से पूर्व इनकी परीक्षा तो कर लें।'

ब्राह्मण को यह विचार अच्छा लगा। वह एक कमरे में गया और द्वार बंद कर एक आसन पर बैठा। नीले रत्न को सामने रखकर भोजन-सामग्री की इच्छा की। उसी क्षण मिठाई से भरे तीन बर्तन वहां आ गए।

पीले रत्न को नमस्कार कर उसने वस्त्र और आभूषण की इच्छा की। दूसरे ही क्षण स्वयं के लिए, पत्नी के लिए तथा सातों संतानों के लिए दो-दो युगल वस्त्र और एक-एक स्वर्ण की कंठी आ गई।

श्रीधर ने सोचा, 'अब इन रत्नों को पास में नहीं रखना चाहिए। कहीं अतिलोभ से और कुछ घटित न हो जाए।'

वह रत्न अर्पित करने के लिए राजसभा की ओर चल पड़ा। श्रीधर राजसभा में आ पहुंचा। उसने वीर विक्रम से कहा – 'कृपानाथ ! मैंने अपनी दरिद्रता को मिटाने के लिए सागरदेव की आराधना की। उन्होंने मुझे चार रत्न देते हुए कहा – ये रत्न तू वीर विक्रम को दे देना। वे तेरी दरिद्रता दूर कर देंगे।'

श्रीधर ने चारों रत्न वीर विक्रम को देते हुए उनके प्रभाव का वर्णन किया। यह सुनकर सारी सभा आश्चर्यचकित रह गई।

वीर विक्रम ने कहा – 'पंडितजी ! पुरुषार्थ आपका, साधना आपकी और फल भी आपको मिला है, तो भला मैं ये रत्न कैसे ले सकता हूं ?'

'कृपानाथ ! सागरदेव आपके मित्र हैं। उनकी आज्ञा का पालन करना मेरा कर्त्तव्य है। ऐसे महान् प्रभावक रत्न मेरे-जैसे दरिद्र ब्राह्मण के पास शोभा नहीं देते। आप ही इनको रखें।'

'अच्छा, पंडितजी ! आप इनमें से कोई भी एक रत्न अपने पास रख लें।'

'कृपानाथ ! मैं सागरदेव की आज्ञा का उल्लंघन कैसे कर सकता हूं ?'

'पंडितजी ! अब ये रत्न मेरे अपने हो गए। मैं एक रत्न आपको देना चाहता हूं, इसलिए यह सागरदेव की आज्ञा का उल्लंघन नहीं माना जा सकता।'

'कृपानाथ! तो मैं घरवाली को पूछकर ही निर्णय करूंगा।'

श्रीधर रथ में बैठकर घर गया। टूटे-फूटे झोंपड़े के पास रथ रुका। पंडित रथ से नीचे उतरा। घर में गया। सभी बालक नये वस्त्रों में शोभित हो रहे थे। और पत्नी! मानो आज ही परिणीत होकर घर आयी हो, ऐसी नववधू-सी लग रही थी।

श्रीधर ने सारी बात कही। रत्नों की पसंदगी के विषय में मां और बेटियों के बीच विवाद प्रारंभ हो गया। श्रीधर बिना किसी निश्चय पर पहुंचे रथ में बैठकर सीधा राजभवन आ गया।

वह वीर विक्रम से बोला– 'कृपानाथ! चारों रत्न आप ही रखें, क्योंकि रत्नों की पसंदगी के विषय में घरवालों में विवाद प्रारम्भ हो गया है। लड़कियां जो चाहती हैं, वह मां नहीं चाहती और जो मां चाहती है वह लड़कियां नहीं चाहती।'

वीर विक्रम हंस पड़े। वे बोले– 'पंडितजी! चारों रत्न आप ही रखें। मैं आपको एक सुन्दर मकान, दस गांव, दो हजार स्वर्ण मुद्राएं, एक खेत, दो बैल आदि साधन उपलब्ध करा देता हूं। आप सुखपूर्वक रहें और चारों रत्नों की सुरक्षा करें। इनका सदुपयोग करें। पुण्य से पाप दूर भाग जाता है, फिर भी किसी प्रकार की विपत्ति आए तो मुझे याद करना।'

श्रीधर रत्नों को लेकर घर आ गया।

७७. पुष्पसेना

राजसभा प्रारंभ हुई। उस समय एक परदेशी व्यक्ति वीर विक्रम को उपहार भेंट करते हुए बोला– 'कृपानाथ! पाटलिपुत्र की श्रेष्ठ नवयौवना और रूपवती गणिका पुष्पसेना अवंती में आयी हुई है। वह चोपड़ खेलने में निष्णात है। उसने यह प्रण लिया है कि जो भी व्यक्ति उसको 'चोपड़' के खेल में पराजित करेगा, वह जीवन भर उसकी दासी बनकर रहेगी। इन दो वर्षों में पाटलिपुत्र में इसे कोई नहीं जीत सका। इसने पराजित एक सौ बयालीस व्यक्तियों को शर्त के अनुसार अपना दास बनाकर रखा है। इनमें दस राजकुमार, दो सुभट और बीस श्रेष्ठी हैं। अनेक परदेशी भी हैं।'

बीच में ही महामंत्री ने पूछा– 'पुष्पसेना की शर्त क्या है?'

'चोपड़ की तीन बाजियां होंगी। जो दो में जीत जाएगा, वह विजित होगा। यदि पुष्पसेना दो बाजियां हार जाएगी तो वह उस विजेता के चरणों में सर्वस्व अर्पण कर दासी बनकर रहेगी।'

'देवी पुष्पसेना के पास कितनी सम्पत्ति है ?' मंत्री ने पूछा।

'सात कोटि सुवर्ण की संपत्ति है। पुष्पसेना आपके नगर में अपने भाग्य की परीक्षा करना चाहती है, आपकी आज्ञा हो तो!'

वीर विक्रम ने उस परदेशी से कहा– 'तुम मध्याह्न के पश्चात् पुष्पसेना को लेकर राजभवन में आना। मैं उसके साथ बात कर लूंगा।'

परदेशी ने मस्तक झुकाकर प्रसन्नता व्यक्त की।

उसी दिन मध्याह्न के समय सुन्दरी पुष्पसेना राजभवन में आ गई।

महाराजा विक्रम अपने खंड में बैठे थे। अजय ने पुष्पसेना के आगमन की बात कही। वीर विक्रम ने कहा– 'उसे यहां ले आओ।'

पुष्पसेना विक्रम के खंड में गई। वहां बैठे हुए दो मंत्री उसे देखकर अवाक् रह गए– अरे, यह कोई राजरानी तो नहीं है? इसका तेजस्वी रूप, कामणगारे नयन, सौम्य वदन, मूल्यवान् आभूषण इसको देवांगना का रूप दे रहे हैं। क्या यह वास्तव में ही गणिका है या शापभ्रष्ट कोई अप्सरा है ?'

पुष्पसेना ने महाराजा को नमस्कार किया और संकुचित होकर एक आसन पर बैठ गई।

विक्रम ने पूछा– 'पुष्पसेना! इस कठोर शर्त सहित चोपड़ खेलने के पीछे तुम्हारा उद्देश्य क्या है ?'

'कृपानाथ! दूसरा कोई उद्देश्य नहीं है। मैं सुयोग्य साथी की खोज करने के लिए प्रयत्न कर रही हूं।' पुष्पसेना ने मधुर स्वरों में कहा।

'इस प्रयत्न में सुयोग्य साथी कैसे प्राप्त हो सकता है? संभव है कोई मद्यपी, हत्यारा या असंस्कारी व्यक्ति तुम्हें पराजित कर दे। कोई वृद्ध ही जीत जाए ?'

'हां, ये सारी संभावनाएं हैं। जिन्दगी के जुए में इतना खतरा तो उठाना ही पड़ता है।'

वीर विक्रम ने दो क्षण सोचकर कहा– 'बेटी! यह कार्य तो खतरे से खाली नहीं है। फिर भी तुम्हारी प्रबल इच्छा के कारण मैं तुम्हें आज्ञा देता हूं। तुम इस विषय की घोषणा नगर में करा देना।'

सारी नगरी में पटहवादकों के द्वारा यह घोषणा करा दी गई।

लोगों में भिन्न-भिन्न प्रकार की चर्चाएं होने लगीं। एक ओर सात कोटि स्वर्ण और पुष्पसेना की प्राप्ति का आकर्षण था तो दूसरी ओर जीवन भर दास बनकर रहने का खतरा भी था, इसलिए लोग पुष्पसेना के साथ दांव खेलने में हिचकिचाते थे।

श्रीमाल का राजकुमार रत्नसिंह पन्द्रह दिनों से अवंती में ही था। उसने पुष्पसेना की यह घोषणा सुनी और उसके मन में पुष्पसेना को पाने की लालसा जाग उठी। उसने पहले पुष्पसेना को देखने का निश्चय कर लिया।

पांच दिन के पश्चात् रत्नसिंह अपने साथी के साथ पुष्पसेना के भवन में प्रविष्ट हुआ। पुष्पसेना की एक तरुण परिचारिका ने उनका भावपूर्वक स्वागत किया और दोनों को एक सज्जित कक्ष में बिठाया।

एक दूसरी परिचारिका मैरेय के दो पात्र ले आयी और दोनों को देती हुई बोली – 'आपका शुभ नाम ?'

'मैं श्रीमाल का राजकुमार रत्नसिंह हूं। मैं देवी से मिलकर शर्त को समझना चाहता हूं।'

'देवी अभी यहां पधारेंगी।'

दोनों मित्रों ने मैरेय का पात्र खाली कर दिया।

परिचारिका ने पूछा – 'और मैरेय लेंगे ?'

'नहीं', रत्नसिंह बोला।

परिचारिका खाली पात्र लेकर चली गई।

उसी क्षण एक परिचारिका के साथ देवी पुष्पसेना ने खंड में प्रवेश किया। पुष्पसेना को देखकर दोनों मित्र खड़े हो गए।

पुष्पसेना ने अभिवादन करते हुए कहा – 'आसन पर बैठें। क्या आज्ञा है ?'

रत्नसिंह पुष्पसेना के कामणगारे नयन को स्थिर दृष्टि से देख रहा था। उनका मित्र भी उस रूप को देखकर अपने आपको भूल-सा गया।

औपचारिक बातचीत के पश्चात् पुष्पसेना ने अपनी शर्त को विस्तार से समझाया।

रत्नसिंह बोला – 'शर्त अच्छी है। आपकी उम्र......?'

'उन्नीसवां वर्ष चल रहा है।'

'मेरी इच्छा है कि मैं आपके साथ दांव खेलूं।'

'जैसी आपकी इच्छा। पर मेरी शर्त कठोर है। हारने वाले व्यक्ति को मैं एक खंड में बंद कर देती हूं। जीवनभर उसे वहीं रहना पड़ता है। आप राजकुमार हैं। क्या इतनी पीड़ा सहन कर सकेंगे ?'

'हां, देवी ! आपको पाने के लिए यह पीड़ा सुखदायक ही होगी।'

खेल प्रारंभ करने के लिए दूसरा दिन निश्चित हुआ।

अब रत्नसिंह के लिए रात बितानी कठिन हो गई। उसे पुष्पसेना के विचारों ने जकड़ लिया था। वह उसको देखकर पागल हो गया था।

जिसका यौवन पगला जाता है, उसे नींद नहीं आती। वह मन-ही-मन पुष्पसेना के रूप-लावण्य को पी रहा था। रात के तीन प्रहर बीत गए। चौथे प्रहर में उसे कुछ नींद आयी। किन्तु यह नींद भी मधुर स्वप्नमयी थी। उसने स्वप्न में देखा कि वह पुष्पसेना को चोपड़ के खेल में हराकर विजयी हुआ है और वह पुष्पसेना के साथ कामक्रीड़ा कर रहा है।

इतने में ही एक दासी ने राजकुमार को जगाते हुए कहा– 'कुमारश्री! प्रातःकाल हुए विलम्ब हो गया है।'

स्वप्न से चौंककर रत्नसिंह जागृत हुआ। हर्षविभोर होकर राजकुमार बोल उठा– 'मेरे भाग्य का सूर्योदय हो गया है।'

दूसरे दिन।

रत्नसिंह पुष्पसेना के भवन में पहुंचा। वहां सारी व्यवस्थाएं थीं। दोनों ने शर्तपत्र पर हस्ताक्षर किए और चोपड़ का खेल प्रारंभ किया।

दोनों चोपड़ खेलने में निष्णात थे।

और एक ही घटिका में खेल सम्पन्न हो गया। पुष्पसेना ने दो दांव जीत लिये। वह विजयिनी हुई। रत्नसिंह का चेहरा पीला पड़ गया।

पुष्पसेना बोली– 'राजकुमार! अपनी शर्त का पालन करें।'

राजकुमार खड़ा हुआ और धारण किए हुए सारे अलंकार उतारकर नीचे रख दिए। पुष्पसेना ने उसे एक कक्ष में कैद कर दिया।

यह बात सारी नगरी में फैल गई। नगर के लोगों में भारी खलबली मच गई। इन तीन महीनों में दूसरे दस व्यक्ति भी पुष्पसेना के दास बन चुके थे।

यह बात महाराज विक्रमादित्य तथा युवराज देवकुमार ने भी सुनी। पुष्पसेना की समस्या चिरन्तन समस्या-सी बन चुकी थी।

युवराज देवकुमार ने पुष्पसेना को पराजित करने का निश्चय किया। युवराज्ञी मनमोहिनी जानती थी कि युवराज चोपड़ खेलने में इतने निष्णात नहीं हैं और वे निश्चित ही पुष्पसेना से पराजित हो जाएंगे। उसने मन-ही-मन निश्चय किया कि मैं उसे अवश्य हराऊंगी!

यह बात उसने महाराजा विक्रम को बताई। विक्रम बोले– 'बेटी! तुम? पुष्पसेना केवल पुरुषों के साथ ही खेलती है।'

'यह मैं जानती हूं। मैं पुरुषवेश में उसे पराजित करूंगी।'

वीर विक्रम मनमोहिनी की बात से सहमत हो गए।

कुछ दिन बाद।

एक दिन पुष्पसेना अपने आरामगृह में विचारमग्न होकर बैठी थी। उसने सोचा—क्या इस विराट् नगरी में भी मुझे निराश होना पड़ेगा ? मेरे हृदय को पुलकित करने वाला, मेरे चित्त को प्रसन्न करने वाला और मेरे जीवन को रसमय बनाने वाला कोई नौजवान मुझे मिलेगा ही नहीं ?

उसी क्षण परिचारिका वृन्दा ने आकर कहा—'देवी! एक अतिथि आए हैं।'

'अतिथि ?'

'हां देवी, चोपड़ खेलने के लिए आए हैं।'

'कैसे हैं ?'

'नौजवान, कार्तिकेय जैसे सुंदर और मधुर वाणी वाले।'

'तब तो तू भी उन पर मुग्ध हो गई हो, ऐसा प्रतीत होता है।' मुस्कराते हुए पुष्पसेना ने कहा।

'देवी! मैं सच कह रही हूं। मेरे वर्णन में कोई अतिशयोक्ति नहीं है। कोमल शरीर, वय में भी आप जैसा, उसकी आंखें बहुत कातिल हैं, पतली मूछें, पुष्ट छाती, मानो कामदेव ही तरुण का रूप धारण कर आया हो।'

'अच्छा-अच्छा, जा, तू उनका स्वागत कर। मैं कुछ ही क्षणों में आती हूं।' पुष्पसेना ने कहा।

वह वस्त्रगृह में गई। वस्त्र बदले। शृंगार कर ज्यों ही वह कक्ष में आयी, उसकी दृष्टि अतिथि पर पड़ी। उसने सोचा, वृन्दा ने जो कहा था, उसमें तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है।

अतिथि अन्य कोई नहीं, युवराज्ञी मनमोहिनी स्वयं पुरुष के वेश में अतिथि के रूप में आयी थी।

पुष्पसेना ने पूछा—'आपका परिचय ?'

'मैं बीस वर्ष का नौजवान हूं। मैं एक धनाढ्य व्यापारी का पुत्र हूं। मेरा नाम है—मनमोहन।' मनमोहिनी ने मुस्कराते हुए कहा।

वृन्दा एक ओर खड़ी थी। पुष्पसेना ने वृन्दा की ओर देखकर कहा—'वृन्दा! अतिथि का मैरेय, पानक, दूध आदि से सत्कार कर।'

'मैं जैन हूं। सूर्यास्त के बाद जल-पान नहीं लेता।'

'तब आपका स्वागत.....?'

'भावना से होने वाला स्वागत श्रेष्ठ होता है। आपने उत्तम स्वागत किया है। मैं आपकी शर्त को स्वीकारने आया हूं।'

पुष्पसेना मनमोहिनी की बातचीत से आकर्षित हो चुकी थी। दोनों ने चोपड़ खेलने का समय निश्चित कर डाला।

चोपड़ का खेल प्रारंभ हुआ।

मात्र दो घटिका में पहला खेल समाप्त हो गया। पुष्पसेना हार गई। मनमोहिनी बोली – 'देवी! आप निराश न हों। आपने कामशास्त्र का अभ्यास किया है या नहीं?'

'अभ्यास है, अनुभव नहीं।'

'आश्चर्य!'

'सेठजी! मैं अभी कुमारिका हूं।'

'समझा। किन्तु मैं दूसरी ही बात कर रहा था। कामशास्त्र कहता है कि नारी कभी नहीं हारती। और यदि हारती है तो भी उसमें उसकी विजय छिपी रहती है।'

'यह मैं जानती हूं।' कहकर पुष्पसेना ने प्रेमभरी दृष्टि से नौजवान की ओर देखा और उसके अन्त:करण में यह निश्चय हो गया कि उसकी कल्पना आज साकार होगी।

दूसरा खेल प्रारंभ हुआ।

पुष्पसेना हार गई। वह मनमोहिनी की ओर देखकर बोली – 'आप विजेता हुए हैं। मेरी सम्पत्ति के स्वामी बने हैं। मैंने हारकर भी आपको जीत लिया है।' कहकर पुष्पसेना चरणों में झुक गई।

मनमोहिनी ने कहा – 'देवी! पहला काम यह करो कि जितने व्यक्तियों को तुमने बंदी बना रखा है, उन्हें ससम्मान छोड़ दो।'

वैसा ही हुआ।

मनमोहिनी ने पुष्पसेना का कोमल हाथ पकड़कर कहा – 'प्रिये! जीवन एक खेल है, एक स्वप्न है। कहां तेरे जैसी सुनयना, सुडौल और चतुर नारी और कहां मेरे जैसा अर्धपागल वणिक्!'

'स्वामी!'

'नहीं, सेना! तुम किसी सशक्त पुरुष की अर्धांगिनी बनने के योग्य हो, किन्तु जुए ने तुम्हें मेरे जैसे व्यक्ति के चरणों में ला पटका है।'

पुष्पसेना मौन रही।

मनमोहिनी बोली – 'प्रिये! अब हमें यहां से राजभवन जाना है।'

'राजभवन?'

'हां, महाराजा मेरे पिताजी के मित्र हैं। भय का कोई कारण नहीं है।'

दूसरे दिन सूर्योदय के पश्चात् पुष्पसेना ने उत्तम वस्त्रालंकार धारण किए और राजभवन जाने के लिए तैयार हो गई।

दोनों एक बन्द रथ में बैठकर राजभवन की ओर विदा हुए।

उस समय वीर विक्रम अपनी चारों रानियों के साथ कलेवा कर रहे थे। मनमोहिनी पुष्पसेना के साथ उसी कक्ष में गई। वीर विक्रम और चारों रानियां अवाक् रह गईं।

मनमोहिनी ने प्रणाम करते हुए कहा – 'पिताजी ! हम दोनों आपके चरणों में प्रणाम करते हैं।'

वीर विक्रम ने पुष्पसेना की ओर देखा। दोनों महाराजा के चरणों में झुक गईं। वीर विक्रम बोले – 'इस सुन्दरी को मैंने कहीं देखा है।'

'हां, यह प्रख्यात गणिकापुत्री पुष्पसेना है। चोपड़ के खेल में यह हार गई। आप इसके साथ बात करें, मुझे अभी प्रातःकार्य से निवृत्त होना है' कहकर मनमोहिनी चली गई।

मनमोहिनी स्नान आदि से निवृत्त होकर अपने मूल वेश में उस कक्ष में आयी, उससे पूर्व ही वीर विक्रम ने पुष्पसेना के समक्ष सारा रहस्योद्‌घाटन कर दिया था। पुष्पसेना असमंजस में पड़ गई।

वीर विक्रम बोले – 'बेटी ! तुम दोनों में से कौन हारा है और कौन जीता है, इस बात को भूल जाओ।'

वीर विक्रम और चारों रानियां खंड से बाहर चली गईं।

मनमोहिनी ने पुष्पसेना से कहा – 'पुष्पा ! तुम्हारे मन में रोष तो नहीं है ?'

'आप बड़े चालाक निकले....'

'पुष्पा ! अब तुम सारी चिन्ता छोड़ो। जो मेरे पति, वे ही तुम्हारे पति....'

'युवराज्ञी !'

'हां, मैं सच कहती हूं।'

'नहीं, नहीं। यह कभी नहीं हो सकता।'

'तब तो तुम्हें जीवनभर मेरे साथ सखी रूप में रहना होगा और युवराज यदि तुम्हें योग्य लगें तो.....।'

पुष्पसेना ने मनमोहिनी की गोद में मस्तक छिपा लिया।

७८. अनन्त गगन

दूसरे ही दिन आचार्यश्री सिद्धसेन दिवाकर अवंती में आए। समग्र राज-परिवार उनके दर्शनार्थ गया। पुष्पसेना भी साथ में गई।

हृदय को शक्ति और शाश्वत सुख प्रदान करने में समर्थ प्रवचनों से जनता के हृदय भीगने लगे।

पन्द्रह दिन तक प्रवचन सुनने के पश्चात् पुष्पसेना का हृदय आन्दोलित हो उठा। वीर विक्रम ने तीर्थाटन करने का निश्चय किया और....

पुष्पसेना ने दीक्षा लेने की इच्छा व्यक्त की। आचार्य ने उसे धर्मसंघ में दीक्षित कर लिया। पुष्पसेना धन्य हो गई। उसके जीवन की समस्या सदा-सदा के लिए समाहित हो गई। वह सही रूप में विजेता बन गई।

मालवपति वीर विक्रमादित्य बहुत बड़े संघ के साथ तीर्थयात्रा के लिए निकल पड़े। छह हजार हाथी! हजारों रथ! हजारों अश्व! हजारों भारवाहक वाहन! हजारों तंबू-शामियाने! हजारों रक्षक, पाकशास्त्री और दास-दासी, उत्तम वैद्य, शल्य-चिकित्सक और हाड़वैद्य।

इस प्रकार दूसरी अवंती नगरी जैसा विशाल श्रीसंघ सदाचार का पालन करता हुआ अग्रसर होने लगा।

राज्य-व्यवस्था का सारा भार युवराज सवाईविक्रम को दे दिया गया। मनमोहिनी तीर्थयात्रा में साथ गई। यह महान् संघ जब तीर्थयात्रा कर पुनः अवंती लौटा तब पांच महीने और इक्कीस दिन बीत चुके थे। इस तीर्थयात्रा के दौरान मालवनाथ ने एक अरब, सड़सठ करोड़, सत्तर लाख, अड़सठ हजार और सात सौ स्वर्णमुद्राएं दान आदि में खर्च की थीं। अन्यान्य राजाओं ने भी यत्र-तत्र बहुत दान दिया था।

वीर विक्रम को सैंतालीसवां वर्ष चल रहा था। उनकी परोपकार-परायण भावना दिनोंदिन विकसित हो रही थी।

और एक दिन राजसभा में धरतीकंप जैसा समाचार आ पड़ा। मालवपति की धरती पर शकों का आक्रमण होने लगा। यह सुन सारी सभा चौंक उठी।

दो महीने बीत गए। शकों के अत्याचार चल रहे थे। वीर विक्रम तक दर्दभरी घटनाएं आने लगीं।

और उसी समय वीर विक्रम की अतिप्रिय रानी कमलावती बीमार हो गई। चार दिन बाद वीर विक्रम शकों को बोधपाठ देने निकल पड़े। दो वर्ष तक वे अपने राज्य में घूमे और शकों को मार भगाया।

वीर विक्रम विजेता बनकर राजधानी लौटे।

कवियों ने विक्रमादित्य को 'शकारि' की उपाधि दी।

कमला रानी का देहान्त हो गया था।

सैकड़ों राजाओं ने महाराज को चक्रवर्ती का पद दिया।

जनता ने 'परदु:खभंजक' की उपाधि से विभूषित किया।

विक्रम के पचास वर्ष पूरे हुए। ज्योतिषशास्त्रियों ने इक्यानवें वर्ष को विक्रम संवत् के रूप में प्रचारित किया।

राजभवन की छत पर रात में महाराज विक्रमादित्य अकेले घूम रहे थे।

उनकी दृष्टि आकाश पर स्थिर थी। उनके मन में अनेक विचार उभर रहे थे—

जीवन का आधा भाग बीत गया। मेरे अनेक साथी संसार से विदा हो गए।

बेचारा रामदास! साथ में आया और संग्राम में मारा गया।

स्वामीभक्त अजय शत्रु की तलवार का भोग बना।

प्रिय कमला भी चली गई।

देवदमनी सदा के लिए विदा हो गई।

ओह! यह संसार ही ऐसा है। सुख-दु:ख के घेरे में बंदी यह संसार जब तक नहीं छूटता तब तक....

विचारों-ही-विचारों में उन्हें अग्निवैताल की स्मृति हो आयी।

अपने बड़े भाई भर्तृहरि की स्मृति उभरने लगी।

भाभी ने जो आरोप लगाया था, वह याद आ गया।

और याद आया राजपाट।

पचास वर्ष देखते-देखते क्षणभर में बीत गए।

अब क्या किया जाए?

महाराजा विक्रमादित्य कुछ आगे सोचें, उससे पहले ही सुकुमारी छत पर आकर बोली—'स्वामी!'

'आओ, सुकुमारी!'

'यहां अकेले आप क्या कर रहे हैं?'

'प्रिये! मैं अपने जीवन का लेखा-जोखा कर रहा हूं। मैंने क्या पाया, क्या खोया यह सोच रहा हूं।'

'महाराज! आपने क्या पाया—यह सोचना क्या है? देखिए, गगन में तारागण भी आपका वर्धापन कर रहे हैं। कृपानाथ! आपने जनता को जीने की कला सिखाई है। इस धरती की पवित्र संस्कृति की रक्षा आपने की है। समूचे राष्ट्र में आपने धर्म और नीति की रेखाएं अंकित की हैं। कल हम सब काल-कवलित हो जाएंगे। सारी सम्पत्ति और सारा ऐश्वर्य यहीं रह जाएगा, किन्तु आपका कार्य कभी नष्ट नहीं होगा। वह कालातीत है। काल का उस पर असर नहीं होगा।'

वीर विक्रम गगन की ओर देखते रहे।

प्रकृति नीरव थी। वीर विक्रम ने सुकुमारी की ओर देखकर कहा–'देवी! तुम्हारा कहना सच है। आचार्यश्री ने कहा था–देने में आनन्द है, लेने में नहीं, मेरी चिन्ता सुख की समृद्धि के लिए नहीं थी.....'

'तो फिर....?'

'मेरी चिन्ता केवल प्रजा को सुखी करने की थी। साथ-साथ आत्म-साक्षात्कार की भावना भी रहती थी।'

'स्वामीनाथ....!' सुकुमारी ने कहा।

वीर विक्रम ने पुनः गगन की ओर देखते हुए कहा–'अनन्त गगन का मंगलगीत आज पहली बार मुझे प्राप्त हुआ है।'

गगन की चादर में झिलमिल करते हुए तारकवृन्द हंस रहे थे। उनका हास्य प्रसन्न और मधुर था।

❑❑❑

आगममनीषी मुनि दुलहराज
जीवन परिचय

जन्म	:	१४ जुलाई १९२२, कोलार गोल्ड फील्ड (कर्नाटक)
दीक्षा	:	२५ अक्टूबर १९४८, छापर (राज.)
शिक्षानिकाय	:	८ फरवरी १९६६, डाबड़ी (राज.)
साझपति	:	२९ अक्टूबर १९८१, अणुव्रत विहार, दिल्ली
आगममनीषी	:	२७ जनवरी २००४, जलगांव (महाराष्ट्र)
बहुश्रुत परिषद् सदस्य	:	१६ सितम्बर २०१०, सरदारशहर (राजस्थान)
विशेष	:	दीक्षा दिन से निरन्तर आचार्य महाप्रज्ञ की सेवा

में रहे। आगम-शोध कार्य में प्रारम्भ से ही संलग्न। आचार्य महाप्रज्ञ के शताधिक पुस्तकों के सम्पादक। तेरापंथ धर्मसंघ में प्रथम अंग्रेजी के ज्ञाता। हिन्दी-संस्कृत-प्राकृत-गुजराती-कन्नड़ आदि भाषाओं के प्रतिभासंपन्न विद्वान्। शतावधानी, साहित्यकार, चिन्तक, वक्ता, कविचेता और लेखनी के धनी। सुदूर यात्राओं में अविरल सहयात्री।

ISBN 8171951574

9788171951574

₹ 200/-